अथर्ववेद संहिता

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

भाग-१

[काण्ड १ से १०तक]

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

अथर्ववेद संहिता

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

भाग-१

[काण्ड १ से १०तक]

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक

ब्रह्मवर्चस्

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल)

षष्ठ आवृत्ति] २००२ [१५०रुपये

• प्रकाशक

ब्रह्मवर्चस्

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल)

• लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

• षष्ठ आवृत्ति

गुरुपूर्णिमा, संवत् २०५९

• वितरक

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर

दिल्ली ११०००७,

दूरभाष ७४४५४५६

• मुद्रक

युगान्तर चेतना प्रेस

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उ.प्र.)

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

अपने आराध्य के चरणों में

परम पूज्य गुरुदेव ने जो गुरुतर भार कन्धों पर डाला, उनमें अपने वेदों का आज के परिप्रेक्ष्य में बुद्धिसंगत एवं विज्ञानसम्मत प्रतिपादन सर्वथा दुःसाध्य कार्य था। लोगों के पास योग्यता रहती होगी, जिससे वे बड़े-बड़े कार्य सम्भव कर पाते होगें; पर मुझ अकिंचन के लिए तो यह सौभाग्य ही क्या कुछ कम था कि अपने आराध्य के चरणों पर स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पित करने का सन्तोष प्राप्त हुआ। होंठ कौन सा गीत निकालेंगे, भला बाँसुरी को क्या पता? कौन सा राग आलापित होगा - यह पता वादक को हो सकता है, सितार बेचारा उसे क्या समझे?

वेदों के भाष्य जैसे कठिन कार्य में मेरी स्थिति ऐसे ही वाद्य यंत्र की रही। यदि गायन सुन्दर हो, तो श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए, जिन्होंने इनका भाषानुवाद प्रारम्भ (सन् १९६० ई०) में किया और दुबारा करने का आदेश मुझे दिया। कलम मेरी हो सकती है, पर चलाई उन्होंने ही। अक्षर मेरे हो सकते हैं, पर भावाभिव्यक्ति एक मात्र उन्हीं की है।

आज यह सुरभित पुष्प अपने उन्हीं आराध्य गुरुदेव-आचार्य जी के चरणों में समर्पित कर स्वयं को कृत-कृत्य हुआ अनुभव करती हूँ।

जिन मनीषियों के ग्रन्थ हमने इस अवधि में पढ़े, उनसे कुछ दिशा बोध मिला, उनका तथा जिन्होंने इस गुरुतर कार्य के संकलन से प्रकाशन तक में सहयोग दिया, उनका मैं विशेष रूप से आभार मानती हूँ। आशा करती हूँ कि इस सृजन से अपनी संस्कृति और इस महान् देश की विराट् बौद्धिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा गौरवान्वित होगी।

— भगवती देवी शर्मा

अनुक्रमणिका

संकेत-विवरण

अथर्व०	=	अथर्ववेद	पा० धा०को०	=	पाणिनि धातुकोश
आ० गृह्य०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र	बा०खि०	=	बालखिल्य
ऋ०	=	ऋग्वेद	बृ०सर्वा०	=	बृहत्सर्वानुक्रमणी
ऐत० आ०	=	ऐतरेय आरण्यक	बृह०	=	बृहद्देवता
ऐत० ब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण	भा०	=	भागवत पुराण
कपि०क०सं०	=	कपिष्ठल कठ संहिता	भू०परि०	=	भूमिका परिशिष्ट
काठ० सं०	=	काठक संहिता	म०पु०	=	मत्स्य पुराण
कौषी० ब्रा०	=	कौषीतकि ब्राह्मण	महा० प०	=	महाभाष्य पस्पशाह्निक
कौ० सू०	=	कौशिक सूत्र	मुक्ति० उ०	=	मुक्तिकोपनिषद्
गो०ब्रा०	=	गोपथ ब्राह्मण	मैत्रा० सं०	=	मैत्रायिणी संहिता
चौ० प्र०	=	चौखम्बा प्रकाशन	यजु०	=	यजुर्वेद
छा० उ०	=	छान्दोग्य उपनिषद्	वाज० सं०	=	वाजसनेयि संहिता
जैमि० ब्रा०	=	जैमिनीय ब्राह्मण	वाय० सं०	=	वायवीय संहिता
ता० म०	=	ताण्ड्य महाब्राह्मण	वै० को०	=	वैदिक कोश
तैत्ति० ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण	शत० ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण
तैत्ति० सं०	=	तैत्तिरीय संहिता	सर्वा०	=	सर्वानुक्रमणी
दा० भा०	=	दारिल भाष्य	सा०भा०	=	सायण भाष्य
नि०	=	निरुक्त	साम०	=	सामवेद
निघ०	=	निघण्टु	सू०क्र०	=	सूक्त क्रमाङ्क

भूमिका

महत्त्व एवं उपयोगिता

वेद के प्रत्येक विभाग की तरह अथर्ववेद की अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर अनेक वेदज्ञ उसे अतुलनीय मानते हैं। वेद की अन्य शाखाओं में अपनी-अपनी विशिष्ट दिशाएँ हैं, किन्तु अथर्ववेद तो अपने अंक में मानो जीवन की समग्रता को समेटे हुए है। सृष्टि के गूढ़ रहस्यों, दिव्य प्रार्थनाओं, यज्ञीय प्रयोगों, रोगोपचार, विवाह, प्रजनन, परिवार, समाज- व्यवस्था एवं आत्मरक्षा आदि जीवन के सभी पक्षों का इसमें समावेश है। वेद की अन्य धाराओं में गूढ़ ज्ञान के साथ शुद्ध विज्ञान (प्योर साइंस) है; किन्तु अथर्ववेद में ज्ञान - विज्ञान की गूढ़ धाराओं के साथ व्यावहारिक विज्ञान (एप्लाइड साइंस) भी है।

जीवन को सुखमय तथा दुःखविरहित बनाने के उद्देश्य से ऋषियों ने जिन यज्ञीय अनुष्ठानों का विधान बनाया है, उनके पूर्ण निष्पादन के निमित्त जिन चार ऋत्विजों की आवश्यकता बताई है, उनमें से अन्यतम (प्रमुख) ऋत्विज् ब्रह्मा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इसी वेद से है। **"ब्रह्मा"** का स्थान यज्ञ-संसद के ऋत्विजों में प्रधान (अध्यक्ष) है। **'ब्रह्मा'** का दायित्व यज्ञीय नाना विधियों का निरीक्षण तथा त्रुटियों का परिमार्जन करना है। इसके लिए उसको सर्ववेदविद् होना अनिवार्य होता है तथा उसे मनोबल-सम्पन्न भी होना चाहिए। गोपथ ब्राह्मण का कथन है कि तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के केवल एक पक्ष का संस्कार होता है। **'ब्रह्मा'** मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है।[१]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ सम्पादन के दो मार्ग हैं- वाक् तथा मन। वाक् (वचन) के द्वारा वेदत्रयी (ऋक्, यजु, साम) यज्ञ के एक पक्ष को संस्कारित करती है, दूसरे पक्ष का संस्कार **'ब्रह्मा'** ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) के द्वारा 'मन' से करता है।[२] इस तथ्य से स्पष्ट है कि यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिए अथर्ववेद की नितान्त आवश्यकता है।

वस्तुतः अथर्ववेद में शान्ति-पुष्टि तथा आभिचारिक- दोनों तरह के अनुष्ठान प्रयोग वर्णित हैं। राजा के लिए इसका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। राजा के लिए शान्तिक - पौष्टिक कर्म तथा तुलापुरुषादि महादान की विशेष आवश्यकता पड़ती है। जो अथर्ववेद का मुख्य प्रतिपाद्य है। मत्स्य पुराण का कहना है कि पुरोहित को अथर्वमन्त्र तथा ब्राह्मण में पारंगत होना चाहिए।[३] अथर्वपरिशिष्ट में तो यहाँ तक लिखा है कि अथर्ववेद का ज्ञाता शान्तिकर्म का पारगामी (पुरोहित) जिस राष्ट्र में रहता है, वह राष्ट्र उपद्रवों से हीन होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अथर्ववेदविद् तथा जितेन्द्रिय पुरोहित का दान-सम्मान, सत्कारपूर्वक नित्यप्रति पूजन- अर्चन करे।[४]

---

१. स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति (गो० ब्रा० १.३.२)।

२. अयं वै यज्ञो योऽयं पवते, तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ वाचा च हि मनसा च यज्ञो वर्तत, इयं वै वागदो मनस्तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति, मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। (ऐत० ब्रा० ५.३३)

३. पुरोहितं तथा अथर्वमन्त्रब्राह्मणं पारगम्। (म० पु०)

४. यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वाशान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दान-सम्मान-सत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥ (अथर्व सा० भा० भू० परि० ४.६)

अथर्ववेद की इसी महत्ता को ध्यान में रखकर सम्भवतः कुछ आचार्यों ने इसे प्रथम वेद के रूप में स्वीकारा है । न्याय मञ्जरी कर्त्ता जयन्त भट्ट ने लिखा है- **तत्र वेदाश्चत्वारः प्रथमोऽथर्ववेदः** (न्याय मंञ्जरी पृ० २३७-२३८ चौ० प्र०) । नागर खण्ड भी इसे **आद्यवेद** मानते हुए तर्क देता है कि सार्वलौकिक कार्यसिद्धि में अथर्व ही मुख्य रूपेण प्रयुक्त होता है, इसलिए वह **'आद्य'** कहलाता है । ऐहिक जगत् के लिए फलदायक होने से भी इसे 'आद्य' कहते होंगे, जबकि अन्य तीनों वेद पारत्रिक-आमुष्मिक (पारलौकिक) फलदायक होने से दूसरे स्थान पर आते हैं । आचार्य सायण ने तो अपने अथर्ववेद की भूमिका में यहाँ तक लिखा है कि आमुष्मिक (पारलौकिक) फलदायी वेदत्रयी की व्याख्या के बाद, ऐहिक (ऐहलौकिक) और आमुष्मिक दोनों प्रकार के फल प्रदान करने वाले चतुर्थ वेद (अथर्ववेद) की व्याख्या करूँगा ।[1]

अथर्ववेद के अनेक अभिधान

अथर्ववेद के अनेक अभिधान (नाम) वैदिक वाङ्मय में प्राप्त हैं, यथा-अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अमृतवेद, आत्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, भृग्वांगिरसवेद आदि । **अथर्व** का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए निरुक्त[2] का कथन है - 'थर्व' धातु कुटिलता (थर्व कौटिल्ये), गतिशीलता, हिंसा आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है । अतएव 'अथर्व' का अर्थ हुआ अकुटिलता तथा अहिंसावृत्ति से चित्त की स्थिरता प्राप्त करने वाला । 'अथर्वन्' का एक अर्थ अग्नि को उद्‌बोधित करने वाला 'पुरोहित' भी होता है । सम्भवतः 'अवेस्ता' का 'अथ्रवन्' (अग्निपूजक) शब्द 'अथर्वन्' का प्रतिनिधित्व करता है ।

अथर्ववेद को **'ब्रह्मवेद'** भी कहते हैं । वस्तुतः यह वेद 'यज्ञ संसद' के प्रमुख 'ब्रह्मा' के प्रयोगार्थ निर्धारित है । वैसे 'ब्रह्मा' के लिए चारों वेदों का निष्णात होना विहित है; परंतु 'अथर्ववेद' की विशेषज्ञता उनके लिए अनिवार्य है क्योंकि **'ब्रह्मवेद'** में वह सब कुछ है, जो चारों वेदों में पृथक्-पृथक् प्राप्त होते हैं (**ब्रह्मवेद एव सर्वम्** - गो०ब्रा० १.५.१५) ।

अतएव 'ब्रह्मा' के ब्रह्मकर्म' की प्रमुखता के कारण इसे 'ब्रह्मवेद' की अन्वर्थ संज्ञा प्राप्त है । गोपथ ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषदादि ग्रन्थों में भी अथर्ववेद को ब्रह्मवेद की संज्ञा प्रदान की गई है[3] ।

'अथर्व' की प्राचीन संज्ञा **'अथर्वांगिरस वेद '** भी है । इससे इसका सम्बन्ध 'अथर्व' और 'अंगिरा' दो ऋषिकुलों से संयुक्त प्रतीत होता है । वस्तुतः अंगिरावंशीय अथर्वा ऋषि के द्वारा प्रस्तुत रूप प्रदान किये जाने के कारण इस वेद को 'अथर्वांगिरस वेद' कहा जाता है । यहाँ पर एक बात और ध्यातव्य है कि 'अथर्व दृष्ट' मन्त्र शान्ति और पुष्टि कर्मयुक्त हैं और अंगिरस्-दृष्ट मन्त्र आभिचारिक हैं । प्रथमतः शान्ति - पौष्टिक मन्त्र हैं, बाद में आभिचारिक मन्त्रों का समावेश है । इसलिए अथर्वांगिरस (अथर्व + अंगिरस) संज्ञा सार्थक है ।

'अथर्ववेद' को **'भृग्वांगिरस वेद'** भी कहते हैं । 'भृगु' अंगिरा के शिष्य थे । अथर्ववेद के प्रचार-प्रसार का प्रमुख श्रेय 'भृगु' को ही प्राप्त है, अतः इसे भृग्वांगिरस वेद की संज्ञा प्राप्त हुई और सर्वश्रेष्ठता भी- **एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः** (गो०ब्रा० १.३.४)

अथर्ववेद की उक्त संज्ञाओं के अतिरिक्त कुछ और भी संज्ञाएँ हैं -यथा, **छन्दोवेद** (छन्दांसि-अथर्व० ११.७.२४), **महीवेद** (ऋचः साम यजुर्मही - अथर्व०

---

१. **कृपालुसायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥**
व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याकरिष्यति ॥ (सा० भा० भू० ९-२०)

२. **अथर्वाणो ऽथर्व (ण) वन्तस्थर्वतिश्चरति कर्मा । तत्प्रतिषेधः ।** (नि० ११.२.१८)

३. क. **चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः** (गो० ब्रा० २.१६) ।
ख. **सैव ऋक् तत्साम तदुक्थं तद् यजुस्तद् ब्रह्म** (छा० उ० १.७.५) ।

१०.७.१४), **क्षत्रवेद** (उवथं............यजु.......................साम... ....क्षत्रं.......... वेद - शत० ब्रा० १४.८.१४.२ - ४) तथा **भैषज्य वेद (ऋचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमः**- अथर्व० ११.६.१४)। अथर्ववेद के ये सभी अभिधान उसके व्यापक वर्ण्य विषय को स्पष्ट करते हैं।

तीन संहिताएँ

अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र के दारिल[१] भाष्य में अथर्ववेद की तीन संहिताओं का उल्लेख पाया जाता है, जबकि अन्य तीनों वेदों की एक-एक संहिता ही उपलब्ध होती है, जिसका मुद्रण-प्रकाशन होता रहता है।

दारिल भाष्य में अथर्व की जिन तीन संहिताओं का उल्लेख है, उनके नाम हैं — (i) आर्षी-संहिता (ii) आचार्य संहिता और (iii) विधि-प्रयोग संहिता।

आर्षी संहिता- ऋषियों के द्वारा परम्परागत प्राप्त मंत्रों के संकलन को 'आर्षी संहिता' कहा जाता है। आजकल काण्ड, सूक्त और मंत्रों के विभाजन वाला जो अथववद उपलब्ध है, जिसे शौनकीय संहिता भी कहा जाता है, ऋषि संहिता या आर्षी - संहिता ही है।

आचार्य संहिता - दारिल भाष्य में इस संहिता के संदर्भ में उल्लेख है कि उपनयन संस्कार के बाद आचार्य अपने शिष्य को जिस रूप में अध्ययन कराता है, वह आचार्य संहिता कहलाती है।[२]

विधि प्रयोग संहिता - जब मंत्रों का प्रयोग किसी अनुष्ठेय कर्म के लिए किया जाता है, तो एक ही मंत्र को कई पदों में विभक्त करके अनुष्ठेय मन्त्र का निर्माण कर लिया जाता है, तब ऐसे मन्त्रों के संकलन को विधि-प्रयोग संहिता कहते हैं। '**विधि प्रयोग संहिता**' का यह प्रथम प्रकार है। इसी भाँति इसके चार प्रकार और होते हैं। द्वितीय प्रकार में नये शब्द मन्त्रों में जोड़े जाते हैं। तृतीय प्रकार में किसी विशिष्ट मन्त्र का आवर्त्तन उस सूक्त के प्रतिमंत्र के साथ किया जाता है। इस प्रकार सूक्त के मंत्रों की संख्या द्विगुणित हो जाती है। चतुर्थ प्रकार में किसी सूक्त में आए हुए मंत्रों के क्रम को परिवर्तित कर दिया जाता है। पंचम प्रकार में किसी मंत्र के अर्ध भाग को ही सम्पूर्ण मन्त्र मानकार प्रयोग किया जाता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आर्षी-संहिता मूल संहिता हैं। आचार्य संहिता उसका संक्षिप्तीकरण रूप है और विधि-प्रयोग संहिता उसका विस्तृतीकरण रूप[३]।

अथर्ववेद का शाखा विस्तार

अन्य वेदों की तरह 'अथर्ववेद' की भी एकाधिक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। सायण भाष्य के उपोद्घात, प्रपञ्च हृदय, चरण व्यूह (व्यासकृत) तथा महाभाष्य (पतंजलिकृत) आदि ग्रन्थों में अथर्ववेद की शाखाओं का उल्लेख पाया जाता है। महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में अथर्ववेद की 'नौ' शाखाओं का उल्लेख है - **नवधा ऽऽ थर्वाणो वेदः** (म० भा० पस्प० १.१.१)। सर्वानुक्रमणी (महर्षि कात्यायनकृत) ग्रन्थ में इस संबंध में दो मत उद्धृत किये गये हैं। प्रथम मत के अनुसार पन्द्रह शाखाएँ हैं[४]। वेदों की शाखाओं का प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ 'चरण व्यूह' में अथर्व संहिता के 'नौ' भेद स्वीकार किये गये हैं; जो इस प्रकार हैं - १. पैप्पल २. दान्त ३. प्रदान्त ४. स्नात ५. सौल ६. ब्रह्मदाबल ७. शौनक ८. देवदर्शत और

---

१. **कौशिकी वत्सशर्मा च तत्प्रपौत्रश्च दारिलः। शास्त्र विज्ञाने येषां हि चतुर्थो नोपपद्यते॥**
(श्री एच० आर० दिवेकर द्वारा उद्धृत केशवी तथा दारिल भाष्य)

२. **येन उपनीय शिष्यं पाठयति सा आचार्य संहिता। (कौ० सू० दा० भा०)**

३. इसके विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन के लिए द्रष्टव्य है- डॉ० एच० आर० दिवेकर कृत अथर्व संहिता एण्ड इट्सफार्म्स पेज १९३-३१२ तथा क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत फेलिसिटेशन वाल्यूम, इलाहाबाद।

४. **नवाध्वा ऽऽ थर्वणो ऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्** (सर्वा० वृ० भू० षड्गुरुशिष्य)।

९. चरणविद्य[1] । आचार्य सायण ने भी अपनी अथर्ववेद भाष्यभूमिका में इसकी नौ शाखाएँ ही स्वीकार की हैं; परंतु उनके नाम चरण व्यूह में बताए गये नामों से किंचित् भिन्न हैं, वैसे अधिकांश विद्वानों ने आचार्य सायण द्वारा उल्लिखित नामों को प्रामाणिक माना है। वे इस प्रकार हैं - १. पैप्पलाद २. तौद ३. मौद ४. शौनकीय ५. जाजल ६. जलद ७. ब्रह्मवद ८. देवदर्शी और ९. चारणवैद्य[2] ।

इस प्रकार अथर्ववेद की कुल नौ शाखाएँ प्रसिद्ध हैं; किन्तु वर्तमान में दो शाखाओं से सम्बद्ध संहिता ही उपलब्ध होती है, अन्य सात शाखाओं की संहिताएँ उपलब्ध नहीं होतीं। जो दो शाखाएँ उपलब्ध हैं, उनमें भी एक शौनक संहिता ही आज की प्रचलित संहिता है, दूसरी पैप्पलाद संहिता यदा-कदा किसी पुस्तकालय में ही दर्शनार्थ उपलब्ध होती है, पठन-पाठन हेतु नहीं। इस प्रकार प्रमुख उपलब्ध संहिता शौनकीय ही है, इसके तथा अन्यों के विषय में उपलब्ध संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत है -

१. पिप्पलाद संहिता - 'प्रपञ्चहृदय' नामक ग्रन्थ में इस संहिता की उपलब्ध जानकारी उपनिबद्ध है। उसके अनुसार इस संहिता के आदि मुनि प्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता 'पिप्पलाद' जी हैं। बीस काण्डात्मक इस संहिता की एक मात्र प्रति कश्मीर में उपलब्ध हुई, जो शारदा लिपि में थी, जिसे कश्मीर नरेश ने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० राथ को १८८५ में उपहार स्वरूप प्रदान की थी। उसी की फोटो कॉपी तीन प्रति में सन् १९०१ ई० में डॉ० राथ महोदय ने छपाई थी। महाभाष्य के अनुसार इस संहिता का प्रथम मन्त्र **'शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः'** है। छान्दोग्य मंत्र भाष्य में भी इसी मंत्र को पिप्पलाद संहिता का प्रथम मंत्र स्वीकार किया गया है - **'शन्नो देवी' .... अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः ।'** आज कल की प्रचलित संहिता (शौनक) में यह मंत्र प्रथम काण्ड के षष्ठ सूक्त के पहले मंत्र के रूप में उपलब्ध है।

२. शौनक संहिता - गोपथ ब्राह्मण तथा आजकल की प्रचलित अथर्व संहिता इसी शौनक शाखा की ही है। इस संहिता में २० काण्ड हैं, जबकि अनेक विद्वान् इसे अष्टादश काण्डात्मक ही मानते हैं। उनका कहना है कि उन्नीसवाँ और बीसवाँ काण्ड 'खिल काण्ड' हैं, जो पीछे से अथर्ववेद में सम्मिलित कर लिये गए; किन्तु अन्ततः २० काण्डीय संहिता को मान्यता दे दी गयी है।

इसके सूक्तों के विषय में मत - वैभिन्य है। बृहत्सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसमें ७५९ सूक्त है, परंतु वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित संहिता में ७३१ सूक्त हैं। कई समीक्षकों ने ७३० सूक्त ही माने हैं। वेदाध्ययन परम्परा को गतिशील बनाने में स्वामी गंगेश्वरानन्द जी का अपूर्व योगदान है। उन्होंने चारों वेदों को एक जिल्द में प्रकाशित कराया है, उनके अथर्ववेद में ७३६ सूक्त उपलब्ध हैं।

इन सभी संहिताओं की विवेकसम्मत समीक्षा ७५९ सूक्त मानने के पक्ष में जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण **'बृहत्सर्वानुक्रमणी'** का समर्थन है, साथ ही वेदों तथा वैदिक साहित्य के शोध एवं प्रकाशन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर, पंजाब से प्रकाशित सायणाचार्यकृत भाष्य सहित अथर्व संहिता है। इससे पूर्व सन् १९२९ में सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद से प्रकाशित अथर्व संहिता में भी ७५९ सूक्त ही प्राप्त होते हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत संहिता में भी सूक्त की संख्या ७५९ रखी गई है। सामान्यतः अथर्ववेद में ६००० मंत्र होने का उल्लेख पाया जाता है। किसी-किसी संहिता में ५९८७ मंत्र मिलते हैं (स्वाध्याय मंडल पारडी, बलसाड़ गुजरात - बड़ा टाइप - बड़ी साइज); किन्तु प्रचलित संहिता में मंत्र संख्या ५९७७ ही उपलब्ध होती है। इस संहिता का दक्षिण भारत में विशेष प्रचलन है। आचार्य सायण का भाष्य भी इसी संहिता पर उपलब्ध है।

---

१. अथर्ववेदस्य नवभेदा भवन्ति पैप्पलाः दान्ताः प्रदान्ताः स्नाताः सौलाः ब्रह्मदाबलाः शौनकी देवदर्शती चरणविद्याश्चेति।

२. तस्य ऐहिकामुष्मिक सकलपुरुषार्थ परिज्ञानोपायभूतस्य अथर्ववेदस्य नवभेदा भवन्ति। तद्यथा। पैप्पलादास्तौदाः मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्शाश्चारणवैद्याश्चेति (सा० भा० उपोद्घात)।

अथर्ववेद की अन्य संहिताएँ

अथर्ववेद की उक्त दो प्रमुख संहिताओं के अतिरिक्त, जिन अन्य सात संहिताओं (शाखाओं) का उल्लेख मिलता है, वे नाम मात्र के लिए ही हैं । 'मौद' संहिता का उल्लेख महाभाष्य (४.१.८६) तथा शाबर भाष्य(१.१.३०) में मिलता है । अथर्व परिशिष्ट में मौद तथा जलद शाखा वालों को पुरोहित न बनाने के रूप में उल्लेख मिलता है । वहाँ इनसे राष्ट्र के विनाश की आशंका व्यक्त की गई है ।[१] अथर्व की अन्तिम शाखा चारण-वैद्या के विषय में कौशिक सूत्र (६.३७) की व्याख्या तथा अथर्व परिशिष्ट(२२.२) से कुछ जानकारी मिलती है । वायु पुराणानुसार इस संहिता में ६०२६ मन्त्र थे; परंतु इस संहिता की कोई प्रति उपलब्ध नहीं । अन्य शाखाएँ तौद, जाजल, ब्रह्मवद तथा देवदर्श केवल नामतः प्रसिद्ध हैं, उनका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता ।[२]

अथर्ववेद से सम्बद्ध साहित्य

अथर्ववेद के ब्राह्मण, उपनिषद् , प्रातिशाख्य, शिक्षा, कल्पसूत्र आदि सभी उपलब्ध होते हैं, उनका वर्गीकृत विभाजन निम्नांकित है -

क. ब्राह्मण -१.गोपथ २. पैप्पलाद ।

ख. उपनिषद् - १. प्रश्न २. मुण्डक ३. माण्डूक्य ४. अथर्वशिरस् ५. अथर्वशिखा ६. बृहज्जाबाल ७. नृसिंह तापनी ८. नारद-परिव्राजक ९. सीता १०. शरभ ११. महानारायण १२. रामरहस्य १३. रामतापनी १४. शांडिल्य १५. परमहंस परिव्राजक १६. अन्नपूर्णा १७. सूर्य १८. आत्मन् १९. पाशुपत २०. परब्रह्म २१. त्रिपुरतापनी २२. दैवी २३. भावना २४. ब्राह्म २५. जाबाल २६. गणपति २७. महावाक्य २८. गोपाल तापनी २९. कृष्ण ३०. हयग्रीव ३१. दत्तात्रेय तथा ३२. गरुड़ ।[३]

ग. प्रातिशाख्य - अ. अथर्वप्रातिशाख्य या शौनकीय चतुरध्यायिका (सं० डब्लू० डी० ह्विटने) ब. अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र (सं० - विश्वबन्धु) स. अथर्वप्रातिशाख्य (सं० डॉ० सूर्यकान्त)

घ. शिक्षा - माण्डूकी शिक्षा ।

ड.श्रौत सूत्र - वैतान श्रौत सूत्र ।

च.गृह्य सूत्र - कौशिक गृह्य सूत्र ।

छ.अनुक्रमणी आदि - **१.** अथर्व परिशिष्ट २. चरणव्यूह ३. पंचपटलिका ४. दन्त्यौष्ठ विधि ५. बृहत्सर्वानुक्रमणी ६. नक्षत्रकल्प ७. आंगिरस कल्प ८. शान्तिकल्प ९. चरणव्यूह सूत्र १०. अथर्वप्रायश्चित्त ।

ज.उपवेद - १. सर्पवेद २. पिशाचवेद ३. असुरवेद ४. इतिहासवेद ५. पुराणवेद[४] ।

अथर्ववेद के भाष्यकर

अथर्ववेद के भाष्यकारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - १. प्राचीन २. अर्वाचीन ।

१. सायण - अथर्ववेद के प्राचीन भाष्यकारों में एक मात्र आचार्य सायण (१४वीं शताब्दी) का भाष्य ही उपलब्ध होता है, वह भी लगभग दो तिहाई पर ही, एक तिहाई पर उपलब्ध नहीं है । जिस पर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं, वे काण्ड हैं - ५, ९, १०, १२, १३, १४,

---

१. पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात् कदाचन ।
अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥ (अथर्व० परि० २५.२)

२. अथर्ववेद की शाखाओं के विस्तृत विवेचन के लिए देखें --- डॉ० गंगसागर राय कृत शाखाज् ऑफ द अथर्ववेद, पुराणम् xiv.2 PP 58-59

३. प्रश्नमुंडमांडूक्याथर्वशिरो . . ..दत्तात्रेय गारुडानामथर्ववेदगतामेकत्रिंशत्संख्यकानामुपनिषदां (मुक्ति० १.५) ।
इस उद्धरण में ३१ संख्या उल्लिखित है, परंतु गणना से ३२ सिद्ध होती है ।

४. ....पञ्चवेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदं असुरवेदं इतिहासवेदं पुराणवेदमिति (गो० ब्रा० १.१.१०)।

१५ तथा १६। इनके अतिरिक्त ८वें तथा २०वें काण्ड पर सायण भाष्य आंशिक रूप से ही उपलब्ध है।

सायण भाष्य पर आधारित तीन संहिताएँ प्रकाशित हैं - १.निर्णय सागर प्रेस सं० स्व० शंकर पाण्डुरंग पण्डित १८९५-९८ ई० २. सनातन धर्म यन्त्रालय मुरादाबाद (उ०प्र०) सं० श्री रामचन्द्र शर्मा १९२९ ई० तथा ३. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर (पंजाब) सं० श्री विश्वबन्धु १९६०-६४ ई०। अर्वाचीन भाष्यकारों में पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् दोनों हैं। उनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

१. ग्रिफिथ - सम्पूर्ण अथर्ववेद का अँग्रेजी अनुवाद आर० टी० एच० ग्रिफिथ ने दो भागों में बनारस से प्रकाशित किया (१८९५-९६ई०)।

२. ह्विटनी - सम्पूर्ण अथर्ववेद का अँग्रेजी अनुवाद डब्ल्यू० डी० ह्विटनी ने किया, जिसका संपादन सी० आर० लानमन ने किया (१९०५ ई०)।

३.ब्लूमफील्ड - अथर्ववेद का अधिकांश भाग अंग्रेजी में एम० ब्लूमफील्ड ने अनुवादित किया।

४. ल्यूडविश - अथर्ववेद का जर्मन भाषा में अनुवाद ए० ल्यूडविश और जे० ग्रिल ने किया।

५. सातवलेकर - 'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य' नाम से एक विस्तृत भाष्य श्री श्रीपाददामोदर सातवलेकर जी ने बड़े आयासपूर्वक सम्पन्न किया।

६. जयदेव विद्यालंकार - पं० जयदेव शर्मा ने अथर्ववेद का भाष्य आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर से प्रकाशित किया है।

अथर्ववेद का विषय - विभागक्रम

अथर्व संहिता का विभाग क्रम दो प्रकार से है - १. काण्ड, सूक्त तथा मन्त्र और २. काण्ड, अनुवाक, प्रपाठक, सूक्त तथा मन्त्र। सम्पूर्ण अथर्ववेद २० काण्डात्मक है। काण्ड, सूक्त और मन्त्र का विभाजन ही सुगम और सर्वमान्य प्रतीत होता है। दूसरा काण्ड, अनुवाक, प्रपाठक, सूक्त और मन्त्रात्मक विभाजन पारायण (पाठ) की सुविधा के लिए किया गया प्रतीत होता है, जो आज उतना लोकप्रिय नहीं है, न सुविधापूर्ण ही। अथर्ववेद को रचनाक्रम की दृष्टि से चार भागों में बाँटा जा सकता है -

(i) प्रथम भाग - (१ से ७ काण्ड) - इस विभाग में छोटे-छोटे सूक्त हैं। प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ४ मन्त्र, द्वितीय काण्ड में ५ मंत्र, तृतीय काण्ड में ६ मन्त्र, चतुर्थ काण्ड में ७ मन्त्र तथा पंचम काण्ड में ८ मन्त्र हैं। षष्ठ काण्ड के प्रत्येक सूक्त में कम से कम ३ मन्त्र हैं। सप्तम काण्ड में अधिकांशतः सूक्त १ या २ मन्त्र के ही हैं।

(ii) द्वितीय भाग (८ से १२ काण्ड) - ये सभी काण्ड बड़े-बड़े सूक्तों वाले हैं, परंतु प्रत्येक काण्ड एवं सूक्तों के विषय भिन्न-भिन्न विषयों वाले हैं। १२वें काण्ड के प्रारम्भ में पृथ्वी-सूक्त है, जो ६३ मन्त्रों वाला है, जिसमें भौगोलिक परिदृश्यों एवं राजनैतिक सिद्धांतों का वर्णन है।

(iii) तृतीय भाग (१३ से १८ काण्ड) - इस भाग के प्रत्येक काण्डों के सूक्तों में विषयों की एकरूपता है। १३वें काण्ड में अध्यात्म विषयक मन्त्र हैं। १४वें काण्ड में विवाह विषयक मन्त्र है। १५वें काण्ड में व्रात्यों के यज्ञ विषयक आध्यात्मिक मन्त्र हैं। १६ वें काण्ड में दुःस्वप्ननाशक मन्त्र हैं। १७ वाँ ३० मन्त्रों वाला एक सूक्तात्मक है, जिसमें सम्मोहन मन्त्र है। १८वें काण्ड में अन्त्येष्टि एवं पितृमेध विषयक मन्त्र है।

(iv) चतुर्थ भाग (१९ से २० काण्ड) - १९वें काण्ड में भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा अध्यात्म विषयक मन्त्र हैं। २०वें कांड में सोमयाग विषयक मन्त्र हैं तथा अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद के हैं अथवा ऋग्वेद की ऋचाओं से साम्य रखते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अथर्ववेद के मन्त्र तीन प्रमुख विषयों का प्रतिपादन करते हैं -

(i). भेषज अर्थात् रोग दूर करने वाली ओषधियों का प्रतिपादन (ii) अमृत अर्थात् मृत्यु को दूर करने के साधन का प्रतिपादन और (iii) ब्रह्म अर्थात्

बृहद्- सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का प्रतिपादन।[1] एक वाक्य में अथर्ववेद के मंत्रों का माहात्म्य अथवा वर्ण्यविषय का प्रतिपादन करते हुए अथर्व परिशिष्टकार ने लिखा है -

अथर्वमंत्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति (अथर्व.परि.२.५) अर्थात् अथर्ववेदमंत्र की सम्प्राप्ति (सम्यक् ज्ञान) से सब पुरुषार्थ सिद्ध होंगे।

वर्ण्य विषय - अथर्ववेद के वर्ण्य विषयों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सायणाचार्य ने उसको १४ विभागों में विभक्त किया है। बाद में अध्येता विद्वानों की सूची में २९ विषयों का उल्लेख है।

कौशिक सूत्रानुसार अथर्ववेद के १४ वर्ण्य - विषय - १.यज्ञानुष्ठान एवं संस्कार २.पौष्टिक कर्म ३. अनिष्टनिवारण एवं शान्तिकर्म ४. समृद्धि ५. राजव्यवस्था, ६. अभ्युदय एवं अभीष्टसिद्धि ७. शिक्षा ८. सामनस्य- ऐक्य भाव ९. भैषज्य १०. आभिचारिक प्रयोग ११. स्त्रीकल्याण १२. गृह-सज्जा १३. प्रायश्चित्त विधान १४. भविष्य कथन।कालान्तर में इन वर्ण्य-विषयों की और विशद विवेचना प्रस्तुत की गई। उस आधार पर अथर्व के उक्त १४ विषय बढ़कर २९ हो गये, जो इस प्रकार हैं -

१. पाक यज्ञ २. मेधाजनन प्रयोग ३. ब्रह्मचर्यसिद्धि ४. ग्राम नगर संवर्द्धन ५. पुत्र-कलत्र, प्रजा-पशु आदि की समृद्धि ६. सामंजस्य-ऐक्यभाव ७. राजकर्म ८. शत्रुसादन ९. संग्राम विजय १०. शस्त्र परिहरण ११. सैन्य- स्तम्भन १२. सैन्य-परिरक्षण १३. जय-पराजय विचार १४. सेनापत्यादिक कर्म, १५. सैन्य भेदनीति, १६. राजा की पुनः स्थापना १७. प्रायश्चित्त कर्म १८. कृषि आदि संवर्द्धन १९. गृहस्थ अभ्युदय २०. भैषज्य कर्म २१. संस्कार २२. सभा-जय साधन २३. वृष्टि - प्रयोग २४. अभ्युदय कर्म २५. वाणिज्य-कर्म २६. ऋण विमोचन २७. अभिचार निवारण २८. आयुष्य कर्म २९. यज्ञानुष्ठान।

अथर्ववेद के ये प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। इनके भी कई अवान्तर भेद-उपभेद हो सकते हैं, जिनकी संख्या बहुत हो सकती है, इन्हें देखकर निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि यह वेद जीवन को समग्रता से जीने, बाधाओं को निरस्त करने एवं सुख-शांतिमय प्रगतिशील जीवन के सूत्रों की कुञ्जियाँ, अपने आप में सँजोये हुए हैं।

ऋषि, देवता, छन्द

वेदार्थों को खोलने में ऋषि, देवता एवं छन्दों की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अथर्ववेद के ऋषि, देवता एवं छंदों की विशिष्टता पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा।

ऋषि - अथर्ववेद के अधिकांश सूक्तों के ऋषि 'अथर्वा' (अविचल प्रज्ञायुक्त - स्थिरप्रज्ञ) ऋषि हैं। अन्य अनेक सूक्तों के ऋषियों के साथ भी अथर्वा का नाम संयुक्त है, जैसे अथर्वाचार्य, अथर्वाकृति, अथर्वाङ्गिरा, भृग्वङ्गिरा ब्रह्मा आदि।अथर्ववेद के ऋषियों में बहुत से ऐसे नाम हैं, जो व्यक्तिवाचक नहीं, भाववाचक - अशरीरी लगते हैं, जैसे नारायण, ब्रह्मा, भुवन, भुवन-साधन, भर्ग, आयु, यक्ष्मानाश, सूर्या, सावित्री आदि ।स्पष्ट है कि मन्त्रद्रष्टा (मंत्रों के प्रथम प्राप्तकर्त्ता) ने जिस चेतन धारा के साथ एकात्मता स्थापित करके मंत्र प्राप्त किए, उसी सचेतन दिव्य धारा को ऋषि माना, स्वयं को नहीं। उन्हें वे चेतन धाराएँ मूर्तिमान् व्यक्तित्वयुक्त प्रतीत होती रही होंगी।

देवता - अथर्ववेद में देवताओं की संख्या अन्य वेदों की अपेक्षा दोगुनी से भी अधिक है। यह इसलिए भी है, कि इसके वर्ण्य विषय बहुत अधिक हैं, जिसे लक्ष्य करके मंत्र कहा जाता है, उसे देवता कहते हैं। अतः उनका भाववाचक होना, तो आम बात है, किंतु अथर्ववेद में देवताओं के संबोधन कुछ विचित्रता लिए हुए हैं, जैसे अज (अजन्मा), मातृनामा, ईर्ष्योपनयन, यक्ष्मनाशन, कृत्यादूषण, कालात्मा, कामात्मा, शतौदनागौ, सप्त ऋषिगण, सभा आदि।

---

१. ये ऽ थर्वाणस्तद्भेषजम्। यदमृतं तद्ब्रह्म॥ (गो० ब्रा० १.३.४)

मन्त्रार्थों के संदर्भ में जहाँ देवताओं की अवधारणा स्पष्ट करने की आवश्यकता अनुभव की गयी है, वहाँ उनको स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, आवश्यकतानुसार टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं ।

छन्द - अथर्ववेद में छन्दों की विविधता भी अन्य वेदों की अपेक्षा बहुत अधिक है । अनेक छन्द ऐसे हैं , जिनका उल्लेख छन्द: शास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता । कुछ छन्द ऐसे हैं, जिन्हें कई छन्दों को मिलाकर रचा गया है । संभवत: ऋषि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया होगा ।**कुन्ताप सूक्त** (काण्ड २० सू० १२९) में तो मन्त्रांश हैं और कहीं पर तो एक-एक शब्द के ही मंत्र हैं । उन्हें छन्दों की किसी स्थापित धारा में प्राय: नहीं लिया जा सकता, उनके अर्थों का बोध भी दुरूह है ।

मंत्रार्थ की शैली

अथर्ववेद का सूत्र ग्रंथ 'कौशिक सूत्र' है । उसमें मंत्रों के विशिष्ट प्रयोगों का उल्लेख किया गया है । आचार्य सायण ने मंत्रों के अर्थ बहुधा कौशिक सूत्र में वर्णित उनके प्रयोगों के आधार पर किये हैं । आचार्य सायण की प्रतिभा एवं महत्ता को नमन करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि मंत्रार्थ की यह शैली सटीक नहीं है । किसी मन्त्र का अर्थ अलग बात है तथा उसका उपयोग किसी विशिष्ट प्रक्रिया में किया जाना कुछ और ही बात है । जैसे- पुरुष सूक्त के मन्त्रों से षोडशोपचार पूजन करने की परम्परा है । सूक्त में वर्णित परमपुरुष परमात्मा की विराट् सत्ता का चिंतन करते हुए पूजन की क्रियाएँ सम्पन्न करना बिल्कुल ठीक है; किन्तु यदि विभिन्न मन्त्रों के अर्थ उनके साथ की जाने वाली क्रियाओं के अनुसार किया जायेगा, तो पुरुष सूक्त के साथ न्याय नहीं हो सकता । **'नाभ्याऽसीद् अन्तरिक्षं'** मंत्र का अर्थ नैवेद्य चढ़ाने की क्रियापरक कैसे हो सकता है ? **'सप्तास्यासन्परिधयस्त्रि; सप्त समिध: कृता: '** मंत्र से परिक्रमापरक अर्थ कैसे निकलेगा ?

सभी लोग जानते हैं कि राष्ट्रीय-ध्वज फहराते ही सभी लोग सलामी देते हुए राष्ट्रगान गाते हैं । इस आधार पर यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रगान का अर्थ झण्डा फहराने तथा सलामी देने की क्रियापरक करने लगे, तो बात कैसे बनेगी ? झण्डे की सलामी की प्रक्रिया के साथ राष्ट्रगान गाने की परम्परा सही होते हुए भी, उसका अर्थ उस प्रक्रिया से अलग ही होगा । अस्तु, अथर्ववेद के मंत्रार्थ में कौशिक सूत्र में वर्णित प्रयोगपरक अर्थों की ओर जबरदस्ती मोड़ना उचित नहीं प्रतीत होता ।

इसी प्रकार कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने मंत्रों के अर्थ आग्रहपूर्वक आध्यात्मिक संदर्भ में ही किये हैं । कुछ मंत्र जो क्रियापरक हैं, उनके भी आध्यात्मिक अर्थ निकल तो आते हैं, किन्तु मन्त्रार्थों की स्वाभाविकता उससे खंडित होती है । प्रस्तुत भाषानुवाद में मंत्रों की स्वाभाविक धारा को बनाये रखकर, उनके अर्थ करने का प्रयास किया गया है ।

वेदमंत्र अनेकार्थक तो होते ही हैं । आलंकारिक ढंग से, किन्हीं स्थूल वस्तुओं या प्रक्रियाओं के हवाले से गूढ़ रहस्यों को समझाना ऋषियों की विशेषता रही है । द्रष्टाओं के उदाहरण को भी ठीक से समझ पाना बड़ा कठिन होता है । उन्हें भाष्य- शैली में स्पष्ट करना भी कठिन होता है, भाषार्थ शैली में तो यह कार्य और भी दुरूह हो जाता है । फिर भी यथास्थान टिप्पणियों द्वारा उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, ताकि अध्येताओं को उन काव्यात्मक अलंकारों के भाव समझने में सुविधा हो इसे वेदभगवान् की कृपा ही कहा जा सकता है ॥

मणि- अनेक प्रकार की मणियों का प्रयोग तथा उनकी महत्ता अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में वर्णित है । मणि को तैयार करने, प्राप्त करने तथा धारण करने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं ।मणि सम्बोधन वेद में व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । वनस्पतियों एवं ओषधियों से निर्मित मणियों का भी उल्लेख है । उन्हें मंत्रशक्ति से अनुप्राणित भी किया जाता है; किन्तु कुछ मणियों को तो दिव्य गुणों-दिव्य शक्तियों के रूप में ही मानना पड़ता है । यह परम्परा भारतीय वाङ्मय में रही भी है । जैसे रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है -

'रामनाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार' तथा **'मंत्र महामणि विषय ब्याल के.... '**

उक्त पदों में रामनाम एवं मंत्रादि को मणि कहा गया है। अथर्ववेद में भी स्राक्त्यमणि (८.५.३) एवं त्रिसंध्या मणि आदि संबोधन ऐसी ही शक्ति बीजरूप मणियों के लिए प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। मणि प्रसंगों में संदर्भानुसार उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मंत्रार्थ खोलने का प्रयास किया गया है।

मातृनामा–मातृनामा का उल्लेख सूक्त ४.२० के ऋषि एवं देवता के रूप में किया गया है। कुछ आचार्यों ने इस सम्बोधन को मंत्रों में वर्णित त्रिसन्ध्या एवं सदम्पुष्पा मणियों से जोड़ा है। हितकारिणी ओषधियों को मातृनामा (माता जैसे- प्रभावशाली) कहना उचित है। फिर भी विभिन्न मंत्रों में उनके प्रभाव के विवरण के आधार पर उन्हें मातृसत्तात्मक दिव्य प्रवाह ही मानना युक्तिसंगत लगता है। इस अवधारणा के आधार पर मंत्रार्थ स्वाभाविक रूप में सिद्ध हो जाते हैं।

कृत्यादूषण – अनेक सूक्तों के देवता के रूप में यह सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। कृत्यादूषण - 'कृत्या' अथवा उसके प्रभाव को नष्ट करने के प्रयोग अनेक स्थानों पर आये हैं। 'कृत्य' का अर्थ होता है, करने योग्य क्रिया और कृत्या दूषण का अर्थ हुआ किये हुए की प्रतिक्रिया। इस आशय से 'कृत्या' का प्रयोग भले-बुरे दोनों अर्थों में किया जा सकता है, किन्तु 'कृत्या' शब्द का प्रयोग किसी हानिकारक मारक शक्ति के रूप में ही किया जाता रहा है। शत्रुनाश के लिए 'कृत्या' प्रयोग तो निश्चित रूप से 'मारक' संकल्प के साथ किये गये कार्यों के वाञ्छित प्रतिफलों के साथ कुछ अवाञ्छित फल भी निकल पड़ते हैं, उन्हें भी 'कृत्या' कह सकते हैं। जैसे-समुद्र मन्थन रत्नों की प्राप्ति के संकल्प के साथ किया गया था; किन्तु उससे हलाहल विष भी निकल पड़ा, अच्छे उत्पादन के प्रयास में फैक्ट्रियों से प्रदूषण भी निकल पड़ता है। मनुष्य में कर्म संकल्प एवं कर्मशक्ति के विकास के लिए काया, इन्द्रियाँ तथा कामनाएँ आवश्यक हैं। उनके इष्ट प्रयोगों के साथ अनिष्ट प्रयोग भी होने लगते हैं; उन्हें भी 'कृत्या' कह सकते हैं। प्रजनन द्वारा सृष्टि कार्य आगे बढ़ाने के लिए प्रदत्त कामशक्ति, कामवासना बनकर अनिष्टकारी बन जाती है, उसे भी 'कृत्या' कह सकते हैं। इस प्रकार कृत्या के स्थूल-सूक्ष्म अगणित स्वरूप सिद्ध हो सकते हैं। किसी उपजी 'कृत्या' अथवा 'कृत्यादूषण' का शमन आवश्यक हो जाता है। वेद द्वारा कृत्या निवारण को इसी प्रकार के व्यापक संदर्भ में लेने से वेदमंत्रों के अर्थ भली प्रकार प्रकट हो सकते हैं। किसी एक परम्परा में प्रयुक्त प्रयोगों तक उसे सीमाबद्ध करना उचित नहीं लगता, अस्तु, प्रस्तुत वेदार्थ में परम्परा के साथ व्यापक प्रयोगों को समाहित रखने का प्रयास किया गया है।

ब्रह्मजाया– अथर्व० ५.१७ में देवता ब्रह्मजाया का वर्णन है। जाया का सीधा अर्थ पत्नी होता है। ब्रह्म की पत्नी अथवा ब्राह्मण की पत्नी के संदर्भ से संगति ठीक-ठीक बैठती नहीं। उसे **'ब्रह्मविद्या'** के संदर्भ में लेने से मंत्रार्थों की गरिमा तथा परम्परागत अर्थ दोनों की संगति ठीक बैठ जाती है।

ब्रह्मगवी : – सूक्त ५.१८ के देवता रूप में वर्णित ब्रह्मगवी का अर्थ ब्राह्मण की गाय अधिकांश विद्वान् करते हैं। गौ माता के प्रति श्रद्धा तथा उनकी महत्ता बढ़ाने के लिए मंत्रों में वर्णित असामान्य प्रभावों को 'गौ' से जोड़ना उचित भी है; किन्तु मन्त्रों के भाव इस अर्थ के साथ ठीक प्रकार सिद्ध नहीं होते। ब्राह्मण की गाय जो उसको पोषण देती है, वह उसकी निष्ठा- प्रवृत्ति है। इसलिए **'ब्रह्मगवी'** का अर्थ **'ब्रह्म वृत्ति'** लेने से ही बात बनती है। इसी प्रकार 'शतौदना' गौ, वशा गौ, स्कम्भ आदि के बारे में व्यापक पूर्वाग्रहमुक्त होकर ही अर्थ करने पड़े हैं, अध्येताओं को उनसे तुष्टि के साथ नयी दृष्टि भी मिल सकेगी, ऐसी आशा है। मंत्रों के बीच-बीच में भी आलंकारिक प्रयोगों को टिप्पणियों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जैसे अथर्व० ४.७.३ में रोगी को परामर्श दिया गया है कि भूख के अनुसार करंभ (औषधियुक्त खाद्य का मिश्रण) खाने और पीवपाक (चर्बी पकाने) विधि का प्रयोग तुम्हे विष प्रभाव से बचा लेगा। यहाँ चर्बी पकाने की विधि का यह स्पष्टीकरण आवश्यक है- अन्यथा कोई नासमझ चर्बी पकाकर उसका करंभ (मिश्रण) बनाकर शारीरिक विषों से मुक्ति चाह सकता है। पाद टिप्पणी में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि भरपूर श्रम, जिससे शरीर की चर्बी गलने लगे, ऐसे प्रयोग को 'पीवपाक' कहा जाना युक्तिसंगत है। स्थान-स्थान पर ऐसे स्पष्टीकरण देने वाली टिप्पणियों का संतुलित प्रयोग किया गया है।

कुछ रहस्यात्मक प्रसंग

वेद यों तो सारे के सारे गूढ़ हैं, उनके मर्म को समझना कठिन है, फिर भी उनकी भाषा के आधार पर उनके भावों को कुछ अंशों तक समझ लिया जाता है; किन्तु अथर्व में ऐसे अनेक रहस्यात्मक प्रकरण हैं, जिनको न समझ पाने के कारण भ्रम उत्पन्न होते हैं ।

जादू टोने का भ्रम - अथर्ववेद में बाधाओं से बचने तथा दुष्टों के दमन के क्रम में अनेक रहस्यात्मक प्रयोगों का उल्लेख है । कुछ विदेशी विद्वान् इस आधार पर इसमें जादू - टोना होने का आरोप लगाते हैं, कुछ लोग इसे दूसरों को हानि पहुँचाने की हीन- विधाओं का समर्थक कहते हैं, किन्तु विवेकपूर्ण समीक्षा से ऐसे सब आरोप निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं ।

सब जानते हैं , कि संसार में भले-बुरे सभी तरह के लोग भी हैं तथा अच्छे-बुरे सभी तरह के स्थूल-सूक्ष्म प्रवाह भी हैं । स्वयं को सदाचारी बनाकर नीतिनिष्ठ तथा समर्थ बनाना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है, दुष्टवृत्तियों-दुष्प्रयासों से अपने आप को बचाना । इसके लिए आत्मरक्षा के उपायों के साथ-साथ कभी-कभी आक्रामक रुख बनाना पड़ता है । रोग से बचने के साथ-साथ रोग पर मारक आक्रमण भी करने पड़ते हैं । दुरुपयोग से तो बुद्धि भी कुचक्र रचने वाली बन जाती है और सदुपयोग करने से घृणा भी दोषों से बचा लेती है । अस्तु , विकारों तथा विकृत प्रक्रियाओं को नष्ट करने के प्रयासों को हीन प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता। उस विद्या का भी विवेकपूर्ण उपयोग समय-समय पर अत्यंत आवश्यक हो जाता है ।जादू तो हमारे अज्ञान का परिचायक है । लोग विज्ञान के तथा हाथ की सफाई के तमाम कौशल दिखाते हैं । समझने वालों के लिए वे कौशल, सुनिश्चित प्रक्रियाएँ हैं और न समझ पाने वालों के लिए जादू हैं ।

यदि किसी ने **'इलैक्ट्रोस्टेट'** मशीन न देखी हो और कोई जानकार उसे समझाए कि यहाँ से सादा कागज डालो - उधर से छपा हुआ निकाल लो, तो अनजान व्यक्ति यही कहेगा कि जादूगरी करके हमें बहका रहा है; किन्तु सत्य तो सत्य है, जो उसे जानता है, वह तो व्यक्त करने का प्रयास करेगा ही । वेद में ऋषियों ने अपनी सांकेतिक भाषा में (जो उस समय सहज ग्राह्य रही होगी) उपयोगी बातें बतलायी हैं । हमारी बुद्धि जितना समझ पाए, उसका लाभ उठाए; किन्तु जो बातें हम समझ नहीं पाते, उन्हें किन्हीं हीन परिकल्पनाओं से जोड़ना उचित नहीं । दूसरी बात यह है कि जादू शब्द हमेशा बुरे अर्थों में ही प्रयुक्त नहीं होता । यदि कोई बालक या व्यक्ति किसी भी प्रकार कोई उचित बात समझ नहीं रहा है, ऐसे में कोई मनोवैज्ञानिक मेधा- सम्पन्न व्यक्ति उसे सहमत कर ले, तो लोग हर्षित होकर कह उठते हैं वाह ! इसने तो जादू कर दिया । माँ का - संतों का अपनत्व भरा व्यवहार ऐसे जादू करता ही रहता है ।उपचार पद्धतियों में आज भी अनेक प्रक्रियाएँ जादू जैसी लगती हैं । होम्योपैथी में रसायन विज्ञान (कैमिस्ट्री) के हिसाब से देखें, तो १००० शक्ति (पौटैन्सी) की दवा में एक घन सेन्टीमीटर द्रव में मुश्किल से ओषधि का एक कण (मालीक्यूल) आता है । उस द्रव की छोटी बूँद में तो दवा कुछ भी नहीं रह जाती, फिर वह असर कैसे करती है ? यह बात समझ में न आने से जादू जैसी लगे भले, किन्तु है तो एक सूक्ष्म विज्ञान के अनुशासन में ही । इसी प्रकार एक्सरे, इंफ्रारैड, अल्ट्रा वायलेट एवं लेसर किरणों से किया जाने वाला उपचार अज्ञानियों को जादू जैसा लगे भले ही, किन्तु है तो वह विज्ञान सम्मत प्रक्रिया ही ।

वेदकाल में ऐसी सूक्ष्म चिकित्साओं की श्रेणी में प्राण तथा मन्त्र की सूक्ष्म धाराओं का प्रयोग सहज ही किया जाता रहा है । वे शक्तियाँ पवित्र जीवन जीने वाले, प्रकृति के संसर्ग में रहने वाले तपस्वी स्तर के व्यक्तियों को सहज उपलब्ध रहती थीं । अत: वे ओषधियों , मणियों आदि के साथ उन सूक्ष्म धाराओं को संयुक्त करके उपचार किया करते थे । आज वह प्रक्रिया हमारे लिए दुरूह हो गयी है, तो भी उसे नकारा नहीं जा सकता । अथर्ववेद में ऐसे प्रसंग भी पर्याप्त हैं । मन्त्रार्थों में ऐसे प्रसंगों को चेतना विज्ञान की ऐसी धाराएँ मानकर चला गया है, जो फिलहाल स्पष्ट नहीं हो पायी हैं ।

दुर्बोध शब्दावली - अथर्ववेद में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जिनके अर्थ एवं उद्देश्य तो सहज ही स्पष्ट हो जाते हैं, किन्तु उनमें जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनके अर्थ खोजे नहीं मिलते । निरुक्तकार यास्क भी

उस संदर्भ में मौन हैं।ताबुव एवं तस्तुव के सर्प-विषनाश की बात बहुत स्पष्टता से कही गयी है, किन्तु ये क्या हैं ? अब तक किसी व्याख्याकार की समझ में नहीं आया। इसी प्रकार के कुछ शब्द हैं - खृगल, विशफ, काबव, कर्शफ आदि।ओषधि प्रयोगों में अनेक ऐसी ओषधियों का वर्णन किया गया है, जिनका उल्लेख किसी भैषज्यग्रंथ में नहीं मिलता, जैसे अरंघुष, अरुन्धती, उपजीका, अश्ववार आदि। मणियों के संदर्भ में भी जंगिड़ मणि, प्रतिसरमणि अस्तृतमणि की भावात्मक व्याख्या करके ही चुप रह जाना पड़ता है। आलंकारिक, सांकेतिक शब्दावली जैसे - कोकयातु (चक्रवाक पक्षी जैसी कामवृत्ति), सुर्पायातु (गरुड़ जैसा दर्प), श्वयातु (कुत्ते की तरह जातिद्रोह) आदि को यथा स्थान स्पष्ट किया गया है।

अथर्ववेद २०वें काण्ड के सूक्त क्र० १२७ से क्र० १३६ तक के सूक्तों को **कुन्ताप सूक्त** कहते हैं। कुछ विद्वान् इन्हें 'खिल' (प्रक्षिप्त) मानते हैं; किन्तु कालान्तर में इन्हें संहिता का ही अंग स्वीकार कर लिया गया है। आचार्य सायण के भाष्य में इन सूक्तों पर भाष्य प्राप्त नहीं है, अथर्ववेद के ही कुछ अन्य सूक्तों पर भी उनके भाष्य प्राप्त नहीं हैं। हो सकता है कि उनके भाष्य के कुछ अंश काल- प्रभाव से नष्ट हो गये हों ?जो भी हो, किन्तु अब वे सभी मान्यता प्राप्त संहिताओं में हैं तथा अध्येताओं-विद्वानों के लिए चुनौती भरे आकर्षण बने हुए हैं। सभी ने उन्हें दुरूह-दुर्बोध माना है।गोपथ ब्राह्मण, उत्तरभाग, प्रपाठक ६, कण्डिका १२.४ में कुन्ताप का अर्थ **'कुयान् तप्यन्ते'** कुत्सित- निन्दित (पापों) को तापित (तपाकर भस्म) करने वाला बतलाया गया है। इससे यज्ञानुष्ठान कर्त्ता के पापों को भस्म किया जाता है।वैतान सूत्र (६.२) के अनुसार इसका प्रयोग सोमयागों के छठवें दिन 'पृष्ठ्य' स्तुतियों के रूप में किया गया है। सूत्रकार ने इस सूक्त समुच्चय के सूक्तों को इस प्रकार अलग-अलग विभागों में विभक्त किया है - सू० क्र० १२७-२८ कुन्ताप; सू० क्र० १२९,३०,३१,३२ एतश, सू० क्र० १३३प्रवह्लिका, सू० क्र० १३४ प्रतिराधा, सू० क्र० १३५ अतिवाद तथा सू० क्र० १३६ आहनस्य कहे गये हैं।

इन सूक्तों में गेय पद वाले मंत्रों से लेकर एक-एक शब्द वाले मन्त्र तक हैं। जैसे - प्रतित्रय: (१२९.८) पृदाकव: (१२९.९), पाकबलि:, शाकबलि: (१३१.१५-१६) आदि।

भारत की ऋषि-परम्परा में यह कोई अनहोनी बात नहीं है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने तो उच्चारण एवं भावना या संकल्पशक्ति के संयोग से कार्य करने वाले एकाक्षर मंत्र (ह्रीं, श्रीं, क्लीं, हुं आदि) भी रचे हैं, तो एक शाब्दिक मंत्रों को अटपटा क्यों मानें ? एकाक्षर मंत्रों की तरह इनके भी प्रयोग हो सकते हैं; किन्तु शब्द में अर्थात्मक सूत्र भी सन्निहित होते हैं, उन्हें खोलने में कठिनाई होना स्वाभाविक है, फिर भी देशकाल की आवश्यकता के अनुरूप वेद मंत्रों ने अपना जितना स्वरूप खोला है, उतने को भावानुरूप भाषा देने का प्रयास किया गया है। सभी वेदों की तरह अथर्ववेद में भी पदार्थ विज्ञान, मनोविज्ञान एवं चेतना विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को सांकेतिक विधि से व्यक्त किया गया है। आशा है इस प्रयास से जनसामान्य को वेदज्ञान का लाभ उठाने तथा गहन अध्येताओं को शोध के नये आयाम प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। सभी को वेदों की सांस्कृतिक गरिमा तथा उपयोगिता का बोध हो सकेगा।

गायत्री तपोभूमि से वेदों के प्रथम सर्वसुलभ संस्करण प्रकाशित करते समय पू० गुरुदेव ने इच्छा व्यक्त की थी कि समय आने पर विशिष्ट टिप्पणियों सहित वेदों के नये संस्करण छापेंगे। उसके लिए वे ऐसे सूत्र बनाकर दे गये थे, जिनके आधार पर इस कार्य का सम्पन्न होना संभव हुआ। वे शरीर के बंधनों में आबद्ध रहकर भी सहस्रों बुद्धियों तथा हाथों से कार्य लेते रहे, उन बन्धनों से मुक्त होकर तो उनकी वह शक्ति और भी प्रखर हो उठी। उन्होंने मानों हाथ पकड़ कर यह सब करा लिया। 'नेति-नेति' कहे जाने वाले तत्त्व को उन्होंने किस मर्यादा के अनुसार कितना खोला, यह तो वे ही जानें, किन्तु पंचभूतों की यह काया अपनी आयु समाप्त होने के पूर्व उनकी कठपुतली के रूप में अपनी यह भूमिका भी निभा पायी, इसका संतोष अवश्य है।

आनो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:।

— भगवती देवी शर्मा

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे।
साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व ॥

जो साधक प्राण (गय) से उत्तर (आगे) स्थित

अमृत-प्रवाह को प्राप्त करके गायत्री

महाविद्या में गतिशील होते हैं,

जो साम (आत्मतत्त्व) से, साम (परमात्मतत्त्व)

को जानते हैं, वे ही जानते हैं कि अज

(अजन्मा-परमात्मा का) कहाँ

प्रत्यक्ष (साक्षात्कार)

होता है ॥

(अथर्व० १०. ८. ४१)

अथर्ववेद-संहिता

॥अथ प्रथमं काण्डम्॥

[१- मेधाजनन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा। देवता - वाचस्पति। छन्द - अनुष्टुप्, ४ चतुष्पदा विराट् उरोबृहती।]

इस सूक्त के देवता वाचस्पति हैं। वाक् - शक्ति से अभिव्यक्ति होती है। परब्रह्म में तो अव्यक्तरूप में सभी कुछ समाहित रहता ही है; किन्तु जब वह अव्यक्त को अभिव्यक्त करता है, तो उसे वाचस्पति कहना युक्तिसंगत है। जिसने इस विश्व को व्यक्त-प्रकट किया, उसी से किसी विशिष्ट उपलब्धि के लिए प्रार्थना किया जाना उचित है-

१. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥

ये जो त्रिसप्त (तीन एवं सात के संयोग) विश्व के सभी रूपों को धारण करके सब ओर संव्याप्त-गतिशील हैं, हे वाचस्पते ! आप उनके शरीरस्थ बल को आज हमें प्रदान करें ॥१॥

['त्रिसप्त' का अर्थ अधिकांश भाष्यकारों ने ३ x ७ = २१ किया है; किन्तु ऋषि का भाव इससे कहीं अधिक व्यापक प्रतीत होता है। गणित के अनुसार त्रिसप्त की अभिव्यक्ति इतने प्रकार से हो सकती है- ३ + ७ = १०, ३ x ७ = २१, $७^३$ = ३४३, $३^७$ = ७२९ तथा ३ L ७ = ३(७ x ६ x ५ x ४ x ३ x २ x १) = १५१२० आदि। फिर ऋषि ने त्रिसप्त को एक ही शब्द के रूप में लिखा है, इसलिए उसका भाव यह बनता है कि जितने भी त्रिसप्त हैं ..... [इस आधार पर 'त्रिधा' सृष्टि में तीन लोक, तीन गुण, तीन आयाम, त्रिदेव आदि सभी आते हैं। इसके साथ सप्त आवरण, सप्तधातु, सप्त व्याहृतियाँ, परमाणु के सात प्रकोष्ठ (आर्बिट) आदि आ जाते हैं। इनमें से सभी के योग-भेद (पर्मुटेशन कॉम्बीनेशन) अनन्त बन जाते हैं। उन्हें केवल प्रकटकर्त्ता वाचस्पति ही भली प्रकार जानते हैं। हमें विश्व में रहते हुए इन सभी के साथ समुचित बर्ताव करना होगा, इसलिए वाचस्पति से प्रार्थना की गई है कि उन सबके व्यक्त स्थूल-सूक्ष्म संयोगों के बल हमें भी प्रदान करें।]

२. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥

हे वाचस्पते ! आप दिव्य (प्रकाशित) ज्ञान से युक्त होकर, बारम्बार हमारे सम्मुख आएँ। हे वसोष्पते ! आप हमें प्रफुल्लित करें। प्राप्त ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥२॥

[यहाँ वाचस्पति (अभिव्यक्त करने वाले) से प्राप्ति की तथा वसोष्पति (आवास प्रदान करने वाले) से प्राप्त को धारण-स्थिर करने की प्रार्थना की गई है। योग एवं क्षेम दोनों ही सधें- ऐसी प्रार्थना है।]

३. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

हे देव ! धनुष की चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से खिंचे हुए दोनों छोरों के समान दैवी ज्ञान धारण करने में समर्थ, मेधा बुद्धि एवं वांछित साधन-सामग्री आप हमें प्रदान करें। प्राप्त बुद्धि और वैभव हममें पूरी तरह स्थिर रहें ॥३॥

[ज्ञान की प्राप्ति और धारण करने की सामर्थ्य- यह दो क्षमताएँ धनुष के दो सिरों की तरह हैं। एक साथ प्रयासपूर्वक बल लगाकर बाण की तरह, ज्ञान का वांछित प्रयोग किया जा सकता है।]

४. उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥४॥

हे वाक्पते ! आप हमें अपने पास बुलाएँ। इस निमित्त हम आपका आवाहन करते हैं। हमें सदैव आपका सान्निध्य प्राप्त हो। हम कभी भी ज्ञान से विमुख न हों ॥४॥

[दिव्य ज्ञान की प्राप्ति केवल अपने पुरुषार्थ से नहीं हो पाती। अपने पुरुषार्थ से हम आवेदन करते हैं, पात्रता प्रकट करते हैं, तो दिव्य सत्ता द्वारा दिव्य ज्ञान प्रदान कर दिया जाता है।]

[२- रोग-उपशमन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा। **देवता** - चन्द्रमा और पर्जन्य। **छन्द** - अनुष्टुप्, ३ त्रिपदा विराट् गायत्री।]

इस सूक्त के देवता पर्जन्य हैं। पर्जन्य का सामान्य अर्थ 'वर्षति-सिञ्चति' के आधार पर वर्षा किया गया है; किन्तु उसे स्थूल वर्षा तक सीमित नहीं रखा जा सकता। 'पृषु-सेचने' (शब्द कल्पद्रुम) के अनुसार वह पोषणकर्त्ता भी है। निरुक्त में पर्जन्य "परः प्रकृष्टो जेता जनयिता वा" (परमशक्ति सम्पन्न जयशील या उत्पन्नकर्त्ता) कहा गया है। अस्तु, अनन्त आकाश के विभिन्न स्रोतों से बरसने वाले पोषक एवं उत्पादक स्थूल एवं सूक्ष्म प्रवाहों को पर्जन्य मानना युक्ति संगत है। वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि सूक्ष्म कणों (सब पार्टिकल्स) के रूप में कुछ उदासीन (इनर्ट) तथा कुछ उत्पादक प्रकृति (जेनेटिक कैरेक्टर) वाले कण प्रवाहित होते रहते हैं। ऐसे प्रवाहों को पर्जन्य मानकर चलने से वेदार्थ का मर्म समझने में सुविधा रहेगी।

इस सूक्त में ऋषि ने धनुष से छुटने वाले विजयशील शर (बाण) के उदाहरण से जीवनतत्त्व के गूढ़ रहस्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अनेकार्थी पदों-मंत्रों के भाव प्रकट करते हुए मंत्रार्थ एवं टिप्पणी करने का प्रयास किया गया है –

५. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्। विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥१

अनेक प्रकार से (चराचर) धारक एवं पोषक पर्जन्य को हम इस 'शर' के पिता के रूप में जानते हैं। अनेक प्रकार के स्वरूप देने वाली पृथ्वी को भी हम भली प्रकार जानते हैं ॥१॥

[यहाँ 'शर' का अर्थ सरकण्डा तदर्थ बाण के रूप में सहज ग्राह्य है; किन्तु पृथ्वी से जो अंकुर निकलता है, उसे भी 'शर' कहते हैं। पृथ्वी पर जीवन के उद्भव का वह प्रथम प्रतीक है, उसी पर प्राणिमात्र का जीवन निर्भर करता है। बाण के रूप में या जीवन तत्त्व के रूप में उसकी उत्पत्ति, पिता पर्जन्य के सेचन से तथा माता पृथ्वी के गर्भ से होती है। यह जीवन तत्त्व ही समस्त बाधाओं एवं रोगादि को जीतने में, जीवन लक्ष्यों को बेधने में समर्थ होता है, इसीलिए उसकी उपमा शर से देना युक्ति संगत है।]

जीवन-संग्राम में विजय के लिए प्रयुक्त 'शर' (जीवन तत्त्व) किस धनुष से छोड़ा जाता है, उसका सुन्दर अलंकरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। उस धनुष की एक कोटि (छोर) माता पृथ्वी है तथा दूसरी (छोर) पिता पर्जन्य हैं। 'ज्या' (प्रत्यञ्चा) उन दोनों को खींचकर उनकी शक्ति संप्रेषित करती है। 'ज्या' का अर्थ जन्मदात्री भी होता है। आकाशस्थ पर्जन्य एवं पृथ्वी की शक्ति के संयोग से जीवन तत्त्व का संचरण करने वाली सृजनशील प्रकृति इस धनुष की प्रत्यञ्चा-'ज्या' है। उसे लक्ष्य करके ऋषि कहते हैं-

६. ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि। वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥२॥

हे ज्याके (जन्मदात्री) ! आप हमारे शरीरों को चट्टान की तरह सुदृढ़ता एवं शक्ति प्रदान करें। शत्रुओं (दोषों) को शक्तिहीन बनाकर हमसे दूर करें ॥२॥

७. वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥

जिस प्रकार वृक्ष (विश्ववृक्ष या पूर्वोक्त धनुष) से संयुक्त गौएँ (ज्या, मंत्रवाणियाँ, इन्द्रियाँ) तेजस्वी 'शर' (जीवनतत्त्व) को स्फूर्ति प्रदान करती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र (इस प्रक्रिया के संगठक) ! आप इस तेजोयुक्त शर को आगे बढ़ाएँ-गतिशील बनाएँ ॥३॥

८. यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा.रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४ ॥

द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य स्थित तेज की भाँति यह मुञ्ज (मुक्तिदाता या शोधक जीवन-तत्त्व) सभी स्रावों (सृजित, प्रवाहित) रसों एवं रोगों के बीच प्रतिष्ठित रहे ॥४ ॥

[शरीर या प्रकृति के समस्त स्रावों को यह जीवनतत्त्व रोगों की ओर न जाने दे । रोगों के शमन में उसका उपयोग करे ।]

[३- मूत्र मोचन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - १ पर्जन्य, २ मित्र, ३ वरुण, ४ चन्द्र, ५ सूर्य । **छन्द** - अनुष्टुप् , १-५ पथ्यापंक्ति ।]

इस सूक्त में पर्जन्य के अतिरिक्त मित्र, वरुण, चन्द्र एवं सूर्य को भी 'शर' का पिता कहा गया है । पूर्व सूक्तों में किये गये विवेचन के अनुसार पर्जन्य (उत्पादक सूक्ष्म प्रवाह) इन सभी के माध्यम से बरसता है । पूर्व मंत्रों में कहे गये 'शर' के पिता का व्यापक रूप मंत्र १ से ५ तक प्रकंट किया गया प्रतीत होता है । इन सभी को शतवृष्ण- सैकड़ों (अनन्त) प्रकार से बरसने वाला अथवा अनन्त बल सम्पन्न कहा गया है-

९. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥१ ॥

(ऋषि कहते हैं) इस शरीर के जनक शतवृष्ण पर्जन्य से हम भली-भाँति परिचित हैं । उससे तुम्हारे (शर की) कल्याण की कामना है । उनसे तुम्हारा विशेष सेचन हो और शत्रु (विकार) बाहर निकल जाएँ ॥१ ॥

१०. विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥२ ॥

अनन्त बलशाली मित्रदेव (प्राण वायु) को, जो 'शर' का पिता है, हम जानते हैं । उससे तुम्हारे कल्याण का उपक्रम शमन करते हैं । उससे तुम्हारा सेचन हो और विकार बाहर निकल जाएँ ॥२ ॥

११. विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥३ ॥

'शर' के पालक सशक्त वरुणदेव को हम जानते हैं । उससे तुम्हारे शरीर का कल्याण हो । तुम्हें विशेष पोषण प्राप्त हो तथा विकार बाहर निकल जाएँ ॥३ ॥

१२. विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥४ ॥

हम शर के पिता आह्लादक चन्द्रदेव को जानते हैं, उनसे तुम्हारा कल्याण हो, विशेष पोषण प्राप्त हो और दोष बाहर निकल जाएँ ॥४ ॥

१३. विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥५ ॥

हम जानते हैं कि विशेष शक्ति-सम्पन्न पवित्रतादायक सूर्य 'शर' के पालक हैं, वे तुम्हारा कल्याण करें । उनसे तुम्हें विशिष्ट पोषण प्राप्त हो तथा विकार बाहर निकल जाएँ ॥५ ॥

मंत्र क्र० ६ से ९ में विशिष्ट उपचार द्वारा शरीरस्थ मूत्र- विकारों को बाहर निकालने का कथन है । स्थूल दृष्टि से 'शर' शलाका प्रयोग से मूत्र निकालने की प्रक्रिया पुराने समय से अब तक के उपचार क्रम में मान्य है; किन्तु शर को व्यापक अर्थों में लेने से जीवनी शक्ति के जनक दिव्य प्रवाहों के विशिष्ट प्रयोग से शरीरस्थ विकारों को बलात् बाहर निकाल देने का आशय भी

प्रकट होता है । शरीरस्थ जीवनी-शक्ति (बाइटल फोर्स) ही पोषण देने तथा विकारों से मुक्ति दिलाने में प्रमुख भूमिका निभाती है । इस मत को सभी उपचार पद्धतियाँ स्वीकार करती हैं-

१४. यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

मूत्र वाहिनी नाड़ियों,मूत्राशय एवं आँतों में स्थित दूषित जल (मूत्र) इस चिकित्सा से पूरा का पूरा, वेग के साथ शब्द करता हुआ शरीर से बाहर हो जाए ॥६ ॥

१५. प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

'शर' (शलाका) से मूत्र मार्ग को खोल देते हैं । बन्ध टूट जाने से जिस प्रकार जलाशय का जल शीघ्रता से बाहर निकलता है, उसी प्रकार रोगी के उदरस्थ समस्त विकार वेगपूर्वक बाहर निकलें ॥७ ॥

१६. विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ।

तेरे मूत्राशय का बिल (छिद्र) खोलते हैं । विकार युक्त जल (मूत्र) उसी प्रकार शब्द करता हुआ बाहर निकले, जिस प्रकार नदियों का जल उदधि में सहज ही बह जाता है ॥८ ॥

१७. यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९

धनुष से छोड़े गए, तीव्र गति से बढ़ते हुए बाण की भाँति तेरा सम्पूर्ण मूत्र (विकार) वेगपूर्वक बाहर निकले ॥९ ॥

[४- अपांभेषज (जल चिकित्सा) सूक्त]

[**ऋषि** - सिन्धुद्वीप । **देवता** - अपांनपात्, सोम और आपः देवता । **छन्द** - गायत्री, ४ पुरस्ताद् बृहती ।]

इस सूक्त के देवता आपः हैं । आपः का सामान्य अर्थ जल लिया जाता है; किन्तु शोध समीक्षा के आधार पर केवल जल ही मानने से अनेक मंत्रार्थ सिद्ध नहीं होते । जैसे-आपः को मन के समान गतिमान् कहा है, जल तो शब्द और प्रकाश की गति से भी नहीं बह सकता है । 'आपो वै सर्वा देवता' जैसे सूत्रों से भी यही भाव प्रकट होता है । मनुस्मृति १.८ के अनुसार ईश्वर ने अप् तत्त्व को सर्वप्रथम रचा । आपः यदि जल है, तो उसके पूर्व वायु और अग्नि की उत्पत्ति आवश्यक है, अन्यथा जल की संरचना सम्भव नहीं । अस्तु, आपः का अर्थ जल भी है; किन्तु उसे विद्वानों ने सृष्टि के मूलतत्त्व की क्रियाशील अवस्था माना है । अखण्ड ब्रह्म के संकल्प से मूलतत्त्व का क्रियाशील स्वरूप पहले प्रकट होता है, उससे ही पदार्थ रचना प्रारम्भ होती है । ऐसे किसी तत्त्व के सतत प्रवाहित होने की परिकल्पना (हाइपोथेसिस) पदार्थ विज्ञानी भी करते हैं । मंत्रार्थों के क्रम में आपः के इस स्वरूप को ध्यान में रखना उचित है-

१८. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् । पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥१ ॥

माताओं-बहिनों की भाँति यज्ञ से उत्पन्न पोषक धाराएँ यज्ञ कर्त्ताओं के लिए पय (दूध या पानी) के साथ मधुर रस मिलाती हैं ॥१ ॥

१९. अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२ ॥

सूर्य के सम्पर्क में आकर पवित्र हुआ वाष्पीकृत जल, उसकी शक्ति के साथ पर्जन्य-वर्षा के रूप में हमारे सत्कर्मों को बढ़ाए-यज्ञ को सफल बनाए ॥२ ॥

२०. अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥३ ॥

हम उस दिव्य 'आपः' प्रवाह की अभ्यर्थना करते हैं, जो सिन्धु (अन्तरिक्ष) के लिए हवि प्रदान करते हैं तथा जहाँ हमारी गौएँ (इन्द्रियाँ अथवा वाणियाँ) तृप्त होती हैं ॥३ ॥

२१. अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥४ ॥

जीवनी शक्ति, रोगनाशक एवं पुष्टिकारक आदि दैवी गुणों से युक्त आप: तत्त्व हमारे अश्वों व गौओं को वेग एवं बल प्रदान करे । हम बल-वैभव से सम्पन्न हों ॥४ ॥

[५- अपांभेषज (जल चिकित्सा) सूक्त]

[**ऋषि -** सिन्धुद्वीप । देवता - अपांनपात्, सोम और आप: देवता । **छन्द -** गायत्री, ४ वर्धमान गायत्री ।]

२२. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१ ॥

हे आप: ! आप प्राणिमात्र को सुख देने वाले हैं । सुखोपभोग एवं संसार में रमण करते हुए, हमें उत्तम दृष्टि की प्राप्ति हेतु पुष्ट करें ॥१ ॥

२३. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२ ॥

जिनका स्नेह उमड़ता ही रहता है, ऐसी माताओं की भाँति आप हमें अपने सबसे अधिक कल्याणप्रद रस में भागीदार बनाएँ ॥२ ॥

[दुर्गति का मुख्य कारण यह है कि हमारी रसानुभूति अहितकारी प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जाती है, इसलिए जीवन का रस कल्याणोन्मुख रखने की प्रार्थना की गई है ।]

२४. तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३ ॥

अन्नादि उत्पन्न कर प्राणिमात्र को पोषण देने वाले हे दिव्य प्रवाह ! हम आपका सान्निध्य पाना चाहते हैं । हमारी अधिकतम वृद्धि हो ॥३ ॥

२५. ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ॥४ ॥

व्याधि निवारक दिव्य गुण वाले जल का हम आवाहन करते हैं । वह हमें सुख-समृद्धि प्रदान करे । उस ओषधिरूप जल की हम प्रार्थना करते हैं ॥४ ॥

[६- अपांभेषज (जल चिकित्सा) सूक्त]

[**ऋषि -** सिन्धुद्वीप, कृति अथवा अथर्वा । **देवता** -अपांनपात्, सोम और आप: देवता । **छन्द** -गायत्री, ४ पथ्यापंक्ति ।]

२६. शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१ ॥

दैवीगुणों से युक्त आप: (जल) हमारे लिए हर प्रकार से कल्याणकारी एवं प्रसन्नतादायक हो । वह आकांक्षाओं की पूर्ति करके आरोग्य प्रदान करे ॥१ ॥

२७. अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥२ ॥

सोम का हमारे लिए उपदेश है कि दिव्य आप: हर प्रकार से ओषधीय गुणों से युक्त है । उसमें कल्याणकारी अग्नि भी विद्यमान है ॥२ ॥

२८. आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३ ॥

दीर्घकाल तक मैं सूर्य को देखूँ अर्थात् दीर्घ जीवन प्राप्त करूँ । हे आप: ! शरीर को आरोग्यवर्द्धक दिव्य ओषधियाँ प्रदान करो ॥३ ॥

२९. शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥४ ॥

सूखे प्रान्त (रेगिस्तान) का जल हमारे लिए कल्याणकारी हो । जलमय देश का जल हमें सुख प्रदान करे

भूमि से खोदकर निकाला गया कुएँ आदि का जल हमारे लिए सुखप्रद हो । पात्र में स्थित जल हमें शान्ति देने वाला हो । वर्षा से प्राप्त जल हमारे जीवन में सुख-शान्ति की वृष्टि करने वाला सिद्ध हो ॥४ ॥

[७- यातुधाननाशन सूक्त]

[**ऋषि** - चातन । **देवता** - अग्नि, ३ अग्नीन्द्र । **छन्द** - अनुष्टुप्, ५ त्रिष्टुप् ।]

३०. स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! हम आपकी वन्दना करते हैं । दुष्टता को बढ़ाने वाले शत्रुओं को, आप अपने प्रभाव से पास बुलाएँ । हमारे द्वारा वन्दित आप उनकी बुराइयों को नष्ट कर दें ॥१ ॥

३१. आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥२ ॥

उच्च पद पर आसीन, ज्ञान के पुञ्ज, जठराग्नि के रूप में शरीर का सन्तुलन बनाने वाले हे अग्निदेव ! आप हमारे द्वारा स्रुवापात्र से तौली हुई (प्रदत्त) आज्याहुति को ग्रहण करें । हमारे स्नेह से प्रसन्न होकर आप दुष्ट-दुराचारियों को विलाप कराएँ अर्थात् उनका विनाश करें ॥२ ॥

३२. वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥३ ॥

दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले समाज के शत्रुओं को अपना विनाश देखकर रुदन करने दें । हे अग्निदेव ! आप इन्द्र के साथ हमारे हविष्य को प्राप्त करें । हमें सत्कर्म की ओर प्रेरित करें ॥३ ॥

३३. अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥४

पहले अग्निदेव (असुर विनाशन का कृत्य) प्रारम्भ करें, बलशाली इन्द्र प्रेरणा प्रदान करें । इन दोनों के प्रभाव से असुर स्वयं ही अपनी उपस्थिति स्वीकार करें (प्रायश्चित्त के लिए तैयार हो जाएँ) ॥४ ॥

३४. पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५ ॥

हे ज्ञान स्वरूप अग्निदेव ! आपका प्रकाशरूपी पराक्रम हम देखें । आप पथभ्रष्टों के मार्गदर्शक हैं, अपने प्रभाव से दुष्टों को (हमारे शत्रुओं को) सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें । आपकी आज्ञा से तप्त असुरता प्रायश्चित्त के लिए अपना परिचय देते हुए पास आए ॥५ ॥

३५. आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६ ॥

हे जातवेदः ! आप (शुभ यज्ञीय कर्मों का) प्रारम्भ करें । हे अग्निदेव ! आप हमारे प्रतिनिधि बनकर दुष्टजनों को अपने किये गये दुष्कर्मों पर रुलाएँ ॥६ ॥

३६. त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह । अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥७ ॥

हे मार्गदर्शक अग्निदेव ! आप दुराचारियों को यहाँ आने के लिए बाध्य करें और इन्द्रदेव वज्र से उनके सिरों का उच्छेदन करें ॥७ ॥

[८- यातुधाननाशन सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - बृहस्पति, अग्नीषोम, ३-४ अग्नि ।छन्द—अनुष्टुप, ४ बार्हतगर्भा त्रिष्टुप् ।]

३७. इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१ ॥

नदी जिस प्रकार झाग (गन्दगी) को बहा देती है, उसी प्रकार यह 'हवि' पापाचारियों को यहाँ से दूर बहा ले जाए । दुष्कर्मों में निरत स्त्री-पुरुष अपनी रक्षा के लिए तुम्हारी स्तुति करें ॥१ ॥

३८. अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२ ॥

प्रायश्चित्त की भावना से शरण में आए दुष्टों का स्वागत करें । हे मार्गदर्शक, ज्ञान के पुंज ! आप अपने सद्गुणों से उसे वश में करें । अग्नि और सोम (उपचार के लिए) उनका विशेष परीक्षण करें ॥२ ॥

३९. यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च । नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥३

ज्ञानामृत का पान कराने वाले हे सोम ! आसुरी वृत्तियों का समूल नाश हो, इसके लिए उसकी सन्तानों तक पहुँचकर आप उन्हें भी सन्मार्गगामी बनाएँ । स्तुति करने वाले के नेत्रों को नीचा (शालीनता से युक्त) कर दें ॥३ ॥

४०. यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥४ ॥

हे प्रकाशपुंज अग्ने ! आप पथभ्रष्ट जनों की सन्तानों तक सुदूर गुफा में पहुँच कर अपने दिव्य प्रकाश से उन्हें सन्मार्ग दिखाएँ, इस प्रकार आप सबके कष्टों को दूर करें ॥४ ॥

[९- विजयप्रार्थना सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - वसुगण, इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि, आदित्यगण, विश्वेदेवा, २ देवगण, सूर्य, अग्नि, हिरण्य, ३-४ अग्नि (जातवेदा) । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

४१. अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥१ ॥

वैभव की कामना करने वाले इस पुरुष को आठों वसु देवता, इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि आदि देवता धारण कर अपना अनुग्रह प्रदान करें । आदित्य और अन्य सभी देवता इसको तेजस्विता प्रदान करें ॥१ ॥

४२. अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥२ ॥

हे देवताओ ! सूर्य की तेजस्विता, अग्नि की प्रखरता, चन्द्र की शीतलता एवं स्वर्ण की आभा मनुष्य के जीवन को ऊँचा उठाए । अपने संयम से इन शक्तियों को बढ़ाता हुआ वह (मनुष्य) शत्रुओं (आसुरी वृत्तियों) का विनाश करे । इस प्रकार वह जीवन की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करे ॥२ ॥

४३. येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! जिस श्रेष्ठ ज्ञान के बल पर इन्द्र आदि देवता सम्पूर्ण रसों (सुखों) का उपभोग करते हैं, उसी दिव्य ज्ञान से मनुष्य के जीवन को प्रकाशित करते हुए आप ऊँचा उठाएँ, वह मनुष्य देवतुल्य श्रेष्ठ जीवन जिए ॥३ ॥

४४. ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! मैं इस (साधक) के यज्ञ, तेज, ऐश्वर्य एवं चित्त को स्वीकार करता हूँ । स्पर्धाशील शत्रु हमसे नीचे ही रहें । हे देव ! आप इस साधक को श्रेष्ठ सुख-शान्ति प्रदान करें ॥४ ॥

[१०- पाशविमोचन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - १ असुर , २-४ वरुण । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप् , ४ अनुष्टुप् ।]

४५. अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥१ ॥

देवताओं में बली राजा वरुणदेव प्रकाशित हैं । उनकी इच्छा ही सत्य है; तथापि हम दैवी ज्ञान के बल पर स्तुतियों द्वारा पीड़ित व्यक्तियों को उनके प्रकोप से बचाते हैं ॥१ ॥

४६. नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम् ।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२ ॥

हे सर्वज्ञ वरुणदेव ! आपके कोप से पीड़ित हम सब शरणागत होकर नमन करते हैं; आप हमारे सभी दोषों को भली-भाँति जानते हैं । जन-मानस को बोध हो रहा है कि देवत्व की शरण में पहुँच कर (सद्‌गुणों को अपना कर) ही सुखी और दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है ॥२ ॥

४७. यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥३

हे पीड़ित मानव ! तुमने अपनी वाणी का दुरुपयोग करते हुए असत्य और पाप वचन बोलकर अपनी गरिमा का हनन किया है । सर्व समर्थ वरुणदेव के अनुग्रह से इस दुःखद स्थिति से मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ ॥३ ॥

४८. मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान् महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥४ ॥

हे पतित मानव ! हम तुम्हें नियन्ता वरुणदेव के प्रचण्ड कोप से बचाते हैं । हे उग्रदेव ! आप अपने सजातीय दूतों से कह दें (वे इसे मुक्त करें) और हमारे ज्ञान (स्तोत्रों) पर ध्यान दें ॥४ ॥

[११- नारीसुखप्रसूति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - पूषा, अर्यमा, वेधा, दिक्, देवगण । **छन्द** - पंक्ति, २ अनुष्टुप् , ३ चतुष्पदा उष्णिक्गर्भा ककुम्मती अनुष्टुप् , ४-६ पथ्यापंक्ति ।]

४९. वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१ ॥

हे अखिल विश्व के पोषक, श्रेष्ठ जनों के हितैषी पूषा देवता ! हम अपनी हवि समर्पित करते हैं । आप इस प्रसूता की सहायता करें । यह सावधानीपूर्वक अपने अंगों को प्रसव के लिए तैयार करे-ढीला करे ॥१ ॥

५०. चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत । देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥२

द्युलोक एवं भूमि को चारों दिशाएँ घेरे हैं । दिव्य पंच भूतों ने इस गर्भ को घेरा- (धारण किया) हुआ है, वे ही इस आवरण से मुक्त करें-बाहर करें ॥२ ॥

५१. सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि । श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥३ ॥

हे प्रसवशील माता अथवा प्रसव सहायक देव ! आप गर्भ को मुक्त करें । गर्भ मार्ग को हम फैलाते हैं, अंगों को ढीला करें और गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित करें ॥३ ॥

५२. नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४ ॥

गर्भस्थ शिशु को आवेष्टित करने वाले (समेट कर रखने वाली थैली) 'जरायु' प्रसूता के लिये मांस, मज्जा या चर्बी की भाँति उपयोगी नहीं, अपितु अन्दर रह जाने पर गम्भीर दुष्परिणाम प्रस्तुत करने वाली सिद्ध होती है । सेवार (जल की घास) की जैसी नरम 'जेरी' पूर्णरूपेण बाहर आकर कुत्तों का आहार बने ॥४ ॥

५३. वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५ ॥

हे प्रसूता ! निर्विघ्न प्रसव के लिए गर्भमार्ग, योनि एवं नाड़ियों को विशेष प्रकार से खोलता हूँ । माँ व बालक को नाल से अलग करता हूँ । जेरी से शिशु को अलग करता हूँ । जेरी पूर्णरूपेण पृथ्वी पर गिर जाए ॥५ ॥

५४. यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥६ ॥

जिस प्रकार वायु वेगपूर्वक प्रवाहित होती है । पक्षी जिस वेग से आकाश में उड़ते हैं एवं मन जिस तीव्रगति से विषयों में लिप्त होता है, उसी प्रकार दसवें माह गर्भस्थ शिशु जेरी के साथ गर्भ से मुक्त होकर बाहर आए ॥६ ॥

[१२- यक्ष्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - यक्ष्मनाशन । छन्द - जगती, २-३ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप् ।]

५५. जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१ ॥

जरायु से उत्पन्न शिशु की भाँति बलशाली सूर्यदेव वायु के प्रभाव से मेघों के बीच से प्रकट होकर हमारे शरीरों को हर्षित करते हैं। वे सीधे मार्ग से बढ़ते हुए अपने एक ही ओज को तीन प्रकार से प्रसारित करते हैं ॥१ ॥

[सूर्य का ओज-प्रकाश, ताप तथा चेष्टा के रूप में या शरीर में त्रिधातुओं को पुष्ट करने वाले के रूप में सक्रिय होता है ।]

५६. अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥२ ॥

अपनी ऊर्जा से अंग-प्रत्यंग में संव्याप्त हे सूर्यदेव ! स्तुतियों एवं हवि द्वारा हम आपको और आपके समीपवर्ती देवों का अर्चन करते हैं । जिसके शरीरस्थ जोड़ों को रोगों ने ग्रसित कर रखा है, उसके निमित्त भी हम आपको पूजते हैं ॥२ ॥

५७. मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥३ ॥

हे आरोग्यदाता सूर्यदेव ! आप हमें सिरदर्द एवं कास (खाँसी) की पीड़ा से मुक्त करें । सन्धियों में घुसे रोगाणुओं को नष्ट करें । वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले वात, पित्त, कफ जनित रोगों को दूर करें । इसके लिए हम अनुकूल वातावरण के रूप में पर्वतों एवं वनौषधियों का सहारा लेते हैं ॥३ ॥

५८. शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ॥

हमारे सिर आदि श्रेष्ठ अंगों का कल्याण हो । हमारे उदर आदि साधारण अंगों का कल्याण हो । हमारे चारों अंगों (दो हाथों एवं दो पैरों) का कल्याण हो । हमारे समस्त शरीर को आरोग्य - लाभ प्राप्त हो ॥४ ॥

[१३- विद्युत् सूक्त]

[ऋषि—भृग्वङ्गिरा ।देवता— विद्युत् । छन्द—अनुष्टुप्, ३ चतुष्पाद् विराट् जगती, ४ त्रिष्टुप् परा बृहतीगर्भा पंक्ति ।]

५९. नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥

विद्युत् को हमारा नमस्कार पहुँचे । गड़गड़ाहट करने वाले शब्द तथा अशनि को हमारा नमस्कार पहुँचे । व्यापने वाले मेघों को हमारा नमस्कार पहुँचे । हे देवि ! कष्ट पहुँचाने वाले दुष्टों पर वज्र फेंक कर आप उन्हें दूर हटाती हैं ॥१ ॥

६०. नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि । मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२

हे देव (पर्जन्य) ! आप पानी को अपने अन्दर ग्रहण किये रहते हैं और असमय नीचे नहीं गिरने देते । हम आपको प्रणाम करते हैं; क्योंकि आप हमारे अन्दर तप एकत्रित करते हैं ! आप हमारे देह को सुख प्रदान करें तथा हमारी सन्तानों को भी सुख प्रदान करें ॥२ ॥

६१. प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३ ॥

ऊँचाई से न गिराने वाले हे पर्जन्य ! आपको हम प्रणाम करते हैं । आपके आयुध तथा तेजस् को हम प्रणाम करते हैं । आप जिस हृदयरूपी गुहा में निवास करते हैं, वह हमें ज्ञात है । आप उस समुद्र में नाभि के सदृश विद्यमान रहते हैं ॥३ ॥

६२. यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४ ॥

हे अशनि ! रिपुओं पर प्रहार करने के लिए समस्त देवताओं ने बलशाली बाण के रूप में आपकी संरचना की है । अन्तरिक्ष में गर्जना करने वाले हे अशनि ! हम आपको नमस्कार करते हैं । आप हमारे भय को दूर करके हमें हर्ष प्रदान करें ॥४ ॥

[१४- कुलपाकन्या सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - वरुण अथवा यम । छन्द - १ ककुम्मती अनुष्टुप्, २, ४ अनुष्टुप्, ३ चतुष्पात् विराट् अनुष्टप् ।]

सामान्य अर्थों में प्रथम मंत्र में प्रयुक्त 'अस्याः' का अर्थ कन्या किया गया है । इस आधार पर कन्या को योग्य वर के सुपुर्द करने का भावार्थ लिया जाता है; किन्तु इस सूक्त के देवता विद्युत्, वरुण एवं यम हैं । इस आधार पर 'अस्याः' का अर्थ विद्युत् ग्राह्य है । विद्युत् का वरण करने वाले वरुण तथा उसका नियमन करने वाले 'यम' कहे जा सकते हैं । इस संदर्भ में कन्या 'विद्युत्' उसके पिता 'विद्युत्-उत्पादक' तथा वर उसके प्रयोक्ता-विशेषज्ञ कहे जाने योग्य हैं । विज्ञ पाठक इस संदर्भ में भी मंत्रार्थों को समझ सकते हैं-

६३. भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥१ ॥

वृक्षों से जैसे मनुष्य फूल ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार इस कन्या (अथवा विद्युत्) के सौन्दर्य तथा ओज को हम स्वीकार करते हैं । जिस तरह विशाल पर्वत धरती पर स्थिर रहता है, उसी प्रकार यह कन्या भयरहित होकर (अपने अथवा मेरे) माता-पिता के घर पर बहुत समय तक रहे ॥१ ॥

६४. एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम । सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥

हे नियम पालन करने वाले प्रकाशवान् ! यह कन्या आपकी वधू बनकर आचरण करे । यह कन्या आपके घर में रहे, माता-पिता अथवा भाई के घर में सुखपूर्वक रहे ॥२ ॥

६५. एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥३ ॥

हे राजन् ! यह कन्या आपके कुल की रक्षा करने वाली है, उसको हम आपके निमित्त प्रदान करते हैं । यह निरंतर (अपने या तुम्हारे) माता-पिता के बीच रहे । शीर्ष से (श्रेष्ठ स्तर पर रहकर अथवा विचारों से) शान्ति एवं कल्याण के बीज बोए ॥३ ॥

६६. असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४ ॥

हे कन्ये ! आपके सौभाग्य को हम 'असित' ऋषि, 'गय' ऋषि तथा 'कश्यप' ऋषि के मंत्र के द्वारा उसी प्रकार बाँधकर सुरक्षित करते हैं, जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने वस्त्रों-आभूषणों आदि को गुप्त रखकर सुरक्षित करती हैं ॥४ ॥

[विद्युत् के संदर्भ में असित का अर्थ बन्धनरहित स्वतंत्र प्रवाह, कश्यप का अर्थ पश्यक का भाव- देखने योग्य प्रकाशोत्पादक तथा गय का अर्थ प्राण- ऊर्जा है । इस प्रकार विद्युत् की उक्त विशेषताओं को ऋषियों ने सूत्रों के माध्यम से प्रकट किया है ।]

[१५- पुष्टिकर्म सूक्त]

[ऋषि-अथर्वा । देवता - सिन्धुसमूह (वाता, पतत्रिण पक्षी) । छन्द- अनुष्टुप्, १ भुरिक् बृहती, २ पथ्या पंक्ति ।]

६७. सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१ ॥

नदियाँ और वायु भली- भाँति संयुक्त होकर प्रवाहित होती रहें तथा पक्षीगण भली- भाँति संयुक्त होकर उड़ते रहें । देवगण हमारे यज्ञ को ग्रहण करें; क्योंकि हम हविष्यों को संगठित-एकीकृत करके आहुतियाँ दे रहे हैं ॥१ ॥

६८. इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२ ॥

हे संगठित करने वाले देवताओ ! आप यहाँ हमारे इस यज्ञ में पधारें और इस संगठन का संवर्द्धन करें । प्रार्थनाओं को ग्रहण करने पर आप इस हवि प्रदाता यजमान को प्रजा, पशु आदि सम्पत्ति से सम्पन्न करें ॥२ ॥

६९. ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः । तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥

सरिताओं के जो अक्षय स्रोत संघबद्ध होकर प्रवाहित हो रहे हैं, उन सब स्रोतों द्वारा हम पशु आदि धन-सम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं ॥३ ॥

७०. ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि

जो घृत, दुग्ध तथा जल की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, उन समस्त धाराओं द्वारा हम धन-सम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं ॥४ ॥

[प्रकृति चक्र द्वारा उपलब्ध वस्तुओं को सुनियोजित करके ही मनुष्य ने सारी सम्पत्तियाँ उपलब्ध की हैं।]

[१६- शत्रुबाधन सूक्त]

[**ऋषि** - चातन। देवता - अग्नि, इन्द्र, वरुण (३-४ दधत्य सीस) । **छन्द**—अनुष्टुप्, ४ ककुम्मती अनुष्टुप्।]

७१. ये ऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥१ ॥

अमावस्या की अँधेरी रात के समय मनुष्यों पर घात करने वाले तथा उनको क्षति पहुँचाने वाले, जो असुर आदि विचरण करते हैं, उन असुरों के सम्बन्ध में असुर विनाशक चतुर्थ अग्निदेव हमें जानकारी प्रदान करें ॥१ ॥

[यहाँ अग्नि के लिए तुरीय (चतुर्थ) सम्बोधन विचारणीय है। अग्नि के तीन प्रयोग (गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि तथा दक्षिणाग्नि) यज्ञीय होते हैं। चतुर्थ प्रयोग सुरक्षापरक उपकरणों के लिए किये जाने से उसे तुरीय अग्नि कहा गया है। रात्रि में चोरों के आने की सूचना देने के लिए कोई 'थर्मो पायल या इन्फ्रारैड डिडैक्टर' जैसे प्रयोग का संकेत इस मंत्र में मिलता है।]

७२. सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥२ ॥

वरुणदेव ने सीसे के सम्बन्ध में कहा (प्रेरित किया) है। अग्निदेव उस 'सीसे' को मुनष्यों की सुरक्षा करने वाला बताते हैं। धनवान् इन्द्र ने हमें 'सीसा' प्रदान करते हुए कहा है-हे आत्मीय! देवों द्वारा प्रदत्त यह 'सीसा' असुरों का निवारण करने वाला है ॥२ ॥

[तीन देवताओं वरुण, अग्नि एवं इन्द्र द्वारा 'सीसे' से आत्मरक्षा तथा शत्रु निवारण के प्रयोग बतलाए गए हैं। इन्द्र संगठन सत्ता 'सीसे' की गोली-छर्रों का रहस्य बतला सकते हैं, वरुण (हाइड्रॉलिक प्रेशर से) तथा अग्नि (विस्फोटक शक्ति से) 'सीसे' के प्रहार की विद्या प्रदान कर सकते हैं। तीसरे एवं चौथे मन्त्रमें सीसे को अवरोध हटाने वाला तथा वेधक कहकर इसी आशय को स्पष्ट किया गया है।]

७३. इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः। अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः

यह 'सीसा' अवरोध उत्पन्न करने वालों को हटाता है तथा असुरों को पीड़ा पहुँचाता है। इसके द्वारा असुरों की समस्त जातियों को हम दूर करते हैं ॥३ ॥

७४. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४ ॥

हे रिपो! यदि तुम हमारी गौओं, अश्वों तथा मनुष्यों का संहार करते हो, तो हम तुमको सीसे के द्वारा वेधते हैं। जिससे तुम हमारे वीरों का संहार न कर सको ॥४ ॥

[१७- रुधिरस्रावनिवर्तनधमनीबन्धन सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा। देवता - योषित्, लोहितवासस, हिरा। **छन्द**—अनुष्टुप्, १ भूरिक् अनुष्टुप्, ४ त्रिपदार्षी गायत्री।]

७५. अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः

शरीर में लाल रंग के रक्त का वहन करने वाली जो योषा (धमनियाँ) हैं, वे स्थिर हो जाएँ। जिस प्रकार भाई रहित निस्तेज बहिनें बाहर नहीं निकलतीं, उसी प्रकार धमनियों का खून बाहर न निकले ॥१ ॥

७६. तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनिर्मही ॥२॥

हे नीचे, ऊपर तथा बीच वाली धमनियो ! आप स्थिर हो जाएँ। छोटी तथा बड़ी धमनियाँ भी खून बहाना बन्द करके स्थिर हो जाएँ ॥२॥

७७. शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥

सैकड़ों धमनियों तथा सैकड़ों नाड़ियों के मध्य में मध्यम नाड़ियाँ स्थिर हो गई हैं और इसके साथ-साथ अन्तिम धमनियाँ भी ठीक हो गईं हैं, जिसका रक्त स्राव बन्द हो गया है ॥३॥

७८. परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम् ॥४॥

हे नाड़ियो ! आपको रज नाड़ी ने और धनुष की तरह वक्र धनु नाड़ी ने तथा बृहती नाड़ी ने चारों तरफ से संव्याप्त कर लिया है। आप खून बहाना बन्द करें और इस रोगी को सुख प्रदान करें ॥४॥

[१८- अलक्ष्मीनाशन सूक्त]

[ऋषि - द्रविणोदा । देवता - विनायक । छन्द - १ उपरिष्टाद् विराट् बृहती, २ निचृत् जगती, ३ विराट् आस्तारपंक्ति त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्।]

७९. निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

ललाट पर स्थित बुरे लक्षणों को हम पूर्ण रूप से दूर करते हैं तथा जो हितकारक लक्षण हैं , उन्हें हम अपने लिए तथा अपनी सन्तानों के लिए प्राप्त करते हैं। इसके अलावा कृपणता आदि को दूर हटाते हैं ॥१॥

८०. निररणिं सविता साविषक् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।

निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥२॥

मित्रावरुण, सविता तथा अर्यमा देव हमारे हाथों और पैरों के बुरे लक्षणों को दूर करें। सबकी प्रेरक अनुमति भी वांछित फल प्रदान करती हुई शरीर के बुरे लक्षणों को दूर करे। देवों ने भी इसी सौभाग्य को प्रदान करने के निमित्त प्रेरणा दी है ॥२॥

८१. यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।

सर्वं तद् वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥३॥

हे बुरे लक्षणों से युक्त मनुष्यो ! आपकी आत्मा, शरीर, बाल तथा आँखों में जो वीभत्सता का कुलक्षण है, उन सबको हम मन्त्रों का उच्चारण करके दूर करते हैं। सविता देवता आपको परिपक्व बनाएँ ॥३॥

८२. रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।

विलीढ्यं ललाम्यं१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

ऐसी स्त्री जिसका पैर हिरण की तरह, दाँत बैल की तरह, चाल गाय की तरह तथा आवाज कठोर है, हम उसके मस्तक पर स्थित ऐसे सभी बुरे लक्षणों को मन्त्रों द्वारा दूर करते हैं ॥४॥

[१९- शत्रुनिवारण सूक्त]

[**ऋषि -** ब्रह्मा । **देवता -** ईश्वर (१ इन्द्र, २ मनुष्यों के बाण, ३ रुद्र, ४ विश्वेदेवा) । **छन्द -** अनुष्टुप्, २ पुरस्ताद् बृहती, ३ पथ्या पंक्ति ।]

८३. मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥१ ॥

हथियारों द्वारा अत्यधिक घायल करने वाले रिपु हमारे समीप तक न पहुँच पाएँ तथा चारों तरफ से संहार करने वाले रिपु भी हमारे पास न पहुँच पाएँ । हे परमेश्वर इन्द्र ! सब तरफ फैल जाने वाले बाणों को आप हमसे दूर गिराएँ ॥१ ॥

८४. विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥२ ॥

चारों तरफ फैले हुए बाण जो चलाए जा चुके हैं तथा जो चलाए जाने वाले हैं, वे सब हमारे स्थान से दूर गिरें । हे मनुष्यों के द्वारा संचालित तथा दैवी बाणो ! आप हमारे रिपुओं को विदीर्ण कर डालें ॥२ ॥

८५. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्य यैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥३ ॥

जो हमारे स्वजन हों या दूसरे अन्य लोग हों अथवा सजातीय हों या दूसरी जाति वाले हीन लोग हों; यदि वे हमारे ऊपर आक्रमण करके हमें दास बनाने का प्रयत्न करें, तो उन रिपुओं को रुद्रदेव अपने बाणों से विदीर्ण करें ॥३ ॥

८६. यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥४ ॥

जो हमारे प्रकट तथा गुप्त रिपु विद्वेष भाव से हमारा संहार करने का प्रयत्न करते हैं या हमें अभिशापित करते हैं, उन रिपुओं को समस्त देवगण विनष्ट करें । ब्रह्मज्ञान रूपी कवच हमारी सुरक्षा करे ॥४ ॥

[२०- शत्रुनिवारण सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । **देवता -** १ सोम, मरुद्गण, २ मित्रावरुण, ३ वरुण, ४ इन्द्र । **छन्द -** अनुष्टुप्, १ त्रिष्टुप् ।]

८७. अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥१ ॥

हे सोमदेव ! परस्पर वैमनस्य उत्पन्न करने का कृत्य हमसे न हो । हे मरुतो ! हम जिस युद्ध का अनुष्ठान कर रहे हैं, आप उसमें हमें हर्षित करें । सम्मुख होकर बढ़ता हुआ शत्रु का ओजस् हमारे समीप न आ सके तथा अपकीर्ति भी हमें न प्राप्त हो । जो विद्वेषवर्द्धक कुटिल कृत्य हैं, वे भी हमारे समीप न आ सकें ॥१ ॥

८८. यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते । युवं तं मित्रावरुणावस्मद् यावयतं परि ॥२

हे मित्र और वरुणदेवो ! रिपुओं द्वारा संधान किए गए आयुधों को आप हमसे दूर रखें, जिससे वह हमें स्पर्श न कर सके । आज संग्राम में हिंसा की अभिलाषा से संधान किए गए रिपुओं के अस्त्रों को हमसे दूर रखने का उपाय करें ॥२ ॥

८९. इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय। वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥

हे वरुणदेव ! समीप में खड़े हुए तथा दूर में स्थित रिपुओं के जो अस्त्र, संहार करने के उद्देश्य से हमारे पास आ रहे हैं, उन छोड़े गए अस्त्र-शस्त्रों को आप हमसे पृथक् करें। हे वरुणदेव ! रिपुओं द्वारा अप्राप्त बृहत् सुखों को आप हमें प्रदान करें तथा उनके कठोर आयुधों को हमसे पृथक् करें ॥३ ॥

९०. शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन।

हे शासक इन्द्रदेव ! आपकी शत्रु हनन की क्षमता महान् और अद्भुत है, आपके मित्र भी कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते और न कभी शत्रुओं से पराभूत होते हैं ॥४ ॥

[२१- शत्रुनिवारण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा। देवता - इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप् ।]

९१. स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥१

इन्द्रदेव सबका कल्याण करने वाले, प्रजाजनों का पालन करने वाले, वृत्र असुर का विनाश करने वाले, युद्धकर्त्ता शत्रुओं को वशीभूत करने वाले, साधकों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, सोमपान करने वाले और अभय प्रदान करने वाले हैं। वे हमारे समक्ष पधारें ॥१ ॥

९२. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमारे शत्रुओं का विनाश करें। हमारी सेनाओं द्वारा पराजित शत्रुओं को मुँह लटकाये हुए भागने दें। हमें वश में करने के अभीच्छु शत्रुओं को गर्त में डालें ॥२ ॥

९३. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज। वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः

हे इन्द्रदेव ! आप राक्षसों का विनाश करें। हिंसक दुष्टों को नष्ट करें। वृत्रासुर का जबड़ा तोड़ दें। हे शत्रु-नाशक इन्द्रदेव ! आप हमारे संहारक शत्रुओं के क्रोध एवं दर्प को नष्ट करें ॥३ ॥

९४. अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्। वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्

हे इन्द्रदेव ! आप शत्रुओं के मनों का दमन करें। हमारा संहार करने के अभिलाषी शत्रुओं को नष्ट करें। शत्रुओं के क्रोध से हमारी रक्षा करते हुए हमें श्रेष्ठ सुख प्रदान करें। शत्रु से प्राप्त मृत्यु का निवारण करें ॥४ ॥

[२२- हृद्रोगकामलानाशन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा। देवता - सूर्य, हरिमा और हृद्रोग । छन्द - अनुष्टुप्।]

९५. अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते। गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥

हे रोगग्रस्त मनुष्य ! हृदय रोग के कारण आपके हृदय की जलन तथा (पीलिया या रक्ताल्पता का विकार) आपके शरीर का पीलापन, सूर्य की ओर चला जाए। रक्तवर्ण की गौओं अथवा सूर्य की रक्तवर्ण की रश्मियों के द्वारा हम आपको हर प्रकार से बलिष्ठ बनाते हैं ॥१ ॥

९६. परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि। यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत्॥२

हे व्याधिग्रस्त मनुष्य ! दीर्घायुष्य प्राप्त करने के लिए हम आपको लोहित वर्ण के द्वारा आवृत करते हैं, जिससे आप रोगरहित होकर पाण्डु रोग से विमुक्त हो सकें ॥२ ॥

९७. या रोहिणीर्देवत्या२ गावो या उत रोहिणीः।

रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥३॥

देवताओं की जो रक्तवर्ण की गौएँ हैं अथवा रक्तवर्ण की रश्मियाँ हैं, उनके विभिन्न स्वरूपों और आयुष्यवर्द्धक गुणों से आपको आच्छादित (उपचारित) करते हैं ॥३॥

९८. शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥४॥

हम अपने हरिमाण (पीलिया अथवा शरीर को क्षीण करने वाले रोग) को शुकों (तोतों) रोपणाका (वृक्षों) एवं हरिद्रवों (हरी वनस्पतियों) में स्थापित करते हैं ॥४॥

[मनुष्य के रोगाणु जब विशिष्ट पक्षियों या वनस्पतियों में प्रविष्ट होते हैं, तो उनमें उन रोगों के प्रतिरोधक तत्त्व (एन्टीबॉडीज) उत्पन्न होते हैं। उनके संसर्ग से मनुष्यों के रोगों का शमन होता है। मनुष्य के मल विकार-पक्षियों एवं वनस्पतियों के लिए स्वाभाविक आहार बन जाते हैं, इसलिए रोग विकारों को उनमें विस्थापित करना उचित है।]

[२३- श्वेत कुष्ठ नाशन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा। **देवता** - असिक्नी वनस्पति । **छन्द** - अनुष्टुप्।]

९९. नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥१॥

हे रामा-कृष्णा तथा असिक्नी ओषधियो ! आप सब रात्रि में पैदा हुई हैं। रंग प्रदान करने वाली हे ओषधियो ! आप गलित कुष्ठ तथा श्वेतकुष्ठग्रस्त व्यक्ति को रंग प्रदान करें ॥१॥

[धन्वन्तरि के अनुसार रामा से रामा तुलसी, आरामशीलता, घृतकुमारी, लक्षणा आदि, कृष्णा से कृष्णा तुलसी, कृष्णामूली, पुनर्नवा, पिप्पली आदि तथा असिक्नी से असिकनी असिशिम्वी आदि का बोध होता है।]

१००. किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

हे ओषधियो ! आप कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ तथा धब्बे आदि को विनष्ट करें, जिससे इस व्याधिग्रस्त मनुष्य के शरीर में पूर्व जैसी लालिमा प्रवेश करे। आप सफेद दाग को दूर करके इस रोगी को अपना रंग प्रदान करें ॥२॥

१०१. असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव।

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥३॥

हे नील ओषधे ! आपके पैदा होने का स्थान कृष्ण वर्ण है तथा जिस पात्र में आप स्थित रहती हैं, वह भी काला है। हे ओषधे ! आप स्वयं श्याम वर्ण वाली हैं, इसलिए लेपन आदि के द्वारा इस रोगी के कुष्ठ आदि धब्बों को नष्ट कर दें ॥३॥

१०२. अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥४॥

शरीर में विद्यमान अस्थि और त्वचा के मध्य के मांस में तथा त्वचा पर जो श्वेत कुष्ठ का निशान है, उसे हमने ब्रह्म (ज्ञान या मन्त्र) प्रयोग के द्वारा विनष्ट कर दिया ॥४॥

[२४- श्वेतकुष्ठ नाशन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - आसुरी वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप्, २ निचृत् पथ्या पंक्ति ।]

१०३. सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१ ॥

हें ओषधे !सर्वप्रथम आप सुपर्ण (सूर्य या गरुड़) के पित्तरूप में थीं । आसुरी (शक्तिशाली) सुपर्ण के साथ संग्राम जीतकर उस पित्त को ओषधि का स्वरूप प्रदान किया । वही रूप नील आदि ओषधि में प्रविष्ट किया है ॥१

१०४. आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥२ ॥

उस आसुरी माया ने नील आदि ओषधि को कुष्ठ निवारक ओषधि के रूप में विनिर्मित किया था । यह ओषधि कुष्ठ नष्ट करने वाली है । प्रयोग किये जाने पर इसने कुष्ठ रोग को विनष्ट किया । इसने दूषित त्वचा को रोग शून्य त्वचा के समान रंग वाली कर दिया ॥२ ॥

१०५. सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥३ ॥

हे ओषधे ! आपकी माता आपके समान वर्ण वाली है तथा आपके पिता भी आपके समान वर्ण वाले हैं और आप भी समान रूप करने वाली हो । इसलिए हे नील ओषधे ! आप इस कुष्ठ रोग से दूषित रंग को अपने समान रंग - रूप वाला करें ॥३ ॥

१०६. श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय

हे काले रंग वाली ओषधे ! आप समान रूप बनाने वाली हो । आसुरी माया ने आपको धरती के ऊपर पैदा किया है । आप इस कुष्ठ रोग ग्रस्त अंग को भली प्रकार रोगमुक्त करके पूर्ववत् रंग-रूप वाला बना दें ॥४ ॥

[२५- ज्वर नाशन सूक्त]

[ऋषि-भृग्वङ्गिरा देवता-यक्ष्मनाशन अग्नि । छन्द -१ त्रिष्टुप्, २-३ विराट्गर्भात्रिष्टुप्, ४ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप् ।]

१०७. यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि।

तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१ ॥

जहाँ पर धर्म का आचरण करने वाले सदाचारी मनुष्य नमन करते हैं, जहाँ प्रविष्ट होकर अग्निदेव, प्राण धारण करने वाले जल तत्त्व को जलाते हैं, वहीं पर आपका (ज्वर का) वास्तविक जन्म स्थान है, ऐसा आपके बारे में कहा जाता है । हे कष्टप्रदायक ज्वर ! यह सब जानकर आप हमें रोग मुक्त कर दें ॥१ ॥

१०८. यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।

ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥२ ॥

हे जीवन को कष्टमय करने वाले ज्वर ! यदि आप दाहकता के गुण से सम्पन्न हैं तथा शरीर को संताप देने वाले हैं, यदि आपका जन्म लकड़ी के टुकड़ों की कामना करने वाले अग्निदेव से हुआ है, तो आप 'ह्रूडु' नाम वाले हैं । हे पीलापन उत्पन्न करने वाले ज्वर ! आप अपने कारण अग्निदेव को जानते हुए हमें मुक्त कर दें ॥२ ॥

['ह्रूडु' का अर्थ गति (नाड़ी गति) या कम्पन बढ़ाने वाला अथवा चिन्ता उत्पन्न करने वाला माना जाता है ।]

१०९. यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणास्यासि पुत्रः ।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ।।३ ।।

हे जीवन को कष्टमय बनाने वाले ज्वर ! यदि आप शरीर में कष्ट देने वाले हैं अथवा सब जगह पीड़ा उत्पन्न करने वाले हैं अथवा दुराचारियों को दण्डित करने वाले वरुणदेव के पुत्र हैं, तो भी आपका नाम 'ह्रूडु' है । आप अपने कारण अग्निदेव को जानकर हम सबको मुक्त कर दें ।।३ ।।

११०. नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ।।४ ।।

ठंडक को पैदा करने वाले शीत ज्वर के लिए हमारा नमन है और रूखे ताप को उत्पन्न करने वाले ज्वर को हमारा नमन है । एक दिन का अन्तर देकर आने वाले, दूसरे दिन आने वाले तथा तीसरे दिन आने वाले शीत ज्वर को हमारा नमन है ।।४ ।।

[शीत-ठंड लगकर आने वाले एवं ताप से सुलाने वाले मलेरिया जैसे ज्वर का उल्लेख यहाँ है । यह ज्वर नियमित होने के साथ ही अंतर देकर आने वाले इकतरा-तिजारी आदि रूपों में भी होते हैं । नमन का सीधा अर्थ-दूर से नमस्कार करना-बचाव करना (प्रिवेन्शन) लिया जाता है । 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' नामक कोष के अनुसार नमस् के अर्थ नमस्कार, त्याग, वज्र आदि भी हैं । इन ज्वरों के त्याग या उन पर (ओषधि या मंत्र शक्ति से) वज्र प्रहार करने का भाव भी निकलता है ।]

[२६- शर्म (सुख) प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । देवता - १ देवा, २ इन्द्र, भग, सविता, ३-४ मरुद्गण । छन्द - गायत्री, २ एकावसाना त्रिपदा साम्नी त्रिष्टुप्, ४ एकावसाना पादनिचृत् गायत्री ।]

इस सूक्त के देवता रूप में इन्द्राणी वर्णित हैं । इन्द्र शब्द राजा के लिए प्रयुक्त होने से इन्द्राणी का अर्थ रानी अथवा सेना लिया जाता है । इन्द्राणी को शची भी कहा गया है । 'शची ' का अर्थ निघण्टु में वाणी, कर्म एवं प्रज्ञा दिया गया है । इस आधार पर शची को जीवात्मा की वाणी शक्ति, कर्म शक्ति एवं विचार शक्ति भी कहा जा सकता है । ये तीनों अलग-अलग एवं संयुक्त होकर भी शत्रुओं को पराभूत करने में समर्थ होती हैं । अस्तु, इन्द्राणी के अर्थ में रानी, राजा की सैन्य शक्ति तथा जीव-चेतना की उक्त शक्तियों को लिया जा सकता है-

१११. आरे३सावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् । आरे अश्मा यमस्यथ ।।१ ।।

हे देवो ! रिपुओं द्वारा फेंके गये ये अस्त्र हमारे पास न आएँ तथा आपके द्वारा फेंके गये (अभिमंत्रित) पाषाण भी हमारे पास न आएँ ।।१ ।।

११२. सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ।।२ ।।

दान देने वाले, ऐश्वर्य - सम्पन्न सवितादेव तथा विचित्र धन से सम्पन्न इन्द्रदेव तथा भगदेव हमारे सखा हों ।।२ ।।

११३. यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शर्म यच्छाथ सप्रथाः ।।३ ।।

अपने आप की सुरक्षा करने वाले, न गिराने वाले हे सूर्य की तरह तेजयुक्त मरुतो ! आप सब हमारे निमित्त प्रचुर सुख प्रदान करें ।।३ ।।

११४. सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ।।४ ।।

इन्द्रादि देवता हमें आश्रय प्रदान करें तथा हमें हर्षित करें । वे हमारे शरीरों को आरोग्य प्रदान करें तथा हमारे बच्चों को आनन्दित करें ।।४ ।।

[२७- स्वस्त्ययन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्रमा और इन्द्राणी । छन्द - अनुष्टुप्, १ पथ्या पंक्ति ।]

११५. अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१ ॥

जरायु निकलकर पार हुई ये त्रिसप्त (तीन और सात) सर्पिणियाँ (गतिशील सेनाएँ या शक्ति धाराएँ) हैं। उनके जरायु (केंचुल या आवरण) से हम पापियों की आँखें ढँक दें ॥१ ॥

११६. विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती । विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः

रिपुओं का विनाश करने में सक्षम पिनाक (शिव धनु) की तरह शस्त्रों को धारण करके रिपुओं को काटने वाली (हमारी वीर सेनाएँ या शक्तियाँ) चारों तरफ से आगे बढ़ें , जिससे पुनः एकत्रित हुई रिपु सेनाओं के मन तितर-बितर हो जाएँ और उसके शासक हमेशा के लिए निर्धन हो जाएँ ॥२ ॥

११७. न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः । वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः

बृहत् शत्रु भी हमें विजित नहीं कर सकते और कम शत्रु हमारे सामने ठहर नहीं सकते । जिस प्रकार बाँस के अंकुर अकेले तथा कमजोर होते हैं । उसी प्रकार पापी मनुष्य धन विहीन हो जाएँ ॥३ ॥

११८. प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥४ ॥

हे दोनों पैरो ! आप द्रुतगति से गमन करके आगे बढ़ें तथा वांछित फल देने वाले मनुष्य के घर तक हमें पहुँचाएँ । किसी के द्वारा विजित न की हुई, न लूटी हुई अभिमानी - (इन्द्राणी) सबके आगे-आगे चलें ॥४ ॥

[२८- रक्षोघ्न सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - १-२ अग्नि, ३-४ यातुधानी । छन्द - अनुष्टुप्, ३ विराट् पथ्याबृहती, ४ पथ्या पंक्ति ।]

११९. उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥१ ॥

रोगों को विनष्ट करने वाले, असुरों का विनाश करने वाले अग्निदेव शंकालुओं, लुटेरों तथा दोमुहे कपटियों को भस्मीभूत करते हुए इस उद्विग्न मनुष्य के समीप पहुँचते हैं ॥१ ॥

१२०. प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप लुटेरों तथा सदैव शंकालुओं को भस्मसात् करें । हे काले मार्ग वाले अग्निदेव ! जीवों के प्रतिकूल कार्य करने वाली लुटेरी स्त्रियों को भी आप भस्मसात् करें ॥२ ॥

१२१. या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३ ॥

जो राक्षसियाँ शाप से शापित करती हैं और जो समस्त पापों का मूल हिंसा रूपी पाप करती हैं तथा जो खून रूपी रसपान के लिए जन्मे हुए पुत्र का भक्षण करना प्रारम्भ करती हैं, वे राक्षसियाँ अपने पुत्र का तथा हमारे रिपुओं की सन्तानों का भक्षण करें ॥३ ॥

१२२. पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम्।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्य्यः ॥४ ॥

वे राक्षसियाँ अपने पुत्र, बहिन तथा पौत्र का भक्षण करें। वे बालों को खींचकर झगड़ती हुई मृत्यु को प्राप्त करें तथा दानभाव से विहीन घात करने वाली राक्षसियाँ परस्पर लड़कर मर जाएँ ॥४ ॥

[२९- राष्ट्र अभिवर्धन, सपत्नक्षयण सूक्त]

[**ऋषि** - वसिष्ठ। **देवता** - अभीवर्तमणि, ब्रह्मणस्पति । **छन्द** - अनुष्टुप्।]

१२३. अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे। तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय

हे ब्रह्मणस्पते ! जिस समृद्धिदायक मणि से इन्द्रदेव की उन्नति हुई, उसी मणि से आप हमें राष्ट्र के लिए (राष्ट्रहित के लिए) विकसित करें ॥१ ॥

१२४. अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति

हे राजन् ! हमारे विरोधी हिंसक शत्रु सेनाओं को, जो हमसे युद्ध करने के इच्छुक हैं, जो हमसे द्वेष करते हैं, आप उन्हें घेरकर पराभूत करें ॥२ ॥

१२५. अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३ ॥

हे राजन् ! सवितादेव, सोमदेव और समस्त प्राणिसमुदाय आपको शासनाधिरूढ़ करने में सहयोग करें। इन सबकी अनुकूलता से आप भली- भाँति शासन करें ॥३ ॥

१२६. अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे

यह मणि रिपुओं को आवृत करके उनको पराजित करने वाली है तथा विरोधियों का विनाश करने वाली है। विरोधियों को पराभूत करने के लिए तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए इस मणि को हमारे शरीर में बाँधें ॥४ ॥

१२७. उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५ ।

ये सूर्यदेव उदित हो गये, हमारी वाणी (मंत्र शक्ति) भी प्रकट हो गई है। (इनके प्रभाव से) हम शत्रुनाशक, दुष्टों पर आघात करने वाले तथा शत्रुहीन हों ॥५ ॥

१२८. सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः। यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च।

हे मणे ! हम शत्रुहन्ता, बलवान् एवं विजयी होकर राष्ट्र के अनुकूल वीरों तथा प्रजाजनों के हित सिद्ध करने वाले बनें ॥६ ॥

[३०- दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा। **देवता** - विश्वेदेवा । **छन्द** - त्रिष्टुप् , ३ शाक्वरगर्भा विराट् जगती।]

१२९. विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥१ ॥

हे समस्त देवताओ ! हे वसुओ ! इस आयुष्य की अभिलाषा करने वाले मनुष्य की आप सब सुरक्षा करें। हे आदित्यो ! आप सब भी इस सम्बन्ध में सावधान रहें। इसका विनाश करने के लिए इसके बन्धु अथवा दूसरे शत्रु इस व्यक्ति के समीप न आ सकें। इसको मारने में कोई भी सक्षम न हो सकें ॥१ ॥

१३०. ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्ये नं जरसे वहाथ ॥२ ॥

हे देवताओ ! आपके जो पिता तथा पुत्र हैं, वे सब आयु की कामना करने वाले व्यक्ति के विषय में मेरी इस प्रार्थना को सावधान होकर सुनें । हम इस व्यक्ति को आपके लिए समर्पित करते हैं । आप इसकी संकटों से सुरक्षा करते हुए इसे पूर्ण आयु तक हर्षपूर्वक पहुँचाएँ ॥२ ॥

१३१. ये देवा दिविष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥३ ॥

हे समस्त देवो ! आप जगत् के कल्याण के निमित्त द्युलोक में निवास करते हैं । हे अग्नि आदि देवो ! आप पृथ्वी पर निवास करते हैं । हे वायुदेव ! आप अन्तरिक्ष में निवास करते हैं । हे ओषधियों तथा गौओं में विद्यमान देवताओ ! आप इस आयुष्यकामी व्यक्ति को लम्बी आयु प्रदान करें । आपकी सहायता से यह व्यक्ति मृत्यु के कारणरूप सैकड़ों ज्वरादि रोगों से सुरक्षित रहे ॥३ ॥

१३२. येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः ।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥४ ॥

जिन अग्निदेव के लिए पाँच याग किए जाते हैं और जिन इन्द्र आदि देव के लिए तीन याग किए जाते हैं और अग्नि में होमी हुई आहुतियाँ जिनका भाग है, अग्नि से बाहर डाली हुई आहुतियों का सेवन करने वाले बलिहरण आदि देव तथा पाँच दिशाएँ जिनके नियन्त्रण में रहती हैं । उन समस्त देवों को हम आयुष्यकामी व्यक्ति की आयुर्वृद्धि के लिए उत्तरदायी बनाते हैं ॥४ ॥

[३१- पाशमोचन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - आशापालाक वास्तोष्पतिगण । छन्द - अनुष्टुप्, ३ विराट् त्रिष्टुप्, ४ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।]

१३३. आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥१ ॥

समस्त प्राणियों के अधिपति तथा अमरता से सम्पन्न इन्द्र आदि चार दिक्पालों के निमित्त हम सब हवि समर्पित करते हैं ॥१ ॥

१३४. य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः ॥२ ॥

हे देवो ! आप चारों दिशाओं के चार दिशापालक हैं । आप हमें हर प्रकार के पापों से बचाएँ तथा पतनोन्मुख पाशों से मुक्त करें ॥२ ॥

१३५. अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥३ ॥

(हे कुबेर !) हम इच्छित ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अश्रान्त होकर आपके लिए आहुति समर्पित करते हैं। हम श्लोण (लँगड़ापन) नामक रोग से रहित होकर आपके लिए घृत द्वारा आहुति समर्पित करते हैं । पूर्व वर्णित चतुर्थ दिक्पाल हमें स्वर्ण आदि सम्पत्ति प्रदान करें और हमारी आहुतियों से प्रसन्न हों ॥३ । ।

१३६. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥४ ॥

हमारी माता तथा हमारे पिता कुशल से रहें । हमारी गौएँ, हमारे स्वजन तथा सम्पूर्ण संसार कुशल से रहें । हम सब श्रेष्ठ ऐश्वर्य तथा श्रेष्ठ ज्ञान वाले हों और सैकड़ों वर्षों तक सूर्य को देखने वाले हों, (दीर्घजीवी) हों ॥४ ॥

[३२- महद्ब्रह्म सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - द्यावापृथिवी । **छन्द** - अनुष्टुप्, २ ककुम्मती अनुष्टुप् ।]

१३७. इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१ ॥

हे जिज्ञासुओ ! आप इस विषय में ज्ञान प्राप्त करें कि वह ब्रह्म धरती पर अथवा द्युलोक में ही निवास नहीं करता, जिससे ओषधियाँ 'प्राण' प्राप्त करती हैं ॥१ ॥

१३८. अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२ ॥

इन ओषधियों का निवास स्थान अन्तरिक्ष में है । जिस प्रकार थके हुए मनुष्य विश्राम करते हैं, उसी प्रकार ये ओषधियाँ अन्तरिक्ष में निवास करती हैं । इस बने हुए स्थान को विधाता और मनु आदि जानते हैं अथवा नहीं ?

१३९. यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् । आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आपने तथा धरती ने जो कुछ भी उत्पन्न किया है । वह सब उसी प्रकार हर समय नया रहता है, जिस प्रकार सरोवर से निकलने वाले जलस्रोत अक्षय रूप में निकलते रहते हैं ॥३ ॥

१४०. विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥४ ॥

यह अन्तरिक्ष इस जगत् का आवरण रूप है । धरती के आश्रय में रहने वाला यह विश्व आकाश से वृष्टि के लिए प्रार्थना करता है । उस द्युलोक तथा समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न पृथ्वी को हम नमन करते हैं ॥४ ॥

[३३- आपः सूक्त]

[**ऋषि** - शन्ताति । **देवता** - चन्द्रमा और आपः । **छन्द** - त्रिष्टुप् ।]

१४१. हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१ ॥

जो जल सोने के समान आलोकित होने वाले रंग से सम्पन्न, अत्यधिक मनोहर, शुद्धता प्रदान करने वाला है, जिससे सवितादेव और अग्निदेव उत्पन्न हुए हैं । जो श्रेष्ठ रंग वाला जल अग्निगर्भ है, वह जल हमारी व्याधियों को दूर करके हम सबको सुख और शान्ति प्रदान करे ॥१ ॥

१४२. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥२ ॥

जिस जल में रहकर राजा वरुण सत्य एवं असत्य का निरीक्षण करते चलते हैं । जो सुन्दर वर्ण वाला जल अग्नि को गर्भ में धारण करता है, वह हमारे लिए शान्तिप्रद हो ॥२ ॥

१४३. यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३ ॥

जिस जल के सारभूत तत्त्व का तथा सोमरस का इन्द्रदेव आदि देवता द्युलोक में सेवन करते हैं । जो अन्तरिक्ष में विविध प्रकार से निवास करते हैं । वह अग्निगर्भा जल हम सबको सुख और शान्ति प्रदान करे ॥३ ॥

१४४. शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।

घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४ ॥

हे जल के अधिष्ठाता देव ! आप अपने कल्याणकारी नेत्रों द्वारा हमें देखें तथा अपने हितकारी शरीर द्वारा हमारी त्वचा का स्पर्श करें । तेजस्विता प्रदान करने वाला शुद्ध तथा पवित्र जल हमें सुख तथा शान्ति प्रदान करे ॥४

[३४- मधुविद्या सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - मधुवनस्पति । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४५. इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥१ ॥

सामने स्थित, चढ़ने वाली मधुक नामक लता मधुरता के साथ पैदा हुई है । हम इसे मधुरता के साथ खोदते हैं । हे वीरुत् ! आप स्वभाव से ही मधुरता सम्पन्न हैं । अतः आप हमें भी मधुरता प्रदान करें ॥१ ॥

१४६. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥२ ॥

हमारी जिह्वा के अगले भाग में तथा जिह्वा के मूल भाग में मधुरता रहे । हे मधूलक लते ! आप हमारे शरीर, मन तथा कर्म में विद्यमान रहें ॥२ ॥

१४७. मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥३ ॥

हे मधुक ! आपको ग्रहण करके हमारा निकट का गमन मधुर हो और दूर का जाना मधुर हो । हमारी वाणी भी मधुरता युक्त हो, जिससे हम सबके प्रेमास्पद बन जाएँ ॥३ ॥

१४८. मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।

मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥४ ॥

हे मधुक लते ! आपकी समीपता को ग्रहण करके हम शहद से अधिक मीठे हो जाएँ तथा मधुर पदार्थ से भी ज्यादा मधुर हो जाएँ । आप हमारा ही सेवन करें । जिस प्रकार मधुर फलयुक्त शाखा से पक्षीगण प्रेम करते हैं, उसी प्रकार सब लोग हमसे प्रेम करें ॥४ ॥

१४९. परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥५ ॥

सब तरफ से घिरे हुए, मीठे ईख के सदृश, एक दूसरे के प्रिय तथा मिठास युक्त रहने के निमित्त ही हे पत्नि !हम तुमको प्राप्त हुए हैं । हमारी कामना करने वाली रहो तथा हमें परित्याग करके तुम न जा सको, इसीलिए हम तुम्हारे समीप आए हैं ॥५ ॥

[३५- दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - हिरण्य, इन्द्राग्नी या विश्वेदेवा । **छन्द** - जगती, ४ अनुष्टुप्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप् ।]

१५०. यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१ ॥

हे आयु की कामना करने वाले मनुष्य ! श्रेष्ठ विचार वाले दक्षगोत्रीय महर्षियों ने 'शतानीक राजा' को जो हर्ष प्रदायक सुवर्ण बाँधा था । उसी सुवर्ण को हम, आपके आयु वृद्धि के लिए, तेज और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए तथा सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त कराने के लिए आपको बाँधते हैं ॥१ ॥

१५१. नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येऽतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२ ॥

सुवर्ण धारण करने वाले मनुष्य को ज्वर आदि रोग कष्ट नहीं पहुँचाते । मांस का भक्षण करने वाले असुर उसको पीड़ित नहीं कर सकते, क्योंकि यह हिरण्य इन्द्रादि देवों से पूर्व ही उत्पन्न हुआ है । जो व्यक्ति दाक्षायण सुवर्ण धारण करते हैं, वे सभी दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं ॥२ ॥

१५२. अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्रइवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥३ ॥

हम इस मनुष्य में जल का ओजस्, तेजस्, शक्ति, सामर्थ्य तथा वनस्पतियों के समस्त वीर्य स्थापित करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र से सम्बन्धित बल इन्द्र के अन्दर विद्यमान रहता है, उसी प्रकार हम उक्त गुणों को इस व्यक्ति में स्थापित करते हैं । अतः बलवृद्धि की कामना करने वाले मनुष्य स्वर्ण धारण करें ॥३ ॥

१५३. समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥४ ॥

हे समस्त धन की कामना करने वाले मनुष्य ! हम आपको समान मास वाली ऋतुओं तथा संवत्सर पर्यन्त रहने वाले गौ दुग्ध से परिपूर्ण करते हैं । इन्द्र, अग्नि तथा अन्य समस्त देव आपकी गलतियों से क्रोधित न होकर स्वर्ण धारण करने से प्राप्त फल की अनुमति प्रदान करें ॥४ ॥

॥ इति प्रथमं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं काण्डम् ॥

[१- परमधाम सूक्त]

[ऋषि - वेन । देवता - ब्रह्मात्मा । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ जगती ।]

इस सूक्त के ऋषि वेन (स्वयं प्रकाशवान्-आत्मप्रकाश युक्त साधक) हैं । वे ही ऋतरूप ब्रह्म या परमात्म तत्त्व को जान पाते हैं । प्रथम मंत्र में उस ब्रह्म का स्वरूप तथा दूसरे में उसे जानने का महत्त्व समझाया गया है । तीसरे में जिज्ञासा, चौथे में बोध तथा पाँचवे में तद्रूपता का वर्णन है-

१५४. वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥१ ॥

गुहा (अनुभूति या अन्तःकरण) में जो सत्य, ज्ञान आदि लक्षण वाला ब्रह्म है, जिसमें समस्त जगत् विलीन हो जाता है, उस श्रेष्ठ परमात्मा को वेन (प्रकाशवान्-ज्ञानवान् या सूर्य) ने देखा । उसी ब्रह्म का दोहन करके प्रकृति ने नाम-रूप वाले भौतिक जगत् को उत्पन्न किया । आत्मज्ञानी मनुष्य उस परब्रह्म की स्तुति करते हैं ॥१ ॥

१५५. प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२ ॥

गन्धर्व (वाणी या किरणों से युक्त विद्वान् या सूर्य) के बारे में उपदेश दें । इस ब्रह्म के तीन पद हृदय की गुफा में विद्यमान हैं । जो मनुष्य उसे ज्ञात कर लेता है, वह पिता का भी पिता (सर्वज्ञ सबके उत्पत्तिकर्त्ता ब्रह्म का भी ज्ञाता) हो जाता है ॥२ ॥

१५६. स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३ ॥

वह ब्रह्म हमारा पिता, जन्मदाता तथा भाई है, वही समस्त लोकों तथा स्थानों को जानने वाला है । वह अकेला ही समस्त देवताओं के नामों को धारण करने वाला है । समस्त लोक उसी ब्रह्म के विषय में प्रश्न पूछने के लिए (ज्ञाता के पास) पहुँचते हैं ॥३ ॥

१५७. परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।

वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥४ ॥

(ब्रह्मज्ञानी का कथन) मैं शीघ्र ही द्यावा-पृथिवी को (तत्त्व दृष्टि से) जान गया हूँ, (अस्तु) ऋत (परमसत्य) की उपासना करता हूँ । जिस प्रकार वक्ता के अन्दर वाणी विद्यमान रहती है, उसी प्रकार वह ब्रह्म समस्त लोकों में विद्यमान रहता है और वही समस्त प्राणियों को धारण तथा पोषण करने वाला है । निश्चित रूप से अग्नि भी वही है ॥४ ॥

१५८. परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥५ ॥

जहाँ अमृत सेवन करने वाले, समान आधार वाले देवगण (या अमृत - आनंन्दसेवी देवपुरुष) विचरण करते हैं, उस ऋत (परमसत्य) के ताने-बाने को मैंने अनेक बार देखा है ॥५ ॥

[२- भुवनपति सूक्त]

[ऋषि - मातृनामा । देवता - गन्धर्व, अप्सरा समूह । छन्द - त्रिष्टुप्, १ विराट् जगती, ४ विराट् गायत्री, ५ भुरिगनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के देवता गन्धर्व-अप्सरा हैं। गन्धर्व अर्थात् गांधर्वः - गां से भूमि, किरण, वाणी, इन्द्रिय का बोध होता है तथा धर्वः धारक, पोषक को कहते हैं। अप्सरा अर्थात् अप् सरस् - अप् सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न मूल क्रियाशील तत्त्व है, यह बात ऋग्वेद में भली-भाँति व्यक्त की जा चुकी है। अप् के आधार पर चलने वाली विभिन्न शक्तियाँ-प्राण की अनेक धाराएँ गन्धर्व पत्नियाँ कही गई हैं। इस आधार पर इस सूक्त के मंत्र अन्तरिक्ष-प्रकृति एवं काया में संचालित प्राण-प्रक्रिया पर घटित हो सकते हैं-

१५९. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥१ ॥

जो दिव्य गन्धर्व, पृथ्वी आदि लोकों को धारण करने वाले एक मात्र स्वामी हैं, वे ही इस संसार में नमस्य हैं। हे परमात्मन् ! आपका निवास स्थान द्युलोक में हैं। हम आपको नमन करते हैं तथा उपासना द्वारा आपसे मिलते हैं ॥१ ॥

१६०. दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२ ॥

समस्त लोकों के एक मात्र अधिपति गंधर्व (पृथ्वी को धारण करने वाले) द्युलोक में विद्यमान रहने वाले, दैवी आपदाओं के निवारक तथा सूर्य के त्वचा (रक्षक-आवरण) रूप हैं। वे सबके द्वारा नमस्कार करने तथा प्रार्थना करने योग्य हैं। सबके सुखदाता वे हमें भी सुख प्रदान करें ॥२ ॥

१६१. अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३ ॥

प्रशंसनीय रूप वाली अप्सराओं (किरणों या प्राण धाराओं) से गन्धर्वदेव संगत (युक्त) हो गए हैं। इन अप्सराओं का निवास स्थान अन्तरिक्ष है। हमें बतलाया गया है कि ये (अप्सराएँ) वहीं से आतीं (प्रकट होतीं) तथा वहीं चली जाती (विलीन हो जाती) हैं ॥३ ॥

१६२. अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥४ ॥

हे देवियो ! आप मेघों की विद्युत् अथवा नक्षत्रों के आलोक में संसार का पालन करने वाले गन्धर्वदेव से संयुक्त होती हैं, इसलिए हम आपको नमन करते हैं ॥४ ॥

[विद्युत् के प्रभाव से तथा नक्षत्रों (सूर्यादि) के प्रभाव से किरणें या प्राणधाराएँ-धारक तत्त्वों-प्राणियों के साथ संयुक्त होती हैं-यह तथ्य विज्ञान सम्मत है।]

१६३. याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥५ ॥

प्रेरित करने वाली, ग्लानि को दूर करने वाली, आँखों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली तथा मन को अस्थिर करने वाली, जो गन्धर्व - पत्नी रूप अप्सराएँ हैं, हम उन्हें प्रणाम करते हैं ॥५ ॥

[प्राण की धाराएँ अथवा प्रकाश किरणें ही नेत्रादि को तुष्ट करतीं हैं, मन को तरंगित करने वाली भी वे ही हैं। मंत्र का भाव अप्सराओं के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों संदर्भों से सिद्ध होता है।]

[३- आस्रावभेषज सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरा । देवता - भैषज्य, आयु, धन्वन्तरि । छन्द -अनुष्टुप्, ६ त्रिपात् स्वराट् उपरिष्टात् महाबृहती ।

१६४. अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् । तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥१

जो रक्षक-प्रवाह (सोम) मुञ्जवान् पर्वत के ऊपर से नीचे लाया जाता है, उसके अग्रभाग वनस्पति को हम इस प्रकार बनाते हैं, जिससे वह आपके लिए श्रेष्ठ औषधि बन जाए ॥१ ॥

१६५. आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥२

हे दिव्य प्रवाह ! जो आपसे उत्पन्न होने वाली असीम ओषधियाँ हैं, वे अतिसार, बहुमूत्र तथा नाड़ीव्रण आदि रोगों को विनष्ट करने में पूर्णरूप से सक्षम हैं ॥२ ॥

१६६. नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥

प्राणों का विनाश करने वाले तथा देह को गिराने वाले असुर रूप रोग, व्रण के मुख को अन्दर से फाड़ते हैं; लेकिन वह मूँज नामक ओषधि घाव की अत्युत्तम ओषधि है । वह अनेकों व्याधियों को नष्ट कर देती है ॥३ ॥

१६७. उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥

धरती के नीचे विद्यमान जलराशि से व्याधि नष्ट करने वाली ओषधि रूप बमई (दीमक की बाँबी) की मिट्टी ऊपर आती है, यह मिट्टी आस्राव की ओषधि है । यह अतिसार आदि व्याधियों को शमित (शान्त) करती है ॥४ ॥

१६८. अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्

खेत से उठाई हुई ओषधि रूप मिट्टी फोड़े को पकाने वाली तथा अतिसार आदि रोगों को समूल नष्ट करने वाली (रामबाण) ओषधि है ॥५ ॥

१६९. शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥६ ॥

ओषधि के लिए प्रयोग किया हुआ जल हर्ष प्रदायक होकर हमारी व्याधियों को शमित करने वाला हो । रोग को उत्पन्न करने वाले (असुरों) को इन्द्रदेव का वज्र विनष्ट करे । असुरों द्वारा मनुष्यों पर संधान किये गये व्याधिरूप बाण हम सबसे दूर जाकर गिरें ॥६ ॥

[४ - दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्रमा अथवा जङ्गिड़ । छन्द -अनुष्टुप्, १ विराट् प्रस्तारपंक्ति ।]

इस सूक्त के देवता चन्द्र और जंगिड़ (मणि) हैं । इसी सूक्त (मंत्र क्र.५) में उसे अरण्य-वन से लाया हुआ कहा गया है तथा अथर्व० १९.३४.९ में इसे वनस्पति कहा गया है । आचार्य सायण ने इसे वाराणसी क्षेत्र में पाया जाने वाला वृक्ष विशेष कहा है, आजकल इसके बारे में किसी को पता नहीं है । चन्द्रमा के साथ इसे देवता संज्ञा प्रदान करने से यह सोम प्रजाति की वनस्पति प्रतीत होती है । जंगिड़ मणि से उस ओषधि रस से तैयार मणि (गुटिका-गोली) का बोध होता है । इसी का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

१७०. दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥१ ॥

दीर्घायु प्राप्त करने के लिए तथा आरोग्य का प्रचुर आनन्द अनुभव करने के लिए हम अपने शरीर पर जंगिड़ मणि धारण करते हैं । यह जंगिड़ मणि रोगशामक है तथा दुर्बलता को दूर करके सामर्थ्य को बढ़ाने वाली है ॥१ ॥

१७१. जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥२ ॥

यह जंगिड़ मणि सहस्रों बलों से सम्पन्न होकर जमुहाई बढ़ाने वाली, दुर्बलता पैदा करने वाली, देह को सुखाने वाली तथा अकारण आँखों में आँसू आने वाले रोग से हमारी सुरक्षा करे ॥२ ॥

१७२. अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः। अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः।

यह जंगिड़ मणि सुखाने वाले रोग से हमारी सुरक्षा करती है और भक्षण करने वाली कृत्या आदि का विनाश करती है। यह हमारे समस्त रोगों का निवारण करने वालीसम्पूर्ण ओषधिरूप है, यह पाप से हमारी सुरक्षा करे ॥३ ॥

१७३. देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा। विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥४

देवताओं द्वारा प्रदान किये गये, सुखदायक जंगिड़ मणि के द्वारा, हम सुखाने वाले रोगों तथा समस्त रोग-कीटाणुओं को संघर्ष में दबा सकते हैं ॥४ ॥

१७४. शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५ ॥

सन (बाँधने के लिए सन से बने धागे अथवा सन का विशिष्ट योग) तथा जंगिड़ मणि विष्कंध रोग से हमारी रक्षा करें। इनमें से एक की आपूर्ति वन से तथा दूसरे की कृषि द्वारा उत्पादित रसों से की गई है ॥५ ॥

१७५. कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६ ॥

यह जंगिड़ मणि कृत्या आदि से सुरक्षा करने वाली है तथा शत्रुरूप व्याधियों को दूर करने वाली है। यह शक्तिशाली जंगिड़मणि हमारे आयुष्य की वृद्धि करे ॥६ ॥

[५- इन्द्रशौर्य सूक्त]

[**ऋषि** - भृगु आथर्वण। देवता -इन्द्र । छन्द - त्रिष्टुप्, १ निचृत् उपरिष्टात् बृहती, २ विराट् उपरिष्टात् बृहती, ३ विराट् पथ्या बृहती, ४ पुरोविराट् जगती ।]

१७६. इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥१ ॥

हे शूरवीर इन्द्रदेव ! आप आनन्दित होकर आगे बढ़ें। आप अपने अश्वों के द्वारा इस यज्ञ में पधारें। परितुष्ट तथा आनन्दित होने के लिए विद्वान् पुरुषों द्वारा अभिषुत किए गए मधुर सोमरस का पान करें ॥१ ॥

१७७. इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२ ॥

हे शूरवीर इन्द्रदेव ! आप प्रशंसनीय तथा हर्षवर्धक मधुर सोमरस के द्वारा उदरपूर्ति करें। इसके बाद अभिषुत सोमरस तथा स्तुतियों के माध्यम से आपको स्वर्ग की तरह आनन्द प्राप्त हो ॥२ ॥

१७८. इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥३ ॥

इन्द्रदेव समस्त प्राणियों के मित्र हैं तथा रिपुओं पर त्वरित गति से आक्रमण करने वाले हैं। उन्होंने वृत्र या

अवरोधक मेघ का संहार किया था। भृगु ऋषि के समान उन्होंने अंगिराओं के यज्ञों की साधनभूत गौओं का अपहरण करने वाले बलासुर का संहार किया था, सोमपान से हर्षित होकर रिपुओं को पराजित किया था ॥३ ॥

१७९. आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥४ ॥

हे शक्तिशाली इन्द्रदेव ! आपको अभिषुत सोमरस प्राप्त हो और आप उससे अपनी दोनों कुक्षियों को पूर्ण करें। हे इन्द्रदेव ! आप हमारे आवाहन को सुनकर, विवेकपूर्वक हमारे समीप पधारें तथा हमारे स्तुति - वचनों को स्वीकार करें और विराट् संग्राम के लिए अपने रक्षण साधनों के साथ हर्षपूर्वक तैयार रहें ॥४ ॥

१८०. इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥५ ॥

वज्रधारी इन्द्रदेव के पराक्रमपूर्ण कृत्यों का हम बखान करते हैं। उन्होंने वृत्र तथा मेघ का संहार किया था। उसके बाद उन्होंने वृत्र के द्वारा अवरुद्ध किये हुए जल को प्रवाहित किया तथा पर्वतों को तोड़कर नदियों के लिए रास्ता बनाया ॥५ ॥

१८१. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६ ॥

उन इन्द्रदेव ने वृत्र का संहार किया तथा मेघ को विदीर्ण किया। वृत्र के पिता त्वष्टा ने इन्द्रदेव के निमित्त अपने वज्र को तेज किया। उसके बाद गौओं के सदृश अधोमुख होकर वेग से बहने वाली नदियाँ समुद्र तक पहुँचीं ॥६ ॥

१८२. वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥७ ॥

वृष के सदृश व्यवहार करने वाले इन्द्रदेव ने सोमरूप अन्न को प्रजापति से ग्रहण किया तथा तीन उच्च स्थानों में अभिषुत सोमरस का पान किया। उसके बल से बलिष्ठ होकर उन्होंने बाणरूप वज्र धारण किया तथा हिंसा करने वाले रिपुओं में प्रथम उत्पन्न हुए इस वीर (वृत्र) को विनष्ट किया ॥७ ।।

[६- सपत्नहाग्नि सूक्त]

[ऋषि - शौनक । देवता - अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप्, ४ चतुष्पदार्षी पङ्क्ति, ५ विराट् प्रस्तारपङ्क्ति ।]

१८३. समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आपको माह, ऋतु, वर्ष, ऋषि तथा सत्य-आचरण समृद्ध करें। आप दैवी तेजस् से सम्पन्न होकर समस्त दिशाओं को आलोकित करें ॥१ ॥

१८४. सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप भलीप्रकार प्रदीप्त होकर इस याजक की वृद्धि करें तथा इसे प्रचुर ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए उत्साहित रहें। हे अग्निदेव ! आपके साधक कभी विनष्ट न हों। आपके समीप रहने वाले विप्र कीर्ति-सम्पन्न हों तथा दूसरे अन्य लोग (जो यज्ञादि नहीं करते, वे) कीर्तिवान् न हों ॥२ ॥

१८५. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! ये ब्राह्मण याजक आपकी साधना करते हैं । हे अग्निदेव ! आप हमारी भूलों से भी क्रोधित न हों । हे अग्निदेव ! आप हमारे रिपुओं तथा पापों को पराजित करके अपने घर में सावधान होकर जाग्रत् रहें ॥३ ॥

१८६. क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! आप क्षत्रिय बल से भली प्रकार संगत (युक्त) हों । हे अग्निदेव ! आप अपने मित्रों के साथ मित्रभाव से आचरण करें । हे अग्निदेव ! आप समान जन्म वाले विप्रों के बीच में आसीन होकर तथा राजाओं के मध्य में विशेष रूप से आवाहनीय होकर, इस यज्ञ में आलोकित हों ॥४ ॥

१८७. अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमारे विषय-विकारों को दूर करें, (जो हमें सूअर, कुत्ते आदि की घिनौनी योनि में डालने वाले हैं ।) आप हमारे शरीर को सुखाने वाली व्याधियों तथा पाप में प्रेरित करने वाली दुर्बुद्धियों को दूर करें । आप हमारे रिपुओं का विनाश करें और हमें पराक्रमी सन्तानों से युक्त ऐश्वर्य प्रदान करें ॥५ ॥

[७- शापमोचन सूक्त]

[**ऋषि** -अथर्वा । **देवता** -भैषज्य, आयु, वनस्पति । **छन्द** - अनुष्टुप्, १ भुरिगनुष्टुप्, ४ विराडुपरिष्टाद् बृहती ।]

१८८. अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१ ॥

पिशाचों द्वारा किये हुए पाप को दूर करने वाली, ब्राह्मणों के शाप को विनष्ट करने वाली तथा देवताओं द्वारा उत्पन्न होने वाली वीरुध् (दूर्वा ओषधि) हमारे समस्त शापों को उसी प्रकार धो डालती है, जिस प्रकार जल समस्त मलों को धो डालता है ॥१ ॥

१८९. यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥२ ॥

रिपुओं के शाप, स्त्रियों के शाप तथा ब्राह्मण के द्वारा क्रोध में दिये गये शाप हमारे पैर के नीचे हो जाएँ (अर्थात् नष्ट हो जाएँ) ॥२ ॥

१९०. दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् । तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥

द्युलोक से मूल भाग के रूप में आने वाली तथा धरती के ऊपर फैली हुई उस हजार गाँठों वाली वनस्पति (दूब) से हे मणे ! आप हमारी सब प्रकार से सुरक्षा करें ॥३ ॥

१९१. परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥४ ॥

हे मणे ! आप हमारी, हमारे पुत्र-पौत्रों तथा हमारे ऐश्वर्य की सुरक्षा करें । अदानी रिपु हमसे आगे न बढ़ें तथा हिंसक मनुष्य हमारा विनाश करने में सक्षम न हों ॥४ ॥

१९२. शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह । चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥

शाप देने वाले व्यक्ति के पास ही शाप लौट जाए ।जो श्रेष्ठ अन्तःकरण वाले मनुष्य हैं, उनके साथ हमारी मित्रता स्थापित हो ।हे मणे !अपनी आँखों से बुरे इशारे करने वाले मनुष्य की पसलियों को छिन्न-भिन्न कर डालें ॥

[८- क्षेत्रियरोगनाशन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - वनस्पति, यक्ष्मनाशन । छन्द -अनुष्टुप् , ३ पथ्यापङ्क्ति, ४ विराट् अनुष्टुप्, ५ निचृत् पथ्यापंक्ति ।]

इस सूक्त में क्षेत्रिय (वंशानुगत) रोग-निवारण के सूत्र कहे गये हैं । प्रथम मंत्र में उसके लिए उपयुक्त नक्षत्र योग का तथा तीसरे में वनौषधियों का उल्लेख है । मंत्र २, ४ एवं ५ सहयोगी तंत्र, उपचार, पथ्यादि के संकेत प्रतीत होते हैं । तथ्यों तक पहुँचने के लिए शोध कार्य अपेक्षित है-

१९३. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥

विचृत नामक प्रभावपूर्ण दोनों तारिकाएँ (अथवा उपयुक्त ओषधि एवं तारिकाएँ) उगी हैं । वे वंशानुगत रोग के अधम एवं उत्तम पाश को खोल दें ॥१ ॥

[कुछ आचार्यों ने भगवती को तारकों का विशेषण माना है, कुछ उसका अर्थ दिव्य ओषधि के रूप में करते हैं ।]

१९४. अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥२

यह रात्रि चली जाए, हिंसक (रोगाणु) भी चले जाएँ ।वंशानुगत रोग की ओषधि उस रोग से मुक्ति प्रदान करे

[इस मंत्र से रोगमुक्ति का प्रयोग रात्रि के समापन काल अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त में करने का आभास मिलता है ।]

१९५. बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥३ ॥

भूरे और सफेद रंग वाले अर्जुन की लकड़ी, जौ की बाल तथा तिल सहित तिल की मञ्जरी व्याधि को विनष्ट करे । आनुवंशिक रोग को विनष्ट करने वाली यह वनस्पति इस रोग से विमुक्त करे ॥३ ॥

[अर्जुन की छाल, जौ, तिल आदि का प्रयोग ओषधि अनुपान या पथ्यादि के रूप में करने का संकेत प्रतीत होता है ।]

१९६. नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥४ ॥

रोग के शमन के लिए (ओषधि उत्पादन में उपयोगी) वृषभ युक्त हल तथा उसके काष्ठ युक्त अवयवों को नमन है । आनुवंशिक रोग को विनष्ट करने वाली ओषधि आपके क्षेत्रिय रोग को विनष्ट करे ॥४ ॥

१९७. नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यो नमः क्षेत्रस्य पतये ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥५ ॥

(ओषधि उत्पादन में सहयोगी) जल प्रवाहक अक्ष को नमन, संदेश पहुँचाने वाले को नमन, (उत्पादक) क्षेत्र के स्वामी को नमन । क्षेत्रिय रोग निवारक ओषधि इस रोग का निवारण करे ॥५ ॥

[९- दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - यक्ष्मनाशन, वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप्, १ विराट् प्रस्तारपांक्ति ।]

१९८. दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥१ ॥

हे दशवृक्ष ! राक्षसी की तरह इसको (रोगी को) जकड़ने वाले गठिया रोग से आप मुक्त करें । हे वनौषधे !

व्याधि के कारण (निष्क्रिय) इस व्यक्ति को पुनः जनसमाज में जाने योग्य बनाएँ ॥१ ॥

१९९. आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्। अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥

(हे वनस्पते !) आपकी कृपा से यह व्यक्ति जीवन पाकर जीवित मनुष्यों के समूह में पुनः आ जाए और अपने पुत्रों का पिता हो जाए तथा मनुष्यों के बीच में अत्यधिक सौभाग्यवान् बन जाए ॥२ ॥

२००. अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥३

व्याधि से मुक्त हुए व्यक्ति को विद्याओं का स्मरण हो जाए तथा मनुष्यों के निवास स्थान को फिर से जान जाए, क्योंकि इस रोग के सैकड़ों वैद्य हैं तथा हजारों ओषधियाँ हैं ॥३ ॥

२०१. देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः। चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि

हे ओषधे ! व्याधि की पीड़ा से रोगी को मुक्त करने तथा रोग का प्रतिरोध करने आदि आपके बल को समस्त देव जानते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर आपके गुण - धर्म को देव, ब्राह्मण तथा चिकित्सक जानते हैं ॥४ ॥

२०२. यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥५ ॥

जो वैद्य अनवरत चिकित्सा का कार्य करते हैं, वही कुशलता प्राप्त करते हैं और वही श्रेष्ठ वैद्य बनते हैं। वही चिकित्सक अन्य चिकित्सकों से परामर्श करके आपके रोगों की चिकित्सा कर सकते हैं ॥५ ॥

[१०- पाशमोचन सूक्त]

[**ऋषि** - भृग्वङ्गिरा। **देवता** - १-८ द्यावापृथिवी, १ ब्रह्म, निर्ऋति, २ आपोदेव, अग्नि (पूर्वपाद) , सोम, ओषधि समूह (उत्तर पाद), ३ पूर्वपाद का वात, उत्तर पाद का चारों दिशाएँ, ४-८ वातपत्नी, सूर्य, यक्ष्म, निर्ऋति । **छन्द** -सप्तपदा धृति, १ त्रिष्टुप्, २ सप्तपादष्टि, ६ सप्तपदा अत्यष्टि।]

२०३. क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१ ॥

(हे रोगिन् !) हम तुम्हें पैतृक रोग से, कष्टों से, द्रोह से, सम्बन्धियों के क्रोध से तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करते हैं। हम तुम्हें ब्रह्मज्ञान से दोषरहित करते हैं और यह द्यावा-पृथिवी भी तुम्हारे लिए हितकारी हो ॥१ ॥

२०४. शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥२ ॥

(हे रोगिन् !) समस्त जल के साथ अग्निदेव आपके लिए हितकारी हों तथा काम्पील (कबीला) आदि ओषधियों के साथ सोमरस भी आपके लिए हर्षकारी हो। हम आपको क्षेत्रिय रोग से, पीड़ा से, द्रोह से, बन्धुओं के क्रोध से तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं। यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥२ ॥

२०५. शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥३ ॥

(हे रोगिन् !) अन्तरिक्ष में संचरण करने वाले वायुदेव आपके लिए सामर्थ्य एवं कल्याण प्रदान करें तथा चारों दिशाएँ आपके लिए हितकारी हों । हम आपको आनुवंशिक रोग, द्रोह, पीड़ा, बन्धुओं के क्रोध तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥

२०६. इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं त्वां
क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४ ॥

प्रकाशमयी चारों उपदिशाएँ वायुदेव की पत्नियाँ हैं, उनको आदित्यदेव चारों तरफ से देखते हैं । वे आपका कल्याण करें । हे रोगिन् ! हम भी आपको आनुवंशिक रोगों, द्रोह, बन्धुओं के क्रोध तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥४ ॥

२०७. तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं त्वां
क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥५ ॥

(हे रोगिन् !) हम आपको व्याधिरहित करके वृद्धावस्था तक जीवित रहने के लिए उन (पूर्व आदि चारों) दिशाओं में स्थापित करते हैं । आपके समीप से क्षय रोग तथा सम्पूर्ण कष्ट अधोमुखी होकर दूर चले जाएँ । हे रोगिन् ! हम आपको आनुवंशिक रोग, पीड़ा, द्रोह, बन्धुओं के क्रोध तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥५ ॥

२०८. अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवाहं त्वां
क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६ ॥

(हे रोगिन् !) क्षय रोग, रोग के पाप, निन्दा योग्य कर्म, विद्रोह के बन्धन तथा जकड़ने वाले वात रोग से आप छुटकारा पा रहे हैं, अर्थात् निश्चित रूप से मुक्त हो रहे हैं । हम भी आपको पैतृक रोग की पीड़ा, द्रोह, बन्धुओं के क्रोध तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥६ ॥

२०९. अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥७ ॥

हे व्याधिग्रस्त मानव ! आप रिपु समान बाधक रोग से मुक्त हों और अब आप हर्ष को प्राप्त करें । आप अपने पुण्य के परिणाम स्वरूप इस कल्याणमय लोक में पधारे हैं । हम भी आपको आनुवंशिक रोग की पीड़ा, द्रोह, बन्धुओं के आक्रोश तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥७ ॥

२१०. सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां
क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥८ ॥

जिस प्रकार देवताओं ने सत्य रूप सूर्य को राहु नामक ग्रह से मुक्त किया था, उसी प्रकार हम आपको पैतृक रोग की पीड़ा, द्रोह के पाप, बन्धुओं के आक्रोश तथा वरुणदेव के पाश से मुक्त करके, ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषरहित करते हैं । यह द्यावा-पृथिवी भी आपके लिए कल्याणकारी हो ॥८ ॥

[११- श्रेय: प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - शुक्र । **देवता** - कृत्यादूषण । **छन्द** - त्रिपदा परोष्णिक्, १ चतुष्पदा विराट् गायत्री, ४ पिपीलिक मध्या निचृत् गायत्री ।]

इस सूक्त के देवता 'कृत्या दूषण' हैं । अनिष्टकारी कृत्या शक्ति के निवारणार्थ किसी समर्थ शक्ति की वन्दना इसमें की गयी है । कौशिक सूत्र में इस सूक्त के साथ 'तिलकमणि' को सिद्ध करके बाँधने का विधान दिया गया है । सायण आदि आचार्यों ने इसी आधार पर इस सूक्त को 'तिलकमणि' के प्रति कहा गया मानकर इसके अर्थ किए हैं । ऐसे अर्थ ठीक होते हुए भी एकांगी ही कहे जा सकते हैं । जीवन में प्रकट होने वाले विभिन्न कृत्या दोषों के निवारण के भाव से इसे ईश्वर अंश के रूप में स्थित जीव चेतना के प्रति कहा गया भी माना जा सकता है । प्रस्तुत भाषार्थ दोनों प्रयोजनों को समाहित करते हुए किया गया है । सुधी पाठक इसी भाव से इसे पढ़ने-समझने का प्रयास करें, ऐसी अपेक्षा है-

२११. दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥

(हे तिलकमणे अथवा जीवसत्ता !) आप दोषों को भी दूषित (नष्ट) करने में समर्थ हैं । अनिष्टकारी हथियारों के लिए, आप विनाशक हथियार हैं आप वज्र के भी वज्र हैं, इसलिए आप श्रेयस्कर बनें, दोषों (शत्रुओं) की समानता से आगे (अधिक समर्थ) सिद्ध हों ॥१ ॥

२१२. स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।।२

आप स्रक्त्य (तिलकवृक्ष से उत्पन्न या गतिशील) हैं, प्रतिसर (आघात को उलट देने में समर्थ) हैं, प्रत्याक्रमण करने में समर्थ हैं ।अस्तु, आप श्रेयस्कर बनें और दोषों (शत्रुओं) की समानता से आगे (अधिक समर्थ) सिद्ध हों।

२१३. प्रति तमभि चर यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।।३

जो (शत्रु) हमसे द्वेष करते (हमारे विकास में बाधक बनते) हैं तथा जिनसे हम द्वेष करते (उनका निवारण चाहते) हैं, उनपर आप प्रत्याक्रमण करें । इस प्रकार आप श्रेयस्कर बनें, दोषों (शत्रुओं) से अधिक समर्थ बनें ॥३ ॥

२१४. सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।।४ ।।

आप (आवश्यकता के अनुरूप) ज्ञान-सम्पन्न हैं, तेजस्विता को धारण करने में समर्थ हैं तथा शरीर के रक्षक हैं, अस्तु, आप श्रेयस्कर सिद्ध हों, दोषों (शत्रुओं) की समानता से आगे बढ़ें ॥४ । ।

२१५. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।।५ ।।

आप शुक्र (उज्ज्वल अथवा वीर्यवान्) हैं, तेजस्वी हैं, आत्मसत्ता सम्पन्न हैं तथा ज्योति रूप (स्व प्रकाशित) हैं । आप श्रेयस्कर बनें तथा समान स्तर वालों से आगे बढ़ें ॥५ ॥

[१२- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - भरद्वाज । **देवता** - १ द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, २ देवगण, ३ इन्द्र, ४ आदित्यगण, वसुगण, पितर अङ्गिरस, ५ पितर सौम्य, ६ मरुद्गण, ब्रह्मद्विट्, ७ यमसादन (यमस्थान), ब्रह्म, ८ अग्नि । **छन्द** - त्रिष्टुप्, २ जगती, ७-८ अनुष्टुप् ।]

२१६. द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१ ॥

द्यावा-पृथिवी, विस्तृत अन्तरिक्ष, समस्त क्षेत्र की पत्नी (प्रकृति), अद्भुत सूर्यदेव, वायु को स्थान देने वाला विशाल अन्तरिक्ष आदि, हमारे तप्त (संतप्त) होने पर ये सब भी संतप्त (अनिष्ट निवारण के लिए उद्यत) हों ॥१ ॥

२१७. इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।

पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२ ॥

हे यजनीय देवो ! आप हमारा निवेदन सुनें कि ऋषि भरद्वाज हमें उक्थ (मंत्रादि) प्रदान कर रहे हैं । सत्कर्मों में निमग्न हमारे मन को जो रिपु दुःखी करते हैं, उन पापों को पाश में बाँधकर उचित स्थान पर नियोजित करें ॥२ ॥

२१८. इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप सोमरस पान द्वारा आनन्दित मन से हमारे कथन को सुनें । रिपुओं द्वारा किये गये दुष्कर्मों के कारण हम आपको बारम्बार पुकारते हैं । जो शत्रु हमारे मन को पीड़ा पहुँचाते हैं, हम उनको फरसे के द्वारा वृक्ष की तरह काटते हैं ॥३ ॥

२१९. अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।

इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥४ ॥

तीन (विद्याओं या छन्दों) एवं अस्सी मंत्रों सहित सामगान करने वालों के साथ, वसु , अंगिरा (रुद्र) एवं आदित्यों (दिव्य पितरों) सहित हमारे पितरों द्वारा किये गए इष्ट (यज्ञ -उपासनादि) तथा पूर्त्त (सेवा-सहयोगपरक) कर्म (उनके पुण्य) हमारी रक्षा करें । हम दिव्य सामर्थ्य एवं आक्रोशपूर्वक अमुक (दोष या शत्रु) को अपने अधिकार में लेते हैं ॥४ ॥

[वसु , रुद्र तथा आदित्यों की गणना दिव्य पितरों में की जाती है, तर्पण में पितरों को क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य स्वरूप कहकर जलप्रदान किया जाता है । इससे पितरों की लौकिक सम्पदा के अतिरिक्त उनके द्वारा अर्जित पुण्य-सम्पदा का विशेष लाभ हमें प्राप्त होता है ।]

२२०. द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।

अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥५ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! हमारे अनुकूल होकर आप तेजस्-सम्पन्न बनें । हे समस्त देवताओ ! हमारे अनुकूल होकर आप कार्यारंभ करें । हे अङ्गिराओ तथा सोमवान् पितरो ! हमारा अहित चाहने वाले पाप के भागीदार हों ॥५ ॥

२२१. अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥६ ॥

हे मरुद्गणो ! जो अतिवादी ब्रह्म-ज्ञान की तथा तदनुरूप किये जाने वाले (कार्यों) की निन्दा करते हैं, उनके सब प्रयास उन्हें संताप देने वाले हों । द्युलोक उन ब्रह्मद्वेषियों को पीड़ित करे ॥६ ॥

२२२. सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।

अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरङ्कृतः ॥७ ॥

हे रोग या शत्रु ! तुम्हारे सात प्राणों तथा आठ मुख्य नाड़ियों आदि को हम ब्रह्म शक्ति से बींधते हैं । तुम अग्नि को दूत बनाकर यमराज के घर में सुशोभित हो जाओ ॥७ ॥

२२३. आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि । अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥८

हम तुम्हारे पदों को प्रज्वलित अग्नि में डालते हैं । यह अग्नि आपके शरीर में प्रवेश कर जाए तथा आपकी वाणी और प्राण में संव्याप्त हो जाए ॥८ ॥

[१३- दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - १ अग्नि, २-३ बृहस्पति, ४-५ आयु, विश्वेदेवा । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्, ५ विराट् जगती ।]

इस सूक्त को प्रथम वस्त्र परिधान सूक्त के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । इस प्रक्रिया को ३-४ वर्ष की अवस्था में करने का विधान है; किन्तु सूक्त को इसी उपचारपरक अर्थ तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए । मंत्रों में 'वास' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ वस्त्र के साथ आवास भी हो सकता है । फिर सूक्त के देवता अग्नि हैं, उनसे रक्षा एवं वास प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है । ऐश्वर्य एवं पोषण के ताने-बाने से उसे तैयार करने की बात कही गयी है । अस्तु, स्थूल वस्त्रों की अपेक्षा सूक्त कबीर की जीवन रूपी चादर के साथ अधिक युक्तिसंगत बैठता है । अध्ययन के समय इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए-

२२४. आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१ ॥

हे तेजस्वी अग्निदेव ! आप जीवन प्रदान करने वाले तथा स्तुति ग्रहण करने वाले हैं । आप घृत के समान ओजस्वी तथा घृत का सेवन करने वाले हैं । आप मधुर गव्य (गौ या प्रकृति जन्य) पदार्थों का सेवन करके इस (बालक या प्राणी) की सब प्रकार से उसी प्रकार रक्षा करें, जैसे पिता, पुत्र की रक्षा करता है ॥१ ॥

२२५. परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥२ ॥

हे देवो ! आप इस (बालक या जीव) को वास (वस्त्र या काया रूप आच्छादन) प्रदान करें तथा तेजस्विता धारण कराएँ । आप दीर्घ आयु प्रदान करें, वृद्धावस्था के उपरान्त मरने वाला बनाएं । बृहस्पतिदेव ने यह आच्छादन राजा सोम को कृपापूर्वक प्रदान किया ॥२ ॥

२२६. परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३ ॥

(हे बालक या जीव !) इस वस्त्र को तुम अपने कल्याण के लिए धारण करो । तुम गौओं (इन्द्रियों) को विनाश से बचाने के लिए ही हो । तुम सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त करो और ऐश्वर्य तथा पोषण का ताना-बाना बुनते रहो ॥३ ॥

[यहाँ साधक को स्वयं अपने लिए वस्त्र बुनने का परामर्श दिया गया है । स्थूल दैवी शक्तियाँ ताने-बाने के सूत्र प्रदान करती हैं, उनका सुनियोजन साधक को स्वयं करना होता है ।]

२२७. एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥४ ॥

(हे बालक या साधक !) आओ इस पत्थर (साधनापरक दृढ़ आधार) पर स्थित हो जाओ; ताकि तुम्हारी काया पत्थर के समान दृढ़ बने । देव शक्तियाँ तुम्हारी आयु को सौ वर्ष की करें ॥४ ॥

[दृढ़ अनुशासनों पर स्थिर होकर ही मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सकता है ।]

२२८. यस्य ते वासः प्रथमवास्यं१ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५ ॥

(हे बालक या जीव !) तुम्हारे जिस अस्तित्व के लिए यह प्रथम आच्छादन प्रदान किया गया है, उसकी रक्षा सभी देवता करें । इसी प्रकार श्रेष्ठ जन्म वाले, सुवर्धित तथा विकासमान और भी भाई तुम्हारे पीछे हों ॥५ ॥

[स्थूल अर्थों में प्रथम वस्त्र (तीसरे-चौथे वर्ष में) प्रदान करने के बाद ही अन्य भाइयों के लिए आशीर्वचन दिया जाता है । इस आधार पर संतानों के बीच ३-४ वर्ष का अंतर सहज ही होना चाहिए । सूक्ष्म अर्थों में कामना की गयी है कि जीवन का तेजस्वी ताना-बाना बुनने वालों के और भी अनुगामी हों, यह प्रक्रिया सतत चलती रहे ।]

[१४- दस्युनाशन सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - शालाग्नि । छन्द - अनुष्टुप्, २ भुरिक् अनुष्टुप्, ४ उपरिष्टाद् विराट् बृहती ।]

इस सूक्त के देवता शालाग्नि हैं । यज्ञशाला में स्थापित अग्नि को 'शालाग्नि' कहा जाता है । उनके माध्यम से राक्षसियों (राक्षसी प्रवृत्तियों) के निवारण-विनाश के भाव व्यक्त किये गये हैं । कई भाष्यकारों ने उनके लिए प्रयुक्त विशेषणों को उस नाम विशेष वाली राक्षसी कहा है । उस नाम विशेष के साथ उस गुण विशेष वाली राक्षसी (प्रवृत्तियों) का अर्थ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है-

२२९. निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥१ ॥

निःसाला (निष्कासित करने वाली) , धृष्णु (भयानक) , धिषण (अभिभूत करने वाली) , एकवाद्या (भयानक, हठपूर्ण एक ही स्वर से बोलने वाली) संबोधन वाली, खा जाने वाली तथा सदा चीखने वाली, चण्ड (क्रोध या कठोरता) की संतानों को हम नष्ट कर दें ॥१ ॥

[क्रोध या कठोरता से ही विभिन्न प्रकार की दुष्ट/प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, अतः उन्हें चण्ड की संतानें कहा जाना उचित है ।]

२३०. निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥२ ॥

हे मगुन्दी (पाप उत्पन्न करने वाली) राक्षसी की पुत्रियो ! हम तुम्हें अपने गौओं की गोशालाओं से निकालते हैं । हम तुम्हें अन्नादि से पूर्ण भवनों, गाड़ियों से बाहर निकालकर नष्ट करते हैं ॥२ ।।

२३१. असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः । तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥३ ।

(निकाली जाने के बाद) अरायि (दरिद्रता या विपत्ति जन्य) तथा सेदि (क्लेश-महामारी उत्पादक) संबोधन वाली (आसुरी शक्तियाँ) जो नीचे वाले गृह (अधोलोक या भू-गर्भ) हैं, वहीं जाएँ, वहीं रहें ॥३ ॥

२३२. भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४ ॥

प्राणियों के पालक तथा सोमपायी इन्द्रदेव, हमेशा क्रोध करने वाली इन पिशाचियों को हमारे घर से बाहर करें तथा अपने वज्र से इन्हें दबाएँ (नष्ट करें) ॥४ ॥

२३३. यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५ ॥

हे राक्षसियो ! तुम कुष्ठ, संग्रहणी आदि आनुवंशिक रोगों की मूल कारण हो । तुम रिपुओं द्वारा प्रेरित हो और क्षति पहुँचाने वाले चोरों के समीप पैदा हुई हो । अस्तु, तुम हमारे घर से बाहर होकर विनष्ट हो जाओ ॥५ ॥

२३४. परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६ ॥

जिस प्रकार द्रुतगामी घोड़े अपने लक्ष्य पर आक्रमण करके खड़े हो (पहुँच) जाते हैं, उसी प्रकार इन राक्षसियों के घरों पर हम आक्रमण कर चुके हैं। हे पिशाचियो ! तुम सब युद्ध में परास्त हो गईं और हमने तुम्हारे निवास स्थान पर नियन्त्रण कर लिया है। अत: तुम सब निराश्रित होकर विनष्ट हो जाओ ॥६ ॥

[१५- अभयप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** -प्राण, अपान, आयु । **छन्द** -त्रिपाद् गायत्री ।]

२३५. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥१ ॥

जिस प्रकार द्युलोक एवं पृथ्वी लोक न भयभीत होते हैं और न नष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे हमारे प्राण ! तुम भी (नष्ट होने का) भय मत करो ॥१ ॥

२३६. यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥२ ॥

रात्रि और दिन न डरते हैं, न ही विनष्ट होते हैं। हे मेरे प्राण ! तुम भी (नष्ट होने का) भय मत करो ॥२ ॥

२३७. यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥३ ॥

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं, न ही विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे प्राण ! तुम भी विनाश से मत डरो ॥३ ॥

२३८. यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥४ ॥

जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय न डरते हैं, न ही विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे हमारे प्राण ! तुम भी विनाश का भय मत करो ॥४ ॥

२३९. यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥५ ॥

जिस प्रकार सत्य और असत्य न किसी से भयभीत होते हैं, न ही विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे हमारे प्राण ! तुम भी मृत्यु भय से मुक्त होकर रहो ॥५ ॥

२४०. यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥६ ॥

जिस प्रकार भूत और भविष्य न किसी से भयभीत होते हैं, न ही विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे हमारे प्राण ! तुम भी मृत्यु भय से मुक्त होकर रहो ॥६ ॥

[१६- सुरक्षा सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - प्राण, अपान, आयु । **छन्द** -१,३ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, २ एकपदासुरी उष्णिक्, ४-५ द्विपदासुरी गायत्री ।]

२४१. प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥१ ॥

हे प्राण और अपान ! आप दोनों मृत्यु से हमारी सुरक्षा करें और हमारी आहुति स्वीकार करें ॥१ ॥

२४२. द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥२ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप दोनों सुनने की शक्ति प्रदान करके हमारी सुरक्षा करें तथा आहुति ग्रहण करें ॥२ ॥

२४३. सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥३ ॥

हे सूर्यदेव ! आप हमें देखने की शक्ति प्रदान करके हमारी सुरक्षा करें और हमारी आहुति ग्रहण करें ॥३ ॥

२४४. अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥४ ॥

हे वैश्वानर अग्निदेव ! आप समस्त देवताओं के साथ हमारी सुरक्षा करें और हमारी आहुति ग्रहण करें ॥४ ॥

२४५. विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ।।५ ।।

हे समस्त प्राणियों का पोषण करने वाले विश्वम्भरदेव ! आप अपनी समस्त पोषण-शक्ति से हमारी सुरक्षा करें तथा हमारी आहुति ग्रहण करें ।।५ ।।

[१७- बलप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - प्राण, अपान, आयु । छन्द - एकपदासुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी उष्णिक् ।]

२४६. ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ।।१ ।।

हे अग्निदेव ! आप ओजस्वी हैं । अतः हमें ओज प्रदान करें; हम आपको आहुति प्रदान करते हैं ।।१ ।।

२४७. सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ।।२ ।।

हे अग्निदेव ! आप शौर्यवान् हैं, इसलिए हमें शौर्य प्रदान करें, हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।२ ।।

२४८. बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ।।३ ।।

हे अग्निदेव ! आप बल से सम्पन्न हैं, अतः हमें बल प्रदान करें, हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।३ ।।

२४९. आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ।।४ ।।

हे अग्ने !आप जीवनशक्ति-सम्पन्न हैं ।अतःहमें वह शक्ति प्रदान करें; हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।४ ।।

२५०. श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ।।५ ।।

हे अग्ने !आप श्रवणशक्तिसम्पन्न हैं ।अतः हमें वह शक्ति प्रदान करें; हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।५ ।।

२५१. चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ।।६ ।।

हे अग्ने !आप दर्शनशक्ति-सम्पन्न हैं ।अतः हमें वह शक्ति प्रदान करें, हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।६ ।।

२५२. परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ।।७ ।।

हे अग्निदेव ! आप परिपालन की शक्ति से सम्पन्न हैं । अतः आप हमें पालन करने की शक्ति प्रदान करें, हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।७ ।।

[१८- शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - अग्नि । छन्द - द्विपदा साम्नी बृहती ।]

२५३. भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ।।१ ।।

हे अग्निदेव ! आप रिपु विनाशक शक्ति से सम्पन्न हैं । अतः आप हमें रिपु नाशक शक्ति प्रदान करें; हम आपको आहुति प्रदान करते हैं ।।१ ।।

२५४. सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ।।२ ।।

हे अग्निदेव ! आप प्रत्यक्ष प्रतिद्वंद्वियों को विनष्ट करने वाली शक्ति से सम्पन्न हैं । अतः आप हमें वह शक्ति प्रदान करें, हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।२ ।।

२५५. अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ।।३ ।।

हे अग्निदेव ! आप निर्धनता को विनष्ट करने वाले हैं । आप हमें दरिद्रता विनाशक शक्ति प्रदान करें; हम आपको हवि प्रदान करते हैं ।।३ ।।

२५६. पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! आप पिशाचों को विनष्ट करने वाले हैं । अतः आप हमें पिशाचनाशक शक्ति प्रदान करें; हम आपको हवि प्रदान करते हैं ॥४ ॥

२५७. सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५ ॥

हे अग्निदेव ! आप आसुरी वृत्तियों को दूर करने की शक्ति से सम्पन्न हैं । अतः आप हमें वह शक्ति प्रदान करें; हम आपको हवि प्रदान करते हैं ॥५ ॥

[१९- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - अग्नि । **छन्द** -एकावसाना निचृत् विषमा त्रिपदा गायत्री, ५ एकावसाना भुरिक् विषमा त्रिपदा गायत्री ।]

२५८. अग्ने यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आपके अन्दर जो ताप है, उस शक्ति के द्वारा आप रिपुओं को तप्त करें । जो शत्रु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिससे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को आप संतप्त करें ॥१ ॥

२५९. अग्ने यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आपके अन्दर जो हरने की शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं की शक्ति का हरण करें, जो हम से विद्वेष करते हैं तथा हम जिससे द्रेष करते हैं ॥२ ॥

२६०. अग्ने यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! आपके अन्दर जो दीप्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को जला दें, जो हमसे विद्रेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते है ॥३ ॥

२६१. अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! आपके अन्दर जो शोकाकुल करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन व्यक्तियों को शोकाकुल करें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं ॥४ ॥

२६२. अग्ने यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५ ॥

हे अग्निदेव ! आपके अन्दर जो पराभिभूत करने की शक्ति विद्यमान है, उस अभिभूत करने की तेजस्विता के द्वारा आप उन मनुष्यों को निस्तेज करें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं ॥५ ॥

[२०- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि**-अथर्वा । **देवता**- वायु । **छन्द**-एकावसाना निचृत् विषमा त्रिपदागायत्री, ५ भुरिक् विषमा त्रिपदागायत्री].

२६३. वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१ ॥

हे वायुदेव ! आपके अन्दर जो ताप (प्रताप) है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को तप्त करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥१ ॥

२६४. वायो यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२ ॥

हे वायुदेव ! आपके अन्दर जो हरने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं की शक्ति का हरण करें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं ॥२ ॥

२६५. वायो यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३ ॥

हे वायुदेव ! आपके अन्दर जो प्रज्वलन शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को जला दें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं ॥३ ॥

२६६. वायो यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४ ॥

हे वायुदेव ! आपके अन्दर जो शोकाकुल करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन मनुष्यों को शोकाभिभूत करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥४ । ।

२६७. वायो यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५ ॥

हे वायुदेव ! आपके अन्दर जो पराभिभूत करने की शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को तेजहीन करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥५ ॥

[२१- शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-सूर्य । छन्द-एकावसाना निचृत् विषमा त्रिपदागायत्री, ५ भुरिक् विषमा त्रिपदागायत्री]

२६८. सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१ ॥

हे सूर्यदेव ! आपके अन्दर जो संतप्त करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को संतप्त करें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं ॥१ ॥

२६९. सूर्य यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२ ॥

हे सूर्यदेव ! आपके अन्दर जो हरण करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं की शक्ति का हरण करें, जो हमसे द्वेष करते हैं तथा जिनसे हम द्वेष करते हैं ॥२ ॥

२७०. सूर्य यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३ ॥

हे सूर्यदेव ! आपके अन्दर जो प्रज्वलन शक्ति है , उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को जला दें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥३ ॥

२७१. सूर्य यत् ते शोचिंस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४ ॥

हे सूर्यदेव ! आपके अन्दर जो शोकाभिभूत करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन मनुष्यों को शोकाभिभूत करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥४ । ।

२७२. सूर्य यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५ ॥

हे सूर्यदेव ! आपके अन्दर जो पराभिभूत करने की शक्ति विद्यमान है, उसके द्वारा आप उन मनुष्यों को तेजविहीन करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥५ ॥

[२२- शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्र । छन्द -एकावसाना निचृत् विषमा त्रिपदा गायत्री, ५ एकावसाना भुरिक् विषमा त्रिपदा गायत्री ।]

२७३. चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१ ॥

हे चन्द्रदेव ! आपके अन्दर जो तपाने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को संतप्त करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥१ ॥

२७४. चन्द्र यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२ ॥

हे चन्द्रदेव ! आपके अन्दर जो हरण करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं की शक्ति का हरण करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥२ ॥

२७५. चन्द्र यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३ ॥

हे चन्द्रदेव ! आपके अन्दर जो प्रज्वलन शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को जला दें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥३ ॥

२७६. चन्द्र यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४ ॥

हे चन्द्रदेव ! आपके अन्दर जो शोकाकुल करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को शोकाभिभूत करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥४ ।।

२७७. चन्द्र यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५ ॥

हे चन्द्रदेव ! आपके अन्दर जो पराभिभूत करने की शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को तेजविहीन करें, जो हमसे शत्रुता करते हैं तथा जिनसे हम शत्रुता करते हैं । ।५ ॥

[२३- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि**-अथर्वा । देवता-आपः । छन्द-एकावसाना समविषमा त्रिपदागायत्री, ५ स्वराट् विषमा त्रिपदागायत्री]

२७८. आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१ ॥

हे जलदेव ! आपके अन्दर जो ताप (प्रताप) है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को संतप्त करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥१ ॥

२७९. आपो यद् वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२ ॥

हे ज लदेव ! आपके अन्दर जो हरण करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं की शक्ति का हरण करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥२ ॥

२८०. आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३ ॥

हे जलदेव ! आपके अन्दर जो प्रज्वलन शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन रिपुओं को जला दें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥३ ॥

२८१. आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४ ॥

हे जलदेव ! आपके अन्दर जो शोकाकुल करने की शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा आप उन मनुष्यों को शोकाकुल करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥४ ॥

२८२. आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५ ॥

हे जलदेव ! आपके अन्दर जो पराभिभूत करने की शक्ति विद्यमान है, उसके द्वारा आप उन रिपुओं को तेजविहीन करें, जो हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं ॥५ ॥

[२४- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि - ब्रह्मा । देवता - आयु । छन्द** - १-४ वैराजपरा पञ्चपदा पथ्यापंक्ति, (१-२ भुरिक् पुर उष्णिक्, ३-४ निचृत् पुरोदेवत्या पंक्ति), ५ चतुष्पदा बृहती, ६-८ चतुष्पदा भुरिक् बृहती ।]

२८३. शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१ ॥

हे वधिको और लुटेरो ! हमारी ओर प्रेरित तुम्हारे प्रहार और यातनाएँ हमारे समीप से पुनः-पुनः वापस लौट जाएँ ।तुम अपने साथियों का ही भक्षण करो, जिन्होंने तुम्हें भेजा है, उनका भक्षण करो, अपने ही मांस को खाओ ॥१

२८४. शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२ ॥

हे घात करने वाले शेवृधक (अपने आश्रितों को सुख देने वाले और उनके अनुचर लुटेरो) ! हमारी तरफ प्रेरित तुम्हारे प्रहार एवं यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे समीप से बार-बार वापस लौट जाएँ । तुम अपने साथियों का ही भक्षण करो, भेजने वालों का भक्षण करो, अपने ही मांस का भक्षण करो ॥२ ॥

२८५. म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३ ॥

हे चोर तथा चोर के अनुचर लुटेरो ! हमारी तरफ प्रेरित की हुई तुम्हारी यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे पास से पुनः-पुनः वापस चले जाएँ । तुम्हें जिस व्यक्ति ने हमारे समीप भेजा है या जो तुम्हारे साथ हैं, तुम उन्हीं का भक्षण करो, स्वयं अपने मांस का भक्षण करो ॥३ ॥

२८६. सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४ ॥

हे सर्प तथा सर्प के अनुचर लुटेरो ! तुम्हारे द्वारा भेजी हुई यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे समीप से बार-बार वापस चले जाएँ तथा आपके चोर आदि अनुचर भी वापस जाएँ ।आपको जिस व्यक्ति ने हमारे समीप भेजा है या आप अपने दल-बल के साथ हमारे जिस शत्रु के समीप रहते हैं, आप उसके ही मांस को खा जाएँ ॥४ ॥

२८७. जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५ ॥

हे जूर्णि (शरीर को जीर्ण बनाने वाली) राक्षसी और उनकी अनुचरी लुटेरियो ! तुम्हारे द्वारा भेजी हुई यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे समीप से पुनः-पुनः वापस चले जाएँ । तुम्हें जिस व्यक्ति ने हमारे समीप भेजा है या जो तुम्हारे साथ हैं, तुम उसके ही मांस का भक्षण करो, स्वयं अपने मांस को खाओ ॥५ ॥

२८८. उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६ ॥

हे उपाब्द (चिंघाड़ने वाली) लुटेरी राक्षसियो ! हमारी तरफ भेजी हुई तुम्हारी यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे पास से पुनः-पुनः वापस चले जाएँ । तुम्हें जिस व्यक्ति ने हमारे समीप भेजा है या जो तुम्हारे साथ हैं, तुम उन्हीं का भक्षण करो, स्वयं अपने मांस का भक्षण करो ॥६ ॥

२८९. अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७ ॥

हे अर्जुनि लुटेरी राक्षसियो !तुम्हारे द्वारा भेजी हुई यातनाएँ, असुर तथा अस्त्र हमारे पास से लौटजाएँ । तुम्हें जिस व्यक्ति ने हमारे पास भेजा है या जो तुम्हारे साथ हैं, तुम उन्हीं का भक्षण करो, स्वयं अपना मांस खाओ ॥७ ॥

२९०. भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८ ॥

हे भरूजी (नीच प्रकृति वाली) लुटेरी राक्षसियो ! हमारी तरफ प्रेरित की हुई तुम्हारी यातनाएँ, असुर तथा हथियार हमारे पास से पुनः-पुनः वापस चले जाएँ । तुम्हें जिस व्यक्ति ने हमारे समीप भेजा है या जो तुम्हारे साथ हैं, तुम उन्हीं दुष्टों का भक्षण करो, स्वयं अपने मांस का भक्षण करो ॥८ ॥

[२५- पृश्निपर्णी सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - वनस्पति पृश्निपर्णी । छन्द - अनुष्टुप्, ४ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में पृश्निपर्णी (वनौषधि) के प्रभाव का उल्लेख है । उस सन्दर्भ में सूक्त के मंत्रार्थ सहज ग्राह्य हैं; किन्तु 'पृश्नि' का अर्थ पृथ्वी भी होता है, तदनुसार पृश्निपर्णी का भाव बनता है-'पृथ्वी का पालन करने वाली दिव्य शक्ति ।' सूक्त के देवता के रूप में 'वनस्पति' का उल्लेख है । वास्तव में पृथ्वी से उत्पन्न वनस्पतियों (हरियाली) से ही पृथ्वी के प्राणियों का पालन होता है । इस भाव से 'पृश्निपर्णी' किसी एक ओषधि के स्थान पर 'पालनकर्त्री वनस्पतियों' को भी कह सकते हैं । इस प्रकार मंत्रों का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है-

२९१. शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः ।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥१ ॥

यह दमकने वाली पृश्निपर्णी ओषधि हमें सुख प्रदान करे और हमारे रोगों को दूर करे । यह विकराल रोगों को समूल नष्ट करने वाली है । इसलिए हम उस शक्तिशाली ओषधि का सेवन करते हैं ॥१ ॥

२९२. सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥२ ॥

रोगों पर विजय पाने वाली ओषधियों में यह पृश्निपर्णी सबसे पहले उत्पन्न हुई । इसके द्वारा बुरे नामों वाले रोगों के सिर को हम उसी प्रकार कुचलते हैं, जिस प्रकार शकुनि (दुष्ट राक्षस) का सिर कुचलते हैं ॥२ ॥

२९३. अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३ ॥

हे पृश्निपर्णि ! आप शरीर की वृद्धि को अवरुद्ध करने वाले रोगों को विनष्ट करें । हे पृश्निपर्णि ! आप रक्त पीने वाले तथा गर्भ का भक्षण करने वाले रोग रूप रिपुओं को विनष्ट करें ॥३ ॥

२९४. गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥४ ॥

हे देवी पृश्निपर्णि ! जीवनी-शक्ति को विनष्ट करने वाले दोषों तथा रोगों को आप पर्वत पर ले जाएँ और उनको दावाग्नि के समान भस्मसात् कर दें ॥४ ॥

२९५. पराच एनान् प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥५ ॥

हे पृश्निपर्णि ! जीवनी-शक्ति को विनष्ट करने वाले रोगों को आप उलटा मुख करके ढकेल दें । सूर्योदय होने पर भी जिस स्थान पर अन्धकार रहता है, उस स्थान पर शरीर की धातुओं का भक्षण करने वाले दुष्ट रोगों को (आपके माध्यम से) हम भेजते हैं ॥५ ॥

[२६- पशुसंवर्धन सूक्त]

[ऋषि - सविता । देवता - पशु समूह । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ उपरिष्टात् विराट् बृहती, ४ भुरिक् अनुष्टुप्, ५ अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में पशुओं के सुनियोजन के मंत्र हैं । यहाँ 'पशु' का अर्थ 'प्राणि - मात्र' लिया जाने योग्य है, जैसा कि मंत्र क्र० ३ से स्पष्ट होता है । प्राण-जीव चेतना को भी पशु कहते हैं, इसी आधार पर ईश्वर को पशुपति कहा गया है । इस आशय से 'गोष्ठ' पशुओं के बाड़े के साथ प्राणियों की देह को भी कह सकते हैं । व्यसनों में भटके हुए प्राण-प्रवाहों को यथास्थान लाने का भाव भी यहाँ लिया जा सकता है-

२९६. एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥१ ॥

जो पशु इस स्थान से परे चले (भटक) गये हैं, वे पुनः इस गोष्ठ (पशु-आवास) में चले आएँ । जिन पशुओं की सुरक्षा के लिए वायुदेव सहयोग करते हैं और जिनके नाम-रूप को त्वष्टादेव जानते हैं; हे सवितादेव ! आप उन पशुओं को गोष्ठ में स्थित करें ॥१ ॥

२९७. इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥२ ॥

गौ आदि पशु हमारे गोष्ठ में आ जाएँ ।बृहस्पतिदेव उन्हें लाने की विधि को जानते हैं, अतः वे उनको ले आएँ । सिनीवाली इन पशुओं को सामने के स्थान में ले आएँ । हे अनुमते ! आप आने वाले पशुओं को नियम में रखें ॥२ ॥

२९८. सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३ ॥

गौ आदि पशु, अश्व तथा मनुष्य भी मिल-जुल कर चलें । हमारे यहाँ धान्य आदि की वृद्धि भली प्रकार हो । हम उसको प्राप्त करने के लिए घृत की आहुति प्रदान करते हैं ॥३ ॥

२९९. सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४ ॥

हम गौओं के दूध को सिंचित करते हैं तथा शक्तिवर्द्धक रस को घृत के साथ मिलाते हैं । हमारे वीर पुत्र घृत आदि से सिंचित हों तथा मुझ गोपति के पास गौएँ स्थिर रहें ॥४ ॥

३००. आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥५ ॥

हम अपने घर में गो-दुग्ध, धान्य तथा रस लाते हैं । हम अपने वीरपुत्रों तथा पत्नियों को भी घर में लाते हैं ॥

[२७- शत्रुपराजय सूक्त]

[ऋषि - कपिञ्जल । देवता - १-५ ओषधि, ६ रुद्र, ७ इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में ओषधि को लक्ष्य किया गया है । चौथे मंत्र में उसे पाटा (पाठा) सम्बोधन भी दिया गया है । जिससे उस नाम वाली ओषधि विशेष का बोध होता है । मंत्रों में 'प्राशं-प्रति प्राशो' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अधिकांश आचार्यों ने इसका अर्थ प्रश्न-प्रति प्रश्न किया है, किन्तु ओषधि के संदर्भ में प्राश का अर्थ-ग्रहण करना तथा प्रतिप्राश का अर्थ-ग्रहण न करना भी होता है । इन दोनों ही संदर्भों में मंत्रार्थ सिद्ध होते हैं-

३०१. नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥

हे ओषधे ! आपका सेवन करने वाले हम मनुष्यों को प्रतिवादी रिपु कभी विजित न कर सकें, क्योंकि आप रिपुओं से टक्कर लेकर उन्हें वशीभूत करने वाली हैं। आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिपक्षियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें। हे ओषधे ! आप प्रतिवादियों के कण्ठ को शोषित करें अर्थात् उन्हें बोलने में असमर्थ करें ॥१ ॥

३०२. सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥२ ॥

हे ओषधे ! गरुड़ ने आपको विष नष्ट करने के लिए प्राप्त किया है तथा सूअर ने अपनी नाक के द्वारा आपको खोदा है। आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिपक्षियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें। हे ओषधे ! आप प्रतिवादियों के कण्ठ को नीरस करके उन्हें बोलने में असमर्थ कर दें ॥२ ॥

३०३. इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥३ ॥

हे ओषधे ! राक्षसों से अपनी सुरक्षा करने के लिए इन्द्रदेव ने आपको अपनी बाहु पर धारण किया था। आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिपक्षियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें। हे ओषधे ! आप प्रतिवादियों के कण्ठ को नीरस करके उन्हें बोलने में असमर्थ कर दें ॥३ ॥

३०४. पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥४

हे पाठा ओषधे ! राक्षसों से अपनी सुरक्षा करने के लिए इन्द्रदेव ने आपका सेवन किया था। आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिपक्षियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें। हे ओषधे ! आप प्रतिवादियों के कण्ठ को नीरस करके उन्हें बोलने में असमर्थ कर दें ॥४ ॥

३०५. तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ।।

जिस प्रकार इन्द्रदेव ने जंगली कुत्तों को निरुत्तर कर दिया था, उसी प्रकार हे ओषधे ! आपका सेवन करके हम प्रतिवादी रिपुओं को निरुत्तर करते हैं। आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिवादियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें। हे ओषधे ! आप प्रतिवादियों के कण्ठ को नीरस करके उन्हें बोलने में असमर्थ कर दें ॥५ ॥

३०६. रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे

हे रुद्र ! आप जल द्वारा चिकित्सा करने वाले तथा नील वर्ण की शिखा वाले हैं। आप सृष्टि आदि (सृष्टि, स्थिति, संहार, प्रलय तथा अनुग्रह) पंच कृत्यों को सम्पन्न करने वाले हैं। आप हमारे द्वारा सेवन की जाने वाली इस ओषधि को, प्रतिपक्षियों को परास्त करने में समर्थ करें। हे ओषधे ! आप हमारे द्वारा प्रश्न (प्राशन-ग्रहण) करने पर प्रतिवादियों (प्रतिप्राश-ग्रहण न करने वाले) को परास्त करें तथा उनके कण्ठ को नीरस करके उन्हें बोलने में असमर्थ करें ॥६ ॥

३०७. तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७ ॥

हे इन्द्रदेव ! जो प्रतिवादी अपनी युक्तियों के द्वारा हमें कमजोर करना चाहते हैं, उनके प्रश्नों को आप निरस्त करें और अपनी सामर्थ्य के द्वारा हमें सर्वश्रेष्ठ बनाएँ ॥७ ॥

[२८- दीर्घायु प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - शम्भु । देवता - १ जरिमा, आयु, २ मित्रावरुण, ३ जरिमा, ४-५ द्यावापृथिवी, आयु । **छन्द** - १ जगती, २-४ त्रिष्टुप्, ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

३०८. तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥१ ॥

हे वृद्धावस्थे ! आपके लिए ही यह बालक वृद्धि को प्राप्त हो और जो सैकड़ों रोग आदि रूप वाले मृत्यु योग हैं, वे इसको हिंसित न करें । हर्षित मन वाले हे मित्र देवता ! जिस प्रकार माता अपने पुत्र को गोद में लेती है, उसी प्रकार आप इस बालक को मित्र - द्रोह सम्बन्धी पाप से मुक्त करें ॥१ ॥

[व्यसन आदि मारक दोष मित्र बनकर ही या कथित मित्रों के माध्यम से ही जीवन में प्रवेश पाते हैं । प्रिय लगने वाले व्यसनादि या व्यसन सिखाने वाले मित्रों से बचना आवश्यक होता है ।]

३०९. मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२ ॥

मित्र तथा रिपु विनाशक वरुणदेव दोनों संयुक्त होकर इस बालक को वृद्धावस्था तक पहुँच कर मरने वाला बनाएँ ।दान दाता तथा समस्त कर्मों को विधिवत् जानने वाले अग्निदेव उसके लिए दीर्घायु की प्रार्थना करें ॥२ ॥

३१०. त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥३ ॥

हे अग्ने ! धरती पर पैदा हुए तथा पैदा होने वाले समस्त प्राणियों के आप स्वामी हैं । आपकी अनुकम्पा से इस बालक का, प्राण और अपान परित्याग न करें । इसको न मित्र मारें और न शत्रु ॥३ ॥

३११. द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४ ॥

हे बालक ! तुम धरती की गोद में प्राण और अपान से संरक्षित होकर सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहो । पिता रूप द्युलोक तथा माता रूप पृथ्वी दोनों मिलकर आपको वृद्धावस्था के बाद मरने वाला बनाएँ ॥४ ॥

३१२. इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥५ ॥

हे अग्निदेव ! आप इस बालक को शतायु तथा तेजस् प्रदान करें । हे मित्रावरुण ! आप इस बालक को सन्तानोत्पादन में समर्थ बनाएँ । हे अदिति देवि ! आप इस बालक को माता के समान हर्ष प्रदान करें । हे विश्वेदेवो ! आप सब इस बालक को सभी गुणों से सम्पन्न बनाएँ तथा दीर्घ आयुष्य प्रदान करें ॥५ ॥

[२९- दीर्घायुष्य सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - १ वैश्वदेवी (अग्नि, सूर्य, बृहस्पति) , २ आयु, जातवेदस् , प्रजा, त्वष्टा, सविता, धन, शतायु, ३ इन्द्र, सौप्रजा, ४-५ द्यावापृथिवी, विश्वेदेवा, मरुद्गण, आपोदेव, ६ अश्विनीकुमार, ७ इन्द्र । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ अनुष्टुप्, ४ पराबृहती निचृत् प्रस्तारपंक्ति ।]

३१३. पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।

आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥१ ॥

पार्थिव रस (पृथ्वी से उत्पन्न अथवा पार्थिव शरीर से उत्पन्न पोषक रसों) का पान करने वाले व्यक्ति को समस्तदेव 'भग' के समान बलशाली बनाएँ। अग्निदेव इसको सौ वर्ष की आयु प्रदान करें और आदित्य इसे तेजस् प्रदान करें तथा बृहस्पतिदेव इसे वेदाध्ययनजन्य कान्ति (ब्रह्मवर्चस) प्रदान करें ॥१ ॥

३१४. आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! आप इसे शतायु प्रदान करें। हे त्वष्टादेव ! आप इसे पुत्र-पौत्र आदि प्रदान करें। हे सवितादेव ! आप इसे ऐश्वर्य तथा पुष्टि प्रदान करें। आपकी अनुकम्पा प्राप्त करके यह मनुष्य सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे ॥२ ॥

३१५. आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप हमें आशीर्वाद प्रदान करें। आप हमें श्रेष्ठ सन्तान, सामर्थ्य, कुशलता तथा ऐश्वर्य प्रदान करें। हे इन्द्रदेव ! आपकी कृपा से यह व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के द्वारा रिपुओं को विजित करे और उनके स्थानों को अपने नियंत्रण में ले ले ॥३ ॥

३१६. इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४ ॥

इन्द्रदेव द्वारा आयुष्य पाकर, वरुण द्वारा शासित होकर तथा मरुतों द्वारा प्रेरणा पाकर यह व्यक्ति हमारे पास आया है। हे द्यावा-पृथिवि ! आपकी गोद में रहकर यह व्यक्ति क्षुधा और तृषा से पीड़ित न हो ॥४ ॥

३१७. ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥५ ॥

हे बलशाली द्यावा-पृथिवि ! आप इस व्यक्ति को अन्न तथा जल प्रदान करें। हे द्यावा-पृथिवि ! आपने इस व्यक्ति को अन्न-बल प्रदान किया है और विश्वेदेवा, मरुद्गण तथा जलदेव ने भी इसको शक्ति प्रदान की है ॥५ ॥

३१८. शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥६ ॥

हे तृषार्त मनुष्य ! हम आपके शुष्क हृदय को कल्याणकारी जल से तृप्त करते हैं। आप नीरोग तथा श्रेष्ठ तेज से युक्त होकर हर्षित हों। एक वस्त्र धारण करने वाले ये रोगी, अश्विनीकुमारों के माया (कौशल) को ग्रहण करके इस रस का पान करें ॥६ ॥

३१९. इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥७ ॥

इन्द्रदेव ने इस (रस) को तृषा से निवृत्त होने के लिए विनिर्मित किया था। हे रोगिन् ! जो रस आपको प्रदान किया है, उसके द्वारा आप शक्ति-तेजस् से सम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रहें। यह आपके शरीर से अलग न हो। आपके लिए वैद्यों ने श्रेष्ठ औषधि बनाई है ॥७ ॥

[३०- कामिनीमनोऽभिमुखीकरण सूक्त]

[**ऋषि** - प्रजापति । देवता - १ मन. २ अश्विनीकुमार . ३-४ ओषधि. ५ दम्पती । **छन्द** - अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्ति. ३ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

३२०. यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१ ॥

हे स्त्री ! जिस प्रकार भूमि पर विद्यमान तृण को वायु चक्कर कटाता है. उसी प्रकार हम आपके हृदय को मथते हैं । जिससे आप हमारी कामना करने वाली हों और हमें छोड़कर दूसरी जगह न जाएँ ॥१ ॥

३२१. सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥२ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! हम जिस वस्तु की कामना करते हैं. आप उसको हमारे पास पहुँचाएँ । आप दोनों के भाग्य, चित्त तथा व्रत हमसे संयुक्त हो जाएँ ॥२ ॥

३२२. यत् सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥३ ॥

मनोहर पक्षी की आकर्षक बोली और नीरोग/मनुष्य के प्रभावशाली वचन के समान हमारी पुकार बाण के सदृश अपने लक्ष्य पर पहुँचे ॥३ ॥

३२३. यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे । ।४

जो अन्दर और बाहर से एक विचार वाली हैं-ऐसे दोषरहित अंगों वाली कन्याओं के पवित्र मन को हे ओषधे ! आप ग्रहण करें ॥४ ॥

३२४. एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥५ ॥

यह स्त्री पति की कामना करती हुई मेरे पास आई है और मैं उस स्त्री की अभिलाषा करते हुए उसके समीप पहुँचा हूँ । हिनहिनाते हुए अश्व के समान मैं ऐश्वर्य के साथ उसके समीप आया हूँ ॥५ ॥

[३१- कृमिजम्भन सूक्त]

[**ऋषि** - काण्व । देवता - मही अथवा चन्द्रमा । **छन्द** - १ अनुष्टुप्, २,४ उपरिष्टात् विराट् बृहती, ३,५ आर्षी त्रिष्टुप् ।]

३२५. इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥१ ॥

इन्द्रदेव की जो विशाल शिला है, वह समस्त कीटाणुओं को विनष्ट करने वाली है । उसके द्वारा हम कीटाणुओं को उसी प्रकार पीसते हैं, जिस प्रकार पत्थर के द्वारा चना पीसा जाता है ॥१ ॥

३२६. दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥२ ॥

आँखों से दिखाई देने वाले तथा न दिखाई देने वाले कीटों को हम विनष्ट करते हैं । जमीन पर चलने वाले, बिस्तर आदि में निवास करने वाले तथा द्रुतगति से इधर-उधर घूमने वाले समस्त कीटों को हम 'वाचा' (वाणी-मन्त्रशक्ति अथवा वच से बनी औषधि) के द्वारा विनष्ट करते हैं ॥२ ॥

३२७. अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥३ ॥

अनेक स्थानों में रहने वाले कीटाणुओं को हम बृहत् साधन रूप मंत्र के द्वारा विनष्ट करते हैं । चलने वाले तथा न चलने वाले समस्त कीटाणु सूखकर विनष्ट हो गये हैं । बचे हुए तथा न बचे हुए कीटाणुओं को हम वाचा (वाणी-मंत्रशक्ति अथवा वच से बनी औषधि) के द्वारा विनष्ट करते हैं ॥३ ॥

३२८. अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४ ॥

आँतों में, सिर में और पसलियों में रहने वाले कीटाणुओं को हम विनष्ट करते हैं । रेंगने वाले और विविध मार्ग बनाकर चलने वाले कीटाणुओं को भी हम 'वाचा' से विनष्ट करते हैं ॥४ ॥

३२९. ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५ ॥

वनों, पहाड़ों, ओषधियों तथा पशुओं में रहने वाले कीटाणुओं और हमारे शरीर में प्रविष्ट होने वाले कीटाणुओं की समस्त उत्पत्ति को हम विनष्ट करते हैं ॥५ ॥

[३२- कृमिनाशन सूक्त]

[ऋषि- काण्व । देवता- आदित्यगण । छन्द अनुष्टुप्, १ त्रिपात् भुरिक् गायत्री, ६ चतुष्पाद् निचृत् उष्णिक् ।]

३३०. उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥१ ॥

उदित होते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्यदेव अपनी किरणों के द्वारा जो कीटाणु पृथ्वी पर रहते हैं, उन समस्त कीटाणुओं को विनष्ट करें ॥१ ॥

[सूर्य किरणों की रोगनाशक क्षमता का यहाँ संकेत किया गया है ।]

३३१. विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२

विविध रूप वाले, चार अश्वों वाले, रेंगने वाले तथा सफेद रंग वाले कीटाणुओं की हड्डियों तथा सिर को हम तोड़ते हैं ॥२ ॥

३३२. अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥३ ॥

हे कृमियो ! हम अत्रि, कण्व और जमदग्नि ऋषि के सदृश, मंत्र शक्ति से तुम्हें मारते हैं तथा अगस्त्य ऋषि की मंत्र शक्ति से तुम्हें पीस डालते हैं ॥३ ॥

३३३. हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४

हमारे द्वारा ओषधि प्रयोग करने पर कीटाणुओं का राजा तथा उसका मंत्री मारा गया । वह अपने माता-पिता, भाई-बहिन सहित स्वयं भी मारा गया ॥४ ॥

३३४. हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥५ ॥

इन कीटाणुओं के बैठने वाले स्थान तथा पास के घर विनष्ट हो गये और बीजरूप में विद्यमान दुर्लक्षित (कठिनाई से दिखाई पड़ने वाले) छोटे-छोटे कीटाणु भी नष्ट हो गये ॥५ ॥

३३५. प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि । भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥६ ॥

हे कीटाणुओ ! हम तुम्हारे उन सींगों को तोड़ते हैं, जिनके द्वारा तुम पीड़ा पहुँचाते हो । हम तुम्हारे कुषुम्भ (विष ग्रन्थि) को तोड़ते हैं, जिसमें तुम्हारा विष रहता है ॥६ ॥

[३३- यक्ष्मविबर्हण सूक्त]

[ऋषि–ब्रह्मा ।देवता– यक्षविबर्हण (पृथक्करण) चन्द्रमा, आयुष्य । छन्द–अनुष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप् । चतुष्पाद् भुरिक् उष्णिक् , ५ उपरिष्टात् बृहती, ६ उष्णिक् गर्भानिचृत्अनुष्टुप्, ७ पथ्यापंक्ति ।]

३३६. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१ ॥

हे रोगिन् ! आपके दोनों नेत्रों, दोनों कानों, दोनों नासिका रन्ध्रों, ठोढ़ी, सिर, मस्तिष्क और जिह्वा से हम यक्ष्मारोग को दूर करते हैं ॥१ ॥

३३७. ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२ ॥

हे रोग से ग्रस्त मनुष्य ! आपकी गर्दन की नाड़ियों, ऊपरी स्नायुओं, अस्थियों के संधि भागों, कन्धों, भुजाओं और अन्तर्भाग से हम यक्ष्मारोग का विनाश करते हैं ॥२ ॥

३३८. हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३ ॥

हे व्याधिग्रस्त मानव ! हम आपके हृदय, फेफड़ों, पित्ताशय, दोनों पसलियों, गुर्दों, तिल्ली तथा जिगर से यक्ष्मारोग को दूर करते हैं ॥३ ॥

३३९.आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४ ॥

आपकी आँतों, गुदा, नाड़ियों, हृदयस्थान, मूत्राशय, यकृत और अन्यान्य पाचनतंत्र के अवयवों से हम यक्ष्मारोग का निवारण करते हैं ॥४ ॥

३४०. ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५ ॥

हे रोगिन् ! आपकी दोनों जंघाओं, जानुओं, एड़ियों, पंजों, नितम्बभागों, कटिभागों और गुदा द्वार से हम यक्ष्मारोग को दूर करते हैं ॥५ ॥

३४१. अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६ ॥

हम अस्थि, मज्जा, स्नायुओं, धमनियों, पुट्ठों, हाथों, अँगुलियों तथा नाखूनों से यक्ष्मारोग को दूर करते हैं ।

३४२. अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।

यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७ ॥

प्रत्येक अंग, प्रत्येक लोम और शरीर के प्रत्येक संधि भाग में, जहाँ कहीं भी यक्ष्मा रोग का निवास है, वहाँ से हम उसे दूर करते हैं ॥७ ॥

[३४- पशुगण सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । **देवता -** १ पशुपति, २ देवगण, ३ अग्नि, विश्वकर्मा, ४ वायु, प्रजापति, ५ आशीर्वचन । **छन्द -** त्रिष्टुप् ।]

३४३. य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१ ॥

जो पशुपति (शिव) दो पैर वाले मनुष्यों तथा चार पैर वाले पशुओं के स्वामी हैं, वे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किये हुए यज्ञीय भाग को प्राप्त करें और मुझ यजमान को ऐश्वर्य तथा पुष्टि प्रदान करें ॥१ ॥

३४४. प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।

उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥२ ॥

हे देवो ! आप इस यजमान को विश्व का रेतस् (उत्पादक रस) प्रदान करके इसे सन्मार्ग पर चलाएँ और देवों का प्रिय तथा सुसंस्कृत सोम रूप अन्न हमें प्रदान करें ॥२ ॥

३४५. ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३ ॥

जो आलोकमान जीव इस बद्ध जीव का मन तथा चक्षु से अवलोकन करते हैं, उन्हें वे विश्वकर्मा देव सबसे पहले विमुक्त करें ॥३ ॥

३४६. ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥४ ॥

ग्राम के जो अनेकों रूप-रंग वाले पशु बहुरूपता होने पर भी एक जैसे दिखलाई पड़ते हैं, उनको भी प्रजा के साथ निवास करने वाले प्रजापालक प्राणदेव सबसे पहले मुक्त करें ॥४ ॥

३४७. प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५ ॥

विशेषज्ञ विद्वान्, चारों ओर विचरण करने वाले प्राण को समस्त अंगों से इकट्ठा करके स्वस्थ जीवनयापन करते हैं । उसके बाद देवताओं के गमन पथ से स्वर्ग को जाते हैं तथा आलोकमान स्थानों को प्राप्त होते हैं ॥५ ॥

[३५-विश्वकर्मा सूक्त]

[**ऋषि -** अङ्गिरा । **देवता -** विश्वकर्मा । **छन्द -** त्रिष्टुप्, १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, ४-५ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

३४८. ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।

या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१ ॥

यज्ञ कार्य में धन खर्च न करके, भक्षण कार्य में धन खर्च करने के कारण हम समृद्ध नहीं हुए ।इस प्रकार हम यज्ञ न करने वाले,और दुर्यज्ञ करने वाले हैं । अत: हमारी श्रेष्ठ यज्ञ करने की अभिलाषा को विश्वकर्मादेव पूर्ण करें

३४९. यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।

मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२ ॥

प्रजाओं के विषय में अनुताप करने वाले यज्ञपति को ऋषि पाप से अलग बताते हैं । जिन विश्वकर्मा ने सोमरस की बूँदों को आत्मसात् किया है, वे विश्वकर्मादेव उन बूँदों से हमारे यज्ञ को संयुक्त करें ॥२ ॥

३५०. अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।

यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥३ ॥

जो व्यक्ति दान न करके मनमाने ढंग से सोमपान करता है, वह न तो यज्ञ को जानता है और न धैर्यवान् होता है । ऐसा व्यक्ति बद्ध होकर पाप करता है । हे विश्वकर्मादेव ! आप उसे कल्याण के लिए पाप-बन्धनों से मुक्त करें

३५१. घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।

बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥४ ॥

ऋषिगण अत्यन्त तेजस्वी होते हैं; क्योंकि उनके आँखों तथा मनों में सत्य प्रकाशित होता है । ऐसे ऋषियों को हम प्रणाम करते हैं तथा देवताओं के पालन करने वाले बृहस्पतिदेव को भी प्रणाम करते हैं । हे महान् विश्वकर्मा देव ! हम आपको प्रणाम करते हैं; आष हमारी सुरक्षा करें ॥४ ॥

३५२. यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५ ॥

जो अग्निदेव यज्ञ के नेत्र स्वरूप पोषणकर्त्ता तथा मुख के समान हैं, उन (अग्निदेव) के प्रति हम मन, श्रोत्र तथा वचनों सहित हव्य समर्पित करते हैं । विश्वकर्मा देव के द्वारा किये गये इस यज्ञ के लिए श्रेष्ठ मन वाले देव पधारें ॥५ ॥

[३६- पतिवेदन सूक्त]

[**ऋषि** - पतिवेदन । **देवता** - १ अग्नि, २ सोम, अर्यमा, धाता,३ अग्नीषोम, ४ इन्द्र, ५ सूर्य, ६ धनपति, ७ हिरण्य, भग, ८ ओषधि । **छन्द** - अनुष्टुप्, १ भुरिक् अनुष्टुप्, ३-४ त्रिष्टुप् , ८ निचृत् पुर उष्णिक् ।]

३५३. आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१ ॥

हे अग्ने ! हमारी इस बुद्धिमती कुमारी कन्या को ऐश्वर्य के साथ सर्वगुण सम्पन्न वर प्राप्त हो । हमारी कन्या बड़ों के बीच में प्रिय तथा समान विचार वालों में मनोरम है । इसे पति के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो ॥१ ॥

३५४. सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२ ॥

सोमदेव और गन्धर्वदेव द्वारा सेवित तथा अर्यमा नामक अग्नि द्वारा स्वीकृत कन्या रूप धन को हम सत्य वचन से पति द्वारा प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं ॥२ ॥

३५५. इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! यह कन्या अपने पति को प्राप्त करे और राजा सोम इसे सौभाग्यवती बनाएँ । यह कन्या अपने पति को प्राप्त करके सुशोभित हो और (वीर) पुत्रों को जन्म देती हुई घर की रानी बने ॥३ ॥

३५६. यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४ ॥

हे इन्द्रदेव ! जिस प्रकार गुफा का स्थान मृगों के लिए प्रिय तथा बैठने योग्य होता है, उसी प्रकार यह स्त्री अपने पति से विरोध न करती हुई तथा समस्त भोग्य वस्तुओं का सेवन करती हुई अपने पति के लिए प्रीतियुक्त हो ॥४ ॥

३५७. भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५ ॥

हे कन्ये ! आप इच्छित तथा अविनाशी ऐश्वर्य से परिपूर्ण हुई नौका पर चढ़कर, उसके द्वारा अपने अभिलषित पति के पास पहुँचें ॥५ ॥

३५८. आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६ ॥

हे धनपते वरुणदेव ! आप इस वर के द्वारा उद्घोष कराएँ कि यह कन्या हमारी पत्नी हो । आप इस वर को कन्या के सामने बुलाकर उसके मन को कन्या की ओर प्रेरित करें तथा उसे अनुरूप व्यवहार वाला बनाएँ ।६ ॥

३६९. इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥७ ॥

हे कन्ये ! ये स्वर्णिम आभूषण, गूगल की धूप तथा लेपन करने वाले औक्ष (उपलेपन द्रव्य) को अलंकार के स्वामी भग देवता आपकी पति-कामना की पूर्ति तथा आपके लाभ के लिए आपके पति को प्रदान करते हैं ॥७ ॥

३६०. आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे ॥८ ॥

हे ओषधे ! आप इस कन्या को पति प्रदान करें । हे कन्ये ! सवितादेव इस वर को आपके समीप लाएँ । आपका इच्छित पति आपके साथ विवाह करके आपको अपने घर ले जाए ॥८ ॥

॥ इति द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं काण्डम् ॥

[१- शत्रुसेनासंमोहन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - सेनामोहन (१ अग्नि , २ मरुद्गण , ३-६ इन्द्र) । छन्द - १,४ त्रिष्टुप्, २ विराट्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्, ३,६ अनुष्टुप्, ५ विराट् पुरउष्णिक् ।]

३६१. अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१ ॥

ज्ञानी अग्निदेव (अथवा अग्रणी वीर) विनाश के लिए उद्यत रिपु सेनाओं के चित्त को भ्रमित करके, उनके हाथों को शस्त्र रहित कर दें । वे रिपुओं के अंगों को जलाते (नष्ट करते) हुए आगे बढ़ें ॥१ ॥

३६२. यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥२ ॥

हे मरुतो !आँप ऐसे (संग्राम) में उग्र होकर (हमारे पास) स्थित रहें । आप आगे बढ़ें, प्रहार (शत्रुओं) को जीत लें । ये वसुगण भी शत्रु विनाशक हैं । इनके संदेशवाहक विद्वान् अग्निदेव भी रिपुओं की ओर ही अग्रगामी हों ॥

३६३. अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥३ ॥

हे ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेव ! आप वृत्र का संहार करने वाले हैं । आप और अग्निदेव दोनों मिलकर हमसे शत्रुता करने वाली रिपु सेनाओं को परास्त करके उन्हें भस्मसात् कर दें ॥३ ॥

३६४. प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४ ॥

हे इन्द्रदेव ! हरि नामक अश्वों से गतिमान् आपका रथ ढालू मार्ग से वेगपूर्वक शत्रु सेना की ओर बढ़े । आप अपने प्रचण्ड वज्र से शत्रुओं पर प्रहार करें । आप सामने से आते हुए तथा मुख मोड़कर जाते हुए सभी शत्रुओं पर प्रहार करें । युद्ध में संलग्न शत्रुओं के चित्त को आप विचलित कर दें ॥४ ॥

३६५. इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप रिपुओं की सेनाओं को भ्रमित करें । उसके बाद अग्नि और वायु के प्रचण्ड वेग से उन (रिपु सेनाओ) को चारों ओर से भगाकर विनष्ट कर दें ॥५ ॥

३६६. इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥६ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप रिपु सेनाओं को सम्मोहित करें और मरुद्गण बलपूर्वक उनका विनाश करें । अग्निदेव उनकी आँखों (नेत्र ज्योति) को हर लें । इस प्रकार परास्त होकर रिपु सेना वापस लौट जाए ॥६ ॥

[२ - शत्रुसेनासंमोहन सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । देवता - सेनामोहन (१-२ अग्नि, ३-४ इन्द्र , ५ द्यौ, ६ मरुद्गण) । **छन्द -** त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुप् ।]

३६७. अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१ ॥

देवदूत के सदृश अग्रणी तथा विद्वान् अग्निदेव हमारे रिपुओं को जलाते हुए उनकी ओर बढ़ें । वे रिपुओं के चित्त को भ्रमित करें तथा उनके हाथों को आयुधों से रहित करें ॥१ ॥

३६८. अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥२ ॥

हे शत्रुओ ! तुम्हारे हृदय में जो विचार-समूह हैं, उनको अग्निदेव सम्मोहित कर दें तथा तुम्हें तुम्हारे निवास स्थानों से दूर हटा दें ॥२ ॥

३६९. इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप रिपुओं के मनों को सम्मोहित करते हुए शुभ संकल्पों के साथ हमारे समीप पधारें । उसके बाद अग्निदेव एवं वायुदेव के प्रचण्ड वेग से उन रिपुओं की सेनाओं को चारों ओर से विनष्ट कर दें ॥३ ॥

३७०. व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत । अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि

हे विरुद्ध संकल्पो ! आप रिपुओं के मन में गमन करें । हे रिपुओं के मन ! आप मोहग्रस्त हों । हे इन्द्रदेव ! युद्ध के लिए उद्यत रिपुओं के संकल्पों को आप पूर्णतया विनष्ट कर दें ॥४ ॥

३७१. अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५ ॥

हे अप्वे (पापवृत्ति या व्याधि) !तुम शत्रुओं को सम्मोहित करते हुए उनके शरीरों में व्याप्त हो जाओ । हे अप्वे !तुम आगे बढ़ो और उनके हृदयों को शोक से दग्ध करो, उन्हें जकड़कर पीड़ित करते हुए विनष्ट कर डालो ॥५ ॥

३७२. असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६ ॥

हे मरुतो !जो रिपु सेनाएँ अपनी सामर्थ्य के मद में स्पर्धापूर्वक हमारी ओर आ रहीं हैं, उन सेनाओं को आप अपने कर्महीन करने वाले अन्धकार से सम्मोहित करें, जिससे इनमें से कोई भी शत्रु एक-दूसरे को पहचान न सकें ॥६ ॥

[३ - स्वराजपुनः स्थापन सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । देवता - १ अग्नि, २, ६ इन्द्र, ३ वरुण, सोम, इन्द्र, ४ श्येन, अश्विनीकुमार , ५ इन्द्राग्नी, विश्वेदेवा । **छन्द -** त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा भुरिक् पंक्ति, ५-६ अनुष्टुप् ।]

कौशिक सूत्र में इस सूक्त का विनियोग राजा को उसके खोये हुए राज्य पर पुनः स्थापित करने के रूप में दिया गया है । इस विशिष्ट संदर्भ में भी इसका प्रयोग होता रहा होगा; किन्तु मंत्रार्थ इस क्रिया तक सीमित किये जाने योग्य नही हैं । किसी भी प्राणवान् द्वारा अपने खोए वर्चस्व की प्राप्ति, जीवन- चेतना या तेजस्वी प्राण-प्रवाहों को उपयुक्त स्थलों (काया, प्रकृति के विभिन्न घटकों) में प्रतिष्ठित करने का भाव इसमें स्पष्ट भासित होता है-

३७३. अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! यह (जीव या पदेच्छु व्यक्ति या राजा) स्वयं का पालन-रक्षण करने वाला हो-ऐसी घोषणा की गई है। आप सम्पूर्ण द्यावा-पृथिवी में व्याप्त हों। मरुद्गण और विश्वेदेवा आपके साथ संयुक्त हों। आप नम्रतापूर्वक हविदाता को यहाँ लाएँ, स्थापित करें ॥१ ॥

३७४. दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥२ ॥

हे तेजस्विन् ! आप इस तेजस्वी की मित्रता के लिए दूरस्थ ज्ञानी इन्द्रदेव को यहाँ लाएँ। समस्त देवताओं ने गायत्री छन्द, बृहती छन्द तथा सौत्रामणी यज्ञ के माध्यम से इसे धारण किया है ॥२ ॥

३७५. अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३ ॥

हे तेजस्विन् ! वरुणदेव जल के लिए, सोमदेव पर्वतों के लिए तथा इन्द्रदेव प्रजाओं (आश्रितों को प्राणवान् बनाने) के लिए आपको बुलाएँ। आप श्येन की गति से इन विशिष्ट स्थानों पर आएँ ॥३ ॥

३७६. श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥४ ॥

स्वर्ग में निवास करने वाले देवता, अन्य क्षेत्रों में विचरने वाले हव्य (बुलाने योग्य या हवनीय) को श्येन के समान द्रुतगति से अपने देश में ले आएँ। हे तेजस्विन् ! आपके मार्ग को दोनों अश्विनीकुमार सुख से आने योग्य बनाएँ। सजातीय (व्यक्ति या तत्त्व) इसे उपयुक्त स्थल में प्रविष्ट कराएँ ॥४ ॥

३७७. ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥५ ॥

हे तेजस्विन् ! प्रतिकूल चलने वाले भी (आपका महत्त्व समझकर) आपको बुलाएँ। मित्रजन आपको संवर्द्धित करें। इन्द्राग्नि तथा विश्वेदेवा आपके अन्दर क्षेम (पालन-संरक्षण) की क्षमता धारण कराएँ ॥५ ॥

३७८. यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥६ ॥

हे इन्द्रदेव ! सभी विजातीय और सजातीय जन आपके आह्वनीय पक्ष की समीक्षा करें। उस (अवांछनीय) को बहिष्कृत करके, इस (वांछनीय) को यहाँ ले आएँ ॥६ ॥

[४ - राजासंवरण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा। देवता - इन्द्र। छन्द -त्रिष्टुप्, १ जगती, ४, ५ भुरिक् त्रिष्टुप्।]

३७९. आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१ ॥

हे राजन् ! (तेजस्वी) यह राष्ट्र (प्रकाशवान् अधिकार क्षेत्र) आपको पुनः प्राप्त हो गया है। आप वर्चस्वपूर्वक अभ्युदय को प्राप्त करें। आप प्रजाओं के स्वामी तथा उनके एक मात्र अधिपति बनकर सुशोभित हों। समस्त

दिशाएँ तथा उपदिशाएँ आपको पुकारें । आप यहाँ (अपने क्षेत्र में) सबके लिए वन्दनीय बनें ॥१ ॥

३८०. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥२ ॥

हे तेजस्विन् !ये प्रजाएँ आपको शासन का संचालन करने के लिए स्वीकार करें तथा पाँचों दिव्य दिशाएँ आपकी सेवा करें ।आप राष्ट्र के श्रेष्ठ पद पर आसीन हों और उग्रवीर होकर हमें योग्यतानुसार ऐश्वर्य प्रदान करें ॥२

३८१. अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३ ॥

हे तेजस्विन् ! हवन करने वाले या बुलाने वाले सजातीय जन आपके अनुकूल रहें । दूतरूप में अग्निदेव तीव्रता से संचरित हों । स्त्री-बच्चे श्रेष्ठ मन वाले हों ।आप उग्रवीर होकर विभिन्न उपहारों को देखें (प्राप्त करें) ॥३ ॥

३८२. अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥४ ॥

हे तेजस्विन् ! मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेवा तथा मरुद्गण आपको बुलाएँ । आप अपने मन को धनदान में लगाएँ और प्रचण्डवीर होकर हमको भी यथायोग्य ऐश्वर्य प्रदान करें ॥४ ॥

३८३. आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ॥५ ॥

हे तेजस्विन् ! आप दूर देश से भी द्रुतगति से यहाँ पधारें । द्यावा-पृथिवी आपके लिए कल्याणकारी हों । राजा वरुण भी आपका आवाहन करते हैं, इसलिए आप आएँ और इसे प्राप्त करें ॥५ ॥

३८४. इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६ ॥

हे शासकों के शासक (इन्द्रदेव) ! आप मनुष्यों के समीप पधारें । वरुणदेव से संयुक्त होकर आप जाने गए हैं । अतः इन प्रत्येक धारणकर्त्ताओं ने आपको अपने स्थान पर बुलाया है । ऐसे आप, देवताओं का यजन करते हुए प्रजाओं को अपने-अपने कर्त्तव्य में नियोजित करें ॥६ ॥

३८५. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥७ ॥

हे तेजस्विन् ! विभूति-सम्पन्न, मार्ग पर (लक्ष्य की ओर) चलने वाली, विविधरूप वाली प्रजाओं ने संयुक्तरूप से आपके लिए यह वरणीय (पद) बनाया है । वे सब आपको एक मत होकर बुलाएँ । आप उग्रवीर एवं श्रेष्ठ मन वाले होकर दसमी (चरमावस्था) को अपने अधीन करें ॥७ ॥

[५ - राजा और राजकृत सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - सोम या पर्णमणि । छन्द - अनुष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्, ४ त्रिष्टुप्, ८ विराट्उरोबृहती ।]

इस सूक्त में पर्णमणि का विवरण है । कोशों में पर्ण का अर्थ 'पलाश' दिया गया है, इस आधार पर कई आचार्यों ने पर्णमणि को पलाशमणि माना है । इधर शत०ब्रा० (६.५.१.१) के अनुसार 'सोमो वै पर्णः' (सोम ही पर्ण है) तथा तै०ब्रा० (१.२.१.६) में यह 'पर्ण' सोमपर्ण से ही बना हुआ कहा गया है । इस आधार पर पर्णमणि को सोममणि कह सकते हैं । वेद के

अनुसार 'सोम' दिव्यपोषक रस के रूप में प्रसिद्ध है। इस आधार पर यह किन्हीं दिव्य ओषधियों के संयोग से निर्मित हो सकता है। प्रथम मंत्र में इसे 'देवानाम् ओजः' तथा 'ओषधीनां पयः' (देवों का ओज तथा ओषधियों का सार) कहा गया है। इस कथन के आधार पर भी इसे सोम या अनेक ओषधियों के संयोग से निर्मित माना जा सकता है-

३८६. आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१ ॥

यह बलशाली पर्णमणि अपने बल के द्वारा रिपुओं को विनष्ट करने वाली है। यह देवों का ओजस् तथा ओषधियों का साररूप है। यह हमें अपने वर्चस् से पूर्ण कर दे ॥१ ॥

३८७. मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम्।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२ ॥

हे पर्णमणे ! आप हमारे अन्दर शक्ति तथा ऐश्वर्य स्थापित करें, जिससे हम राष्ट्र के विशिष्ट वर्ग में उत्तम आत्मीय बन कर रहें ॥२ ॥

३८८. यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥

जिस गुप्त तथा प्रिय मणि को देवताओं ने वनस्पतियों में स्थापित किया है, उस मणि को देवगण पोषण तथा आयु-संवर्द्धन के लिए हमें प्रदान करें ॥३ ॥

३८९. सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥४ ॥

इन्द्रदेव के द्वारा प्रदत्त तथा वरुणदेव के द्वारा सुसंस्कारित यह सोमपर्णमणि प्रचण्ड बल से सम्पन्न होकर हमें प्राप्त हो। उस तेजस्वी मणि को हम दीर्घायु तथा शतायु की प्राप्ति के लिए प्रिय मानते हैं ॥४ ॥

३९०. आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५ ॥

यह पर्णमणि चिरकाल तक हमारे समीप रहती हुई हमारे लिए कल्याणकारी हो। हम अर्यमादेव की कृपा से इसे धारण करके समान बल वालों से भी महान् बन सकें ॥५ ॥

३९१. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६ ॥

हे पर्णमणे ! धीवर, रथ बनाने वाले, लौह कर्म करने वाले, जो मनीषी हैं, उन सबको हमारे चारों तरफ परिचर्या के लिए आप उपस्थित करें ॥६ ॥

३९२. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७ ॥

हे मणे ! जो विभिन्न देशों के राजा और राजाओं का अभिषेक करने वाले हैं तथा जो सूत और ग्राम के नायक हैं, उन सभी को आप हमारे चारों ओर उपस्थित करें ॥७ ॥

३९३. पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८ ॥

सोमपर्ण से उद्‌भूत हे मणे ! आप शरीर-रक्षक हैं । आप वीर हैं, हमारे समान -जन्मा हैं । आप सविता के तेज से परिपूर्ण हैं, इसलिए आपका तेज ग्रहण करने के लिए हम आपको धारण करते हैं ॥८ ॥

[६- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि -** जगद्‌बीज पुरुष । **देवता -** अश्वत्थ (वनस्पति) । **छन्द -** अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के प्रथम मंत्र में 'अश्वत्थः खदिरे अधि' वाक्य आता है । इस सूक्त के द्वारा खदिर (खैर) के वृक्ष में से उगे अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष से बनी मणि का प्रयोग कौशिक सूत्र में दिया गया है । सायणादि आचार्यों ने उसी संदर्भ में सूक्त के अर्थ किये हैं । व्यापक संदर्भ में 'अश्वत्थः खदिरे अधि' वाक्य गीता के कथन 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्' वाले अश्वत्थ के भाव को स्पष्ट करने वाला है । वाचस्पत्यम् कोष में आकाश से इष्टापूर्त्त करने वाले को खदिर कहा है (खे आकाशे दीर्य्यते इष्टापूर्त्त कारिभिर्यतः- वा० पृ० २४६४) । गीतोक्त अश्वत्थ अनश्वर विश्व वृक्ष- या जीवन चक्र है, जिसकी जड़ें ऊपर 'आकाश' में हैं, इसलिये इस अश्वत्थ को 'खदिरे अधि' (आकाश से इष्टापूर्त्त के क्रम में स्थित) कह सकते हैं । इस सूक्त के ऋषि 'जगद्‌बीज पुरुष' (विश्व के मूल कारण पुरुष) हैं । इस आधार पर अश्वत्थ की संगति विश्ववृक्ष के साथ सटीक बैठती है-

३९४. पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥१ ॥

वीर्यवान् (पराक्रमी) से वीर्यवान् की उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार खदिर (खैर वृक्ष या आकाश से आपूर्ति करने वाले चक्र) के अन्दर स्थापित अश्वत्थ (पीपल अथवा विश्ववृक्ष) उत्पन्न हुआ है । वह अश्वत्थ (तेजस्वी) उन शत्रुओं (विकारों) को नष्ट करे, जो हमसे द्वेष करते हैं तथा हम जिनसे द्वेष करते हैं ॥१ ॥

[आयुर्वेद में खदिर और पीपल दोनों वृक्ष रोग निवारक हैं । खदिर में उत्पन्न पीपल के विशेष गुणों के उपयोग की बात कहा जाना उचित है । जीवन वृक्ष- जीवन तत्त्व की आपूर्ति का आधार आकाश में उपलब्ध इष्ट सूक्ष्म प्रवाह है । यह अविनाशी जीवनतत्त्व हमारे विकारों को नष्ट करने वाला है । यह कामना ऋषि द्वारा की गई है ।]

३९५. तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥२ ॥

हे अश्वत्थ ! (अश्व के समान स्थित दिव्य जीवन तत्त्व) आप विविध बाधाएँ उत्पन्न करने वाले उन द्रोहियों को नष्ट करें । (इस प्रयोजन के लिए आप) वृत्रहन्ता इन्द्र , मित्र तथा वरुणदेवों के स्नेही बनकर रहें ॥२ ॥

३९६. यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्‌ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥३ ॥

हे अश्वत्थ ! जिस प्रकार आप अर्णव (अन्तरिक्ष) को भेदकर उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार आप हमारे उन रिपुओं को पूर्णरूप से विनष्ट करें, जिनसे हम विद्वेष करते हैं तथा जो हमसे विद्वेष करते हैं ॥३ ॥

३९७. यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥४ ॥

हे अश्वत्थ ! जिस प्रकार आप शत्रु को रौंदने वाले वृष के सदृश बढ़ते हैं, उसी प्रकार आपके सहयोग से हम मनुष्य अपने रिपुओं को विनष्ट करने में समर्थ हों ॥४ ॥

३९८. सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥५ ॥

हे अश्वत्थ ! निर्ऋति (विपत्ति) देव हमारे उन रिपुओं को न टूटने वाले मृत्यु पाश से बाँधें, जिनसे हम विद्वेष करते हैं तथा जो हमसे विद्वेष करते हैं ॥५ ॥

३९९. यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्द्धि सहस्व च ॥६ ॥

हे अश्वत्थ ! जिस प्रकार आप ऊपर स्थित होकर वनस्पतियों को नीचे स्थापित करते हैं, उसी प्रकार आप हमारे रिपुओं के सिर को सब तरफ से विदीर्ण करके, उन्हें विनष्ट कर डालें ॥६ ॥

४००. तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥७ ॥

जिस प्रकार नौका-बन्धन छूट जाने पर नदी की धारा में नीचे की ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार हमारे रिपु नदी की धारा में ही बह जाएँ। विविध बाधाएँ उत्पन्न करने वालों के लिए पुनः लौटना सम्भव न हो ॥७ ॥

४०१. प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥८ ॥

हम इन शत्रुओं (विकारों) को ब्रह्मज्ञान के द्वारा मन और चित्त से दूर हटाते हैं। उन्हें हम अश्वत्थ (जीवन-वृक्ष) की शाखाओं (प्राणधाराओं) द्वारा दूर करते हैं ॥८ ॥

[७- यक्ष्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा। देवता - यक्ष्मनाशन (१-३ हरिण, ४ तारागण, ५ आपः, ६-७ यक्ष्मनाशन)। छन्द - अनुष्टुप्, १ भुरिक् अनुष्टुप्।]

इस सूक्त में 'क्षेत्रिय' रोगों के उपचार का वर्णन है। क्षेत्रिय रोगों का अर्थ सामान्य रूप से आनुवंशिक रोग लिया जाता है। गीता में 'क्षेत्र' शरीर को कहा गया है। शरीर में बाहरी विषाणुओं से कुछ रोग पनपते हैं। कुछ रोगों की उत्पत्ति (आनुवंशिक अथवा अन्य कारणों से) शरीर के अन्दर से ही होती है, इसलिए क्षेत्र (शरीर) से उत्पन्न होने के कारण उन्हें क्षेत्रिय रोग कहा गया है। इन रोगों की ओषधि 'हरिणस्य शीर्ष' आदि में कही गयी है, जिसका अर्थ हिरण के सिर के अतिरिक्त हरणशील किरणों का सर्वोच्च भाग 'सूर्य' भी होता है। विषाण का अर्थ सींग तो होता ही है- हिरण के सींग (मृगशृंग) का उपयोग वैद्यक में होता है। विषाण का अर्थ कोषों में कुष्ठादि की ओषधि तथा 'विशेष मदकारी' भी है। सूर्य के सन्दर्भ में ये अर्थ लिए जा सकते हैं। उपचारों (मंत्र ४ से ७) में आकाशीय नक्षत्रों तथा जल-रस आदि का भी उल्लेख है। इन सबके समुचित संयोग से उत्पन्न प्रभावों पर शोध अपेक्षित है-

४०२. हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥१ ॥

द्रुतगति से दौड़ने वाले हरिण (हिरण या सूर्य) के शीर्ष (सर्वोच्च भाग) में रोगों को नष्ट करने वाली ओषधि है। वह अपने विषाण (सींग अथवा विशेष प्रभाव) से क्षेत्रिय रोगों को विनष्ट कर देता है ॥१ ॥

४०३. अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥२ ॥

यह बलशाली हरिण (हिरण या सूर्य) अपने चारों पदों (चरणों) से तुम्हारे अनुकूल होकर आक्रमण करता है। हे विषाण ! आप इसके (पीड़ित व्यक्ति के) हृदय में स्थित गुप्त क्षेत्रिय रोगों को विनष्ट करें ॥२ ॥

४०४. अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिवच्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥३ ॥

यह जो चार पक्ष (कोनों या विशेषताओं) से युक्त छत की भाँति (हिरण का चर्म अथवा आकाश) सुशोभित हो रहा है, उसके द्वारा हम आपके अंगों से समस्त क्षेत्रिय रोगों को विनष्ट करते हैं ॥३ ॥

४०५. अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥४ ॥

अन्तरिक्ष में स्थित विचृत ('मूल' नक्षत्र या प्रकाशित) नामक जो सौभाग्यशाली तारे हैं, वे समस्त क्षेत्रिय रोगों को शरीर के ऊपर तथा नीचे के अंगों से पृथक् करें ॥४ ॥

४०६. आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५ ॥

जल समस्त रोगों की ओषधि है । स्नान-पान आदि के द्वारा यह जल ही ओषधि रूप में सभी रोगों को दूर करता है । जो अन्य ओषधियों की भाँति किसी एक रोग की नहीं, वरन् समस्त रोगों की ओषधि है, हे रोगिन् ! ऐसे जल से तुम्हारे सभी रोग दूर हों ॥५ ॥

[ओषधि अथवा मंत्र युक्त जल के प्रयोग का संकेत प्रतीत होता है ।]

४०७. यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥६ ॥

हे रोगिन् ! बिगड़े हुए स्रवित रस से आपके अन्दर जो क्षेत्रिय रोग संव्याप्त हो गया है, उसकी ओषधि को हम जानते हैं । उसके द्वारा हम आपके क्षेत्रिय रोग को विनष्ट करते हैं ॥६ ॥

[शरीर में विविध प्रकार के रस स्रवित होते हैं । जब वे रस, कायिक तंत्र बिगड़ जाने से दोषपूर्ण हो जाते हैं, तो क्षेत्रिय रोग उत्पन्न होते हैं । रोगों के मूल कारण के निवारण का संकल्प इस मंत्र में व्यक्त हुआ है ।]

४०८. अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥७ ॥

नक्षत्रों के दूर होने पर उषाकाल में तथा उषा के चले जाने पर दिन में समस्त अनिष्ट हमसे दूर हों । क्षेत्रिय रोगादि भी इसी क्रम में दूर हो जाएँ ॥७ ॥

[८ - राष्ट्रधारण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता -मित्र (१ पृथिवी, वरुण, वायु, अग्नि, २ धाता, सविता, इन्द्र, त्वष्टा, अदिति, ३ सोम, सविता, आदित्य, अग्नि, ४ विश्वेदेवा, ५-६ मन) । छन्द - त्रिष्टुप् , २,६ जगती, ४ चतुष्पदा विराट् बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् ।]

४०९. आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥१ ॥

मित्रदेव अपनी रश्मियों के द्वारा पृथ्वी को संव्याप्त करते हुए ऋतुओं के द्वारा हमें दीर्घजीवी बनाने में सक्षम होकर पधारें । इसके बाद वरुणदेव, वायुदेव तथा अग्निदेव हमारे लिए शान्तिदायक बृहत् राष्ट्र को सुस्थिर करें ॥१ ॥

४१०. धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥२ ॥

सबके धारणकर्त्ता धातादेव, दानशील अर्यमादेव तथा सर्वप्रेरक सवितादेव हमारी आहुतियों को स्वीकार करें । इन्द्रदेव तथा त्वष्टादेव हमारी स्तुतियों को सुनें । शूरपुत्रों की माता देवी अदिति का हम आवाहन करते हैं, जिससे सजातियों के बीच में हम सम्माननीय बन सकें ॥२ ॥

४११. हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३ ॥

प्रयोग करने वाले याजक को अत्यधिक श्रेष्ठता दिलाने के लिए हम सोमदेव, सवितादेव तथा समस्त आदित्यों को नमनपूर्वक आहूत करते हैं । हवियों के आधारभूत अग्निदेव प्रज्वलित हों, जिससे सजातियों के द्वारा हम चिरकाल तक वृद्धि को प्राप्त करते रहें ॥३ ॥

४१२. इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥४ ॥

हे शरीर या राष्ट्र में रहने वाली प्रजाओ-शक्तियो ! आप यहीं रहें, दूर न जाएँ । अन्न या विद्याओं से युक्त गौ (गाय; पृथ्वी अथवा इन्द्रियों) के रक्षक, पुष्टि प्रदाता आपको लाएँ । कामनायुक्त आप प्रजाओं को इस कामना की पूर्ति के लिए विश्वेदेव, एक साथ संयुक्त करें ॥४ ॥

४१३. सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥५ ॥

(हे मनुष्यो !) हम आपके विचारों, कर्मों तथा संकल्पों को एक भाव से संयुक्त करते हैं । पहले आप जो विपरीत कर्म करते थे, उन सबको हम श्रेष्ठ विचारों के माध्यम से अनुकूल करते हैं ॥५ ॥

४१४. अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥६ ॥

हम अपने मन में आपके मन को धारण (एक रूप) करते हैं । आप भी हमारे चित्त के अनुकूल अपने चित्त को बनाकर पधारें । आपके हृदयों को हम अपने वश में करते हैं । आप हमारे अनुकूल चलने वाले होकर पधारें ॥६

[९- दुःखनाशन सूक्त]

[ऋषि - वामदेव । देवता - द्यावापृथिवी, विश्वेदेवा । छन्द - अनुष्टुप्, ४ चतुष्पदा निचृत् बृहती, ६ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

कौशिक सूत्र में इस सूक्त के साथ 'अरलु' वृक्ष की मणि बाँधकर विष्कंध रोग के निवारण का प्रयोग सुझाया गया है । सायणादि आचार्यों ने मंत्रार्थ उक्त क्रिया को लक्ष्य करके ही किये हैं; किन्तु मूल मंत्रों में 'अरलु मणि' का कोई उल्लेख नहीं है । मंत्रों में रोग निरोधक प्राण शक्ति धारण करने का भाव परिलक्षित होता है । उसे धारण करने के सूत्र भी दिए गए हैं । अरलु मणि से भी उसमें सहायता मिलती होगी, इसलिए उसे इन मंत्रों के साथ बाँधने का विधान बनाया गया होगा । मंत्रार्थों के व्यापक अर्थ करना ही युक्ति संगत लगता है-

४१५. कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥१ ॥

कृशफ (निर्बल अथवा कृश खुरों-नाखूनों वाले) प्राणी, विशफ (बिना खुर वाले, रेंगने वाले, अथवा विशेष खुरों वाले) प्राणियों का पालन-पोषण करने वाले माता- पिता पृथ्वी तथा द्यौ हैं । हे देवताओ ! जिस प्रकार आपने इन विघ्न-बाधाओं के कारणों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार इन बाधाओं को हमसे दूर करें ॥१ ॥

[प्रकृति ने हर प्राणी को किसी प्रयोजन से बनाया है तथा उनके पालन की व्यवस्था की है । उनमें से अनेक प्राणी मनुष्यों के लिए बाधक भी बनते हैं । उनकी उपयोगिता बनाये रखकर बाधाओं के शमन की प्रार्थना देवशक्तियों से की गई है ।]

४१६. अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥२ ॥

न थकने वाले ही इस (मणि या रोग निरोधक शक्ति) को धारण करते हैं । मनु ने भी ऐसा ही किया था । हम विष्कंध आदि रोगों को उसी प्रकार निर्बल करते हैं, जैसे बैलों को बधिया बनाने वाले उन्हें काबू में करते हैं ॥२॥

४१७. पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥३ ॥

पिंगल (रंग वाले अथवा दृढ़) सूत्र से उस खृगल (मणि अथवा दुर्धर्ष) को हम बाँधते हैं । इस प्रकार बाँधने वाले लोग प्रबल, शोषक रोग को निर्बल बनाएँ ॥३ ॥

४१८. येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥४ ॥

हे यशस्वियो ! आप जिस प्रबल माया के द्वारा देवों की तरह आचरण करते हैं, उसी प्रकार बन्धन वाले (मणि बाँधने वाले अथवा अनुशासनबद्ध) व्यक्ति दूषणों (दोषों) और रोगों से मुक्त रहते हैं, जैसे बन्दर कुत्तों से मुक्त रहते हैं ॥४ ॥

[कुत्ते अन्य भूचरों के लिए बड़े घातक तथा भय के कारण सिद्ध होते हैं; किन्तु बन्दर अपनी फुर्ती के आधार पर उनसे सहज ही अप्रभावित रहते हैं, उसी प्रकार रोग शामक क्षमतायुक्त व्यक्ति रोगों से अप्रभावित-निर्भय रह लेते हैं ।]

४१९. दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥५ ॥

हे मणि या रोगनाशक शक्ति ! दूसरों के द्वारा उपस्थित किए गए विघ्नों को असफल करने के लिए हम आपको धारण करते हैं । आपके द्वारा हम विघ्नों का निवारण करते हैं । (हे मनुष्यो !) द्रुतगामी रथों के समान आप विघ्नों से दूर होकर अपने कार्य में जुट जाएँ ॥५ ॥

४२०. एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥६ ॥

धरती पर एक सौ एक प्रकार के विघ्न विद्यमान हैं । हे मणे ! उन विघ्नों के शमन के लिए देवताओं ने आपको ऊँचा उठाया (विशिष्ट पद दिया) है ॥६ ॥

[१० - रायस्पोषप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । देवता - अष्टका (१ धेनु, २-४ रात्रि, धेनु, ५ एकाष्टका, ६ जातवेदा, पशुसमूह, ७ रात्रि, यज्ञ, ८ संवत्सर, ९ ऋतुएँ, १० धाता- विधाता, ऋतुएँ , ११ देवगण, १२ इन्द्र, देवगण, १३ प्रजापति) । छन्द-अनुष्टुप्, ४-६, १२ त्रिष्टुप्, ७ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् गर्भातिजगती ।]

इस सूक्त के देवता एकाष्टका तथा और भी अनेक देवता हैं । सूत्र ग्रन्थों के अनुसार इस सूक्त का उपयोग हवन विशेष में भी किया जाता है । वह प्रयोग माघ कृष्ण अष्टमी (जिसे अष्टका भी कहते हैं) पर किया जाता है । सूक्त में वर्णित एकाष्टका को इस अष्टका से जोड़कर अनेक आचार्यों ने मंत्रार्थ किये हैं । सूक्त के सूक्ष्म अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 'अष्टका' का अर्थ व्यापक होना चाहिए । इसकी संगति आठ प्रहर वाले अहोरात्र (दिन-रात) से बैठती है । इस सूक्त में काल (समय) के यजन का भाव

आया है । उसकी मूल इकाई अहोरात्र (पृथ्वी का अपनी धुरी पर एक चक्र घूमने का समय) ही है । मंत्र क्रमांक ८ में एकाष्टका को संवत्सर की पत्नी कहकर सम्बोधित किया गया है, अतः एकाष्टका का व्यापक अर्थ प्रहरों का एक अष्टक, अहोरात्र अधिक सटीक बैठता है-

४२१. प्रथमा हव्यु वास सा धेनुरभवद् यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१ ॥

जो (एकाष्टका) प्रथम ही उदित हुई, वह नियमित स्वभाव वाली धेनु (गाय के समान धारण-पोषण करने वाली) सिद्ध हुई । वह पथ-प्रवाहित करने वाली (दिव्य धेनु) हमारे निमित्त उत्तरोत्तर पथ-प्रदायक बनी रहे ॥१ ॥

४२२. यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२ ॥

आने वाली (एकाष्टका से सम्बन्धित) जिस रात्रि रूपी गौ को देखकर देवतागण आनन्दित होते हैं तथा जो संवत्सर रूप काल (समय) की पत्नी है, वह हमारे लिए श्रेष्ठ मंगलकारी हो ॥२ ॥

४२३. संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३ ॥

हे रात्रे ! हम आपको संवत्सर की प्रतिमा मानकर आपकी उपासना करते हैं । आप हमारी सन्तानों को दीर्घायु प्रदान करें तथा हमें गवादि धन से संयुक्त करें ॥३ ॥

४२४. इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४ ॥

यह (एकाष्टका) वही है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई और (समय के) अन्य घटकों में समाहित होकर चलती है ।इसके अन्दर अनेक महानताएँ हैं ।वह नववधू की तरह प्रजननशील तथा जयशील होकर चलती है ॥४ ।

[मास, ऋतु, संवत्सर आदि में एकाष्टका (अहोरात्र) समाहित रहती है । इसी से काल के अन्य घटक जन्म लेते हैं तथा यह सभी काल घटकों को अपने वश में रखती है ।]

४२५. वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५ ॥

संवत्सर में चलने वाले यज्ञ के लिए हवि तैयार करने के क्रम में वनस्पतियाँ तथा ग्रावा (पत्थर) ध्वनि कर रहे हैं । हे एकाष्टके !आपके अनुग्रह से हम श्रेष्ठ सन्तानों तथा वीरों से संयुक्त होकर प्रचुर धन के स्वामी हों ॥५ ॥

४२६. इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६ ॥

भूमि पर गतिशील हे जातवेदा अग्निदेव ! आप हमारी गौ-घृतयुक्त आहुतियों को ग्रहण करके हर्षित हों । जो ग्राम (समूह) में रहने वाले नाना रूप वाले पशु हैं, उन (गौ, अश्व, भेड़, बकरी, पुरुष, गधा, ऊँट आदि) सातों प्रकार के प्राणियों का हमारे प्रति स्नेह बना रहे ॥६ ॥

४२७. आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम। पूर्णा दर्वे परा पत
सुपूर्णा पुनरा पत। सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥७ ॥

हे रात्रे ! आप हमें ऐश्वर्य तथा पुत्र-पौत्र आदि से परिपूर्ण करें । आपकी अनुकम्पा से हमारे प्रति देवताओं

की सुमति (कल्याणकारी बुद्धि) बनी रहे । यज्ञ के साधनरूप हे दर्वि ! आप आहुतियों से सम्पन्न होकर देवों को प्राप्त हों । आप हमें इच्छित फल प्रदान करती हुई हमारे समीप पधारें । उसके बाद आहुतियों से तृप्ति को प्राप्त करके हमें अन्न और बल प्रदान करें ॥७ ॥

४२८. आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज

हे एकाष्टके ! यह संवत्सर आपका पति बनकर यहाँ आया है । आप हमारी आयुष्मती सन्तानों को ऐश्वर्य से सम्पन्न करें ॥८ ॥

४२९. ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९ ॥

हम ऋतुओं और उनके अधिष्ठाता देवताओं का हवि द्वारा पूजन करते हैं । संवत्सर के अंग रूप दिन-रात्रि का हम हवि द्वारा यजन करते हैं । ऋतु के अवयव-कला, काष्ठा, चौबीस पक्षों, संवत्सर के बारह महीनों तथा प्राणियों के स्वामी काल का हवि द्वारा यजन करते हैं ॥९ ॥

४३०. ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥१० ॥

हे एकाष्टके ! माह, ऋतु, ऋतु से सम्बन्धित रात-दिन और वर्ष धाता, विधाता तथा समृद्ध-देवता और जगत् के स्वामी की प्रसन्नता के लिए हम आपका यजन करते हैं ॥१० ॥

[यहाँ समय के यजन का भाव महत्त्वपूर्ण है । समय जीवन की मूल सम्पदा है । उसे यज्ञीय कार्यों के लिए समर्पित करना श्रेष्ठ यजन कर्म है । इसे यज्ञीय सत्कार्यों के लिए समयदान कह सकते हैं ।]

४३१. इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे । गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥

हम गो-घृत से युक्त हवियों के द्वारा समस्त देवताओं का यजन करते हैं । उन देवताओं की अनुकम्पा से हम असीम गौओं से युक्त घरों को ग्रहण करते हुए समस्त कामनाओं की पूर्ति का लाभ प्राप्त कर सकें ॥११ ॥

४३२. एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२ ॥

इस एकाष्टका ने तप के द्वारा स्वयं को तपाकर महिमावान् इन्द्रदेव को प्रकट किया । उन इन्द्रदेव की सामर्थ्य से देवों ने असुरों को जीता; क्योंकि वे शचीपति इन्द्रदेव रिपुओं को विनष्ट करने वाले हैं ॥१२ ॥

[इन्द्र संगठकदेव हैं । काल का गठन अहोरात्र रूप अष्टका ही करती है । यह इन्द्र की जन्मदात्री कही जा सकती है ।]

४३३. इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृहणाहि नो हविः ॥१३ ॥

हे एकाष्टके ! हे इन्द्र जैसे पुत्र वाली ! हे सोम जैसे पुत्र वाली ! आप प्रजापति की पुत्री हैं । आप हमारी आहुतियों को ग्रहण करके हमारी अभिलाषाओं को पूर्ण करें ॥१३ ॥

[११ - दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा, भृग्वङ्गिरा । देवता - इन्द्राग्नी, आयु, यक्ष्मनाशन । छन्द - त्रिष्टुप्, ४ शक्वरीगर्भा जगती, ५-६ अनुष्टुप्, ७ उष्णिक् बृहतीगर्भा पथ्यापंक्ति, ८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती ।]

इस सूक्त में यज्ञीय प्रयोगों द्वारा रोग-निवारण तथा जीवनीशक्ति के संवर्द्धन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है-

४३४. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥१ ॥

हे रोगिन् ! तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट यक्ष्मा (रोग), राजयक्ष्मा (राज रोग) से मैं हवियों के द्वारा तुम्हें मुक्त करता हूँ। हे इन्द्रदेव और अग्निदेव ! पीड़ा से जकड़ लेने वाली इस व्याधि से रोगी को मुक्त कराएँ ॥१ ॥

४३५. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥२ ॥

यह रोगग्रस्त पुरुष यदि मृत्यु को प्राप्त होने वाला हो या उसकी आयु क्षीण हो गई हो, तो भी मैं विनाश के समीप से वापस लाता हूँ। इसे सौ वर्ष की पूर्ण आयु तक के लिए सुरक्षित करता हूँ ॥२ ॥

४३६. सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३ ॥

सहस्र नेत्र तथा शतवीर्य एवं शतायुयुक्त हविष्य से मैंने इसे (आरोग्य को) उभारा है, ताकि यह संसार के सभी दुरितों (पापों-दुष्कर्मों) से पार हो सके। इन्द्रदेव इसे सौ वर्ष से भी अधिक आयु प्रदान करें ॥३ ॥

[यज्ञीय सूक्ष्म विज्ञान से नेत्रशक्ति, वीर्य, आयुष्य सभी बढ़ते हैं। मनुष्य कष्टों को पार करके शतायु हो सकता है]

४३७. शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥४ ॥

(हे प्राणी !) दीर्घायुष्य प्रदान करने वाली इस हवि के प्रभाव से मैं तुम्हें (नीरोग स्थिति में) वापस लाया हूँ। अब तुम निरन्तर वृद्धि करते हुए सौ वसन्त ऋतुओं, सौ हेमन्त ऋतुओं तथा सौ शरद ऋतुओं तक जीवित रहो। सर्वप्रेरक सवितादेव, इन्द्रदेव, अग्निदेव और बृहस्पतिदेव तुम्हें शतायु प्रदान करें। ।४ ॥

४३८. प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥५ ॥

हे प्राण और अपान !जैसे भार वहन करने वाले बैल अपने गोष्ठ में प्रवेश करते हैं, वैसे आप क्षयग्रस्त रोगी के शरीर में प्रवेश करें। मनुष्यगण मृत्यु के कारणरूप जिन सैकड़ों रोगों का वर्णन करते हैं, वे सभी दूर हो जाएँ ॥५

४३९. इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः। ।६

हे प्राण और अपान ! आप दोनों इस शरीर में विद्यमान रहें। आप अकाल में भी इस शरीर का त्याग न करें। इस रोगी के शरीर तथा उसके अवयवों को वृद्धावस्था तक धारण करें ॥६ ॥

४४०. जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥७ ॥

(हे मनुष्य !) हम आपको वृद्धावस्था तक जीवित रहने योग्य बनाते हैं और वृद्धावस्था तक रोगों से आपकी सुरक्षा करते हैं। वृद्धावस्था आपके लिए कल्याणकारी हो। ज्ञानी मनुष्य मृत्यु के कारण रूप जिन रोगों के विषय में कहते हैं, वे समस्त रोग आप से दूर हो जाएँ ॥७ ॥

४४१. अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा। यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त
जायमानं सुपाशया। तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८ ॥

जैसे गौ या बैल को रस्सी द्वारा बाँधा जाता है, वैसे वृद्धावस्था ने आपको बाँध लिया है ।जिस मृत्यु ने आपको पैदा होते ही अपने पाश द्वारा बाँध रखा है, उस पाश को बृहस्पतिदेव ब्रह्मा के अनुग्रह से मुक्त कराएँ ॥८

[१२ - शालानिर्माण सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - शाला, वास्तोष्पति । **छन्द** - त्रिष्टुप्, २ विराट् जगती, ३ बृहती, ६ शक्वरीगर्भा जगती, ७ आर्षी अनुष्टुप्, ८ भुरिक् त्रिष्टुप्, ९ अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के ऋषि 'ब्रह्मा' (रचयिता) हैं तथा देवता 'शाला' एवं 'वास्तोष्पति' हैं । शाला (भवन) के निर्माण, निर्वाह साधनों तथा उपयोग आदि का उल्लेख इस सूक्त में है । शाला का अर्थ व्यापक प्रतीत होता है-रहने का भवन, यज्ञशाला, 'जीव आवासं देहं', विश्व आवास आदि के संदर्भ में मंत्रार्थों को समझा जा सकता है । मंत्रार्थ सामान्य शाला या यज्ञशाला के संदर्भ में ही किये गये हैं । कुछ मंत्र व्यापक अर्थों में ही अधिक सटीक बैठते हैं । विशिष्ट संदर्भों में संक्षिप्त टिप्पणियाँ आवश्यकतानुसार प्रस्तुत कर दी गई हैं-

४४२. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१ ॥

हम इसी स्थान पर सुदृढ़ शाला को बनाते हैं । वह शाला घृतादि (सार तत्त्वों) का चिन्तन करती हुई, हमारे कल्याण के लिए स्थित रहे । हे शाले ! हम सब वीर आपके चारों ओर अनिष्टों से मुक्त होकर तथा श्रेष्ठ सन्तानों से सम्पन्न होकर विद्यमान रहें ॥१ ॥

४४३. इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२ ॥

आप यहाँ अश्ववती (घोड़ों या शक्ति से युक्त), गोमती (गौओं अथवा पोषण-सामर्थ्यों से युक्त) तथा श्रेष्ठ वाणी (अभिव्यक्ति) से युक्त होकर दृढ़तापूर्वक रहें । ऊर्जा या अन्नयुक्त, घृतयुक्त तथा पयोयुक्त (सभी पोषक तत्त्वों से युक्त) होकर महान् सौभाग्य प्रदान करने के लिए उन्नत स्थान पर स्थिर रहें ॥२ ॥

४४४. धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३ ॥

हे शाले !आप भोग-साधनों से सम्पन्न तथा विशाल छत वाली हैं ।आप पवित्र धान्यों के अक्षय भण्डार वाली हैं । आपके अन्दर बच्चे तथा बछड़े आएँ और दूध देने वाली गौएँ भी सायंकाल कूदती हुई पधारें ॥३ ॥

४४५. इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४ ॥

निर्माण करने की विधि को जानने वाले सवितादेव, वायुदेव, इन्द्रदेव तथा बृहस्पतिदेव इस शाला को विनिर्मित करें । मरुद्‌गण भी जल तथा घृत के द्वारा इसका सिंचन करें । इसके बाद भगदेवता इसे कृषि आदि क्रियाओं द्वारा सुव्यवस्थित बनाएँ ॥४ ॥

४४६. मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५ ॥

सम्माननीय (वास्तुपति) की पत्नी रूप हे शाले ! आप धान्यों का पालन करने वाली हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणियों को हर्ष प्रदान करने, उनकी सुरक्षा करने तथा उनके उपभोग के लिए देवताओं ने आपका सृजन किया है । आप तृणों के वस्त्रवाली, श्रेष्ठ मनवाली हैं । आप हमें पुत्रों से युक्त ऐश्वर्य प्रदान करें ॥५ ॥

[शाला के वस्त्र तृणों के हैं तथा मन श्रेष्ठ है । सामान्यतः तृण वस्त्र सादगी के प्रतीक व श्रेष्ठ मन शुभ-संकल्पों का द्योतक है । व्यापक अर्थों में पृथ्वी रूप शाला श्रेष्ठ मन वाली है, इसीलिए तृण उत्पन्न करती रहती है; ताकि प्राणियों का निर्वाह हो सके ।]

४४७. ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६ ॥

हे वंश (बाँस) ! आप अबाध्य रूप से शाला के बीच स्तम्भ रूप में स्थिर रहें और उग्र बनकर प्रकाशित होते हुए (विकारों) रिपुओं को दूर करें । हे शाले ! आपके अन्दर निवास करने वाले हिंसित न हों और इच्छित सन्तानों से सम्पन्न होकर शतायु को प्राप्त करें ॥६ ॥

[सामान्यतः वंश का अर्थ बाँस है, व्यापक अर्थ में वह उत्तम आनुवंशिक विशेषताओं वाला लिया जाने योग्य है ।]

४४८. एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुंभ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७ ॥

इस शाला में तरुण बालक और गमनशील गौओं के साथ उनके बछड़े आएँ । इसमें मधुर रस से परिपूर्ण घड़े और दधि से भरे हुए कलश भी आएँ ॥७ ॥

४४९. पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥८ ॥

हे स्त्री (नारी अथवा प्रकृति) !आप इस घट को अमृतोपम मधुर रस तथा घृत धारा से भली प्रकार भरें । पीने वालों को अमृत से तृप्त करें ।इष्टापूर्त (इष्ट आवश्यकताओं की आपूर्ति) इस शाला को सुरक्षित रखती है ॥८

४५०. इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः । गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥९

हम स्वयं रोगरहित तथा रोगविनाशक जल को अनश्वर अग्निदेव के साथ घर में स्थित करते हैं ॥९ ॥

[घर में रोगनाशक जल तथा अग्नि का निवास आवश्यक है । शाला के व्यापक अर्थों में जीवन रस तथा अनश्वर ऊर्जा के सतत प्रवाह का भाव बनता है ।]

[१३ - आपो देवता सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - वरुण, सिन्धु, आप :, २, ३ इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप्, १ निचृत् अनुष्टुप्, ५ विराट् जगती, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ।]

४५१. यददः संप्रयतीरहावनदता हते । तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ।

हे सरिताओ ! आप भली प्रकार से सदैव गतिशील रहने वाली हैं । मेघों के ताड़ित होने (बरसने) के बाद आप जो (कल-कल ध्वनि) नाद कर रही हैं; इसलिए आपका नाम 'नदी' पड़ा ।वह नाम आपके अनुरूप ही है ॥१ ॥

४५२.यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत । तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन

जब आप वरुणदेव द्वारा प्रेरित होकर शीघ्र ही मिलकर नाचती हुई सी चलने लगीं, तब इन्द्रदेव ने आपको प्राप्त किया । इसी 'आप्नोत्' क्रिया के कारण आप का नाम 'आपः' पड़ा ॥२ ॥

४५३. अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३ ॥

आप बिना इच्छा के सदैव प्रवाहित होने वाले हैं । इन्द्रदेव ने अपने बल के द्वारा आप का वरण किया । इसीलिए हे देवनशील जल ! आपका नाम 'वारि' पड़ा ॥३ ॥

४५४. एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥४ ॥

हे यथेच्छ (आवश्यकतानुसार) बहने वाले (जल तत्त्व) ! एक(श्रेष्ठ)देवता आपके अधिष्ठाता हुए। (देव संयोग से) महान् ऊर्ध्वश्वास (ऊर्ध्वगति) के कारण आपका नाम 'उदक' हुआ ॥४ ॥

४५५. आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५ ॥

(निश्चित रूप से) जल कल्याणकारी है, घृत (तेज प्रदायक) है। उसे अग्नि और सोम पुष्ट करते हैं। वह जल, मधुरता से पूर्ण तथा तृप्तिदायक तीव्र रस हमें प्राण तथा वर्चस् के साथ प्राप्त हो ॥५ ॥

४५६. आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥६ ॥

निश्चित रूप से मैं अनुभव करता हूँ कि उनके द्वारा उच्चरित शब्द हमारे कानों के समीप आ रहे हैं। चमकीले रंग वाले हे जल ! आप का सेवन करने के बाद, अमृतोपम भोजन के समान हमें तृप्ति का अनुभव हुआ ॥६ ॥

४५७. इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥७ ॥

हे जलप्रवाहो ! यह (तुष्टिदायक प्रभाव) आपका हृदय है। हे ऋत प्रवाही धाराओ ! यह (ऋत) आपका पुत्र है। हे शक्ति- प्रदायक धाराओ ! यहाँ इस प्रकार आओ, जहाँ तुम्हारे अन्दर इन (विशेषताओं) को प्रविष्ट करूँ ॥७ ॥

[१४- गोष्ठ सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा। **देवता** - गोष्ठ, अह, (२ अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, इन्द्र, १-६ गौ, ५ गोष्ठ)। **छन्द** - अनुष्टुप्, ६ आर्षी त्रिष्टुप्।]

इस सूक्त में गोष्ठ का वर्णन है। गो, गौओं को भी कहते हैं तथा इन्द्रियों को भी। इसी प्रकार गोष्ठ से गौशाला के साथ शरीर का भी भाव बनता है। मन्त्रार्थों को दोनों संदर्भों में लिया जा सकता है-

४५८. सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥१ ॥

हे गौओ ! हम आपको सुखपूर्वक बैठने योग्य गोशाला प्रदान करते हैं। हम आपको जल, समृद्धि तथा सन्तानों से सम्पन्न करते हैं ॥१ ॥

४५९. सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥२ ॥

हे गौओ !अर्यमा, पूषा और बृहस्पतिदेव आपको उत्पन्न करें तथा रिपुओं का धन जीतने वाले इन्द्रदेव भी आपको उत्पन्न करें।आपके पास क्षीर, घृत आदि के रूप में जो ऐश्वर्य है, उससे हम साधकों को पुष्टि प्रदान करें ॥२ ॥

४६०.संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः। बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन

हे गौओ ! आप हमारी इस गोशाला में निर्भय होकर तथा पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न होकर चिरकाल तक जीवित रहें। आप गोबर पैदा करती हुई तथा नीरोग रहकर मधुर और सौम्य दुग्ध धारण करती हुई हमारे पास पधारें ॥३ ॥

४६१. इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत । इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥४ ॥

हे गौओ ! आप हमारे ही गोष्ठ में आएँ । जिस प्रकार मक्खी कम समय में ही अनेक गुना विस्तार कर लेती है, उसी प्रकार आप भी वंश वृद्धि को प्राप्त हों । आप इस गोशाला में बछड़ों से सम्पन्न होकर हम साधकों से प्रेम करें । हमें छोड़कर कभी न जाएँ ॥४ ॥

४६२. शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥५ ॥

हे गौओ !आपकी गोशाला आपके लिए कल्याणकारी हो, 'शारिशाक' (प्राणि- विशेष) के सदृश परिवार का असीमित विस्तार करके समृद्ध हों तथा यहाँ पर रहकर पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न करें ।हम आपका सृजन करते हैं ॥५

४६३. मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥६ ॥

हे गौओ ! आप मुझ गोपति के साथ एकत्रित रहें । यह गोशाला आपका पोषण करे । बहुत (संख्या वाली) होती हुई आप चिरकाल तक जीवित रहें । आपके साथ हम भी दीर्घ आयु को प्राप्त करें ॥६ ॥

[१५- वाणिज्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता -विश्वेदेवा, इन्द्राग्नी (इन्द्र, पथ, अग्नि, प्रपण, विक्रय, देवगण, धन, प्रजापति, सविता, सोम, धनरुचि, वैश्वानर, जातवेदा) । छन्द - त्रिष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप्, ४ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा विराट्अत्यष्टि, ५ विराट् जगती, ७ अनुष्टुप्, ८ निचृत् त्रिष्टुप् ।]

इस सूक्त के ऋषि पण्यकाम (व्यवहार की कामना वाले) अथर्वा हैं । इसमें परमेश्वर अथवा इन्द्राग्नि को वणिज (व्यवसायी) कहा गया है । गीता की उक्ति 'यो यथा मां प्रपद्यन्ते' (जो मुझसे जिस प्रकार का व्यवहार करता है, मैं उससे उसी प्रकार का व्यवहार करता हूँ) तथा संत कबीर के अनुभव 'साईं मेरा बानियाँ, सहज करे व्यापार' आदि भी इसी आशय के हैं । हर व्यवसाय के कुछ आदर्श-अनुशासन होते हैं, उनको समझने और उनका परिपालन करने वाला लाभान्वित होता है । इस सूक्त में जीवन-व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी के सूत्र दिए गए हैं-

४६४. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥१ ॥

हम व्यवसाय में कुशल इन्द्रदेव को प्रेरित करते हैं, वे हमारे पास पधारें, हमारे अग्रणी बनें । वे हमारे जीवन-पथ के अवरोध को,. सताने वाले व्यक्तियों-भूचरों को विनष्ट करते हुए हमें ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हों ॥१ ॥

४६५. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥२ ॥

द्यावा-पृथिवी के बीच जो देवों के अनुरूप मार्ग हैं, वे सभी हमें घृत और दुग्ध से तृप्त करें । जिन्हें खरीदकर हम (जीवन व्यवसाय के द्वारा) प्रचुर धन-ऐश्वर्य प्राप्त कर सकें ॥२ ॥

४६६. इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥३ ॥

हे इन्द्राग्ने ! संकट से बचने तथा बल प्राप्ति की कामना से हम ईंधन एवं घृत सहित आपको हव्य प्रदान करते हैं । (यह आहुतियाँ तब तक देंगे) जब तक कि ब्रह्म द्वारा प्रदत्त दिव्य बुद्धि की वन्दना करते हुए हम सैकड़ों सिद्धियों पर अधिकार प्राप्त न कर लें ॥३ ॥

[मनुष्य जीवन-व्यवसाय में लाभान्वित हो सके, इसके लिए परमात्मा ने उसे दिव्य मेधा दी है । उसे साधना, यज्ञादि प्रयोगों द्वारा जाग्रत् - प्रयुक्त करके सैकड़ों सिद्धियों को प्राप्त करना संभव है ।]

४६७. इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! हमसे हुई त्रुटियों के लिए आप हमें क्षमा करें । हम जिस मार्ग- सुदूर पथ पर आ गये हैं, वहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय हमारे लिए शुभ हो । हमारा हर व्यवहार हमें लाभ देने वाला हो । आप हमारे द्वारा समर्पित हवियों को स्वीकार करें । आपकी कृपा से हमारा आचरण उन्नति और सुख देने वाला हो ॥४ ॥

४६८. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥५ ॥

हे देवगणो ! आप लाभ के अवरोधक देवों को इस आहुति से संतुष्ट करके लौटा दें । हे देवताओ ! लाभ की कामना करते हुए हम जिस धन से व्यापार करते हैं, आपकी कृपा से हमारा वह धन कम न हो, बढ़ता ही रहे ॥५

४६९. येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६ ॥

धन से धन प्राप्त करने की कामना करते हुए, हम जिस धन से व्यापार करना चाहते हैं, उसमें इन्द्रदेव, सवितादेव, प्रजापतिदेव, सोमदेव तथा अग्निदेव हमारी रुचि पैदा करें ॥६ ॥

४७०. उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः । स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥

हे होता-वैश्वानर अग्निदेव ! हम हवि समर्पित करते हुए आपकी प्रार्थना करते हैं । आप हमारी आत्मा, प्राण, तथा गौओं की सुरक्षा के लिए जागरूक रहें ॥७ ॥

४७१. विश्वाहा ते सदमिद्धरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥८ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जैसे अपने स्थान पर बँधे हुए घोड़े को अन्न प्रदान करते हैं, वैसे हम आपको प्रतिदिन हवि प्रदान करते हैं ।आपके सम्पर्क में रहते हुए तथा सेवा करते हुए हम धन-धान्य से समृद्ध रहें, कभी नष्ट न हों ॥

[१६- कल्याणार्थप्रार्थना सूक्त]

[**ऋषि**- अथर्वा ।**देवता** -१ अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार , भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्र, २-३,५ भग, आदित्य, ४ इन्द्र , ६ दधिक्रावा, अश्वसमूह, ७ उषा । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ आर्षी जगती, ४ भुरिक् पंक्ति ।]

४७२. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥१ ॥

प्रभातकाल (यज्ञार्थ) हम अग्निदेव का आवाहन करते हैं । प्रभात में ही यज्ञ की सफलता के निमित्त इन्द्रदेव, मित्रावरुण, अश्विनीकुमारों, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्रदेव का भी आवाहन करते हैं ॥१ ॥

४७३. प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२ ॥

हम उन भग देवता का आवाहन करते हैं, जो जगत् को धारण करने वाले, उग्रवीर एवं विजयशील हैं । वे अदिति पुत्र हैं, जिनकी स्तुति करने से दरिद्र भी धनवान् हो जाता है । राजा भी उनसे धन की याचना करते हैं ॥२ ॥

४७४. भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३ ॥

हे भगदेव ! आप वास्तविक धन हैं । शाश्वत-सत्य ही धन है । हे भगदेव ! आप हमारी स्तुति से प्रसन्न होकर इच्छित धन प्रदान करें । हे देव ! हमें गौएँ, घोड़े, पुत्रादि प्रदान कर श्रेष्ठ मानवों के समाज वाला बनाएँ ॥३ ॥

४७५. उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४ ॥

हे देव ! आपकी कृपा से हम भाग्यवान् बनें । दिन के प्रारम्भ और मध्य में भी हम भाग्यवान् रहें । हे धनवान् भग देवता ! हम सूर्योदय के समय समस्त देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करें ॥४ ॥

४७६. भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥५ ॥

भगदेव ही समृद्ध हों, उनके द्वारा हम ऐश्वर्ययुक्त बनें । हे भगदेव ! ऐसे आपको हम सब प्रकार बार-बार भजते हैं, आप हमारे अग्रणी बनें ॥५ ॥

४७७. समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६ ॥

उषाएँ यज्ञार्थ भली प्रकार उन्मुख हों । जैसे अश्व रथ को लाते हैं, उसी प्रकार वे हमें पवित्र पद प्रदान करने के लिए दधिक्रा (धारण करके चलने वाले) की तरह नवीन शक्तिशाली, धनज्ञ भग को हमारे लिए ले आएँ ॥६ ॥

४७८. अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७ ॥

समस्त गुणों से युक्त अश्वों, गौओं, वीरों से युक्त एवं घृत का सिंचन करने वाली कल्याणकारी उषाएँ हमारे घरों को प्रकाशित करें । आप सदैव हमारा पालन करते हुए कल्याण करें ॥७ ॥

[१७- कृषि सूक्त]

[**ऋषि** - विश्वामित्र । **देवता** -सीता । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ आर्षी गायत्री, ३ पथ्यापंक्ति, ४, ६ अनुष्टुप्, ७ विराट् पुर उष्णिक्, ८ निचृत् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में कृषि कर्मों का उल्लेख है । लौकिक कृषि के साथ-साथ आध्यात्मिक संदर्भ में भी मंत्रार्थ फलित होते हैं । दृश्य भूमि के साथ मनोभूमि की कृषि का भाव भी सिद्ध होता है । इस संदर्भ में हल-ध्यान, उसका फाल- प्राण, उपज- दिव्य वृत्तियों के अर्थ में लेने योग्य हैं-

४७९. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥१ ॥

कवि (दूरदर्शी) , धीर पुरुष (कृषि के लिए) देवों की प्रसन्नता के लिए हलों को जोतते (नियोजित करते) हैं तथा युगों (जुओं या जोड़ों) को विशेष ― से विस्तारित करते हैं ॥१ ॥

[स्थूल कृषि में हल से भूमि की कठोरता को तोड़ते हैं, सूक्ष्म कृषि में मन की कठोरता का उपचार करते हैं । मन से जुड़े पूर्वाग्रहों को अलग-अलग करते हैं ।]

४८०. युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥२ ॥

(हे कृषको !) हलों को प्रयुक्त करो, युगों को फैलाओ । इस प्रकार तैयार उत्पादक क्षेत्र में बीजों का वपन करो । हमारे लिए भरपूर उपज हो । वे परिपक्व होकर काटने वाले उपकरणों के माध्यम से हमारे निकट आएँ ॥२ ।

[जैसे कृषि की उपज पकने पर ही प्रयुक्त करने योग्य होती है, उसी प्रकार साधनाएँ भी परिपक्व होने पर ही प्रयुक्त की जाने योग्य होती हैं ।]

४८१. लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम् ॥३ ॥

श्रेष्ठ फाल से युक्त (अथवा वज्र की तरह कठोर), सुगमता से चलने वाला, सोम (अन्न या दिव्य सोम) की प्रक्रिया को गुप्त रीति से सम्पादित करने वाला हल (हमें) पुष्ट 'गौ' (गाय, भूमि या इन्द्रियाँ), 'अवि' (भेड़ या रक्षण सामर्थ्य), शीघ्र चलने वाले रथवाहन तथा नारी (अथवा चेतन शक्ति) प्रदान करे ॥३ ॥

४८२. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥४ ॥

इन्द्रदेव कृषि योग्य भूमि को सँभालें । पूषादेव उसकी देख-भाल करें, तब वह (धरित्री) श्रेष्ठ धान्य तथा जल से परिपूर्ण होकर हमारे लिए धान्य आदि का दोहन करे ॥४ ॥

४८३. शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५ ॥

हल के नीचे लगी हुई, लोहे से विनिर्मित श्रेष्ठ 'फालें ' खेत को भली-प्रकार से जोतें और किसान लोग बैलों के पीछे-पीछे आराम से जाएँ । हे वायु और सूर्य देवो ! आप दोनों हविष्य से प्रसन्न होकर, पृथ्वी को जल से सींचकर इन ओषधियों को श्रेष्ठ फलों से युक्त करें ॥५ ॥

४८४. शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥

कृषक हर्षित होकर खेत को जोतें, बैल उन्हें सुख प्रदान करें और हल सुखपूर्वक कृषि कार्य सम्पन्न करें । रस्सियाँ सुखपूर्वक बाँधें । हे शुनः देवता ! आप चाबुक को सुख के लिए ही चलाएँ ॥६ ॥

४८५. शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥७ । ।

हे वायु और सूर्यदेव ! आप हमारी हवि का सेवन करें । आकाश में निवास करने वाले जल देवता वर्षा के द्वारा इस भूमि को सिंचित करें ॥७ ॥

४८६. सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः

हे सीते (जुती हुई भूमि) ! हम आपको प्रणाम करते हैं । हे ऐश्वर्यशालिनी भूमि ! आप हमारे लिए श्रेष्ठ मन वाली तथा श्रेष्ठ फल प्रदान करने वाली होकर हमारे अनुकूल रहें ॥८ ॥

४८७. घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९ ॥

घृत (जल) और शहद द्वारा भली प्रकार अभिषिंचित हे सीते (जुती भूमि) !आप देवगणों तथा मरुतों द्वारा स्वीकृत होकर घृत से सिंचित होकर (घृतयुक्त) पोषक रस (जल- दुग्धादि) के साथ हमारी ओर उन्मुख हों ॥९ ॥

[१८- वनस्पति सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - वनस्पति (वाणपर्णी ओषधि) । छन्द - अनुष्टुप्, ४ अनुष्टुप्गर्भाचतुष्पाद् उष्णिक्, ६ उष्णिक्गर्भापथ्यापंक्ति ।]

इस सूक्त में प्रत्यक्ष रूप से सपत्नी (सौत) का पराभव करके पति को अपने प्रियपात्र के रूप में स्थापित करने का भाव है। कौशिक सूत्र में 'बाणापर्णी' नामक ओषधि का इसके लिए प्रयोग कहा गया है। किसी समय सपत्नी जन्य पारिवारिक विग्रह को दूर करने के लिए इस सूक्त का ऐसा भी प्रयोग किया जाता रहा होगा; किन्तु सूक्त के ऋषि अथर्वा (पुरुष) हैं। पुरुष किसी को 'मेरी सपत्नी' नहीं कह सकता। मंत्र ४ में 'अहं उत्तरा' मैं उत्तरा (श्रेष्ठ) हूँ, यह भी स्त्रीवाचक प्रयोग है। 'अस्तु' सूक्तार्थ को केवल सपत्नी निवारण तक सीमित नहीं किया जा सकता। आलंकारिक रूप से 'परमात्मा या जीवात्मा' को पति तथा सद्बुद्धि-दुर्बुद्धि अथवा विद्या एवं अविद्या को पत्नियाँ कहा गया है। सद्बुद्धि या विद्या यह कामना करे कि दुर्बुद्धि या अविद्या दूर हटे तथा 'जीवात्मा' का स्नेह मेरे प्रति ही रहे- ऐसा अर्थ करने से इस सूक्त का भाव भी सिद्ध होता है एवं ऋषि तथा वेद की गरिमा का निर्वाह भी होता है-

४८८.इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्। यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्

हम इस बलवती ओषधि को खोदकर निकालते हैं। इससे सपत्नी (दुर्बुद्धि) को बाधित किया जाता है और स्वामी की असाधारण प्रीति उपलब्ध की जाती है ॥१ ॥

[वनस्पति (ओषधि) भूमि से खोदकर निकाली जाती है तथा सद्- असद् विवेकयुक्त दिव्य प्रज्ञा को साधना द्वारा अंतःकरण की गहराई से प्रकट किया जाता है।]

४८९. उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥२

हे उत्तानपर्णी (इस नाम की या ऊर्ध्वमुखी पत्तों वाली), हितकारिणी, देवों द्वारा सेवित, बलवती (ओषधे)! आप मेरी सौत (अविद्या) को दूर करें। मेरे स्वामी को मात्र मेरे लिए प्रीतियुक्त करें ॥२ ॥

[विद्या का पक्ष लेने वाली प्रज्ञा को ऊर्ध्वपर्णी तथा देवों द्वारा सेवित कहना युक्ति संगत है।]

४९०. नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥

हे सपत्नी, मैं तेरा (सपत्नी- दुर्बुद्धि का) नाम नहीं लेती। तू भी पति (परमेश्वर या जीवात्मा) के साथ सुख अनुभव नहीं करती। मैं अपनी सपत्नी को बहुत दूर भेज देना चाहती हूँ ॥३ ॥

४९१. उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥४ ॥

हे अत्युत्तम ओषधे! मैं श्रेष्ठ हूँ, श्रेष्ठों में भी अति श्रेष्ठ बनूँ। हमारी सपत्नी (अविद्या) अधम है, वह अधम से अधम गति पाये ॥४ ॥

४९२. अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः। उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥

हे ओषधे! मैं आपके सहयोग से सपत्नी को पराजित करने वाली हूँ। आप भी इस कार्य में समर्थ हैं। हम दोनों शक्ति-सम्पन्न बनकर सपत्नी को शक्तिहीन करें ॥५ ॥

४९३. अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥६ ॥

(हे पतिदेव!) मैं आपके समीप, आपके चारों ओर इस विजयदायिनी ओषधि को स्थापित करती हूँ। इस ओषधि के प्रभाव से आपका मन हमारी ओर उसी प्रकार आकर्षित हो, जैसे गौएँ बछड़े की ओर दौड़ती हैं तथा जल नीचे की ओर प्रवाहित होता है ॥६ ॥

[१९- अजरक्षत्र सूक्त]

[ऋषि - वसिष्ठ। देवता - विश्वेदेवा, चन्द्रमा अथवा इन्द्र। छन्द - अनुष्टुप्, १ पथ्याबृहती, ३ भुरिक् बृहती, ५ त्रिष्टुप्, ६ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप् ककुम्मतीगर्भातिजगती, ७ विराट् आस्तार पंक्ति, ८ पथ्यापंक्ति।]

४९४. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥१ ॥

(पुरोहित की कामना है) हमारा ब्राह्मणत्व तीक्ष्ण हो और तब (उच्चारित) यह मंत्र तेजस्वी हो। (मंत्र के प्रभाव से) हमारे बल एवं वीर्य में तेजस्विता आएँ। जिनके हम विजयी पुरोहित हैं, उनका क्षात्रत्व अजर बने ॥१ ॥

४९५. समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्

हम आहुतियों द्वारा इस राष्ट्र को तेजस्वी तथा समृद्ध बनाते हैं। हम उनके बल, वीर्य तथा सैन्य शक्ति को भी तेजस्वी बनाते हैं; उसके रिपुओं की भुजाओं (सामर्थ्य) का उच्छेदन करते हैं ॥२ ॥

४९६. नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥३ ॥

जो हमारे धन-सम्पन्नों तथा विद्वानों पर सैन्य सहित आक्रमण करें, वे रिपु पतित हो जाएँ- अधोगति पाएँ। हम (मंत्र शक्ति के प्रभाव से) रिपुओं की सेना को क्षीण करके अपने लोगों को उन्नत बनाते हैं ॥३ ॥

४९७. तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥४ ॥

हम जिनके पुरोहित हैं, वे फरसे से भी अधिक तीक्ष्ण हो जाएँ, अग्नि से भी अधिक तेजस्वी हों। उनके हथियार इन्द्रदेव के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हों ॥४ ॥

४९८. एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥५ ॥

हम अपने राष्ट्र को श्रेष्ठ वीरों से सम्पन्न करके समृद्ध करते हैं। इनके शस्त्रों को तेजस्वी बनाते हैं। इनका क्षात्र तेज क्षयरहित तथा विजयशील हो। समस्त देवता इनके चित्त को उत्साहित करें ॥५ ॥

४९९. उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग् घोषा उलुलयः
घोषा केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥६ ॥

हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! हमारे बलशाली दल का उत्साह बढ़े व विजयी वीरों का सिंहनाद हो। झंडा लेकर आक्रमण करने वाले वीरों का जयघोष चारों ओर फैले। इन्द्रदेव की प्रमुखता में मरुद्गण हमारी सेना के साथ चलें ॥६ ॥

५००. प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥७ ॥

हे वीरो ! युद्ध भूमि की ओर बढ़ो। तुम्हारी बलिष्ठ भुजाएँ तीक्ष्ण आयुधों से शत्रु सेना पर प्रहार करें। शक्तिशाली आयुधों को धारण करने से बलशाली भुजाओं के द्वारा आप बलहीन आयुधों वाले कमजोर शत्रुओं को नष्ट करें। युद्ध में मरुद्गण आपकी सहायता के लिए साथ रहें। देवों की कृपा से आप युद्ध में विजयी बनें ॥७ ॥

५०१. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८ ॥

हे बाण ! मंत्रों के प्रयोग से तीक्ष्ण किये हुए आप हमारे धनुष से छोड़े जाने पर शत्रु सेना का विनाश करें । शत्रु सेना में प्रवेश कर उनमें जो श्रेष्ठतम वीर, हाथी, घोड़े आदि हों, उन्हें नष्ट करें । दूर होते हुए भी शत्रुओं का कोई भी वीर शेष न बचे ॥८ ॥

[२०- रयिसंवर्धन सूक्त]

[**ऋषि -** वसिष्ठ । **देवता -** १-२,५ अग्नि , ३ अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवी, ४ सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, ब्रह्मा, बृहस्पति, ६ इन्द्रवायू, ७ अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र , वात, विष्णु, सरस्वती, सविता, वाजी, ८ विश्वाभुवनानि (समस्त भुवन), ९ पञ्च प्रदिश, १० वायु, त्वष्टा । **छन्द -** अनुष्टुप्, ६ पथ्यापंक्ति, ८ विराट् जगती ।]

५०२. अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! यह अरणि या यज्ञ वेदी आपकी उत्पत्ति का हेतु है, जिसके द्वारा आप प्रकट होकर शोभायमान होते हैं । अपने उस मूल को जानते हुए आप उस पर प्रतिष्ठित हों और हमारे धन-वैभव को बढ़ाएँ ॥१ ॥

५०३. अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमारे प्रति श्रेष्ठ भावों को रखकर इस यज्ञ में उपस्थित हों तथा हमारे लिए हितकारी उपदेश करें । हे प्रजापालक अग्निदेव ! आप ऐश्वर्य दाता हैं, इसलिए हमें भी धन-धान्य से परिपूर्ण करें ॥२ ॥

५०४. प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः । प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ।

अर्यमा, भग और बृहस्पतिदेव हमें ऐश्वर्य से परिपूर्ण करें । समस्त देवगण तथा वाणी की अधिष्ठात्री, सत्यप्रिय देवी सरस्वती हमें भरपूर सम्पदाएँ प्रदान करें ॥३ ॥

५०५. सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्

हम अपने संरक्षण एवं पालन के लिए राजा सोम, अग्निदेव, आदित्यगण, विष्णुदेव, सूर्यदेव, प्रजापति ब्रह्मा और बृहस्पतिदेव को स्तोत्रों द्वारा आमन्त्रित करते हैं ॥४ ॥

५०६. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥

हे अग्निदेव ! आप अन्य सभी अग्नियों के साथ पधार कर हमारे स्तोत्रों एवं यज्ञ की अभिवृद्धि करें । आप धन-वैभव प्रदान करने के निमित्त यजमानों एवं दाताओं को भी प्रेरित करें ॥५ । ।

५०७. इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥६ ॥

प्रशंसनीय इन्द्रदेव एवं वायुदेव ! दोनों को हम इस यज्ञीय कर्म में आदरपूर्वक आमंत्रित करते हैं । सभी देवगण हमारे प्रति अनुकूल विचार रखते हुए हर्षित हों । सभी मनुष्य दान की भावना से अभिप्रेरित हों । अतः हम आपका आवाहन करते हैं ॥६ ॥

५०८. अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्

हे स्तोताओ ! आप सब अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती, अन्न तथा बलप्रदायक सवितादेव का आवाहन करें । सभी देव हमें ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए पधारें ॥७ ॥

५०९. वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८ ॥

अन्न की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म को हम शीघ्र ही प्राप्त करें । वृष्टि के द्वारा अन्न पैदा करने वाले 'वाज प्रसव देवता' के मध्य में ये समस्त दृश्य-जीव निवास करते हैं । ये कृपण व्यक्ति को दान देने के लिए प्रेरित करें तथा हमें वीर पुत्रों से युक्त महान् ऐश्वर्य प्रदान करें ॥८ ॥

५१०. दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् । प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ।

यह उर्वी (विस्तृत पृथ्वी) तथा पाँचों महा दिशाएँ हमें इच्छित फल प्रदान करें । इनके अनुग्रह से हम अपने मन और अन्तःकरण के समस्त संकल्पों को पूर्ण कर सकें ॥९ ॥

५११. गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१० ॥

गौ आदि समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली वाणी को हम उच्चरित करते हैं । हे वाग्देवता ! आप अपने तेज के द्वारा हमें प्रकाशित करें, वायुदेव सभी ओर से आकर हमें आवृत करें तथा त्वष्टा देव हमारे शरीर को पुष्ट करें ॥१० ॥

[२१- शान्ति सूक्त]

[**ऋषि** - वसिष्ठ । **देवता** - अग्नि । **छन्द** - भुरिक् त्रिष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप्, ४ त्रिष्टुप्, ५ जगती, ६ उपरिष्टात् विराट् बृहती, ७ विराट्गर्भात्रिष्टुप्, ९ निचृत् अनुष्टुप्, १० अनुष्टुप् ।]

५१२. ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।

य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१ ॥

जो अग्नियाँ मेघों, मनुष्यों, मणियों (सूर्यकान्त आदि), ओषधियों, वृक्ष-वनस्पतियों तथा जल में विद्यमान हैं, उन समस्त अग्नियों को यह हवि प्राप्त हो ॥१ ॥

५१३. यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।

य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२ ॥

जो अग्नियाँ सोमलताओं, गौओं, पक्षियों, हरिणों, दो पैर वाले मनुष्यों तथा चार पैर वाले पशुओं के अन्दर विद्यमान हैं, उन समस्त अग्नियों के लिए यह हवि प्राप्त हो ॥२ ॥

५१४. य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।

यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥३ ॥

जो अग्निदेव इन्द्र के साथ एक रथ पर आरूढ़ होकर गमन करते हैं; जो सबको जलाने वाले दावाग्नि रूप हैं; जो सबके हितकारी हैं तथा युद्ध में विजय प्रदान करने वाले हैं; उन अग्निदेव को ये आहुतियाँ प्राप्त हों ॥३ ॥

५१५. यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।

यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४ ॥

जो अग्निदेव समस्त विश्व के भक्षक हैं, जो इच्छित फलदाता के रूप में पुकारे जाते हैं, जिनको देने वाला और ग्रहण करने वाला भी कहा जाता है, जो विवेकवान्, बलवान्, रिपुओं को दबाने वाले और स्वयं किसी से न दबने वाले कहलाते हैं, उन अग्निदेव को यह आहुति प्राप्त हो ॥४ ॥

५१६. यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५ ॥

हे अग्ने ! तेरह भौवन (संवत्सर के १३ माह) और पाँच ऋतुएँ (अथवा भुवन ऋषि के विश्वकर्मा आदि १३ पुत्र और पाँचों वर्णों के मनुष्य) आपको मन से यज्ञ-सम्पादक के रूप में जानते हैं । हे वर्चस्वी, सत्यभाषी तथा कीर्तिवान् ! आपको यह हवि प्राप्त हो ॥५ ॥

५१७. उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥६ ॥

जो गौओं और बैलों के लिए अन्न प्रदान करते हैं और जो अपने ऊपर सोम आदि ओषधियों को धारण करते हैं, उन विद्वान् तथा समस्त मनुष्यों के लिए कल्याणकारी महान् अग्निदेव के लिए यह हवि प्राप्त हो ॥६ ॥

५१८. दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥७ ॥

जो अग्नियाँ द्युलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्षलोक में व्याप्त हैं; जो विद्युत् के रूप में सर्वत्र विचरण करतीं हैं; जो सभी दिशाओं और वायु के अन्दर प्रविष्ट होकर विचरण करतीं हैं, उन अग्नियों को यह हवि प्राप्त हो ॥७ ॥

५१९. हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८ ॥

स्तोताओं के ऊपर अनुदानों की वर्षा करने वाले, (हिरण्यपाणि) स्वर्णिम किरणों वाले, सर्व प्रेरक सवितादेव, इन्द्रदेव, मित्रावरुणदेव, अग्निदेव तथा विश्वेदेवों का हम अंङ्गिरावंशी ऋषि आवाहन करते हैं, वे समस्त देवगण इस 'क्रव्याद अग्नि' (मांस भक्षी अंग्नि अथवा क्षीण करने वाली दुष्प्रवृत्ति) को शान्त करें ॥८ ॥

५२०. शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥९ ॥

देवताओं की कृपा से मांस का भक्षण करने वाले क्रव्याद अग्निदेव शान्त हो गये हैं । मनुष्यों की हिंसा करने वाले अग्निदेव भी शान्त हों । सबको जलाने वाले, मांस भोजी अग्निदेव को भी हमने शान्त कर दिया है ॥९ ॥

५२१. ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥१० ॥

जो योग आदि को धारण करने वाले पर्वत हैं, जो ऊपर की ओर गमन करने वाला जल (ऊर्ध्वगामी रस) है; वायु और मेघ हैं, उन सभी ने इन मांस-भक्षक अग्निदेव को शान्त कर दिया है ॥१० ॥

[२२- वर्चः प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - वसिष्ठ । **देवता** - बृहस्पति, विश्वेदेवा , वर्चस् । **छन्द** - अनुष्टुप्, १ विराट् त्रिष्टुप्, ३ पञ्चपदा परानुष्टुप् विराट् अतिजगती, ४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ।]

५२२. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥१ ॥

हमें हाथी के समान महान् तेजस् (अजेय शक्ति) प्राप्त हो । जो तेजस् देवमाता अदिति के शरीर से उत्पन्न हुआ है, उस तेजस् को समस्त देवगण तथा देवमाता अदिति प्रसन्नतापूर्वक हमें प्रदान करें ॥१ ॥

५२३. मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२ ॥

मित्रावरुण, इन्द्र तथा रुद्रदेव हमें उत्साह प्रदान करें । विश्व को धारण करने वाले सूर्य (इन्द्र) आदि देव अपने तेजस् से हमें सुसमृद्ध करें ॥२ ॥

५२४. येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्ये्ष्वप्स्व१न्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥३ ॥

जिस तेजस् से हाथी बलवान् होता है । राजा मनुष्यों में तेजस्वी होता है, जलचर प्राणी शक्ति-सम्पन्न होते हैं और जिसके द्वारा देवताओं ने सर्वप्रथम देवत्व प्राप्त किया था, उसी तेजस् के द्वारा आप हमें वर्चस्वी बनाएँ ॥३ ॥

५२५. यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः । यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च
हस्तिनः । तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥४ ॥

उत्पन्न प्राणियों को जानने वाले तथा हवियों द्वारा आवाहन किये जाने वाले हे अग्निदेव ! आपके अन्दर तथा सूर्य के अन्दर जो प्रखर तेजस् है, उस तेजस् को कमल पुष्प की माला धारण करने वाले अश्विनीकुमार, हममें स्थापित करें ॥४ ॥

५२६. यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते । तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्

जितने स्थान को चारों दिशाएँ घेरती हैं और नेत्र नक्षत्र मण्डल के जितने स्थान को देख सकते हैं, परम ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव का उतना बड़ा चिह्न हमें प्राप्त हो और हाथी के समान वह वर्चस् भी हमें प्राप्त हो ॥५ ॥

५२७. हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाऽभि षिञ्चामि मामहम् ॥६ ॥

जैसे वन में विचरण करने वाले मृग आदि पशुओं में हाथी प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार श्रेष्ठतम तेजस् और ऐश्वर्य के द्वारा हम अपने आपको अभिषिक्त करते हैं ॥६ ॥

[२३- वीरप्रसूति सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - चन्द्रमा या योनि । **छन्द** - अनुष्टुप्, ५ उपरिष्टात् भुरिक् बृहती, ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती ।]

५२८. येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् । इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥१

हे स्त्री ! जिस पाप या पापजन्य रोग के कारण आप वन्ध्या हुई हैं, उस रोग को हम आपसे दूर करते हैं । यह रोग पुनः उत्पन्न न हो, इसलिए इसको हम आपसे दूर फेंकते हैं ॥१ ॥

५२९. आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥२ ॥

हे स्त्री ! जिस प्रकार बाण तूणीर में सहज ही प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार पुंसत्व से युक्त गर्भ आपके गर्भाशय

में स्थापित करते हैं । आपका वह गर्भ दस महीने तक गर्भाशय में रहकर वीर पुत्र के रूप में उत्पन्न हो ॥२ ॥

५३०. पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३ ॥

हे स्त्री ! आप पुरुष लक्षणों से युक्त पुत्र पैदा करें और उसके पीछे भी पुत्र ही पैदा हो । जिन पुत्रों को आपने उत्पन्न किया है तथा जिनको इसके बाद उत्पन्न करेंगी, उन सभी पुत्रों की आप माता हों ॥३ ॥

५३१. यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च । तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ।

हे स्त्री!जिन अमोघ वीर्यों के द्वारा वृषभ गौओं में गर्भ की स्थापना कर बछड़े उत्पन्न करते हैं, वैसे ही अमोघ वीर्यों के द्वारा आप पुत्र प्राप्त करें ।इस प्रकार आप गौ के सदृश पुत्रों को उत्पन्न करती हुई, अभिवृद्धि को प्राप्त हों।

५३२. कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५ ॥

हे स्त्री ! हम आपके निमित्त प्रजापति द्वारा निर्धारित संस्कार करते हैं । इसके द्वारा आपके गर्भाशय में गर्भ की स्थापना हो । आप ऐसा पुत्र प्राप्त करें, जो आपको सुख प्रदान करे तथा जिसको आप सुख प्रदान करें ॥५ ॥

५३३. यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६ ॥

जिन ओषधियों के पिता द्युलोक हैं और माता पृथ्वी है तथा जिनकी वृद्धि का मूल कारण समुद्र (जल) है, वे दिव्य ओषधियाँ पुत्र लाभ के लिए आपकी विशेष रूप से रक्षा करें ॥६ ॥

[२४- समृद्धिप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - वनस्पति अथवा प्रजापति । छन्द - अनुष्टुप्, २ निचृत् पथ्यापंक्ति ।]

५३४. पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥१ ॥

समस्त ओषधियाँ (धान्य) रस (सारतत्त्व) से परिपूर्ण हों । मेरे वचन (मंत्रादि) भी (मधुर) रस से समन्वित तथा सभी के लिए ग्रहणीय हों । उन सारयुक्त ओषधियों (धान्यों) को मैं हजारों प्रकार से प्राप्त करूँ ॥१ ॥

५३५. वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे ॥२ ॥

ओषधियों में रस (जीवन सत्व) की स्थापना करने वाले उन देवताओं को हम भली-भाँति जानते हैं, वे धान्यादि को बढ़ाने वाले हैं । जो अयाज्ञिक (कृपण) मनुष्यों के गृहों में हैं, उन 'संभृत्वा, (इस नाम वाले अथवा बिखरे धन का संचय करने वाले) देवों को हम आवाहित करते हैं ॥२ ॥

५३६. इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥३ ॥

पूर्व आदि पाँचों दिशाएँ तथा मन से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के (वर्णों के) मनुष्य इस स्थान को उसी प्रकार समृद्ध करें, जिस प्रकार वर्षा के जल से उफनती हुई नदियाँ जल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देती हैं ॥३ ॥

५३७. उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥४ ॥

जिस प्रकार सैकड़ों-हजारों धाराओं से प्रवाहित होने के बाद भी जल का आदि स्रोत अक्षय बना रहता है, उसी प्रकार हमारा धन-धान्य भी अनेक धाराओं (रूपों) से खर्च होने के बाद भी अक्षय बना रहे ॥४ ॥

५३८. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५ ॥

हे मनुष्यो ! आप सैकड़ों हाथों वाले होकर धन एकत्रित करें तथा हजारों हाथों वाले होकर उसका दान कर दें । इस तरह आप अपने किये हुए तथा किये जाने वाले कर्मों की वृद्धि करें ॥५ ॥

५३९. तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥६ ॥

गन्धर्वों की सुख-समृद्धि का मूल आधार जो तीन कलाएँ हैं तथा गन्धर्व-पत्नियों की समृद्धि का आधार जो चार कलाएँ हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ परम समृद्धि प्रदान करने वाली कला से हम धान्य को भली-भाँति सुनियोजित करते हैं । हे धान्य ! कला के प्रभाव से आप वृद्धि को प्राप्त करें ॥६ ॥

५४०. उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥

हे प्रजापते ! धान्य को समीप लाने वाले 'उपोह' नामक देव तथा प्राप्त धन की अभिवृद्धि करने वाले 'समूह' नामक देव आपके सारथि हैं । आप उन दोनों देवताओं को अक्षय धन की प्राप्ति के लिए यहाँ बुलाएँ ॥७ ॥

[२५- कामबाण सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - मित्रावरुण, काम-बाण । छन्द - अनुष्टुप् ।]

इस मंत्र में कामबाण का उल्लेख है । इस सूक्त में कामबाण के जो भीषण दुष्प्रभाव प्रकट किये गये हैं, उन्हें समझकर उससे बचने का भाव सहज ही उत्पन्न होता है । पति-पत्नी के बीच कर्त्तव्य भावना प्रधान सम्बन्ध होने चाहिए । काम प्रवृत्ति भी सहज उभरती है, उसे एक सीमा तक ही छूट दी जा सकती है । इसीलिए यहाँ विरोधाभास अलंकार का प्रयोग करते हुए कामबाण के प्रयोग की बात करते हुए उसके भीषण प्राण लेवा स्वरूप को उभारा गया है । अगर कहीं धूम्रपान द्वारा अतिथि सत्कार का आग्रह किया जाय, तो समझदार व्यक्ति यह कह सकता है कि "खाँसी,दमा तथा कैंसर उत्पन्न करने वाले धूम्रपान के लिए आपका स्वागत है ।" इस कथन से धूम्रपान करने वाले के मन में उसके प्रति विरक्ति का भाव ही बढ़ेगा । ऐसा ही मनोवैज्ञानिक प्रयोग इस सूक्त में कामबाण को लेकर किया गया प्रतीत होता है-

५४१. उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥१ ॥

हे स्त्री ! उत्कृष्ट होकर भी पीड़ा पहुँचाने वाले 'उत्तुद' (इस नाम वाले अथवा विचलित करने वाले) देव आपको व्यथित करें । तीक्ष्ण कामबाण से हम आपका हृदय बींधते हैं, उससे व्यथित होकर आप अपनी शय्या पर सुख की नींद न प्राप्त कर सकें ॥१ ॥

५४२. आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२ ॥

जिस बाण में मानसिक पीड़ारूपी पंख लगे हैं, रमण करने की इच्छा ही जिसका अगला भाग (शल्य) है तथा जिसमें भोग-विषयक संकल्प रूपी दण्ड लगे हैं, उसको धनुष पर चढ़ाकर, कामदेव आपके हृदय का वेधन करें ॥२॥

५४३. या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥३ ॥

हे स्त्री ! कामदेव द्वारा भली प्रकार संधान किया हुआ बाण सरलगामी है । अत्यधिक दाहक, हृदय में प्रवेश करके तिल्ली (प्लीहा) को सुखा देने वाले, उस बाण के द्वारा हम आपके हृदय को विदीर्ण करते हैं ॥३ ॥

५४४.शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता।

हे स्त्री ! इस दाहक, शोकवर्धक बाण के प्रभाव से म्लान मुख होकर हमारे समीप आएँ । काम जन्य क्रोध को छोड़कर आप मृदु बोलने वाली होकर हमारे अनुकूल कर्म करती हुई हमें प्राप्त हों ॥४ ॥

५४५. आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

हे स्त्री ! काम से प्रताड़ित आपको, हम आपके माता-पिता के समीप से लाते हैं, जिससे आप कर्मों और विचारों से हमारे अनुकूल होकर हमें प्राप्त हों ॥५ ॥

५४६. व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥६।

हे मित्र और वरुण देव ! आप इस स्त्री के हृदय और चित्त को विशेष रूप से प्रभावित करें और (पूर्व अभ्यास वाले) कर्मों को भुलाकर इसे मेरे अनुकूल आचरण वाली बनाएँ ॥६ ॥

[२६- दिक्षु आत्मरक्षा सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - रुद्र, १ प्राचीदिशा साग्नि, २ दक्षिणदिशा सकामाअविष्यव, ३ प्रतीचीदिशा वैराज, ४ उदीची दिशा सवाताप्रविध्य, ५ सौषधिकानिलिम्पा, ६ बृहस्पति युक्त अवस्वान् । **छन्द** - जगती, १ त्रिष्टुप्, ३,४ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

५४७. येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥१ ॥

हे देवो ! आप पूर्व दिशा की ओर 'वज्र' (शत्रुनाशक) नाम से निवास करते हैं । आपके बाण अग्नि के समान तेजस्वी हैं । आप हमारी सुरक्षा करने में समर्थ होकर हमें सुख प्रदान करें । हमारे लिए अपनत्व सूचक शब्दों का उच्चारण करें । हम आपको नमन करते हुए हवि समर्पित करते हैं ॥१ ॥

५४८. येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥२ ॥

हे देवो ! आप दक्षिण दिशा में 'अवस्यव' (रक्षक) नाम से निवास करते हैं । वांछित विषय की इच्छा ही आपके बाण हैं । आप हमें सुख प्रदान करें तथा हमारे लिए अपनत्व सूचक शब्द कहें । आपके लिए हम नमन करते हुए हवि प्रदान करते हैं ॥२ ॥

५४९. येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥३ ॥

हे देवो ! आप पश्चिम दिशा में 'वैराज' (विशेष क्षमतावान्) नाम से निवास करते हैं । वृष्टि का जल ही आपके बाण हैं । आप हमें सुखी करें तथा हमारे लिए अपनत्व सूचक शब्द कहें । हम आपके लिए नमनपूर्वक हवि प्रदान करते हैं ॥३ ॥

५५०. येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥४ ॥

हे देवो ! आप उत्तर दिशा में 'प्रविध्यन्त' (वेध करने वाले) नाम से निवास करते हैं । आपके बाण वायु के

सदृश द्रुतगामी हैं । आप हमें सुख प्रदान करें तथा हमारे लिए अपनत्व सूचक शब्द कहें । हम आपको नमन करते हुए हवि प्रदान करते हैं ॥४ ॥

५५१. येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥५ ॥

हे देवो ! आप नीचे की दिशा में निरन्तर निवास करने वाले 'निलिम्पा' (लेप लगाने वाले) नामक देवता हैं । ओषधियाँ ही आपके बाण हैं । आप हमें सुख प्रदान करें तथा अपनत्व सूचक उपदेश करें । हम आपके लिए नमन करते हुए हवि प्रदान करते हैं ॥५ ॥

५५२. येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥६ ॥

हे देवो ! आप ऊपर की दिशा में सुरक्षा करने वाले 'अवस्वन्त' (रक्षाधिकारी) नाम से निवास करते हैं । बृहस्पतिदेव ही आपके बाण हैं । आप हमें सुख प्रदान करें तथा हमारे लिए अपनत्व सूचक उपदेश करें । हम आपके लिए नमन करते हुए हवि प्रदान करते हैं ॥६ ॥

[२७- शत्रुनिवारण सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - रुद्र १ प्राची दिशा, अग्नि, असित, आदित्यगण, २दक्षिण दिशा, इन्द्र, तिरश्चिराजी, पितरगण, ३ प्रतीची दिशा, वरुण, पृदाकु, अन्न, ४ उदीची दिशा, सोम, स्वज, अशनि, ५ ध्रुव दिशा, विष्णु, कल्माषग्रीव, वीरुध, ६ ऊर्ध्व दिशा, बृहस्पति, श्वित्र (श्वेतरोग) वर्षा (वृष्टिजल) । **छन्द** - पञ्चपदा ककुम्मती गर्भाष्टि, २ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा अत्यष्टि, ५ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा भुरिक् अष्टि ।]

५५३. प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१ ॥

पूर्व दिशा हमारे ऊपर अनुग्रह करने वाली हो । पूर्व दिशा के अधिपति अग्निदेव हैं, रक्षक 'असित' (बन्धनरहित) हैं, 'बाण' प्रहारक आदित्य हैं । इन (दिशाओं के) अधिपतियों, रक्षकों तथा बाणों को हमारा नमन है । ऐसे सभी (हितैषियों) को हमारा नमन है । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को हम आपके जबड़े (या दण्ड व्यवस्था) में डालते हैं ॥१ ॥

५५४. दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२ ॥

दक्षिण दिशा के अधिपति इन्द्रदेव उसके रक्षक 'तिरश्चिराजी' (मर्यादा में रहने वाले) तथा 'बाण' पितृदेव हैं । उन अधिपतियों, रक्षकों तथा बाणों को हमारा नमन है । ऐसे सभी हितैषियों को हमारा नमन है । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को आपके नियन्त्रण में डालते हैं ॥२ ॥

५५५. प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३ ॥

पश्चिम दिशा के स्वामी वरुणदेव हैं, उनके रक्षक 'पृदाकु' (सर्पादि) हैं तथा अन्न उसके बाण हैं । इन सबको हमारा नमन है । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को हम आपके जबड़े में डालते हैं ॥३ ॥

५५६. उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४ ॥

उत्तर दिशा के अधिपति सोम हैं और उनके रक्षक 'स्वज' (स्वयं जन्मने वाले) हैं तथा अशनि ही बाण हैं । इन सबको हमारा नमन है । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को हम आपके नियन्त्रण में डालते हैं ॥४ ॥

५५७. ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५ ॥

अधो दिशा (ध्रुव) के स्वामी 'विष्णु' हैं और उनके रक्षक 'कल्माषग्रीव' (चितकबरे रंग वाले) हैं तथा रिपु विनाशक ओषधियाँ ही बाण हैं । इन सबको हमारा नमन है । यह नमन इन सबको हर्षित करे । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, इन रिपुओं को हम आपके दण्ड विधान में डालते हैं ॥५ ॥

५५८. ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६ ॥

ऊर्ध्व दिशा के स्वामी बृहस्पतिदेव हैं, उनके रक्षक 'श्वित्र' (पवित्र) हैं तथा वृष्टि जल ही रिपु विनाशक बाण है । उन सबको हमारा नमन है । यह नमन उन सबको हर्षित करे । जो रिपु हमसे विद्वेष करते हैं तथा जिनसे हम विद्वेष करते हैं, उन रिपुओं को हम आपके नियन्त्रण में डालते हैं ॥६ ॥

[२८- पशुपोषण सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - यमिनी । छन्द - अनुष्टुप्, १ अतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा अतिजगती, ४ यवमध्या विराट् ककुप्, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराट् गर्भा प्रस्तारपंक्ति ।]

इस सूक्त के ऋषि 'ब्रह्मा' तथा देवता 'यमिनी' है । कौशिक सूत्र में इस सूक्त से युगल-जुड़वाँ सन्तानों के दोष निवारण का विधान दिया है इसी आधार पर परम्परागत भाष्यकारों ने इस सूक्त को जुड़वाँ बच्चे देने वाली गाय पर घटित करके अर्थ किये हैं; किन्तु वे अर्थ मूल सूक्त के व्यापक संदर्भों के साथ युक्तिसंगति नहीं प्रतीत होते । जैसे मंत्र क्र० २ में उसे मांसभक्षी होकर पशुओं को क्षीण करने वाली कहा है । जुड़वाँ बच्चे देने से गाय मांस भक्षी नहीं हो जाती । फिर मंत्र कं० ३ में उसे पुरुषों, गौओं एवं अश्वों तथा सभी क्षेत्रों के लिए कल्याण प्रदायिनी होने को कहा गया है । मंत्र क्र० ४-५ में उस 'यमिनी' से प्रार्थना की गयी है कि उत्तम भाव, विचार और कर्म वाले व्यक्तियों के बीच पुरुषों एवं पशुओं के लिए हिंसक न हो । यमिनी का अर्थ जुड़वाँ बच्चे पैदा करने वाली गाय, करने से यह सब भाव सिद्ध नहीं होते । यमिनी नियामक शक्ति, अंतः बाह्य की प्रकृति करना अधिक युक्ति संगत है । वह द्वंद्वात्मक होने से यमिनी कही जा सकती है । यह प्रकृति जब 'अप-ऋतु' (ऋतु चक्र या सहज प्रवाह के विपरीत) हो जाती है, तब वह मनुष्यों-पशुओं के लिए विनाशक हो जाती है । इस यमिनी प्रकृति से सबके लिए कल्याणकारी होने की प्रार्थना की जानी उचित है । 'अस्तु' इसी संदर्भ में मंत्रार्थ किये गये हैं-

५५९. एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।

यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१ ॥

जहाँ एक-एक करके सृष्टि बनी, (वहाँ) पदार्थों के सृजेता ने विश्वरूपा (विविध रूपों वाली अथवा विश्वरूपिणी) गौ (पृथ्वी) का सृजन किया । (इस भूतल पर) जहाँ यमिनी (नियामक प्रकृति) ऋतुकाल से भिन्न परिणाम उत्पन्न करने लगती है, तो वह पीड़ा उत्पन्न करती, कष्ट देती तथा पशुओं को नष्ट करती है ॥१ ॥

५६०. एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥२ ॥

ऐसी (यमिनी) मांस भक्षी (क्रूर) होकर पशुओं (प्रोणियों) को नष्ट करने लगती है । उसे ब्रह्म या ब्राह्मण को सौंप देना चाहिए, ताकि वह सुख तथा कल्याण देने वाली हो जाए ॥२ ॥

[क्रूर कर्मियों के संसर्ग से मनुष्यों की आन्तरिक या विश्वगत प्रकृति विनाशक हो जाती है । उसे ब्राह्मी अनुशासन में स्थापित करने से वह कल्याणकारी हो जाती है ।]

५६१. शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥३ ॥

हे यमिनि ! आप मनुष्यों के लिए सुखदायी हों तथा गौओं और अश्वों के लिए कल्याणकारिणी हों । आप समस्त भूमि के लिए कल्याणकारिणी होकर हमारे लिए भी सुखदायी हों ॥३ ॥

५६२. इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥४ ॥

यहाँ (इस क्षेत्र में) पुष्टि और रसों की वृद्धि हो । हे यमिनि ! आप इस क्षेत्र के पशुओं का पोषण करें तथा इसे हजारों प्रकार का धन प्रदान करें ॥४ ॥

५६३. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥५ ॥

जिस देश में श्रेष्ठ हृदयवाले तथा श्रेष्ठ कर्म वाले मनुष्य अपने शरीर के रोगों का परित्याग करके आनन्दित होते हैं, उस देश में यमिनी पुरुषों और पशुओं की हिंसा न करे ॥५ ॥

५६४. यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥६ ॥

जिस देश में श्रेष्ठ हृदय वाले तथा श्रेष्ठ कर्म वाले मनुष्य अग्निहोत्र, हवन आदि में हवि प्रदान करने के लिए निरत रहते हैं । उस देश में यमिनी मनुष्यों और पशुओं की हिंसा न करें ॥६ ॥

[२९ - अवि सूक्त]

[**ऋषि** - उद्दालक । **देवता** - शितिपात् अवि, ७ काम, ८ भूमि । **छन्द** - अनुष्टुप्, १,३ पथ्यापंक्ति, ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टात् दैवी बृहती ककुम्मतीगर्भा विराट् जगती, ८ उपरिष्टात् बृहती ।]

इस सूक्त के १ से ६ तक मंत्रों के देवता 'शितिपाद् अवि' हैं । 'शिति' का अर्थ अँधेरा-उजाला (काला-सफेद) होता है । 'शितिपाद् अवि' का अर्थ सफेद या काले पैर वाली भेड़ करने से मंत्रों के दिव्य भावों की सिद्धि नहीं होती । प्रथम मंत्र में 'इष्टापूर्त्तस्य षोडशं' वाक्य से शितिपाद् अवि का भाव खुलता है । मनुष्य, जीवन में विविध कर्म करता रहता है । उससे जाने-अनजाने पापादि कर्म भी हो जाते हैं । वे पाप कर्म मनुष्य के लिए अनिष्टकारक होते हैं । उनसे बचने के लिए ऋषियों ने 'इष्टापूर्त्त यज्ञ' का विधान बनाया है । उसके अन्तर्गत अर्जित साधनों का सोलहवाँ भाग इष्टापूर्त्त के रूप में जनहितार्थ-यज्ञार्थ लगा देना चाहिए । अनजाने में

हुए पापों की विनाशक प्रतिक्रिया से बचाने वाले इस 'दान' को 'अवि' (रक्षक) कहना उचित है। यह पाप-पुण्य के बीच चलने वाला क्रम है, इसलिए इसे 'शितिपाद्' कहना युक्ति संगत है। 'शितिपाद्' का एक अर्थ अनिष्ट करने वाले का पतन करने वाला भी होता है। इस भाव से भी इष्टापूर्त को शितिपाद् कह सकते हैं। वेद मंत्रों ने शितिपाद् अवि के दान का बहुत महत्व कहा है, उसकी गरिमा का निर्वाह शितिपाद् को इष्टापूर्ति यज्ञ मानने से हो जाता है-

५६५. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥१॥

जब राजा यम के नियम पालक सभासद (मनुष्यकृत पाप-पुण्यों का) विभाजन करते हैं, तब (अर्जन के) सोलहवें अंश के रूप में दिया गया इष्टापूर्त रूप शितिपाद् अवि (काले-उजले चरणों वाला रक्षक) भय से मुक्त करता है तथा तुष्टि प्रदान करता है ॥१॥

५६६. सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥२॥

(इष्टापूर्त का यह) दिया हुआ 'शितिपाद् अवि' (अनिष्ट करने वाली शक्तियों का पतन करने वाला रक्षक) संकल्पों की पूर्ति करने वाला, सत्कर्मों को प्रभावशाली बनाने वाला, सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा नष्ट न होने वाला होता है ॥२॥

५६७. यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

जो (व्यक्ति) इस लोक-सम्मत शितिपाद् अवि (इष्टापूर्त भाग) का दान करता है। वह स्वर्ग को प्राप्त करता है। जहाँ निर्बल से बलपूर्वक शुल्क वसूल नहीं किया जाता ॥३॥

[श्रेष्ठ समाज में बल-सम्पन्नों द्वारा निर्बल व्यक्तियों का शोषण नहीं किया जाता, उनके रक्षण एवं पोषण की व्यवस्था की जाती है]

५६८. पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्। प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम्।

पाँच (तत्त्वों या प्राणों) को सड़न (विकृतियों) से बचाने वाले लोक-सम्मत इस शितिपाद् अवि (इष्टापूर्त भाग) का दान करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ पितृलोकों में अक्षय जीवन प्राप्त करता है ॥४॥

५६९. पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥५॥

पाँचों (तत्त्वों या प्राणों) को सड़न (विकृतियों) से बचाने वाले लोक-सम्मत इस शितिपाद् अवि का दान करने वाला (साधक) सूर्य और चन्द्र के समान अक्षय जीवन प्राप्त करता है ॥५॥

५७०. इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत्।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥६॥

यह शितिपाद् अवि (अनिष्ट-निवारक,संरक्षक-दान) महान् पृथ्वी और समुद्र के जल के समान तथा साथ रहने वाले देवों (अश्विनीकुमारों) की भाँति कभी क्षीण नहीं होता ॥६॥

५७१. क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥७॥

यह (दान) किसने दिया ? किसको दिया ? (उत्तर है) कामनाओं ने कामनाओं को दिया । मनोरथ ही दाता है तथा मनोरथ ही प्राप्त करने वाला हैं । कामनाओं से ही तुम्हें (दान को) स्वीकार करता हूँ । हे कामनाओ ! यह सब तुम्हारा है ॥७ ॥

५७२. भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८ ॥

(हे श्रेष्ठदान !) यह भूमि और महान् अन्तरिक्ष तुम्हें प्राप्त करें । मैं इसे प्राप्त करके (प्राप्ति के मद से) प्राणों (प्राणशक्ति), आत्मा (आत्मबल) तथा समाज से दूर न हो जाऊँ ॥८ ॥

[३०- सांमनस्य सूक्त]

[**ऋषि** -अथर्वा ।**देवता** - चन्द्रमा, सांमनस्य ।**छन्द** -अनुष्टुप्, ५ विराट् जगती, ६ प्रस्तारपंक्ति, ७ त्रिष्टुप् ।]

५७३. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१ ॥

हे मनुष्यो ! हम आपके लिए हृदय को प्रेमपूर्ण बनाने वाले तथा सौमनस्य बढ़ाने वाले कर्म करते हैं । आप लोग परस्पर उसी प्रकार व्यवहार करें, जिस प्रकार उत्पन्न हुए बछड़े से गाय स्नेह करती है ॥१ ॥

५७४. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२ ॥

पुत्र अपने पिता के अनुकूल कर्म करने वाला हो और अपनी माता के साथ समान विचार से रहने वाला हो । पत्नी अपने पति से मधुरता तथा सुख से युक्त वाणी बोले ॥२ ॥

५७५. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३ ॥

भाई अपने भाई से विद्वेष न करे और बहिन अपनी बहिन से विद्वेष न करे । वे सब एक विचार तथा एक कर्म वाले होकर परस्पर कल्याणकारी वार्तालाप करें ॥३ ॥

५७६. येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४ ॥

जिसकी शक्ति से देवगण विपरीत विचार वाले नहीं होते हैं और परस्पर विद्वेष भी नहीं करते हैं; उस समान विचार को सम्पादित करने वाले ज्ञान को हम आपके घर के मनुष्यों के लिए (जाग्रत् या प्रयुक्त) करते हैं ॥४ ॥

५७७. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥५ ॥

आप छोटों-बड़ों का ध्यान रखकर व्यवहार करते हुए, समान विचार रखते हुए तथा समान कार्य करते हुए पृथक् न हों । आप एक दूसरे से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते हुए पधारें । हे मनुष्यो ! हम भी आपके समान कार्यों में प्रवृत्त होते हैं ॥५ ॥

५७८. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६ ॥

हे समानता की कामना करने वाले मनुष्यो ! आपके जल पीने के स्थान एक हों तथा अन्न का भाग साथ-साथ हो । हम आपको एक ही प्रेमपाश में साथ-साथ बाँधते हैं । जिस प्रकार पहियों के अरे नाभि के आश्रित होकर रहते हैं, उसी प्रकार आप सब भी एक ही फल की कामना करते हुए अग्निदेव की उपासना करें ॥६ ॥

५७९. सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७ ॥

हम आपके मन को समान बनाकर एक जैसे कार्य में प्रवृत्त करते हैं और आपको एक जैसा अन्न ग्रहण करने वाला बनाते हैं । इसी कर्म के द्वारा हम आपको वशीभूत करते हैं । अमृत की सुरक्षा करने वाले देवताओं के समान आपके मन प्रातः और सायं हर्षित रहें ॥७ ॥

[३१- यक्ष्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - पाप्महा, १ अग्नि, २ शक्र, ३ पशु समूह, ४ द्यावापृथिवीं, ५ त्वष्टा, ६ अग्नि, इन्द्र, ७ देवगण, सूर्य, ८-१० आयु, ११ पर्जन्य । छन्द - अनुष्टुप्, ४ भुरिक् अनुष्टुप्, ५ विराट् प्रस्तारपंक्ति ।]

५८०. वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१ ॥

देवगण वृद्धावस्था से अप्रभावित रहते हैं । हे अग्निदेव ! आप इसे कृपणता तथा शत्रुता से दूर रखें । हम कष्टदायक पाप से और यक्ष्मा (रोगों) से विमुक्त रहें और दीर्घायुष्य प्राप्त करें ॥१ ॥

५८१. व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥२ ॥

पवमान (पवित्र बने रहने वाले) वायुदेव इसे पीड़ा से मुक्त रखें । समर्थ इन्द्रदेव इसे पापकर्म से पृथक् रखें । हम कष्टदायक पाप से और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त रहें और दीर्घायुष्य प्राप्त करें ॥२ ॥

५८२. वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥३ ॥

ग्रामीण पशु जंगली पशुओं से अलग रहते हैं और प्यासे मनुष्य से जल अलग रहता है, उसी प्रकार हम समस्त पापों से तथा यक्ष्मादि (रोगों) से मुक्त रहें और दीर्घायु पाएँ ॥३ ॥

५८३. वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥४ ॥

जिस प्रकार द्यावा-पृथिवी पृथक्-पृथक् रहते हैं और प्रत्येक दिशा में जाने वाले मार्ग पृथक्-पृथक् होते हैं । हम भी समस्त पापों से तथा यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त रहें तथा दीर्घजीवन पाएँ ॥४ । ।

५८४. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥५ ॥

जिस प्रकार त्वष्टा (देवता या पिता) पुत्री को (विवाह के समय) पर्याप्त द्रव्य देकर विदा करते हैं और सारे लोक अलग-अलग हैं, उसी प्रकार हम पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त रहें- दीर्घायु प्राप्त करें ॥५ ॥

५८५. अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।६ ।।

अग्निदेव प्राणों को जाग्रत् करते हैं, चन्द्रदेव भी प्राणों के साथ सम्बद्ध हैं । हम पापों से और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करें ।।६ ।।

५८६. प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।७ ।।

देवताओं ने समस्त सामर्थ्य से युक्त सूर्यदेव को जगत् के प्राणरूप से सम्बन्धित किया । हम समस्त पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त रहकर दीर्घजीवन पाएँ ।।७ ।।

५८७. आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।८ ।।

(हे बालक !) आयुष्यवानों की दीर्घायु के साथ प्राणवान् होकर जियो, मरो मत । हम तुम्हें समस्त पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त करके दीर्घायु से संयुक्त करते हैं ।।८ ।।

५८८. प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।९ ।।

श्वास लेने वाले समस्त जीवधारियों के प्राणों के साथ जीवित रहो और अपने प्राणों को मत त्यागो । हम तुम्हें समस्त पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त करके, दीर्घ आयु से सम्पन्न करते हैं ।।९ ।।

५८९. उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।१० ।।

आयुष्य से युक्त बनो, आयुष्य से उन्नत बनो, ओषधि रसों से उत्कर्ष पाओ । हम तुम्हें समस्त पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त करके दीर्घ आयु से संयुक्त करते हैं ।।१० ।।

५९०. आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।११ ।।

हम पर्जन्यदेव के पर्जन्यवर्षण से अमरत्व और उन्नति प्राप्त करते हैं । हम समस्त पापों और यक्ष्मा (रोगों) से मुक्त होकर दीर्घायुष्य प्राप्त करें ।।११ ।।

।। इति तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।।

॥ अथ चतुर्थं काण्डम् ॥

[१- ब्रह्मविद्या सूक्त]

[ऋषि - वेन । देवता - बृहस्पति अथवा आदित्य । छन्द - त्रिष्टुप्, २, ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

५९१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१ ॥

ब्रह्म की उत्पत्ति पूर्वकाल में सर्वप्रथम हुई । वेन (उस तेजस्वी ब्रह्म या सूर्य) ने बीच में स्थित होकर सुप्रकाशित (विभिन्न पिण्डों) को फैलाया । उसने आकाश में वर्तमान विशिष्ट स्थानों पर स्थित पदार्थों तथा सत् एवं असत् की उत्पत्ति के स्रोत को खोला ॥१ ॥

५९२. इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥२ ॥

पिता (परमपिता परमात्मा) से प्राप्त, विश्व में स्थित राष्ट्री (प्रकाशमान नियामक शक्ति) सर्वप्रथम उत्पत्ति-सृजन के लिए आगे आए । उस सर्वप्रथम (सर्वोच्च सत्ता) को अर्पित करने के लिए इस सुप्रकाशित, अनिष्टनिवारक तथा प्राप्त करने योग्य यज्ञ को परिपक्व करे ॥२ ॥

५९३. प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥३ ॥

जो ज्ञानी इस (दिव्य सत्ता) का बन्धु (सम्बन्धी) होता है, वह समस्त देवशक्तियों के जन्म का रहस्य कहता है । ब्रह्म से ब्रह्म (वेदज्ञान अथवा यज्ञ) की उत्पत्ति हुई है । उसके नीचे वाले, मध्यवर्ती तथा उच्चभाग से (प्राणियों को) तृप्त करने वाली शक्तियों का विस्तार हुआ ॥३ ॥

५९४. स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥४ ॥

वे (परमात्मा) ही द्युलोक और पृथ्वीलोक को संव्याप्त करके शाश्वत सत्य नियमों के द्वारा उन बृहद् द्यावा-पृथिवी को अपने अन्दर स्थापित करते हैं । वे उनके बीच में सूर्यरूप से उत्पन्न होकर द्यावा-पृथिवी रूपी घर को अपने तेज से संव्याप्त करते हैं ॥४ ॥

५९५. स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥५ ॥

बृहस्पतिदेव इस लोक के अधिपति हैं । जब आलोकवान् सूर्य से दिन प्रकट हो, तब उससे प्रकाशित होने वाले ज्ञानी ऋत्विक् अपने-अपने कार्य में संलग्न हों और आहुतियों के द्वारा देवताओं की सेवा करें ॥५ ॥

५९६. नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु ॥६ ॥

ऋत्विज् सम्बन्धी यज्ञ देवताओं में सर्वप्रथम उत्पन्न सूर्यदेव के महान् धाम को उदयाचल पर भेजता है । वे सूर्यदेव पूर्व दिशा सम्बन्धी प्रदेश में हविरन्न को लक्ष्य करके शीघ्र ही उदित होते हैं ॥६ ॥

५९७. योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् ।

त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥७ ॥

देवों के भ्राता बृहस्पतिदेव और प्रजापति अथर्वा के प्रति नमन है । जिस प्रकार आप समस्त जीवों को उत्पन्न करने वाले हैं, उसी प्रकार आप अन्न से सम्पन्न हों । वे क्रांतदर्शी बृहस्पतिदेव हविरन्न से युक्त होकर हिंसा न करते हुए सभी पर कृपा ही करते हैं ॥७ ॥

[२- आत्मविद्या सूक्त]

[**ऋषि** - वेन । **देवता** - आत्मा । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ६ पुरोऽनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, ८ उपरिष्टात् ज्योति त्रिष्टुप् ।]

इस सूक्त के ८ मंत्रों में स्थायी पद है "कस्मै देवाय हविषा विधेम" । इसी स्थायी पद के साथ ऋ० १०.१२१ में ९ मंत्र हैं । इस सूक्त के क्र० १ से ८ तक के मंत्र ऋग्वेद के मन्त्रों से पूर्ण या आंशिकरूप से मिलते हैं, क्रमसंख्या भिन्न है । ऋग्वेद के सूक्त के ऋषि 'हिरण्यगर्भ' हैं तथा देवता 'कः' हैं । इस सूक्त के ऋषि 'वेन' तथा देवता 'आत्मा' है । अर्थ की दृष्टि से 'वेन' और 'हिरण्यगर्भ' दोनों का अर्थ दिव्य तेजोयुक्त होता है । देवता के रूप में 'कः' सम्बोधन अव्यक्त के लिए है । वह परमात्मा एवं आत्मा दोनों के लिए उपयुक्त है; किन्तु अथर्ववेद के ऋषि ने आग्रहपूर्वक 'आत्मा' को लक्ष्य करके यह सूक्त कहा है । अस्तु, उसी भाव को लक्ष्य करके मंत्रार्थ किये गये हैं । ऋषि स्वयं ही प्रश्न उठा रहे हैं तथा स्वयं ही समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं -

५९८. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१ ॥

(प्रश्न है, हम किस देवता की अर्चना हवि- समर्पण सहित करें ? उत्तर है) जो स्वयं का बोध कराने तथा बल प्रदान करने में समर्थ है, जिसके अनुशासन का पालन सभी देवशक्तियाँ करती हैं; जो दोपायों (मनुष्यादि) तथा चौपायों (पशु आदि) सभी का शासक है, उस 'क' संज्ञक आत्मतत्त्व का पूजन करें ॥१ ॥

५९९. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।

यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२ ॥

(किस देवता की अर्चना करें ?) जो प्राणधारियों तथा आँखें झपकने वालों (देखने वालों अथवा परिवर्तनशीलों) का एकमात्र अधिपति है, जिसकी छाया में अमरत्व तथा मृत्यु दोनों स्थित हैं, उसी की अर्चना हम करें ॥२ ॥

६००. यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३ ॥

(किस देवता का पूजन करें ?) जिसके कारण द्यावा-पृथिवी (लोक) सुख-दुःख सहित सबको संरक्षण देने के लिए स्थित हैं तथा वे भयभीत होकर जिसे पुकारते हैं; जिसका प्रकाशयुक्त पंथ विशिष्ट सम्मान बढ़ाने वाला है, उसी का पूजन-वन्दन करें ॥३ ॥

६०१. यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।

यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४ ॥

(किस देवता का भजन करें ?) जिसकी महत्ता से व्यापक द्युलोक, विशाल पृथिवी, फैला हुआ अन्तरिक्ष तथा सूर्य आदि का विस्तार हुआ है, उसी का हम यजन करें ॥४ ॥

६०२. यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५ ॥

(किस देवता को पूजें ?) जिसकी महिमा की घोषणा करने वाले विश्व के हिमाच्छादित क्षेत्र, समुद्र तथा पृथिवी हैं, यह दिशाएँ जिसकी बाहुएँ हैं, उसी की हम पूजा करें ॥५ ॥

६०३. आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६ ॥

(किस देवता की अर्चना करें ?) जिस अमृतरूप, ऋत को समझने वाले ने आपः (सृष्टि के मूल-क्रियाशील प्रवाह) के रूप में गर्भ धारण करके विश्व को गतिशील किया; जिसकी दिव्यशक्ति के अधीन देवता रहते हैं; उसी की अर्चना हम करें ॥६ ॥

६०४. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७ ॥

(किस देव की अभ्यर्थना करें ?) पहले (सृष्टि के आदिकाल में) हिरण्यगर्भ (तेज को गर्भ में धारण करने वाला) सम्यक्‌रूप से विद्यमान था । वही सभी उत्पन्न (पदार्थों एवं प्राणियों) का एकमात्र अधिष्ठाता है । वही पृथ्वी एवं द्युलोक आदि का आधार है । (उसके अतिरिक्त) हम और किस देव की अभ्यर्थना करें ?

६०५. आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८ ॥

(हम किस देवता की उपासना करें ?) प्रारम्भ में वत्स (बालक या सृष्टि) को जन्म देने वाली आपः (सृष्टि के मूल तत्त्व) की धाराएँ गर्भ को प्रकट करने वाली हैं । उस जन्म लेने वाले (शिशु या विश्व) की रक्षक झिल्ली (आवरण) के रूप में जो तेज अवस्थित रहता है, हम उसी दिव्य तेज की उपासना करें ॥८ ॥

[३- शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । **देवता -** रुद्र, व्याघ्र । **छन्द -** अनुष्टुप्, १ पथ्यापङ्क्ति, ३ गायत्री,७ ककुम्मती गर्भा उपरिष्टात् बृहती ।]

इस सूक्त में व्याघ्र , भेड़िया, सर्प आदि घातक प्राणियों तथा चोर-लुटेरों आदि दुष्ट पुरुषों से बचाव का उल्लेख है । प्रकारान्तर से यह उक्त पशुओं एवं दुष्ट पुरुषों के स्वभाव वाली हीन प्रकृतियों पर भी घटित होता है-

६०६. उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।
हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥१ ॥

जैसे अन्तर्हित होकर नदियाँ प्रवाहित होती हैं और अन्तर्हित होकर वनौषधियाँ रोगों को भगा देती हैं, वैसे व्याघ्र आदि भी अन्तर्हित होकर भाग जाएँ । व्याघ्र, चोर और भेड़िया भी अपने स्थान से भागकर चले जाएँ ॥१ ॥

६०७. परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः । परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥२ ॥

भेड़िये दूर के मार्ग से गमन करें और चोर उससे भी दूर के मार्ग से चले जाएँ । दाँतों वाली रस्सी (साँपिन) अन्य मार्ग से गमन करे और पापी शत्रु दूर से भाग जाएँ ॥२ ॥

[दाँत वाली रस्सी कष्टकारी बन्धन की प्रतीक है । सामान्य रस्सी के बन्धन को शक्ति प्रयोग से तोड़ा जा सकता है; किन्तु दाँत वाली-काँटों वाली रस्सी के बन्धन तोड़ने के लिए तो ताकत भी नहीं लगायी जा सकती । मंत्र में ऐसे दुष्ट बन्धन से बचने का भाव भी है ।]

६०८. अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि । आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ।।३ ।।

हे व्याघ्र !हम आपके आँख और मुख को विनष्ट करके(पैरों के) बीसों नाखूनों को भी विनष्ट करते हैं ।।३ ।।

६०९. व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि । आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ।

दन्त वाले हिंसक प्राणियों में से हम सबसे पहले व्याघ्र को विनष्ट करते हैं । उसके बाद चोर को, फिर लुटेरे को, फिर सर्प और भेड़िये को विनष्ट करते हैं ।।४ ।।

६१०. यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति । पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्

आज जो चोर आ रहे हैं, वे हमसे पिटकर चूर-चूर होते हुए भाग जाएँ । वे कष्टदायी मार्ग से भागें और इन्द्रदेव उन्हें अपने वज्र से मार डालें ।।५ ।।

६११. मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ।।६ ।।

हिंसक पशुओं के दाँत कमजोर हो जाएँ,सिर के सींग और पसलियों की हड्डियाँ क्षीण हो जाएँ ।हे यात्रिन् !गोह नामक जीव आपकी दृष्टि में न पड़े और लेटने के स्वभाव वाले दुष्ट मृग भी निचले मार्ग से चले जाएँ ।।६ ।।

६१२. यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ।।७ ।।

व्याघ्रादि (हिंसक प्राणियों अथवा प्रवृत्तियों) को काबू करने के लिए अथर्वा द्वारा प्रयुक्त इन्द्र और सोम से प्रकट (सूत्र) नियम यह है कि जहाँ संयम सफल न हो, वहाँ वि-यम (दमन प्रक्रिया) का प्रयोग किया जाए तथा जहाँ वि-यम उपयुक्त न हो, वहाँ संयम का प्रयोग किया जाए ।।७ ।।

[यह बहुत महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक सूत्र है । संयम (सम्यक् विधि से नियम में लाना) यह सोमज (सोम से उत्पन्न) सूत्र है । पालतू पशुओं तथा उपयोगी, किन्तु बहकने वाली मनोवृत्तियों पर यह ढंग लागू किया जाता है । वि-यम (विशेष दबाव) द्वारा वश में करने या उससे मुक्ति पाने का ढंग इन्द्रज (इन्द्र से उत्पन्न) है । घातक पशुओं तथा क्रूर प्रवृत्तियों पर इसी का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है ।]

[४- वाजीकरण सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - वनस्पति । **छन्द** -अनुष्टुप्, ४ पुर उष्णिक्, ६-७ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में बल-वीर्यवर्द्धक ओषधि का उल्लेख है । आचार्य सायण ने इसे कपित्थ से जोड़ा है । खोदकर निकालने के कारण इसे कपित्थ (कैथ) की जड़ भी माना जाता है । ओषधि शास्त्रियों के लिए यह शोध का विषय है-

६१३. यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ।।१ ।।

हे ओषधे ! वरुण (वरुणदेव अथवा वरणीय मनुष्य) के लिए आपको गन्धर्व ने खोदा था । हम भी इन्द्रिय-शक्ति बढ़ाने वाली,आपको खोदते हैं ।।१ ।।

६१४. उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ।।२ ।।

(ओषधि को) उषा देवी शक्ति सम्पन्न वीर्य से समृद्ध करें । हमारा यह मन्त्रात्मक वचन भी इसे बढ़ाए । वर्षणकारी प्रजापतिदेव भी इसे बल-वीर्य से युक्त करके उन्नत करें ।।२ ।।

६१५. यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति । ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ।।३

(हे पुरुष !) विशेष सन्दर्भ में कर्मारूढ़ होने पर जब शरीर के अंग तप्त होकर गतिशील होते हैं, तब यह ओषधि आपको असीम बल-वीर्य से युक्त करे ॥३ ॥

६१६. उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥४।

अन्य वीर्यवर्द्धक ओषधियों में यह ओषधि अत्यधिक श्रेष्ठ सिद्ध हो। काया को वश में करने वाले हे इन्द्रदेव ! आप पौरुषयुक्त शक्ति इस (ओषधि) में स्थापित करें ॥४ ॥

६१७. अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥

हे ओषधे ! जल मंथन के समय आप पहले उत्पन्न हुई अमृतोपम रस हैं और वनस्पतियों में साररूप हैं। आप सोमरस की सहोदरा हैं और अङ्गिरा आदि ऋषियों के मंत्र-बल से प्रकट वीर्यरूप हैं ॥५ ॥

६१८.अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति। अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः।

हे अग्निदेव ! हे सवितादेव ! हे सरस्वतीदेवि ! हे ब्रह्मणस्पते ! आप इस मनुष्य की इन्द्रियों को बल-वीर्य प्रदान करके उसे धनुष के समान (प्रहारक) बनाएँ ॥६ ॥

६१९. आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥७ ॥

(हे मनुष्य !) हम आपकी इन्द्रियों को धनुष पर प्रत्यञ्चा तानने के समान बल-सम्पन्न बनाते हैं। अस्तु, आप बलशाली के समान अपने कर्म पर आरूढ़ हों ॥७ ॥

६२०. अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥८ ॥

हे ओषधे ! घोड़ा, बैल, मेढ़ा (नर-भेड़) आदि में शरीर को वश में करने वाला जो ओजस् है, उसे (इस व्यक्ति के शरीर में) स्थापित करें ॥८ ॥

[५- स्वापन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा। देवता - वृषभ, स्वापन । छन्द - अनुष्टुप्, २ भुरिक् अनुष्टुप्, ७ पुरस्तात् ज्योति त्रिष्टुप्।]

६२१. सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि।

सहस्र शृंगों (रश्मियों) वाला वृषभ (वर्षा करने वाला सूर्य) समुद्र से ऊपर आ गया है। शत्रु का पराभव करने वाले उन (सूर्य) के बल से हम (स्तोतागण) सबको सुख से शयन करा देते हैं ॥१ ॥

६२२. न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥२ ॥

इस समय धरती पर अत्यधिक वायु न चले और न ही कोई मनुष्य ऊपर से देखे। हे वायुदेव ! आप इन्द्रदेव के मित्र हैं। अतः आप समस्त स्त्रियों और कुत्तों को सुला दें ॥२ ॥

६२३. प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥३ ॥

जो नारियाँ घर के आँगन में सोती हैं।जो चलते वाहन पर सोने वाली हैं, जो बिछौने पर सोती हैं, जो उत्तम

गंध से सुवासित श्रेष्ठ शय्याओं पर सोती हैं । हम उन्हीं की तरह से सभी स्त्रियों को सुखपूर्वक सुला देते हैं ॥३ ॥

६२४. एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् । अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥४ ।

समस्त जंगम प्राणियों को हमने सुला दिया है और उनके आँखों की दर्शनशक्ति को हमने ग्रहण कर लिया है तथा प्राण- संचार स्थान में विद्यमान घ्राणेन्द्रिय को भी ग्रहण कर लिया है । रात्रि के अँधेरे में हमने उनके समस्त अंगों को निद्रा के वशीभूत कर लिया है ॥४ ॥

६२५.य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति । तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ।

जो यहाँ ठहरता एवं आता-जाता रहता है और हमारी ओर देखता है, उनकी दृष्टि को हम राज- प्रासाद की तरह निश्चल बनाएँ ॥५ ॥

६२६. स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥६ ॥

(श्वान के प्रति) तुम्हारी माँ शयन करे । तुम्हारे पिता सोएँ । स्वयं (श्वान) तुम भी सो जाओ । गृहस्वामी, सभी बान्धव एवं परिकर के सब लोग सो जाएँ ॥६ ॥

६२७. स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥७ ॥

हे स्वप्न के अधिष्ठाता देव ! स्वप्न के साधनों द्वारा आप समस्त लोगों को सुला दें तथा अन्य लोगों को सूर्योदय तक निद्रित रखें । इस प्रकार सबके सो जाने पर हम इन्द्र के समान अहिंसित तथा क्षयरहित होकर प्रातःकाल तक जागते रहें ॥७ ॥

[६- विषघ्न सूक्त]

[**ऋषि -** गरुत्मान् । **देवता -** तक्षक, १ ब्राह्मण, २ द्यावा- पृथिवी, सप्तसिन्धु , ३ सुपर्ण ४-८ विष । छन्द-अनुष्टुप् ।]

६२८. ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥१ ॥

पहले दस शीर्ष तथा दस मुख वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, उसने पहले सोमपान किया । उस (सोमपान) से विष को असार-प्रभावहीन बना दिया ॥१ ॥

[यह आलंकारिक वर्णन है । सृष्टि उत्पत्ति के समय उपयोगी पदार्थों के साथ विष का भी उद्भव हुआ था । ब्रह्म से उत्पन्न या ब्रह्मनिष्ठ को ब्राह्मण कहते हैं । उस प्रथम जन्मे ब्राह्मण (ब्रह्म के अनुशासन को फलित करने वाला दिव्य प्रवाह) के सिर (विचार तंत्र) तथा मुख (ग्रहण करने या प्रकट करने वाले तंत्र) दसों दिशाओं में थे, इसलिए उसे दस सिर एवं दस मुख वाला कहा गया । विष को प्रभावहीन बनाने वाला सोम- प्रवाह भी प्रकृति में उपलब्ध है, जिसे ब्रह्मनिष्ठ ही पान कर पाते हैं ।]

६२९. यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे ।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥२ ॥

जितने विस्तार से द्यावा-पृथिवी फैली है और सप्त सिन्धु जितने परिमाण में फैले हैं, उतने स्थान तक के विष को दूर करने के लिए हम मन्त्रात्मिका वाणी का प्रयोग करते हैं ॥२ ॥

६३०.सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत् । नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ।

हे विष ! वेगवान् गरुड़ पक्षी ने आपको पहले खा लिया था । वे न उन्मत्त हुए और न बेहोश हुए । आप उनके लिए अन्न के समान बन गये ॥३ ॥

[भाव यह है कि गरुड़ के पाचन तंत्र के लिए विष घातक नहीं-सामान्य अन्न जैसा बन जाता है । विष को निष्प्रभावी बनाने वाली ऐसी कोई प्रक्रिया ऋषि जानते थे ।]

६३१. यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥४ ॥

पाँच अँगुलियों वाले जिस हाथ ने आपको मुख रूप, डोरी चढ़े हुए धनुष से मनुष्य के शरीर में डाल दिया है, उस विष को तथा विष वाले हाथ को हम अभिमंत्रित ओषधि द्वारा प्रभावहीन बनाते हैं ॥४ ॥

६३२. शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥५ ॥

शल्य क्रिया द्वारा, लेप लगाकर, पत्तों या पंख वाले उपकरण से हमने विष दूर किया । नुकीले उपकरण से-शृंग प्रयोग से कुलाल (ओषधि विशेष) द्वारा हमने विष को हटाया है ॥५ ॥

[विष हटाने की यह सब क्रियाएँ पूर्वकाल में प्रचलित थी । शृंग प्रयोग में पोले सींग को विष के स्थान पर रखकर शोषण (वैक्यूम बनाकर विष खींचने) की प्रक्रिया अभी भी प्रचलित है ।]

६३३. अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम् । उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ।

हे बाण ! आपका विष-सम्पन्न फलक विषरहित हो जाए और आपका विष भी वीर्यरहित हो जाए । उसके बाद रसहीन वृक्ष से बना आपका धनुष भी वीर्यरहित हो जाए ॥६ ॥

६३४ ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥७ ॥

विषयुक्त ओषधि प्रदान करने वाले, लेपन विष को प्रयुक्त करने वाले, दूर से विष को फेंकने वाले तथा समीप में खड़े होकर अन्न, जल आदि में विष मिलाने वाले जो मनुष्य हैं, हमने उन मनुष्यों को मंत्र बल के द्वारा प्रभावहीन कर दिया । हमने उन पर्वतों को भी प्रभावहीन कर दिया, जिन पर विष उत्पन्न होते हैं ॥७ ॥

६३५.वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ।

हे विषयुक्त ओषधे ! आपको खोदने वाले मनुष्य प्रभावहीन हो जाएँ और आप स्वयं भी प्रभावहीन हो जाएँ, तथा जिन पर्वतों और पहाड़ों पर आप उत्पन्न होती हैं, वे भी प्रभावहीन हो जाएँ ॥८ ॥

[७- विषनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - गरुत्मान् । **देवता** - वनस्पति । **छन्द** - अनुष्टुप्, ४ स्वराट् अनुष्टुप् ।]

६३६. वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥१ ।।

वरणावती ओषधि में स्थित रस हमारे विष को दूर करे । इसमें अमृत का स्रोत है । उस अमृतोपम जल के द्वारा हम आपके विष को दूर करते हैं ॥१ ॥

६३७. अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥२ ॥

पूर्व दिशा, उत्तर दिशा तथा दक्षिण दिशा में होने वाले विष निर्वीर्य हो जाएँ । इस प्रकार समस्त दिशाओं में होने वाले विष मंत्र- बल द्वारा निर्वीर्य हो जाएँ ॥२ ॥

६३८. करम्भं कृत्वा ,तर्यं पीबस्पाकमुदारथिम् ।

क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥३ ॥

हे दोषपूर्ण शरीर वाले ! पीव (मेद,चर्बी) को पकाने वाले (श्रम) तथा भूख के अनुसार खाया गया (ओषधि मिलाकर बनाया गया) करंभ (मिश्रण) रोगनाशक है ।यहतुम्हें (विष के प्रभाव से) बेहोश नहीं होने देगा ॥३ ॥

[शरीर में संव्याप्त विष को निरस्त करने के लिए यह चिकित्सा विज्ञान सम्मत सूत्र है । श्रम इतना कि उसके ताप से चर्बी गलने लगे । भूख के अनुरूप ओषधि मिश्रित सात्विक भोजन करने से विष का प्रभाव घटता ही है, वह बढ़ नहीं पाता ।]

६३९. वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।

प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥४ ॥

हे ओषधे ! आपके विष को हम धनुष से छूटने वाले बाण के समान शरीर से दूर फेंकते हैं । हे विष ! गुप्तरूप से घूमने वाले दूत के समान शरीर के अङ्गों में संव्याप्त होते हुए आपको हम मंत्र-बल के द्वारा दूर फेंकते हैं ॥४ ॥

६४०. परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।

तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥५ ॥

जनसमूह के समान इकट्ठे हुए विष को हम मंत्र बल के द्वारा बाहर निकालते हैं । हे कुदाल से खोदी हुई ओषधे ! आप अपने स्थान पर ही वृक्ष के समान रहें । इस व्यक्ति को मूर्छित न करें ॥५ ॥

६४१. पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत । प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥

हे विषयुक्त ओषधे ! महर्षियों ने आपको पवित्र (शोधित) करने के निमित्त फैलाए हुए दर्भ के तृणों से क्रय कर लिया है । आप दुष्ट हिरणों के चर्म से क्रय की हुई हैं, इसलिए आप इस स्थान से भाग जाएँ । हे कुदाल से खोदी हुई ओषधे ! आप इस व्यक्ति को मूर्छित न करें ॥६ ॥

[यहाँ क्रय कर लेना, खरीद लेना शब्द- अपने अधिकार में लेने का प्रतीक है । उक्त साधनों से शोधित करके अपने अनुकूल बनाया गया विष मारक नहीं रह जाता, औषधि की तरह प्रयुक्त होता है ।]

६४२. अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।

वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥७ ॥

हे मनुष्यो ! आपके प्रतिकूल चलने वाले जिन रिपुओं ने योग आदि प्रमुख कर्मों को किया है, उन कर्मों के द्वारा वे हमारे वीर पुत्रों को इस देश में न मारें । इस चिकित्सारूप कर्म को हम आपकी सुरक्षा के लिए आपके सामने प्रस्तुत करते हैं ॥७ ॥

[८- राज्याभिषेक सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वाङ्गिरा । **देवता -** चन्द्रमा, आपः, राज्याभिषेक , १ राजा, २ देवगण, ३ विश्वरूप, ४-५ आपः । **छन्द -** अनुष्टुप्, १,७ भुरिक् त्रिष्टुप् , ३ त्रिष्टुप् ५ विराट् प्रस्तार पंक्ति ।]

प्राचीनकाल की परिस्थितियों के अनुसार अधिकांश आचार्यों ने इस सूक्त का अर्थ राजा परक किया है । व्यापक भाव से यह इन्द्र या सूर्य पर भी घटित होता है । 'राजन्' (प्रकाशमान) , 'वेन' (तेजस्वी) जैसे संबोधन सूर्य के लिए प्रयुक्त होते ही हैं । वैसे परिवार या समाज के संरक्षक-शासक पर भी मंत्रार्थ घटित किये जा सकते हैं-

६४३. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥१ ॥

स्वयं उत्पन्न होकर, जो उत्पन्न हुए (जड़-चेतन) को पयः (पोषक रस) प्रदान करता है, वह सर्वभूतों का अधिपति हुआ। उसके राजसूय (राज्य को प्रेरणा देने वाले) प्रयोग के अनुरूप मृत्यु भी चलती है। वह राजा राज्य को मान्यता देकर आचरण करता है ॥१ ॥

६४४.अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा। आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रवन् ।

हे उग्र, चेतना संचारक 'वेन' (तेजस्वी) ! आप शत्रु विनाशक होकर आगे बढ़ें, पीछे न हटें। देवों ने आपको मित्रों का संवर्द्धन करने वाला कहा है, आप भली प्रकार स्थापित (प्रतिष्ठित) हों ॥२ ॥

६४५. आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥३ ॥

स्थापित होने पर, विश्व से विभूषित होकर, श्री (वैभव) रूप वस्त्रों से आच्छादित होकर तथा स्वप्रकाशित होकर वे विचरण करते हैं। उस विश्वरूप, प्राणयुक्त, वर्षणशील का बड़ा नाम है। वह अमृत तत्त्वों पर स्थित (आधारित) रहता है ॥३ ॥

६४६. व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥४ ॥

हे व्याघ्र ! आप बाघ (विशिष्ट घ्राण शक्ति सम्पन्न) के समान दुर्धर्ष होते हुए विशाल दिशाओं को विजित करें। समस्त प्रजाएँ आपको अपना स्वामी स्वीकार करें और बरसने वाले दिव्य जल भी आपकी कामना करें ॥४ ॥

६४७. या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥५ ॥

अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर जो दिव्यजल अपने साररूप रस से प्राणियों को तृप्त करते हैं, उन समस्त जल के तेजस् से हम आपका अभिषेक करते हैं ॥५ ॥

६४८. अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥६ ॥

हे तेजस्विन् ! दिव्य रसयुक्त जल अपने तेजस् से आपको अभिषिक्त करे। आप जिस प्रकार मित्रों को समृद्ध करते हैं, उसी प्रकार सवितादेव आपको भी समृद्ध करें ॥६ ॥

६४९. एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥७ ॥

समुद्र में द्वीप की तरह अप् (सृष्टि के मूलतत्त्व) में व्याघ्र एवं सिंह जैसे पराक्रमी को यह दिव्य धाराएँ महान् सौभाग्य के लिए प्रेरित और विभूषित करती हैं ॥७ ॥

[९- आञ्जन सूक्त]

[ऋषि - भृगु। देवता - त्रैककुदाञ्जन । छन्द - अनुष्टुप्, २ ककुम्मती अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्ति।]

६५०. एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥१ ।

हे अञ्जन मणे ! आप प्राणधारियों की सुरक्षा करने वाले पर्वत की नेत्ररूप हैं। आप देवताओं द्वारा प्रदत्त जीवन-रक्षक परिधि रूप में यहाँ पधारें ॥१ ॥

६५१. परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥२ ॥

हे अञ्जन मणे ! आप मनुष्यों तथा गौओं की सुरक्षा करने वाले हैं। आप घोड़ों तथा घोड़ियों की सुरक्षा के लिए भी स्थित रहते हैं ॥२ ॥

६५२. उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥३ ॥

जिससे आँखों को निर्मल किया जाता है, ऐसे हे अञ्जन मणे ! आप राक्षसों द्वारा दी हुई यातनाओं को नष्ट करने वाले हैं और जीवों की सुरक्षा करने वाले हैं। आप स्वर्ग में स्थित अमृत को जानने वाले और प्राणियों के अनिष्ट को दूर करके उनकी सुरक्षा करने वाले हैं। आप पाण्डु- रोग की ओषधि हैं ॥३ ॥

६५३. यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥४ ॥

हे अञ्जन मणे ! आप जिस मनुष्य के अंगों और जोड़ों में संव्याप्त हो जाते हैं, उस मनुष्य के शरीर से क्षय आदि रोगों को मेघ उड़ाने वाली वायु के समान शीघ्र ही दूर कर देते हैं ॥४ ॥

६५४. नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥५ ॥

हे अञ्जन मणे ! जो मनुष्य आपको धारण करते हैं, उनको दूसरों के द्वारा प्रेरित शाप नहीं प्राप्त होते और दूसरों के द्वारा प्रेरित अभिचार रूप कृत्या तथा कृत्या से होने वाले शोक नहीं प्राप्त होते। उनको गति-अवरोधक बाधाएँ भी नहीं प्राप्त होतीं ॥५ ॥

६५५.असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत। दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन।

हे अञ्जन मणे ! अभिचारात्मक बुरे मंत्रों से उनके द्वारा प्राप्त होने वाले कष्टों से, बुरे स्वप्नों से, पापों से उत्पन्न होने वाले दु:खों से, बुरे मन तथा दूसरों की क्रूर आँखों से आप हमारी सुरक्षा करें ॥६ ॥

६५६. इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्। सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥७ ॥

हे अञ्जन मणे ! हम आपकी महिमा को जानते हैं, इसलिए हमने यह बात सत्य ही कही है, झूठ नहीं। अतः हम आपके द्वारा गौओं, घोड़ों और जीवों की सेवा करें ॥७ ॥

६५७. त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥८ ॥

कठिनाई से जीवन निर्वाह कराने वाले ज्वर, शरीर बल को कमजोर बनाने वाले सन्निपात तथा सर्प के विष-विकार आदि तीन रोग दास के समान 'आञ्जन-द्रव्य' के वशीभूत रहते हैं। हे अञ्जन मणे ! पर्वतों में श्रेष्ठ 'त्रिककुद' नामक पर्वत आपका पिता है ॥८ ॥

६५८. यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि। यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः।

हिम से घिरे हुए 'त्रिककुद' नामक पहाड़ पर उत्पन्न होने वाले अञ्जन समस्त यातुधानों तथा यातुधानियों को विनष्ट करते रहते हैं। इसलिए वे हमारे रोगों को भी नष्ट करें ॥९ ॥

६५९. यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे। उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन।

हे अञ्जन मणे ! यदि आप 'त्रिककुद' हैं अथवा 'यामुन' कहलाते हैं, तो आपके ये दोनों नाम भी कल्याण करने वाले हैं। अतः आप अपने इन दोनों नामों से हमारी सुरक्षा करें ॥१० ॥

[१० - शङ्खमणि सूक्त]

[ऋषि -अथर्वा । देवता - शङ्खमणि, कृशन । छन्द - अनुष्टुप्, ६ पथ्यापंक्ति, ७ पञ्चपदा परानुष्टुप् शक्वरी ।]

६६०. वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥१ ॥

वायु , अन्तरिक्ष, विद्युत् और सूर्य आदि ज्योतियों से उत्पन्न तथा स्वर्ण से विनिर्मित तेजस्वी शंख, पाप से हमारी सुरक्षा करे ॥१ ॥

६६१. यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे । शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे।

हे शंख ! आप प्रकाशमान नक्षत्रों के सामने विद्यमान समुद्र में पैदा होते हैं, ऐसे ज्योतिर्मय आप से असुरों को विनष्ट करके हम पिशाचों को पराभूत करते हैं ॥२ ॥

६६२. शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥३ ॥

शंख के द्वारा हम समस्त रोगों तथा विवेकहीनता को दूर करते हैं । इसके द्वारा हम सदैव पीड़ा देने वाली अलक्ष्मी को भी तिरस्कृत करते हैं ।विघ्नों को दूर करने वाला यह तेजस्वी शंख, पापों से हमारी सुरक्षा करे ॥३ ॥

६६३. दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख-आयुष्प्रतरणो मणिः ॥४ ॥

पहले द्युलोक में उत्पन्न हुआ, समुद्र में उत्पन्न हुआ, नदियों से एकत्रित किया हुआ हिरण्य (दिव्य तेज) से निर्मित यह शंख मणि, हमारे आयुष्य की वृद्धि करने वाली हो ॥४ ॥

६६४. समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥५ ॥

समुद्र से पैदा हुआ यह (शंख) मणि तथा मेघों से उत्पन्न सूर्य सदृश यह देवताओं एवं असुरों के अस्त्रों से हमारी रक्षा करे ॥५ ॥

६६५. हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६ ॥

(हे शंख मणे !) आप तेजस्वियों में से एक हैं । आप सोम से उत्पन्न हुए हैं । रथों में आप देखने योग्य होते हैं और बाणों के आश्रय स्थान तूणीर में चमकते हुए प्रतीत होते हैं, ऐसे आप हमारे आयुष्य की वृद्धि करें ॥६ ॥

६६६. देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे
बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥७ ॥

देवों की अस्थिरूप यह मोती बना है । यह आत्मतत्त्व की तरह जल के बीच विचरण करता है । (हे व्यंक्ति विशेष !) ऐसे उस (शंखमणि) को तेजस्विता, बल तथा सौ वर्ष वाले आयुष्य के लिए (तुम्हे) बाँधता हूँ । यह सभी प्रकार तुम्हारी रक्षा करें ॥७ ॥

[हड्डियाँ चूने के योग (कैल्शियम कम्पाउण्ड्स) से बनती हैं । शंख एवं सीप भी उसीप्रकार के योगों से बनते हैं, इसी तथ्य को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर ऋषि उसे देवों की अस्थि कहते हैं ।]

[११- अनड्वान् सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - इन्द्र , अनड्वान । छन्द - त्रिष्टुप्, १,४ जगती , २ भुरिक् त्रिष्टुप्, ७ त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुप्गर्भा उपरिष्टात्जागतानिचृत्शक्वरी, ८-१२ अनुष्टुप् ।]

अनड्वान् प्राणों को भी कहा गया है(अथर्व०११.६.१०) । यह भाव इस सूक्त के संदर्भ में भी सटीक बैठता है-

६६७. अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥१ ॥

विश्वरूपी शकट को ढोने वाले वृषभरूप ईश्वर ने पृथ्वी को धारण किया है । उसने स्वर्गलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पूर्व आदि छः महादिशाओं और उर्वियों को भी धारण किया है । इस प्रकार वह अनड्वान् (शकटवाही) ईश्वर समस्त लोकों में प्रविष्ट हुआ है ॥१ ॥

६६८. अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥२ ॥

इस अनड्वान् को इन्द्र कहते हैं । वे शक्र (इन्द्रदेव) तीनों (लोकों) को नापते हैं तथा प्राणियों का निरीक्षण करते हैं, ये भविष्यत् और वर्तमानकाल में पदार्थों को उत्पन्न करते हुए देवताओं के सभी व्रतों को चलाते हैं ॥२ ॥

६६९. इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥३ ॥

इन्द्रदेव ही (जीवात्मारूप में) मनुष्यों के अन्दर प्रकट होते हैं । वे तपस्वी सूर्य की तरह प्रकाशित होते हुए विचरण करते हैं । वे भोजन नहीं करते और संचालक को जानते हुए (उसी के अनुशासन में) श्रेष्ठ प्रज्ञायुक्त होकर रहते हैं तथा देहपात के बाद भी भटकते नहीं ॥३ ॥

६७०. अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥४ ॥

सत्कर्म के पश्चात् प्राप्त होने वाले पुण्यलोक में यह ईश्वररूप अनड्वान्, इच्छित फल प्रदान करता है । पहले से पवित्र सोमरस इसको रस से परिपूर्ण करता हैं । पर्जन्य इसकी धाराएँ हैं, मरुद्गण इसके स्तन हैं और यज्ञ ही इसका पय (दुग्धं या जल) है । यज्ञ में प्रदान की जाने वाली दक्षिणा इस अनड्वान् की दोहन क्रिया है ॥४ ॥

६७१. यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥५ ॥

याजकगण इस देवस्वरूप अनड्वान् के स्वामी नहीं हैं । यज्ञक्रिया, दाता तथा प्रतिग्रहीता भी इसके स्वामी नहीं हैं । यह समस्त जगत् को विजित करने वाला तथा वायुरूप में सबका पालन-पोषण करने वाला है । जगत् के समस्त कर्म इसके ही हैं । यह चार चरण वाला हमें आलोकवान् सूर्य के विषय में उपदेश देता है ॥५ ॥

६७२. येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥६ ॥

जिस देवस्वरूप अनड्वान् के द्वारा देवगण शरीर का त्याग करके अमृत के केन्द्ररूप प्रकाश स्थान पर आरूढ़ हुए थे, उसी के द्वारा हम प्रदीप्त आदित्यदेव का व्रत करते हुए मोक्ष सुख की कामना करके पुण्य के फलरूप श्रेष्ठ लोक को प्राप्त करते हैं ॥६ ॥

६७३. इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत। सोऽदृंहयत सोऽधारयत ॥७ ॥

इन्द्रदेव ही अपने स्वरूप से अग्नि हैं । वही सृष्टिकर्त्ता तथा प्रजापति समस्त विश्व को वहन करने के कारण 'विराट्' हुए । वही समस्त मनुष्यों, अग्नियों तथा रथ खींचने वालों में संव्याप्त हैं । वही सबको बल प्रदान करते हैं तथा सबको धारण करते हैं ॥७ ॥

६७४. मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः । एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ॥

यह (यज्ञ) उस विश्व संवाहक का मध्य (भार उठाने वाला) भाग है । इस अनड्वान् वृषभ का अगला भाग उतने ही परिमाण वाला है, जितने परिमाण वाला पिछला भाग है ॥८ ॥

६७५. यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः ।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥९ ॥

जो प्रजापति रूप अनड्वान् के लोक, समुद्र आदि सात प्रकार के दोहन स्रोतों को जानते हैं, वे श्रेष्ठ प्रजाओं तथा पुण्य लोकों को प्राप्त करते हैं । ऐसा (जो कहा गया), उसे सप्तऋषि ही जानते हैं ॥९ ॥

६७६. पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥१० ॥

यह प्रजापति सम्बन्धी अनड्वान् अपने चारों पैरों से दुःख लाने वाली अलक्ष्मी को अधोमुख करके उस पर आरूढ़ होता हुआ धरती को अपनी जंघाओं (पैरों) से कुरेदता हुआ तथा अपने श्रम के द्वारा अपने अनुकूल चलने वाले किसान को अन्न प्रदान करता है ॥१० ॥

६७७. द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम् ॥११ ॥

ये बारह रात्रियाँ यज्ञात्मक प्रजापति के व्रत के योग्य हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । उतने समय में पधारे हुए वृषभरूप प्रजापति सम्बन्धी ब्रह्म को जो जानते हैं, वही इस अनडुहव्रत के अधिकारी हैं । यह ज्ञान अनडुह (विश्व संचालक) का अनुष्ठान है ॥११ ॥

६७८. दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि । दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः॥

पूर्वोक्त लक्षण वाले वृषभ का, हम प्रातःकाल, सायंकाल तथा मध्याह्नकाल में दोहन करते हैं । यज्ञानुष्ठान करने वाले के फलों का भी हम दोहन करते हैं । इस प्रकार जो इस अनड्वान् के दोहन फल से संयुक्त होते हैं- ऐसे अविनाशी दोहन कर्म को हम जानते हैं ॥१२ ॥

[१२ - रोहिणी वनस्पति सूक्त]

[ऋषि - ऋभु । देवता - वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप्, १ त्रिपदा गायत्री, ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिक् गायत्री, ७ बृहती ।]

इस सूक्त में टूटे अंगों को जोड़ने एवं जले-कटे घावों को भरने के लिए 'रोहिणी' नामक ओषधि का उल्लेख है । वैद्यक ग्रन्थों में इसके वीरवती (वीरों वाली) चर्मकषा, मांसरोही (चर्म तथा मांस को स्थापित करने वाली) प्रहारवल्ली (प्रहार के उपचार में प्रयुक्त) आदि नाम दिये गए हैं । मंत्रों में इसकी ऐसी उपचारपरक विशेषताओं का वर्णन है । पूर्वकाल के युद्धों के समय वैद्यगण रातभर में योद्धाओं के घावों का उपचार करके, उन्हें प्रातः फिर से युद्ध के योग्य बना देते थे । उसमें दिव्य ओषधि प्रयोगों के साथ मन्त्र शक्ति एवं प्राण शक्ति का प्रयोग भी किया जाता रहा होगा । मन्त्रों में दिये गए वर्णन से स्पष्ट होता है कि कटे

हुए अंगों को हड्डी से हड्डी, मांस से मांस , चमड़ी से चमड़ी जोड़ने की क्षमता उन्हें प्राप्त थी। रुधिर, मांस, हड्डियों को आवश्यकतानुसार बढ़ाने की कला भी उन्हें ज्ञात थी-

६७९. रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुन्धति ॥१ ॥

हे लाल वर्ण वाली रोहिणि ! आप टूटी अस्थियों को पूर्णता प्रदान करने वाली हैं । हे अरुन्धति ! (उपचार के मार्ग में बाधा न आने देने वाली) आप इस (घाव आदि) को भर दें ॥१ ॥

६८०. यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥२ ॥

(हे घायल व्यक्ति !) आपके जो अंग चोट खाये हुए या जले हुए हैं, प्रहार से जो अंग टूट या पिस गये हैं; उन समस्त अंगों को देवगण इस भद्रा (हितकारी ओषधि या शक्ति) के माध्यम से जोड़ दें- ठीक कर दें ॥२ ॥

६८१. सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः ।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥३ ॥

(हे घायल मनुष्य !) आपके शरीर में स्थित छिन्न मज्जा पुनः बढ़कर सुखकारी हो जाए, पोरु से पोरु जुड़ जाएँ । मांस का छिन्न-भिन्न हुआ भाग तथा हड्डी भी जुड़कर ठीक हो जाए ॥३ ॥

६८२. मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥४ ॥

छिन्न-भिन्न मज्जा-मज्जा से, मांस- मांस से तथा चर्म-चर्म से मिल जाए । रुधिर एवं हड्डियाँ भी बढ़ जाएँ ॥४ ।

६८३. लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।
असृक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥५ ॥

हे ओषधे ! (शस्त्र प्रहार से अलग हुए) आप रोम को रोम से, त्वचा को त्वचा से मिलाकर ठीक कर दें तथा आपके द्वारा हड्डियों का रक्त दौड़ने लगे । टूटे हुए अन्य अंगों को भी आप जोड़ दें ॥५. ॥

६८४. स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥६ ॥

(हे छिन्न-भिन्न अंग वाले मनुष्य !) आप (मन्त्र और ओषधि के बल से) स्वस्थ होकर अपने शयन स्थान से उठ करके वेगपूर्वक गमन करें । जिस प्रकार श्रेष्ठ चक्रों वाले, सुदृढ़ नेमि वाले तथा सुदृढ़ नाभि वाले रथ दौड़ते हुए प्रतिष्ठित होते हैं, उसी प्रकार आप भी सुदृढ़ अंग वाले होकर दौड़ते हुए प्रतिष्ठित हों ॥६ ॥

६८५. यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥७ ॥

घाव, धारवाले शस्त्र के प्रहार से हुआ हो या पत्थर की चोट से हुआ हो, जिस प्रकार ऋभुदेव (या कुशल शिल्पी) रथों के अंग-अवयव जोड़ देते हैं; वैसे ही पोरु से पोरु जुड़ जाएँ ॥७ ॥

[१३ - रोग निवारण सूक्त]

[**ऋषि -** शन्ताति । देवता - चन्द्रमा, विश्वेदेवा, (१ देवगण, २-३ वात, ४ मरुद्गण, ६-७ हस्त ।) **छन्द-** अनुष्टुप् ।]

६८६. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१ ॥

हे देवगण ! हम पतितों को बार-बार ऊपर उठाएँ । हे देवो ! हम अपराधियों के अपराध- कर्मों का निवारण करें । हे देवो ! हमारा संरक्षण करते हुए आप हमें दीर्घायु बनाएँ ॥१ ॥

६८७. द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद् रपः ॥२ ॥

ये दो वायु , एक समुद्र पर्यन्त और दूसरे समुद्र से सुदूर प्रवाहित होते हैं । उन दोनों में से एक तो आपको (स्तोता को) बल प्रदान करें और दूसरे आपके पापों को विनष्ट करें ॥२ ॥

६८८. आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे।

हे वायुदेव ! आप व्याधियों का निवारण करने वाली कल्याणकारी ओषधि को लेकर आएँ । जो अहितकर पाप (मल) हैं, उन्हें यहाँ से बहाकर ले जाएँ । आप संसार के लिए ओषधिरूप, कल्याणकारी, देवदूत बनकर सर्वत्र संचार करते हैं ॥३ ॥

६८९.त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः । त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्।

इस लोक में समस्त देवगण हमें संरक्षण प्रदान करें । मरुद्‌गण और समस्त प्राणी हमारी रक्षा करें । वे हमारे शरीर के रोगों और पापों का निवारण करें ॥४ ॥

६९०. आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५ ॥

हे स्तोताओ ! आपके लिए सुख-शान्ति प्रदायक और अहिंसक संरक्षण साधनों के साथ हमारा आगमन हुआ है । आपके लिए मंगलमय शक्तियों को भी हमने धारण किया है । अस्तु , इस समय तुम्हारे सम्पूर्ण रोगों का निवारण करता हूँ ॥५ ॥

६९१. अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥६।

यह हमारा हाथ सौभाग्ययुक्त है, अति सौभाग्यशाली यह हाथ सबके लिए सभी रोगों का निवारण-कर्त्ता है । यह हाथ शुभ और कल्याणकारी है ॥६ ॥

६९२. हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥७ ॥

मन्त्रोच्चारण करते समय जैसे वाणी के साथ जिह्वा गति करती है । वैसे ही दस अँगुलियों वाले दोनों हाथों से आपका स्पर्श करते हुए आपको रोगों से मुक्त करते हैं ॥७ ॥

[१४ - स्वर्ज्योति प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - भृगु । **देवता** - आज्य, अग्नि । **छन्द** - त्रिष्टुप् , २,४ अनुष्टुप्, ३ प्रस्तारपंक्ति, ७,९ जगती, ८ पञ्चपदा अतिशक्वरी ।]

६९३. अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥१ ॥

अग्नि ही 'अज' है । यह दिव्य तेज से उत्पन्न है । इस अज (जन्मरहित यज्ञाग्नि अथवा काया में जीव रूप स्थित प्राणाग्नि) ने पहले अपने उत्पन्नकर्त्ता को देखा (उसकी ओर सहज उन्मुख हुआ) । इस अज की सहायता से देवों ने देवत्व प्राप्त किया, दूसरे मेधावी (ऋषिगण) उच्च लोकों तक पहुँचे ॥१ ॥

६९४. क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥२ ॥

हे मनुष्यो ! आप लोग अन्न को हाथ में लेकर अग्नि की सहायता से (यज्ञ करते हुए) स्वर्गलोक को प्राप्त करें, उसके बाद द्युलोक के पृष्ठ भाग उन्नत स्वर्ग में जाकर आत्मिक ज्योति को प्राप्त करते हुए देवताओं के साथ मिलकर बैठें ॥२ ॥

६९५. पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्व१र्ज्योतिरगामहम् ॥३ ॥

हम भूलोक के पृष्ठ भाग से अन्तरिक्षलोक में चढ़ते हैं और अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में चढ़ते हैं । हमने सुखमय द्युलोक से ऊपर, स्वज्योति (आत्म-ज्योति) को प्राप्त किया ॥३ ॥

६९६. स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥४ ॥

जो श्रेष्ठ ज्ञानी जन विश्व को धारण करने वाले यज्ञ का विस्तार करते हैं । वे आत्मज्योति-सम्पन्न द्युलोक की अभिलाषा नहीं करते । वे पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक से ऊपर उठ जाते हैं । ।४ ॥

६९७. अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥५ ॥

हे अग्निदेव ! आप देवों में प्रमुख हैं, इसलिए आप बुलाने योग्य स्थान में पधारें । आप देवताओं एवं मनुष्यों के लिए नेत्र रूप हैं । आपकी संगति चाहने वाले याजकगण भृगुओं (तपस्वियों) के साथ प्रीतिरत होकर स्वः (आत्म-तत्त्व या स्वर्ग) तथा स्वस्ति (कल्याण) को प्राप्त करें ॥५ ॥

६९८. अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥६ ॥

इस दिव्य गतिशील, वर्द्धमान, सुवर्ण (तेजस्वी) 'अज' का हम पय (दुग्ध या रस) तथा घृत (घी या सार अंश) से यजन करते हैं । उस (अज) के माध्यम से आत्म-चेतना को पुण्य लोकों की ओर उन्मुख करके उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति करेंगे ॥६ ॥

६९९. पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥७ ॥

पाँच प्रकार से बँटने वाले अन्न को पाँचों अँगुलियों के द्वारा पाँच भागों में विभक्त करें । इस 'अज' के सिर को पूर्व दिशा में रखें तथा इसके दाहिने भाग को दक्षिण दिशा में रखें ॥७ ॥

७००. प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां
दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥

इस 'अज' के कटिभाग को पश्चिम दिशा में स्थापित करें, उत्तर पार्श्व भाग को उत्तर दिशा में स्थापित करें । पीठ को ऊर्ध्व दिशा में स्थापित करें और पेट को ध्रुव (नीचे) दिशा में स्थापित करें तथा इसके मध्य भाग को मध्य अन्तरिक्ष में स्थापित करें ॥८ ॥

७०१. शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम्।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥९ ॥

अपने समस्त अंगों से सम्यक्‌रूप से विश्वरूप बने, परिपूर्ण 'अज' को ईश्वर के आच्छादन से ढकें । हे अज ! आप इस लोक से स्वर्गलोक की तरह चारों पैरों से चढ़ते हुए चारों दिशाओं में संव्याप्त हों ॥९ ॥

[मंत्र ७-८ में अज (यज्ञाग्नि या प्राणाग्नि) को विराट्‌रूप देकर विभिन्न दिशाओं में स्थापित करने का भाव है । दिशाओं के बोध कराने का भी उचित ढंग वर्णित है । अज को यज्ञ एवं जीवन को पूरी तरह विराट् में समर्पित कर देने का भाव ९ में है ।]

[१५ - वृष्टि सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १ दिशा, २-३ वीरुध, ४ मरुद्‌गण, पर्जन्य, ५-९ मरुद्‌गण, १० अग्नि, ११ स्तनयित्नु, प्रजापति, १२ वरुण, १३-१५ मण्डूकसमूह, पितरगण, १६ वात । छन्द - त्रिष्टुप्, १-२,५ विराट् जगती, ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७-८, १३-१४ अनुष्टुप्, ९ पथ्यापंक्ति, १० भुरिक् त्रिष्टुप्, १२ पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् त्रिष्टुप्, १५ शंकुमती अनुष्टुप् ।]

७०२. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥१ ॥

वायु से युक्त दिशाएँ बादलों के साथ उदित हों और वृष्टि के निमित्त जल वहन करने वाले बादल, वायु द्वारा प्रेरित होकर एकत्र हों । महा वृषभ के समान गर्जना करने वाले बादल जल के द्वारा पृथ्वी को तृप्त करें ॥१ ॥

७०३. समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२ ॥

श्रेष्ठ दानी मरुद्‌गण हमारे लिए जलवृष्टि कराएं । जल के रस ओषधियों से संयुक्त हों । वृष्टि की जल धाराएँ पृथ्वी को समृद्ध करें और उनके द्वारा विविधरूप वाली ओषधियाँ उत्पन्न हों ॥२ ॥

७०४. समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥३ ॥

हे मरुद्‌गण ! हम आपकी प्रार्थना करते हैं, इसलिए आप हमें जलयुक्त मेघों का दर्शन कराएँ । जल के प्रवाह अलग-अलग होकर गमन करें और वृष्टि की धाराएँ पृथ्वी को समृद्ध करें । विविधरूप वाली ओषधियाँ पृथ्वी पर उत्पन्न हों ॥३ ॥

७०५. गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥४ ॥

हे पर्जन्यदेव ! गर्जना करने वाले मरुद्‌गण आपका अलग-अलग गुणगान करें । बरसते हुए मेघ की धाराओं से आप पृथ्वी को गीला करें ॥४ ॥

७०६. उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५ ॥

हे मरुद्देवो ! सूर्य की गर्मी के द्वारा आप बादलों को समुद्र से ऊपर की ओर ले जाएँ, उड़ाएँ और महा वृषभ (ऋषभ) के समान गर्जना करने वाले जल-प्रवाह से आप भूमि को तृप्त करें ॥५ ॥

७०७. अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि ।

त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥६ ॥

हे पर्जन्यदेव ! गड़गड़ाहट की गर्जना से युक्त होकर ओषधिरूप वनस्पतियों में गर्भ स्थापित करें । उदक-धारक रथ से गमन करें । उदक पूर्ण (जल पूर्ण) मेघों के मुख को नीचे करें और इसे खाली करें, ताकि उच्च और निम्न प्रदेश समतल हो सकें ॥६ ॥

[**जब मेघ गरजते हैं, तब विद्युत् के प्रभाव से नाइट्रोजन के उर्वर यौगिक (कम्पाउण्ड) बनते हैं । उनसे वनस्पतियों को शक्ति मिलती है ।**]

७०८. सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत । मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ।

हे मनुष्यो ! श्रेष्ठ दानी मरुद्गण आपको तृप्त करें । अजगर की तरह मोटे जल-प्रवाह प्रकट हों और वायु के द्वारा प्रेरित बादल पृथ्वी पर वर्षा करें ॥७ ॥

७०९. आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥८ ॥

दिशाओं-दिशाओं में विद्युत् चमके और सभी दिशाओं में वायु प्रवाहित हो । इसके बाद वायु द्वारा प्रेरित बादल धरती की ओर अनुकूलता से आगमन करें ॥८ ॥

७१०. आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥९ ॥

हे श्रेष्ठ दानी मरुतो ! जल, विद्युत्, मेघ, वृष्टि तथा अजगर के समान आकार वाले आपके जल-प्रवाह संसार को तृप्त करें और आपके द्वारा प्रेरित बादल धरती की रक्षा करें ॥९ ॥

७११. अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥१० ॥

मेघों के शरीररूप जल से एकरूप हुए विद्युताग्नि, उत्पन्न होने वाली वनौषधियों के पालक हैं । वे जातवेदा अग्निदेव हमें प्राणियों में जीवन- संचार करने वाली तथा स्वर्ग के अमृत को उपलब्ध कराने वाली वृष्टि प्रदान करें।

७१२. प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥११ ॥

प्रजापालक सूर्यदेव जलमय समुद्र से जल को प्रेरित करते हुए समुद्र को गति प्रदान करें । उनके द्वारा अश्व के समान गतिवाले तथा वृष्टि करने वाले बादलों से जल की वृद्धि हो । हे पर्जन्यदेव ! इन गर्जनकारी मेघों के साथ आप हमारे सम्मुख पधारें ॥११ ॥

७१३. अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥१२ ॥

प्राणों को वृष्टि का जल प्रदान करने वाले हमारे पालक सूर्यदेव, वृष्टि के जल को तिरछे भाव से बरसाएँ । उस समय जल के गड़-गड़ शब्द करने वाले प्रवाह चलें । हे वरुणदेव ! आप भी पृथ्वी पर आगमन करने वाले जल को बादलों से पृथक् करें । उसके बाद सफेद भुजा वाले मेढक पृथ्वी पर आकर शब्द करें ॥१२ ॥

७१४. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१३ ॥

वर्ष भर गुप्त स्थिति में बने रहने वाले, व्रतपालक ब्राह्मणों (तपस्वियों) की भाँति रहने वाले मण्डूकगण, पर्जन्य को प्रसन्न (जीवन्त) करने वाली वाणी बोलने लगे हैं ॥१३॥

[मेढक सर्दियों में सुप्तावस्था (हाइबरेशन) की स्थिति में रहते हैं। ग्रीष्मकाल में तपन सहन करते हुए शान्त रहते हैं। तपस्वी ब्राह्मण भी अपनी तप:शक्ति बढ़ाते हुए वर्ष भर साधनारत रहते थे। उस तप के आधार पर ही प्रकृति से वाञ्छित अनुदान पाने के लिए वे प्राणवान् मंत्रों का प्रभावी प्रयोग कर पाते थे। उसी तथ्य का यहाँ आलंकारिक वर्णन है।]

७१५.उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥१४॥

हे मण्डूकि ! आप हर्षित होकर वेगपूर्वक ध्वनि करें। हे तादुरि ! आप वर्षा के जल को बुलाएँ और तालाब में अपने चारों पैरों को फैलाकर तैरें ॥१४॥

७१६. खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि। वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥१५॥

हे खण्वखे (बिलवासी) ! हे खैमखे (शान्त रहने वाली) ! हे तदुरि (छोटी मेढकी) ! तुम वर्षा के बीच आनन्दित होओ ? हे पितरो ! आप मरुद्गणों के मन को अनुकूल इच्छा युक्त बनाओ ॥१५॥

७१७. महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥१६॥

हे पर्जन्यदेव ! आप अपने जलरूपी महान् कोश को विमुक्त करें और उसे नीचे बहाएँ, जिससे ये जल से परिपूर्ण नदियाँ अबाधित होकर पूर्व की ओर प्रवाहित हों। आप जल-राशि से द्यावा-पृथिवी को परिपूर्ण करें, ताकि हमारी गौओं को उत्तम पेय जल प्राप्त हो ॥१६॥

[१६- सत्यानृतसमीक्षक सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा। **देवता** - वरुण। **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ अनुष्टुप्, ५ भुरिक् त्रिष्टुप्, ७ जगती, ८ त्रिपात् महाबृहती ९ त्रिपदा विराट् गायत्री।]

७१८. बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति। य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥

महान् अधिष्ठाता (वरुणदेव) सभी वस्तुओं के जानने वाले हैं। वे समस्त कर्मों को निकटता से देखते हैं तथा सबके वृत्तान्तों को जानते हैं ॥१॥

७१९. यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥२॥

जो स्थित रहता है, जो चलता है, जो गुप्त (बल भरा) अथवा खुला व्यवहार करता है तथा जब दो मनुष्य एक साथ बैठकर गुप्त विचार- विमर्श करते हैं, तब उनमें तीसरे (उनसे भिन्न) होकर राजा वरुणदेव उन सबको जानते हैं ॥२॥

७२०. उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥३॥

यह पृथ्वी और दूर अन्तर पर मिलने वाला विशाल द्युलोक राजा वरुण के वश में है। पूर्व-पश्चिम के दोनों समुद्र भी वरुणदेव की दोनों कोखें हैं। इस प्रकार वे (जगत् को व्याप्त करते हुए) थोड़े जल में भी विद्यमान हैं ॥३॥

७२१. उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

जो (अनुशासनहीन) द्युलोक से परे चले जाते हैं, वे भी राजा वरुण के पाशों से मुक्त नहीं हो सकते; क्योंकि उनके दिव्य दूत पृथ्वी पर विचरण करते हैं और अपनी हजारों आँखों से भूमि का निरीक्षण करते रहते हैं ॥४ ॥

७२२. सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥५ ॥

द्यावा-पृथिवी के बीच में निवास करने वाले तथा अपने सामने निवास करने वाले प्राणियों को राजा वरुणदेव विशेष रूप से देखते हैं । वे मनुष्यों की पलकों के झपकों को उसी प्रकार गिनते तथा नापते हैं, जिस प्रकार जुआरी अपने पासों को नापता रहता है ॥५ ॥

७२३. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥६ ॥

हे वरुणदेव ! पापी मनुष्यों को बाँधने के लिए आपके जो उत्तम, मध्यम और अधम सात-सात पाश हैं, वे असत्य बोलने वाले रिपुओं को छिन्न-भिन्न करें और सत्यभाषी पुण्यात्माओं को मुक्त करें ॥६ ॥

७२४. शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥७ ॥

हे वरुणदेव ! आप अपने सैकड़ों पाशों द्वारा इस (रिपु) को बाँधें । हे मनुष्यों को देखने वाले वरुणदेव ! मिथ्याभाषी मनुष्य आपसे बचने न पाएँ । दुष्ट मनुष्य अपने उदर को पतित (नष्ट) करके, बिना बँधे (व्यक्त) कोश की तरह उपेक्षित पड़ा रहे ॥७ ॥

७२५. यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः ।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥८ ॥

जो सम है-जो विषम है, जो देश (क्षेत्र) में रहने वाला अथवा विदेश (विशिष्ट क्षेत्र) में रहने वाला है, जो देवों से सम्बन्धित है या मनुष्यों से सम्बन्धित है, वह सब वरुण का (पाश या प्रभाव) ही है ॥८ ॥

७२६. तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननुसंदिशामि ॥९ ॥

हे अमुक माता-पिता के पुत्रो ! हम आपको पूर्व ऋचा में वर्णित वरुणदेव के समस्त पाशों (प्रभावों) से बाँधते हैं । आपके लिए उन सबको प्रेरित करते हैं ॥९ ॥

[१७ - अपामार्ग सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - अपामार्ग वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप् ।]

७२७. ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे । चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा । ।

हे ओषधे ! रोग निवारण के लिए ओषधिरूप में प्रयुक्त होने वाली अन्य ओषधियों की आप स्वामिनी हैं । हम आपका आश्रय ग्रहण करते हैं । हे ओषधे ! समस्त रोगों के निवारण के लिए हम आपको सहस्र - वीर्यों से सम्पन्न करते हैं ॥१ ॥

७२८. सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥२ ॥

दोषों को दूर करने वाली 'सत्यजित', क्रोध को विनष्ट करने वाली 'शपथ यावनी', अभिचारों को सहने वाली 'सहमाना' तथा बार-बार रोगों को नष्ट करने वाली (अथवा विरेचक) 'पुनःसरा' आदि ओषधियों को हम प्राप्त करते हैं। वे इन रोगों से हमें तार दें ॥२ ॥

७२९. या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥

जो पिशाचिनियाँ क्रोधित होकर शाप देती हैं और मूर्छित करने वाला पाप कर्म करती हैं तथा जो शरीर के रक्त को हरने के लिए नवजात शिशु को भी पकड़ लेती हैं, वे सब पिशाचिनियाँ अभिचार करने वाले शत्रु के ही पुत्र को खाएँ ॥३ ॥

७३०. यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥४ ॥

हे कृत्ये ! अभिचारकों ने जिस आभिचारिक प्रयोग को आपके लिए कच्चे मिट्टी के बर्तन में किया है, धुएँ से नीली और ज्वाला से लाल अग्नि स्थान में किया है तथा कच्चे मांस में किया है, उससे आप उन अभिचारकों का ही नाश करें ॥४ ॥

७३१. दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥५ ॥

अरिष्ट दर्शनरूपी बुरे स्वप्न को, दुःखदायी जीवन बिताने की स्थिति को, राक्षस जाति को, अभिचार क्रिया से उत्पन्न भारी भय को, निर्धनता बढ़ाने वाली अलक्ष्मियों को तथा बुरे नाम वाली समस्त पिशाचियों को हम इस पुरुष से दूर करते हैं ॥५ ॥

७३२. क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ।।६।

हे अपामार्ग ओषधे ! अत्यधिक भूख से मरना, अत्यधिक प्यास से मरना अथवा भूख-प्यास से मरना, वाणी अथवा इन्द्रियों के दोष तथा सन्तानहीनता आदि दोषों को हम आपके द्वारा दूर करते हैं ॥६ ॥

७३३. तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥

प्यास से मरना, भूख से मरना तथा इन्द्रिय का नष्ट होना आदि समस्त दोषों को हे अपामार्ग ओषधे ! आपकी सहायता से हम दूर करते हैं ॥७ ॥

७३४. अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी। तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर।

हे अपामार्ग ओषधे ! आप समस्त ओषधियों को वशीभूत करने वाली अकेली ओषधि हैं। हे रोगिन् ! आपके रोगों को हम अपामार्ग ओषधि से दूर करते हैं ॥८ ॥

[१८ - अपामार्ग सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - अपामार्ग वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप्, ६ बृहतीगर्भा अनुष्टुप् ।]

७३५. समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती। कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥

जिस प्रकार प्रभा और सूर्य का तथा दिन और रात्रि का समानत्व सत्य है, उसी प्रकार हम भी सत्य की रक्षा के लिए यत्न करते हैं। जिससे हिंसा करने वाली कृत्याएँ निष्क्रिय हो जाएँ ॥१ । ।

७३६. यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम्।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥२ ॥

हे देवो ! जो (दुष्ट व्यक्ति) अनजान व्यक्ति के घर कृत्या को प्रेरित करे, वह कृत्या वापस लौटकर उस अभिचारी पुरुष से इस प्रकार लिपटे, जिस प्रकार दूध पीने वाला बच्चा अपनी माता से लिपटता है ॥२ ॥

७३७. अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥३ ॥

जो पापात्मा, गुप्त स्थान में कृत्या प्रयोग करके उससे दूसरों की हिंसा करते हैं, उस दग्ध क्रिया (अग्नि संयोग) वाली विधि में बहुत से पत्थर 'फट' शब्द पुनः-पुनः करते हैं ॥३ ॥

[इस अग्नि संयोग से किये जाने वाले कृत्या प्रयोग में 'फट' करने वाले, विस्फोटक पदार्थों (गंधक, सोरा, मेनशिल, पोटाश जैसे ठोस पदार्थों) का प्रयोग किये जाने का यहाँ आभास मिलता है ।]

७३८. सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ्छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥४ ॥

हे हजारों स्थानों में उत्पन्न होने वाली सहदेवी ओषधे ! आप हमारे रिपुओं को कटे हुए बालों वाले तथा कटे हुए ग्रीवा वाले करके, विनष्ट कर डालें । उनकी प्रिय कृत्या शक्ति को उन्हीं के पास पहुँचा दें ॥४ ॥

७३९. अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥

जिस कृत्या को बीज बोने योग्य स्थान में गाड़ा गया है, जिस कृत्या को गौओं के बीच में गाड़ा गया है, जिसको वायु- प्रवाह के स्थान में रखा गया है तथा जिसको मनुष्यों के गमन स्थान में गाड़ा गया है, उन सब कृत्याओं को हम सहदेवी ओषधि से दूषित (प्रभावहीन) करते हैं ॥५ ॥

७४०. यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः।

जो (शत्रुगण) कृत्या प्रयोग करते हैं, किन्तु कर नहीं पाते, पैर की अँगुली आदि ही तोड़ने का प्रयास करते हैं, उनके लिए वह (कृत्या) पीड़ा उत्पन्न करे तथा हमारा भला करे ॥६ ॥

७४१. अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः । अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥७ ॥

अपामार्ग नामक ओषधि हमारे आनुवंशिक रोगों तथा शत्रुओं के आक्रोशों को हमसे दूर करे । वह पिशाचियों तथा समस्त अलक्ष्मियों को भी बन्धनग्रस्त करके हमसे दूर करे ॥७ ॥

७४२. अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥८।

हे अपामार्ग ओषधे ! आप यातना देने वाले समस्त यक्ष-राक्षसों तथा निर्धन बनाने वाले समस्त पाप-देवताओं को हमसे दूर करें । आपके साधनों के द्वारा हम अपने समस्त दुःखों को दूर करते हैं ॥८ ॥

[१९ - अपामार्ग सूक्त]

[**ऋषि** - शुक्र । **देवता** - अपामार्ग वनस्पति । **छन्द** - अनुष्टुप्, २ पथ्यापंक्ति ।]

७४३. उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥१ ॥

हे अपामार्ग ओषधे ! आप रिपुओं का विनाश करने वाली हैं । आप कृत्या का प्रयोग करने वाले रिपुओं की सन्तानों को वर्षा में पैदा होने वाली 'नड़ (नरकुल) नामक' घास के समान काटकर विनष्ट कर डालें ॥१ ॥

७४४. ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२ ॥

हे सहदेवि ! 'नृषद' के पुत्र कण्व नामक ब्राह्मण ने आपका वर्णन किया है । आप याजक की सुरक्षा के लिए तेजस्वी सेना के समान जाती हैं, अत: आप जहाँ गमन करती हैं, वहाँ अभिचारजन्य भय नहीं होता ॥२ ॥

७४५. अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ।

प्रकाश के द्वारा संसार को आलोकित करते हुए सूर्यदेव जिस प्रकार ज्योतियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार हे सहदेवि ! आप भी समस्त ओषधियों में श्रेष्ठ हैं । हे अपामार्ग ओषधे ! आप अपने बल के द्वारा कृत्या के दोषों को नष्ट करती हुई दुर्बलों की सुरक्षा करती हैं और राक्षसों का विनाश करती हैं ॥३ ॥

७४६. यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत । ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥४॥

हे ओषधे ! पूर्वकाल में इन्द्रादि देवों ने आपके द्वारा 'राक्षसों' को तिरस्कृत किया था । आप अन्य ओषधियों के ऊपर विद्यमान रहकर अपामार्ग रूप से पैदा होती हैं ॥४ ॥

७४७. विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥५ ॥

हे अपामार्ग ओषधे ! आप सैकड़ों शाखाओं वाली होकर 'विभिन्दती' नाम प्राप्त करती हैं । आपके पिता का नाम 'विभिन्दन्' है । अत: जो हमारे विनाश की कामना करते हैं, उन रिपुओं के सामने जाकर आप उनका विनाश करें ॥५ ॥

७४८. असद् भूम्याः समभवत् तद् यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥६ ॥

हे ओषधे ! आप असत् भूमि से उत्पन्न हैं, फिर भी आपकी महत्ता द्युलोक तक संव्याप्त होती है । आप (कृत्या अभिचार) करने वाले के पास ही उसे निश्चित रूप से पहुँचा दें ॥६ ॥

७४९. प्रत्यङ् हि सम्बभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥७ ॥

हे अपामार्ग ओषधे ! आप प्रत्यक्ष फल वाली उत्पन्न हुई हैं । आप रिपुओं के आक्रोशों तथा उनके विस्तृत मारक-अस्त्रों को हमसे दूर करके उनके पास लौटा दें ॥७ ॥

७५०. शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥८ ॥

हे सहदेवी ओषधे ! रक्षा के सैकड़ों उपायों द्वारा आप हमारी सुरक्षा करें और हजारों उपायों द्वारा कृत्या के दोष से हमें बचाएँ । हे लतापति ओषधे ! प्रचण्ड बलशाली इन्द्रदेव हममें ओजस्विता स्थापित करें ॥८ ॥

[२० - पिशाचक्षयण सूक्त]

[**ऋषि** - मातृनामा । **देवता** - मातृनामौषधि । **छन्द** - अनुष्टुप्, १ स्वराट् अनुष्टुप्, ९ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के ऋषि एवं देवता दोनों ही 'मातृनामा' हैं । मातृनामा का एक अर्थ होता है 'माता है नाम जिनका' । इस आधार पर सूक्त मंत्रों में देवी सम्बोधन सर्वव्यापी मातृसत्ता को लक्ष्य करके कहा गया प्रतीत होता है । कौशिक सूत्र के विनियोग के आधार पर सायण आदि आचार्यों ने इसे 'त्रिसन्ध्या-मणि' अथवा 'सदम्पुष्पा' के साथ जोड़ा है । हितकारिणी मणि या ओषधि के लिए 'माता-देवि' जैसे सम्बोधन उचित भी हैं । मातृनाम-मातृसत्ता को किसी ओषधि में संव्याप्त देखना तो उचित है, किन्तु उसे वहीं तक सीमित मानना उचित नहीं प्रतीत होता । मंत्रों में उस देवी के जो व्यापक प्रभाव कहे गये हैं, वे किसी भौतिक पदार्थ के लिए अतिरंजित लगते हैं । किसी दिव्य सत्ता के लिए ही वे स्वाभाविक हो सकते हैं-

७५१. आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।
दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति ॥१ ॥

वह देवी (मातृनामा-दिव्यदृष्टि) देखती है, दूर तक देखती है, विशेष कोण से देखती है, समग्र रूप से देखती है । द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी सभी को वह देवी देखती है ॥१ ॥

७५२. तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥२ ॥

हे देवि ! आपके प्रभाव से हम तीनों द्युलोक, तीनों पृथ्वीलोक, इन छहों दिशाओं तथा (उसमें निवास करने वाले) समस्त प्राणियों को प्रत्यक्ष देखते हैं ॥२ ॥

[यह सृष्टि तीन आयामों वाली (थ्री डायमेंशनल) कही गई है, द्युलोक तथा पृथ्वी के तीनों आयामों में देखने की क्षमता अथवा द्यावा-पृथिवी की त्रिगुणात्मकता को समझने का भाव यहाँ परिलक्षित होता है । दिशाएँ चारों ओर की चार तथा ऊपर नीचे मिलाकर छः होना तो मान्य है ही ।]

७५३. दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥३ ॥

हे देवि ! स्वर्ग में स्थित उस सुपर्ण (गरुड़ या सूर्य) के नेत्रों की आप कनीनिका हैं । जिस प्रकार थकी हुई स्त्री पालकी पर आरूढ़ होती है, उसी प्रकार पृथ्वी पर आपका आरोहण (अवतरण) हुआ है ॥३ ॥

७५४. तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥४ ॥

हजारों नेत्रों वाले (इन्द्रदेव या सूर्य) ने इसे हमारे दाहिने हाथ में रखा है । हे ओषधे ! उसके माध्यम से हम शूद्रों और आर्यों सभी को देखते हैं ॥४ ॥

७५५. आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५ ॥

हे देवि ! आप राक्षसों आदि को दूर करने वाले अपने स्वरूप को प्रकट करें, अपने को छिपाएँ नहीं । हे हजारों आँखों से देखने वाली देवि ! गुप्तरूप से विचरण करने वाले पिशाचों से हमारी सुरक्षा करने के लिए आप उन्हें देखें ॥५ ॥

७५६. दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥६ ॥

हे देवि ! आप असुरों को हमें दिखाएँ, जिससे वे गुप्तरूप में रहकर हमें कष्ट न दे सकें । आप यातुधानियों तथा समस्त प्रकार की पिशाचियों को भी हमें दिखाएँ, इसीलिए हम आपको धारण करते हैं ॥६ ॥

७५७. कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥७ ॥

हे ओषधे ! आप कश्यप (ऋषि अथवा सर्वद्रष्टा) की आँख हैं और चार आँखों वाली देवशुनि की भी आँख हैं । ग्रह-नक्षत्रों आदि से सम्पन्न आकाश में सूर्य के सदृश विचरण करने वाले पिशाचों को आप न छिपने दें ॥७ ॥

७५८. उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् । तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥

रक्षण-साधनों के द्वारा हमने राक्षसों को वशीभूत कर लिया है । उसके द्वारा हम शूद्रों अथवा आर्यों से युक्त समस्त ग्रहों को देखते हैं ॥८ ॥

७५९. यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥९ ॥

जो अन्तरिक्ष से नीचे आता है तथा द्युलोक को भी लाँघ जाता है, उस पिशाच को भी हमारी दृष्टि में ले आएँ ।

[२१ - गोसमूह सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - गो-समूह । छन्द - त्रिष्टुप्, २-४ जगती ।]

७६०. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥१ ॥

गौएँ हमारे घर आकर हमारा कल्याण करें । वे (गौएँ) गोशाला में रहकर हमें आनन्दित करें । इन गौओं में अनेक रंग-रूप वाली गौएँ बछड़ों से युक्त होकर, उषाकाल में इन्द्रदेव के निमित्त दुग्ध प्रदान करें ॥१ ॥

७६१. इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप याजक एवं स्तोताओं के लिए अभिलषित अन्न-धन प्रदान करते हैं । उनके धन का कभी हरण नहीं करते, वरन् उसे निरन्तर बढ़ाते हैं । देवत्व को प्राप्त करने की इच्छा वालों को अखण्डित एवं सुरक्षित निवास देते हैं ॥२ ॥

[आगे की कुछ ऋचाएँ गौओं को लक्ष्य करके कही गयी हैं । इनके अर्थ लौकिक गौओं के साथ ही इन्द्र या यज्ञ के पोषक प्रवाहों के ऊपर भी घटित होते हैं । ऋचा क्र० ५ में तो स्पष्ट गौओं को इन्द्ररूप कहा गया है, शक्ति प्रवाहों (किरणों) को ही यह संज्ञा दी जा सकती है ।]

७६२. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३ ॥

वे गौएँ नष्ट नहीं होतीं, तस्कर उन्हें हानि नहीं पहुँचा पाते । शत्रु के अस्त्र उन गौओं को क्षति नहीं पहुँचा पाते । गौओं के पालक जिन गौओं से देवों का यजन करते हैं, उन्हीं गौओं के साथ चिरकाल तक सुखी रहें ॥३ ॥

७६३. न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४ ॥

रेणुका (धूल) उड़ाने वाले द्रुतगामी अश्व भी उन गौओं को नहीं पा सकेंगे । इन गौओं पर, वध करने के लिए आघात न करें । याजक की ये गौएँ विस्तृत क्षेत्र में निर्भय होकर विचरण करें । ।४ ॥

७६४. गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५ ॥

गौएँ हमें धन देने वाली हों । हे इन्द्रदेव ! आप हमें गौएँ प्रदान करें । गो-दुग्ध प्रथम सोमरस में मिलाया जाता है । हे मनुष्यो ! ये गौएँ ही इन्द्ररूप हैं । उन्हीं इन्द्रदेव को हम श्रद्धा के साथ पाना चाहते हैं ॥५ ॥

['ये गौएँ ही इन्द्र हैं'- रहस्यात्मक है । इन्द्र संगठक शक्ति के देवता हैं । परमाणुओं में घूमने वाले इलेक्ट्रॉन्स को न्युक्लियस से बाँधे रहना उन्हीं का कार्य है । यह बन्धन शक्ति किरणों का ही है । ये गौएँ-शक्ति किरणें ही इन्द्र का वास्तविक रूप हैं ।]

७६५. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥६ ॥

हे गौओ !आप हमें बलवान् बनाएँ । आप हमारे रुग्ण एवं कृश शरीरों को सुन्दर-स्वस्थ बनाएँ । आप अपनी कल्याणकारी ध्वनि से हमारे घरों को पवित्र करें । यज्ञ मण्डप में आपके द्वारा प्राप्त अन्न का ही यशोगान होता है ।

७६६. प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥७ ॥

हे गौओ ! आप बछड़ों से युक्त हों । उत्तम घास एवं सुखकारक स्वच्छ जल का पान करें । आपका पालक चोरी करने वाला न हो । हिंसक पशु आपको कष्ट न दें । परमेश्वर का कालरूप अस्त्र आपके पास ही न आए ॥७ ॥

[२२ - अमित्रक्षयण सूक्त]

[**ऋषि -** वसिष्ठ अथवा अथर्वा । **देवता -** इन्द्र और क्षत्रिय राजा । **छन्द -** त्रिष्टुप् ।]

७६७. इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमारे इस क्षत्रिय (शौर्यवान् रक्षक) को पुत्र-पौत्रों तथा सम्पत्ति आदि से समृद्ध करें और पराक्रमी मनुष्यों में इसे अद्वितीय बनाएँ । इसके समस्त रिपुओं को प्रभावहीन बनाकर आप इसके अधीन करें । 'मैं श्रेष्ठ हूँ ' इसके प्रति ऐसा कहने वालों को (इसके) वश में करें ॥१ ॥

७६८. एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप इस क्षत्रिय को जनसमूह, गौओं तथा अश्वों की सुविधाएँ पाने वाला बनाएँ और इसके रिपुओं को गौओं, अश्वों तथा मनुष्यों से पृथक् रखें । यह क्षत्रिय गुणों की मूर्ति हो । इसके समस्त रिपुओं तथा राष्ट्रों को आप इसके अधीन करें ॥२ ॥

७६९. अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥३ ॥

यह राजा सोने, चाँदी आदि धन तथा प्रजाओं का स्वामी हो । हे इन्द्रदेव ! आप इस राजा में रिपुओं को पराजित करने वाला तेजस् स्थापित करें ॥३ ॥

७७०. अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥४ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! धारोष्ण दूध देने वाली गौओं की तरह आप इसे प्रचुर धन प्रदान करें । यह इन्द्र का स्नेह पात्र हो । (इन्द्र का प्रिय पात्र होने से वर्षा होने पर) यह गौओं, ओषधियों तथा पशुओं का भी प्रिय हो जाए ॥४ ॥

७७१. युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५ ॥

हे नर श्रेष्ठ ! श्रेष्ठ गुणों वाले इन्द्रदेव को हम आपका मित्र बनाते हैं । उनके द्वारा प्रेरित आपके सहयोगी, रिपु सेना को विजित करें, वे कभी पराजित न हों । जो इन्द्रदेव वीरों तथा राजाओं में

आपको वृषभ के समान प्रमुख बनाते हैं. ऐसे इन्द्रदेव से हम आपकी मैत्री कराते है ॥५ ॥

७७२. उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥६ ॥

(हे वीर !) आप सर्वश्रेष्ठ हों और आपके रिपु निम्नकोटि के हों । जो शत्रु आपसे प्रतिकूल व्यवहार करते हैं, वे भी नीचे गिरें । इन्द्रदेव की मित्रता से आप अद्वितीय बलवान् बनकर शत्रुवत् आचरण करने वाले मनुष्यों के भोग-साधन, ऐश्वर्य आदि छीन लाएँ ॥६ ॥

७७३. सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥७ ॥

(हे राजन् !) सिंह के समान पराक्रमी बनकर, आप अपनी प्रजाओं से भोग-साधन आदि प्राप्त करें और देव व्याघ्र के समान बलशाली बनकर अपने रिपुओं को संतप्त करें । आप इन्द्रदेव की मित्रता से अद्वितीय बलवान् बनकर, शत्रुवत् व्यवहार करने वालों के धन को विनष्ट करने में सक्षम हों ॥७ ॥

[२३ - पापमोचन सूक्त]

[ऋषि - मृगार । देवता - प्रचेता अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ पुरस्ताद् ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्, ६ प्रस्तारपंक्ति ।]

७७४. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥१ ॥

बहुधा जिन्हें ईंधन द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, प्रखर चेतना सम्पन्न, प्रथम (श्रेष्ठतम) स्तर वाले, पाँचों द्वारा उपासनीय अग्निदेव को हम नमन करते हैं । समस्त विश्व (के घटकों) में जो प्रविष्ट हैं, उनसे हम याचना करते हैं कि वे हमें पापों से मुक्त कराएँ ॥१ ॥

[अग्निदेव की आराधना पाँच यज्ञों (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ) द्वारा की जाती है । पाँच जन (चारों वर्ण तथा निषाद) उनकी उपासना करते हैं । पाँच प्राणों, पाँच इन्द्रियों आदि के भी वे उपासनीय हैं ।]

७७५. यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन् ।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जिस प्रकार आप पूजनीय देवों के पास हवि पहुँचाते हैं तथा यज्ञ के भेदों को जानते हुए उनको रचते हैं, उसी प्रकार देवों के पास से हमें श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कराएँ और समस्त पापों से मुक्त कराएँ ॥२ ॥

[यज्ञ से- अग्निदेव से सुमति की याचना की गई है, सुमति ही पाप - कर्मों से बचा सकती है ।]

७७६. यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् ।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३ ॥

प्रत्येक यज्ञ के आधाररूप, हवि पहुँचाने वाले और प्रत्येक कर्म में सेवन करने योग्य अग्निदेव की हम प्रार्थना करते हैं । वे अग्निदेव राक्षसों के संहारक तथा यज्ञों को बढ़ाने वाले हैं । घृताहुतियों से जिनको प्रदीप्त करते हैं, ऐसे अग्निदेव हमें पाप से मुक्त कराएँ ॥३ ॥

७७७. सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् । हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ।।४।।

श्रेष्ठ जन्मवाले, उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले तथा समस्त उत्पन्न प्राणी जिनको जानते हैं, ऐसे मनुष्य हितैषी,

हव्यवाहक-वैश्वानर अग्निदेव का हम आवाहन करते हैं, वे अग्निदेव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥४ ॥

७७८. येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥५ ॥

जिन ऋषियों ने अग्निदेव के साथ मैत्री स्थापित करके आत्मशक्ति को जाग्रत् किया है तथा जिन अग्निदेव की सहायता से देवताओं ने राक्षसों की कपटयुक्तियों को दूर किया है और जिनके द्वारा इन्द्रदेव ने 'पणि' नामक असुरों को विजित किया है, वे अग्निदेव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

७७९. येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥६ ॥

जिन अग्निदेव की सहायता से देवताओं ने अमरत्व को प्राप्त किया, जिनकी सहायता से देवताओं ने ओषधियों को मधुर रस से सम्पन्न किया और जिनकी कृपा से देवत्व के अभिलाषी यजमान स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, वे अग्निदेव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

७८०. यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥७ ॥

जिन अग्निदेव के शासन में समस्त संसार विद्यमान है, जिनके तेज से ग्रह-नक्षत्र आदि आलोकित होते हैं तथा पृथ्वी पर उत्पन्न समस्त प्राणी जिनके अधीन हैं, उन अग्निदेव की हम प्रार्थना करते हुए बारम्बार उनका आवाहन करते हैं ॥७ ॥

[२४ - पापमोचन सूक्त]

[**ऋषि** - मृगार । **देवता** - इन्द्र । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ शक्वरीगर्भा पुरः शक्वरी त्रिष्टुप् ।]

७८१. इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ।१ ॥

परम ऐश्वर्य-सम्पन्न इन्द्रदेव के माहात्म्य को हम जानते हैं । वृत्रहन्ता इन्द्रदेव के महत्त्व को हम सदा से जानते हैं । उनके समक्ष बोले जाने वाले स्तोत्र हमारे पास आ गए हैं । जो दानी इन्द्रदेव सत्कर्म करने वाले यजमान की पुकार को सुनकर समीप आते हैं, वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

७८२. य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२ ॥

जो उग्रबाहु वाले इन्द्रदेव प्रचण्ड रिपु सेनाओं में फूट डालने वाले हैं, जिन्होंने दानवों की शक्ति को विनष्ट किया है, जिन्होंने मेघों को फाड़कर उन्हें विजित किया है, जिन्होंने वृत्र को नष्ट करके नदियों और समुद्रों को जीता है, जिन्होंने असुरों को विनष्ट करके उनकी गौओं को जीत लिया है; वे इन्द्रदेव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥२ ॥

७८३. यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३ ॥

जो इन्द्रदेव मनुष्यों को इच्छित फल देकर उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, जो वृषभ के समान स्वर्ग प्राप्त कराने में सक्षम हैं, जिनके लिए अभिषवकारी पत्थर कूटने की ध्वनि द्वारा सोमरसरूपी धन (इन्द्र-इन्द्र) कहते हैं, जिनका सोमयाग सात होताओं द्वारा सम्पन्न होकर आनन्ददायी होता है; वे इन्द्र हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥३ ॥

७८४. यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे ।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥४ ॥

जिन इन्द्रदेव के नियन्त्रण में सेचन (तेज स्थापन) में समर्थ ऋषभादि (बैल या वर्षणशील श्रेष्ठ देव) रहते हैं, जिनके लिए आत्म तत्त्व के ज्ञाता यज्ञादि की स्थापना करते हैं, जिनके लिए ब्रह्म (या वेदवाणी) द्वारा शोधित सोम प्रवाहित होता है; वे हमें पापों से बचाएँ ॥४ ॥

७८५. यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥५ ॥

जिन इन्द्रदेव की प्रीति को सोम-याजक चाहते हैं, जिन शस्त्रधारी इन्द्रदेव को गौओं (इन्द्रियों या किरणों) की रक्षार्थ बुलाया जाता है, जिनमें मंत्र आश्रय पाते हैं तथा जिनमें अद्वितीय ओज रहता है; वे इन्द्रदेव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

७८६. यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥६ ॥

जो इन्द्रदेव प्रथम कर्म करने के लिए प्रकट हुए , जिनका वृत्रहनन आदि अद्वितीय पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है । इनके द्वारा उठाए गए वज्र ने वृत्रासुर को सब ओर से विनष्ट कर डाला, वे इन्द्र हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६॥

७८७. यः सङ्ग्रामान् नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥७ ॥

जो इन्द्रदेव स्वतन्त्र प्रहार करने वाले युद्ध में, योद्धाओं को युद्ध करने के लिए पहुँचाते हैं, जो दोनों पुष्ट जोड़ों को परस्पर संसृष्ट करते हैं, उन इन्द्रदेव की हम स्तोतागण स्तुति करते हुए उन्हें बारम्बार पुकारते हैं । वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥७ ॥

[२५ - पापमोचन सूक्त]

[ऋषि - मृगार । देवता - वायु, सविता । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ अतिशक्वरीगर्भा जगती, ७ पथ्याबृहती ।]

७८८. वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः ।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१ ॥

वायु और सूर्य के श्रुतिविहित कर्मों को हम जानते हैं । हे वायुदेव ! हे सवितादेव ! आप आत्मा वाले स्थावर तथा जंगम प्राणियों में विद्यमान रहकर संसार की सुरक्षा करते हैं तथा उसे धारण करते हैं । अतः आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

७८९. ययोः सङ्ख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२ ॥

जिन दोनों (वायु तथा सविता) के पार्थिव कर्म मनुष्यों में विख्यात हैं । जिनके द्वारा अन्तरिक्ष में मेघ-मण्डल धारण किया जाता है तथा जिनकी गति को कोई भी देवता नहीं प्राप्त कर सकता, वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ।

७९०. तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥३ ॥

हे चित्रभानु (विचित्र प्रकाश वाले- सूर्यदेव) ! आपकी सेवा करने के लिए मनुष्य नियमपूर्वक व्यवहार करते हैं और आपके उदित होने पर समस्त लोग अपने कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं । हे वायुदेव तथा सवितादेव ! आप दोनों समस्त प्राणियों की सुरक्षा करते हैं । अत: समस्त पापों से हमें मुक्त कराएँ । ।३ ॥

७९१. अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।
सं ह्यू३र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४ ॥

हे वायु एवं सूर्यदेव ! आप हमारे दुष्कृत्यों को हमसे पृथक् करें और उपद्रव करने वाले राक्षसों तथा प्रदीप्त (प्रखर) कृत्या को हमसे दूर करें । आप अन्न-रस से उत्पन्न बल से हमें युक्त करें तथा समस्त पापों से छुड़ाएँ ॥४ ॥

७९२. रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५ ॥

वायुदेव तथा सूर्यदेव हमें ऐश्वर्य प्रदान करें और हमारे देह में सुख-सामर्थ्य का संचार करें । हे वायुदेव तथा सवितादेव ! आप हममें आरोग्यता धारण करें तथा समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

७९३. प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६ ॥

हे सूर्यदेव ! हे वायुदेव ! आप सुरक्षा के निमित्त हमें श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें और हर्षकारी सोमरस पीकर आनन्दित हों । आप हमें सेवन करने योग्य प्रचुर धन प्रदान करें तथा समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

७९४. उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७ ॥

वायुदेव और सूर्यदेव के सम्मुख हमारी श्रेष्ठ आकांक्षाएँ उपस्थित हैं । हम उन दोनों देवों की प्रार्थना करते हैं, वे समस्त पापों से हमें मुक्त करें ॥७ ॥

[२६ - पापमोचन सूक्त]

[**ऋषि** - मृगार । देवता - द्यावा-पृथिवी । छन्द - त्रिष्टुप्, १ पुरोऽष्टि जगती, ७ शाक्वरगर्भातिमध्येज्योति त्रिष्टुप् ।]

७९५. मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि ।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥१ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप दोनों मनोहर भोग वाले तथा समान विचार वाली हैं, हम आपकी महिमा जानते हुए, आपकी प्रार्थना करते हैं । आप दोनों असीमित योजनों की दूरी तक फैले हैं और देवों तथा मनुष्यों के धन-वैभव के मूल कारण हैं । आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

७९६. प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥२ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप दोनों समस्त ऐश्वर्यों की प्रतिष्ठा करने वाली हैं तथा समस्त प्राणियों के आश्रय-स्थल हैं । आप दान आदि गुणों तथा समस्त सौभाग्यों से सम्पन्न हैं । आप हमारे लिए सुखदायी बनकर हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥२ ॥

७९७. असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥३ ॥

समस्त प्राणियों के कष्टों को दूर करने वाली, क्रान्तदर्शी ऋषियों द्वारा नमनीय, अत्यधिक विस्तृत तथा अत्यधिक गम्भीर द्यावा-पृथिवी का हम आवाहन करते हैं। वे द्यावा-पृथिवी हमारे लिए सुखदायी हों और हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥३ ॥

७९८. ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥४ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप दोनों जो समस्त प्राणियों के अमरत्वरूप जल तथा हविष्यान्न धारण करती हैं, जो प्रवहमान नदियों तथा मनुष्यों को धारण करती हैं, ऐसे आप हमारे लिए सुखदायी हों और समस्त पापों से हमें मुक्त करें ॥४ ॥

७९९. ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥५ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप जिन समस्त गौओं तथा वनस्पतियों का पोषण करती हैं, आप दोनों के बीच में जो समस्त विश्व निवास करता है, ऐसे आप दोनों हमारे लिए सुखदायी हों और हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

८००. ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥६ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! जो आप अन्न और जल द्वारा समस्त विश्व का पालन करती हैं। आपके बिना मनुष्य कोई भी कार्य करने में सक्षम नहीं है, ऐसे आप हमारे लिए सुखदायी हों और हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

८०१. यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥७ ॥

जिस किसी कारण से मनुष्यकृत अथवा देवकृत कर्म हमें झुलसा रहा है और जिन-जिन कारणों से हमने दूसरे पाप किए हैं, उन सभी के निवारण के लिए हम द्यावा-पृथिवी की प्रार्थना करते हैं और उन्हें पुकारते हैं। वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥७ ॥

[२७ - पापमोचन सूक्त]

[ऋषि - मृगार। देवता - मरुद्‌गण । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

८०२. मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१ ॥

हम मरुतों के माहात्म्य को जानते हैं, वे हमें अपना कहें और हमारे अन्न की सुरक्षा करते हुए हमारे बल को भी रणक्षेत्र में सुरक्षित रखें। चलने वाले श्रेष्ठ घोड़ों के समान हम उन मरुतों को अपनी सुरक्षा के लिए बुलाते हैं। वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

८०३. उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२ ॥

जो मरुद्गण मेघों को आकाश में फैलाते हैं और ब्रीहि जौ, तरुगुल्म आदि ओषधियों को वृष्टि जल से सींचते हैं, उन 'पृश्नि' माता वाले मरुतों की हम प्रार्थना करते हैं, वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥२ ॥

८०४. पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥३ ॥

हे मरुद्देवो ! आप जो क्रान्तदर्शी होकर गौओं के दुग्ध तथा ओषधियों के रस को समस्त शरीर में संव्याप्त करते हैं तथा अश्वों में वेग को संव्याप्त करते हैं, ऐसे आप सब हमें सामर्थ्य तथा सुख प्रदान करने वाले हों और हमें समस्त पापों से छुड़ाएँ ॥३ ॥

८०५. अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४ ॥

जो मरुद्गण जल को समुद्र से अन्तरिक्ष तक पहुँचाते हैं और अन्तरिक्ष से पृथ्वी को लक्ष्य करके पुनः छोड़ते हैं, वे जल के साथ विचरण करने वाले जल के स्वामी मरुद्गण हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥४ ॥

८०६. ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥५ ॥

जो मरुद्गण अन्न और जल द्वारा समस्त मनुष्यों को तृप्त करते हैं, जो अन्न को पुष्टिकारक पदार्थों के साथ पैदा करते हैं तथा जो मेघ स्थित जल के अधिपति बनकर सब जगह वृष्टि करते हैं, वे मरुद्गण हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

८०७. यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥६ ॥

सबको आवास देने वाले हे दिव्य मरुतो ! देवताओं से सम्बन्धित अपराध के कारण हम जो दुःख पा रहे हैं, उस दुःख अथवा पाप को दूर करने में आप ही सक्षम हैं । आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

८०८. तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन् मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७ ॥

सेना के सदृश मरुतों का तीक्ष्ण तथा प्रचण्ड बल रणक्षेत्र में दुःसह होता है । हम ऐसे मरुतों की प्रार्थना करते हुए, उन्हें आहूत करते हैं । वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥७ ॥

[२८ - पापमोचन सूक्त]

[**ऋषि** - मृगार अथवा अथर्वा । **देवता** - भव-शर्व अथवा रुद्र । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ अति जागतगर्भा भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

८०९. भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१ ॥

हे भव एवं शर्व (जगत् को उत्पन्न और उसका विनाश करने वाले) देवो ! हम आपकी महिमा को जानते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् आपकी सामर्थ्य से आलोकित होता है । आप समस्त मनुष्यों तथा पशुओं के स्वामी हैं । आप दोनों हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

८१०. ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२ ॥

पास तथा दूर के क्षेत्र में जो कुछ भी है, वह उन्हीं दोनों के नियन्त्रण में है । वे धनुष पर बाणों का संधान करने तथा चलाने में विख्यात हैं । वे मनुष्यों तथा पशुओं के ईश्वर हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥२ ॥

८११. सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥३ ॥

हजार आँखों वाले, रिपुओं का संहार करने वाले तथा दूर तक विचरण करने वाले प्रचण्ड भव और शर्व देवों की हम प्रार्थना करते हुए उनका आवाहन करते हैं । वे मनुष्यों और पशुओं को समस्त पापों से मुक्त करें ॥३ ॥

८१२. यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४ ॥

आप दोनों ने सृष्टि के प्रारम्भ में अनेकों कार्य साथ-साथ किये । आपने ही मनुष्यों में प्रतिभा उत्पन्न की । हे समस्त मनुष्यों तथा पशुओं के ईश्वर ! आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥४ ॥

८१३. ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५ ॥

जिन भव और शर्व के संहारक हथियारों से देवों तथा मनुष्यों में से कोई भी बच नहीं सकता तथा जो मनुष्यों और पशुओं के स्वामी हैं, वे देव हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

८१४. यः कृत्याकृन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६ ॥

जो शत्रु , कृत्या प्रयोग से विनिर्मित पिशाचों के द्वारा अनिष्ट करते हैं तथा जो राक्षस, वंशवृद्धि की मूल, हमारी सन्तानों को विनष्ट करते हैं, हे प्रचण्ड वीर ! आप उन पर अपने वज्र से प्रहार करें । समस्त मनुष्यों तथा पशुओं के स्वामी आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

८१५. अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७ ॥

हे उग्रवीर भव-शर्व देवो ! आप हमारे हित में उपदेश करें तथा जो स्वार्थी हैं, उन पर प्रहार करें । हम आपको स्वामी मानकर पुकारते हैं, आपकी स्तुति करते हैं, आप हमें पापों से बचाएँ ॥७ ॥

[२९ - पापमोचन सूक्त]

[ऋषि - मृगार । देवता - मित्रावरुण (द्रुह्वण) । छन्द - त्रिष्टुप्, ७ शक्वरीगर्भा जगती ।]

८१६. मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१ ॥

हे मित्र और वरुणदेव ! समान चित्त वाले आप यज्ञ और जल का संवर्द्धन करने वाले हैं । आप विद्रोहियों को उनके स्थान से हटा देते हैं तथा सत्यनिष्ठों की रणक्षेत्र में सुरक्षा करते हैं । हम आपके माहात्म्य का गान कराते हैं, आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥१ ॥

८१७. सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२ ॥

हे समान विचार वाले मित्रावरुण ! आप विद्रोहियों को उनके स्थान से च्युत करते हैं तथा सत्यनिष्ठों की रणक्षेत्र में सुरक्षा करते हैं । आप दिन और रात के अधिपति होने के कारण मनुष्यों के समस्त कर्मों का निरीक्षण और सोमरस का पान करते हैं । आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥२ ॥

८१८. यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥३ ॥

हे मित्रावरुण ! आप दोनों 'अंगिरा', 'अगस्त्य', 'अत्रि' और 'जमदग्नि' ऋषि की सुरक्षा करते हैं तथा 'कश्यप' और 'वसिष्ठ' ऋषि की भी सुरक्षा करते हैं। आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥३ ॥

८१९. यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४ ॥

हे मित्रावरुण ! आप दोनों 'श्यावाश्व', 'वध्रयृश्व', 'विमद', 'पुरुमीढ' तथा 'अत्रि' नामक ऋषियों की सुरक्षा करते हैं । आप दोनों सप्त ऋषियों की भी सुरक्षा करते हैं । आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥४ ॥

८२०. यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५ ॥

हे मित्रावरुण ! आप दोनों 'भरद्वाज', 'विश्वामित्र', 'कुत्स', 'गविष्ठिर', 'कक्षीवान्' तथा 'कण्व' नामक ऋषियों की सुरक्षा करते हैं । अतः आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥५ ॥

८२१. यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६ ॥

हे मित्रावरुण ! आप दोनों 'मेधातिथि', 'त्रिशोक', 'काव्य', 'उशना' तथा 'गोतम' नामक ऋषियों की सुरक्षा करते हैं । अतः आप हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥६ ॥

८२२. ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७ ॥

जिन मित्रावरुण का सत्यमार्ग तथा सरल किरणों वाला रथ मिथ्याचारी पुरुषों को बाधा पहुँचाने के लिए उनके सम्मुख आता है, उन मित्रावरुण की प्रार्थना करते हुए, हम उन्हें बारम्बार आहूत करते हैं । वे हमें समस्त पापों से मुक्त करें ॥७ ॥

[३० - राष्ट्रदेवी सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक् । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ६ जगती ।]

८२३. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१ ॥

(वाग्देवी का कथन) मैं रुद्रगण एवं वसुगणों के साथ भ्रमण करती हूँ । मैं ही आदित्यगणों और समस्त देवों के साथ रहती हूँ । मित्रावरुण, इन्द्र, अग्नि तथा दोनों अश्विनीकुमार सभी को मैं ही धारण करती हूँ ॥१ ॥

८२४. अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥२ ॥

मैं वाग्देवी जगदीश्वरी और धन प्रदात्री हूँ। मैं ज्ञानवती एवं यज्ञोपयोगी देवों (वस्तुओं) में सर्वोत्तम हूँ। मेरा स्वरूप विभिन्न रूपों में विद्यमान है तथा मेरा आश्रय स्थान विस्तृत है। सभी देव विभिन्न प्रकार से मेरा ही प्रतिपादन करते हैं ॥२ ॥

८२५. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥३ ॥

देवगण और मनुष्यगण श्रद्धापूर्वक जिसका मनन करते हैं, वे सभी विचार सन्देश मेरे द्वारा ही प्रसारित किये जाते हैं। जिसके ऊपर मेरी कृपा-दृष्टि होती है, वे बलशाली, स्तोता, ऋषि तथा श्रेष्ठ- बुद्धिमान् होते हैं ॥३ ॥

८२६. मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥४ ॥

प्राणियों में जो जीवनीशक्ति (प्राण) है, दर्शन क्षमता है, ज्ञान-श्रवण सामर्थ्य है, अन्न - भोग करने की सामर्थ्य है, वह सभी मुझ वाग्देवी के सहयोग से ही प्राप्त होती है। जो मेरी सामर्थ्य को नहीं जानते, वे विनष्ट हो जाते हैं। हे बुद्धिमान् मित्रो ! आप ध्यान दें, जो भी मेरे द्वारा कहा जा रहा है, वह श्रद्धा का विषय है ॥४ ॥

८२७. अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥५ ॥

जिस समय रुद्रदेव ब्रह्मद्रोही शत्रुओं का विध्वंस करने के लिए सचेष्ट होते हैं, उस समय दुष्टों को पीड़ित करने वाले रुद्र के धनुष - बाण का सन्धान मैं ही करती हूँ। मनुष्यों के हित के लिए मैं ही संग्राम करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनों को संव्याप्त करती हूँ ॥५ ॥

८२८. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥६ ॥

सोम, त्वष्टा, पूषा और भग सभी देव मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं। मेरे द्वारा ही, हविष्यान्नादि उत्तम हवियों से देवों को परितृप्त किया जाता है और सोमरस के अभिषवणकर्त्ता यजमानों को यज्ञ का अभीष्ट फलरूप धन प्रदान किया जाता है ॥६ ॥

८२९. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७ ॥

जगत् के सर्वोच्च स्थान पर स्थित दिव्यलोक को मैंने ही प्रकट किया है। मेरा उत्पत्ति स्थल विराट् आकाश में अप् (मूल सृष्टि तत्त्व) में है, उसी स्थान से सम्पूर्ण विश्व को संव्याप्त करती हूँ। महान् अन्तरिक्ष को मैं अपनी उन्नत देह से स्पर्श करती हूँ ॥७ ॥

८३०. अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥८ ॥

समस्त लोकों को विनिर्मित करती हुई मैं वायु के समान सभी भुवनों में संचरित होती हूँ। मेरी महिमा स्वर्गलोक और पृथ्वी से भी महान् है ॥८ ॥

[३१- सेनानिरीक्षण सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मास्कन्द । देवता - मन्यु । छन्द - त्रिष्टुप्, २,४ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५-७ जगती ।]

८३१. त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥१ ॥

हे मन्यो !आपके सहयोग से रथारूढ़ तथा प्रसन्नचित्त होकर अपने आयुधों को तीक्ष्ण करके, अग्नि के सदृश तीक्ष्ण दाह उत्पन्न करने वाले मरुद्गण आदि युद्धनायक हमारी सहायतार्थ युद्ध क्षेत्र में गमन करें ॥१ ॥

८३२. अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥२ ॥

हे मन्यो ! आप अग्नि सदृश प्रदीप्त होकर शत्रुओं को पराभूत करें। हे सहनशक्तियुक्त मन्यो ! आपका आवाहन किया गया है। आप हमारे संग्राम में नायक बनें। शत्रुओं का संहार करके उनकी सम्पदा हमें दें। हमें बल प्रदान करके हमारे शत्रुओं को दूर भगाएँ ॥२ ॥

८३३. सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥३ ॥

हे मन्यो ! हमारे विरुद्ध सक्रिय शत्रुओं को आप पराभूत करें। आप शत्रुओं को तोड़ते हुए और कुचलते हुए उन पर आक्रमण करें। आपकी प्रभावपूर्ण क्षमताओं को रोकने में कौन सक्षम हो सकता है ? हे अद्वितीय मन्यो ! आप स्वयं संयमशील होकर शत्रुओं को नियन्त्रण में करते हैं ॥३ ॥

[क्रोधी स्वयं अस्थिर हो जाता है। मन्युशील व्यक्ति स्वयं संतुलित मनः स्थिति में रहते हुए दुष्टता का प्रतिकार करता है।]

८३४. एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥४ ॥

हे मन्यो !आप अकेले ही अनेकों द्वारा सत्कार योग्य हैं। आप युद्ध के निमित्त मनुष्य को तीक्ष्ण बनाएँ। हे अक्षय प्रकाशयुक्त !आपकी मित्रता के सहयोग से हम हर्षित होकर विजय-प्राप्ति के लिए सिंहनाद करते हैं ॥४ ॥

८३५. विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३स्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥५ ॥

हे मन्यो !इन्द्र के सदृश विजेता, असन्तुलित न बोलने वाले आप हमारे अधिपति हों। हे सहिष्णु मन्यो ! आपके निमित्त हम प्रिय स्तोत्र का उच्चारण करते हैं। हम उस स्रोत के ज्ञाता हैं, जिससे आप प्रकट होते हैं ॥५ ॥

८३६. आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥६ ॥

हे वज्र सदृश शत्रुसंहारक मन्यो ! शत्रुओं को विनष्ट करना आपके सहज स्वभाव में है। हे रिपु पराभवकर्त्ता मन्यो ! आप श्रेष्ठ तेजस्विता को ग करते हैं। कर्मशक्ति के साथ युद्ध क्षेत्र में आप हमारे लिए सहायक हों। आपका आवाहन असंख्य वीरों द्वारा किया जाता है ॥६ ॥

८३७. संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥७ ॥

हे वरुण और मन्यो (अथवा वरणीय मन्यो) ! आप उत्पादित और संगृहीत ऐश्वर्य हमें प्रदान करें । भयभीत हृदय वाले शत्रु हमसे पराभूत होकर दूर चले जाएँ ॥७ ॥

[३२ - सेनासंयोजन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मास्कन्द । देवता - मन्यु । छन्द - २-७ त्रिष्टुप्, १ जगती ।]

८३८. यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१ ॥

हे वज्रवत् तीक्ष्ण बाणतुल्य और क्रोधाभिमानी देव मन्यो ! जो साधक आपको ग्रहण करते हैं, वे सभी प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य को निरन्तर परिपुष्ट करते हैं । बलवर्द्धक और विजयदाता आपके सहयोग से हम (विरोधी) दासों और आर्यों को अपने आधिपत्य में करते हैं ॥१ ॥

८३९. मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥२ ॥

मन्यु ही इन्द्रदेव हैं, यज्ञ संचालक वरुण और जातवेदा अग्नि हैं । (यह सभी देवता मन्युयुक्त हैं) सम्पूर्ण मानवी प्रजाएँ मन्यु की प्रशंसा करती हैं । हे मन्यो ! स्नेहयुक्त होकर आप तप से हमारा संरक्षण करें ॥२ ॥

८४०. अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥३ ॥

हे मन्यो ! आप महान् सामर्थ्यशाली हैं, आप यहाँ पधारें । अपनी तपः सामर्थ्य से युक्त होकर शत्रुओं का विध्वंस करें ।आप शत्रुविनाशक, वृत्रहन्ता और दस्युओं के दलनकर्त्ता हैं । हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करें ॥३ ॥

८४१. त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥४ ॥

हे मन्यो ! आप विजयी शक्ति से सम्पन्न, स्वसामर्थ्य से बढ़ने वाले, तेजोयुक्त, शत्रुओं के पराभवकर्त्ता, सबके निरीक्षण में सक्षम तथा बलशाली हैं । संग्राम-क्षेत्र में आप हमारे अन्दर ओज की स्थापना करें ॥४ ॥

८४२. अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥५ ॥

हे श्रेठ ज्ञान सम्पन्न मन्यो ! आपके साथ भागीदार न हो पाने के कारण हम विलग होकर दूर चले गए हैं । महिमामय आपसे विमुख होकर हम कर्महीन हो गए हैं, संकल्पहीन होकर (लज्जित स्थिति में) आपके पास आए हैं । हमारे शरीरों में बल का संचार करते हुए आप पधारें ॥५ ॥

८४३. अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूंरुत बोध्यापेः ॥६ ॥

हे मन्यो !हम आपके समीप उपस्थित हैं । आप कृपापूर्वक हमारे आघातों को सहने तथा सबको धारण करने में समर्थ हैं । हे वज्रधारी !आप हमारे पास आएँ , हमें मित्र समझें, ताकि हम दुष्टों को मार सकें ॥६ ॥

८४४. अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥७ ॥

हे मन्यो ! आप हमारे समीप आएँ । हमारे दाहिने (हमारे अनुकूल) होकर रहें । हम दोनों मिलकर शत्रुओं का संहार करने में समर्थ होंगे । हम आपके लिए मधुर और श्रेष्ठ धारक (सोम) का हवन करते हैं । हम दोनों एकान्त में सर्वप्रथम इस रस का पान करें ॥७ ॥

[३३ - पापनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । देवता - अग्नि । छन्द - गायत्री ।]

८४५. अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघम् ॥१ ॥

हे अग्ने ! आप हमारे पापों को भस्म करें । हमारे चारों ओर ऐश्वर्य प्रकाशित करें तथा पापों को विनष्ट करें ॥१

८४६. सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे । अप नः शोशुचदघम् ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! उत्तम क्षेत्र, उत्तम मार्ग और उत्तम धन की इच्छा से हम आपका यजन करते हैं । आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥२ ॥

८४७. प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः । अप नः शोशुचदघम् ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! हम सभी साधक वीरता और बुद्धिपूर्वक आपकी विशिष्ट प्रकार से भक्ति करते हैं । आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥३ ॥

८४८. प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नः शोशुचदघम् ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! हम सभी और ये विद्वद्गण आपकी उपासना से आपके सदृश प्रकाशवान् हुए हैं, अतः आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥४ ॥

८४९. प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः । अप नः शोशुचदघम् ॥५ ॥

इन बल-सम्पन्न अग्निदेव की देदीप्यमान किरणें सर्वत्र फैल रही हैं, ऐसे वे हमारे पापों को विनष्ट करें ॥५ ॥

८५०. त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदघम् ॥६ ॥

हे बल-सम्पन्न अग्निदेव ! आप निश्चय ही सभी ओर व्याप्त होने वाले हैं, आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥६ ॥

८५१. द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय । अप नः शोशुचदघम् ॥७ ॥

हे सर्वतोमुखी अग्ने !आप नौका के सदृश शत्रुओं से हमें पार ले जाएँ । आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥७ ॥

८५२. स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये । अप नः शोशुचदघम् ॥८ ॥

हे अग्निदेव ! नौका द्वारा नदी के पार ले जाने के समान आप हिंसक शत्रुओं से हमें पार ले जाएँ । आप हमारे पापों को विनष्ट करें ॥८ ॥

[३४- ब्रह्मौदन सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । देवता - ब्रह्मौदन । छन्द - त्रिष्टुप्, ४ उत्तमा भुरिक् त्रिष्टुप्, ५ त्र्यवसाना सप्तपदा कृति, ६ पञ्चपदातिशक्वरी, ७ भुरिक् अतिशक्वरी, ८ जगती ।]

इस सूक्त के देवता 'ब्रह्मौदन' हैं । लौकिक संदर्भ में यज्ञीय क्रम में संस्कारयुक्त जो अन्न दान किया जाता है, उसे ब्रह्मौदन कहते हैं । पके हुए भोज्य पदार्थ, बिना पकाये भोज्य (दही, शहद, घृतादि) पदार्थ तथा सूखे अन्न भी यज्ञीय ऊर्जा से संस्कारित करके दिये जाने की परम्परा रही है । यज्ञीय-ब्राह्मी संस्कार युक्त इस सेवन के भी महत्त्वपूर्ण लाभ कहे गये हैं; किन्तु सूक्ष्म सन्दर्भ में 'रेतो वा ओदनः ' (श०ब्रा० १३.१.१.४), जैसे सूत्रों के अनुसार वह बहुत व्यापक तत्त्व है । ब्रह्मौदन का अर्थ ब्रह्म का उत्पादक

तेजस् होता है। ब्रह्म ने सृष्टि सृजन यज्ञ के लिए अपने तेजस् का एक अंश परिपक्व किया। जिस तरह अन्नमयकोश के पोषण एवं विकास के लिए अन्न आवश्यक है, उसी तरह सृष्टि के मूल घटकों के लिये ब्रह्मौदन सृष्टिकारक तेजस् की भूमिका मानी जा सकती है। ब्रह्मवर्चस इसी के धारण-सेवन करने से विकसित होता है। इस सूक्त तथा अगले सूक्त के मंत्रों में ब्रह्मौदन की जो महत्ता बतलायी गयी है, वह स्थूल अन्न की अपेक्षा ऐसी ही व्यापक अवधारणा का पोषण करती है-

८५३. ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥१॥

इस ओदन (ब्रह्मौदन) का शीर्ष भाग ब्रह्म है, पृष्ठभाग बृहत् (विशाल) है, वामदेव (ऋषि अथवा उत्पादक सामर्थ्य) से सम्बन्धित इसका उदर है, विविध छन्द इसके पार्श्वभाग हैं तथा सत्य इसका मुख है। विस्तार पाने वाला यह यज्ञ तप से उत्पन्न हुआ है ॥१॥

८५४. अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥२॥

यह (ब्रह्मौदन) अस्थिरहित (कोई भी इच्छित आकार लेने में सक्षम) और पवित्र है। वायु से (शरीर में प्राणायाम आदि के द्वारा) शुद्ध और पवित्र होकर यह पवित्र लोकों को ही प्राप्त होता है। अग्नि इसके शिश्न (उत्पादक अंग) को नष्ट नहीं करता। स्वर्ग में (इसका तेजस् धारण करने वाली) इसकी बहुत सी स्त्रियाँ (उत्पादक शक्तियाँ।) हैं ॥२॥

[लौकिक संदर्भ में यज्ञ से संस्कारित अन्न के दिव्य संस्कार अग्नि पर पकाने से नष्ट नहीं होते। हव्य बनकर यह ऊर्ध्व लोकों में जाकर अनेक उर्वर शक्तियों को अपना तेजस् प्रदान करता है। सूक्ष्म संदर्भ में यह कोई भी रूप लेने में समर्थ तेजस् पवित्र होता है तथा पवित्र माध्यमों द्वारा ही ग्रहणीय है। इसका प्रभाव अग्नि आदि के सम्पर्क से कम नहीं होता।]

८५५. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥३॥

जो (साधक) इस विस्तारित होने वाले ओदन (स्थूल या सूक्ष्म अन्न) को पकाते (प्रयोग में लाने योग्य परिपक्व बनाते) हैं, उन्हें कभी दरिद्रता नहीं व्यापती। वे यम (जीवन के दिव्य अनुशासनो) में स्थित रहते हैं, देवों की निकटता प्राप्त करते हैं तथा सोम-पान योग्य गंधर्वादि के साथ आनन्दित होते हैं ॥३॥

[ब्रह्मौदन-सृष्टि को आकार देने वाला तेजस् का संचरण विश्व में सतत होता रहता है। जिस क्षेत्र या काया में ब्रह्मकर्म यज्ञादि साधनाओं की ऊष्मा होती है, वहाँ उसके संसर्ग से वह पके अन्न की तरह उपयोगी होकर लाभ पहुँचाता है। ब्रह्मतेजस् पकता है, तो साधक इन्द्रियादि को अपने नियंत्रण में (यम में) रखने में समर्थ होता है और उसे देव अनुग्रह प्राप्त होता है। यज्ञादि अनुष्ठानों से उत्पन्न दिव्य ऊर्जा को अन्न के माध्यम से वितरित करने का प्रयास करने वाले स्थूल ब्रह्मौदन पकाने वालों को भी देव अनुग्रह प्राप्त होता है।]

८५६. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

जो याजक इस अन्न को पकाते हैं, यमदेवता उनको वीर्यहीन नहीं करते। वे अपने जीवनपर्यन्त रथ पर आरूढ़ होकर पृथ्वी पर विचरण करते हैं और पक्षी के सदृश बनकर द्युलोक को अतिक्रमण करके ऊपर गमन करते हैं ॥४॥

[याजक को यज्ञ से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों सद्‌गतियाँ प्राप्त होती हैं।]

८५७. एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश। आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥५॥

यह यज्ञ समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है । इस अन्न को पकाकर याजकगण स्वर्गलोक में प्रविष्ट होते हैं । (यह यज्ञ) अण्ड में स्थित मूलशक्ति को, शान्तचित्त से, कमलनाल की तरह (तीव्र गति से) विस्तारित करता है । (हे साधक !) ये सब धाराएँ (इसके माध्यम से) तुम्हें प्राप्त हों । स्वर्ग की मधुर रसवाहिनी दिव्य नदियाँ तुम्हारे पास आएँ ॥५ ॥

८५८. घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

हे सव (सोमयज्ञ) के अनुष्ठानकर्त्ता ! घृत के प्रवाह वाली, शहद से पूर्ण किनारों वाली, निर्मल जल वाली, दुग्ध, जल और दही से पूर्ण समस्त धाराएँ मधुरतायुक्त पदार्थों को पुष्ट करती हुईं, द्युलोक में आपको प्राप्त हों ॥६ ॥

८५९. चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥७ ॥

दूध, दही और जल से पूर्ण चार घड़ों को हम चार दिशाओं में स्थापित करते हैं । स्वर्गलोक में दुग्ध आदि की धाराएँ मधुरता को पुष्ट करती हुई, आपको प्राप्त हों और जल से पूर्ण सरिताएँ भी आपको प्राप्त हों ॥७ ॥

**८६०. इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥८ ॥**

यह विस्तारित होने वाला स्वर्गीय 'ओदन' हम ब्राह्मणों (ब्रह्मनिष्ठ साधकों) में स्थापित करते हैं, यह ओदन स्वधा से दुग्ध आदि के द्वारा वर्द्धित होने के कारण नष्ट न हो और अभिलषित फल प्रदान करने वाली कामधेनु के रूप में परिणत हो जाए ॥८ ॥

[३५ - मृत्युसंतरण सूक्त]

[**ऋषि** - प्रजापति । देवता - अतिमृत्यु । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ भुरिक् त्रिष्टुप्, ४ जगती ।]

**८६१. यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥१ ॥**

जिस ओदन को सर्वप्रथम उत्पन्न प्रजापति ने तपस्या के द्वारा अपने कारण ब्रह्म के लिए बनाया था, जिस प्रकार नाभि समस्त जीवों को विशेष रूप से धारण करने वाली है; उसी प्रकार वह ओदन पृथ्वी आदि को धारण करने वाला है । उस ओदन के द्वारा हम मृत्यु को लाँघते हैं ॥१ ॥

**८६२. येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥२ ॥**

जिस अन्न को तपश्चर्या द्वारा भूतों के सृष्टिकर्त्ता देवताओं ने प्राप्त किया है, जिसके द्वारा वे मृत्यु का अतिक्रमण कर गये तथा जिसको पहले उत्पन्न 'ब्रह्म' ने अपने 'कारण ब्रह्म' के लिए पकाया; उस अन्न के द्वारा हम मृत्यु को लाँघते हैं ॥२ ॥

**८६३. यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥३ ॥**

जो ओदन समस्त प्राणियों को भोजन प्रदान करने वाली पृथ्वी को धारण करता है, जो ओदन अपने रस के द्वारा अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करता है तथा जो ओदन अपने माहात्म्य के द्वारा द्युलोक को ऊपर ही धारण किये रहता है, उस ओदन के द्वारा हम मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं ॥३ ॥

८६४. यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥४ ॥

जिस ब्रह्म सम्बन्धी ओदन से बारह महीने उत्पन्न हुए हैं, जिससे रथचक्र के 'अरे' रूप तीस दिन उत्पन्न हुए हैं, जिससे बारह महीने वाले संवत्सर उत्पन्न हुए हैं तथा जिस ओदन को व्यतीत होते हुए दिन और रात प्राप्त नहीं कर सकते, उस ओदन के द्वारा हम मृत्यु का उल्लंघन करते हैं ॥४ ॥

८६५. यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥५ ॥

जो ओदन मरणासन्नों को प्राण प्रदान करने वाला होता है, जिसके लिए समस्त जगत् घृत-धाराओं को प्रवाहित करता है तथा जिसके ओजस् से समस्त दिशाएँ ओजस्वी बनती हैं, उस ओदन के द्वारा हम मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं ॥५ ॥

८६६. यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥६ ॥

जिस पके हुए ओदन से द्युलोक में स्थित अमृत उत्पन्न हुआ, जो गायत्री छन्द का देवता हुआ तथा जिसमें समस्त प्रकार के ऋक्, यजु, साम आदि वेद निहित हैं, उस ओदन के द्वारा हम मृत्यु का उल्लंघन करते हैं ॥६ ॥

८६७. अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥७ ॥

विद्वेष करने वाले रिपुओं तथा देवत्व-हिंसकों के कार्य में हम बाधा डालते हैं । हमारे शत्रु विनष्ट हो जाएँ, इसीलिए सबको विजित करने वाले ब्रह्मरूप ओदन पकाते हैं । अतः समस्त देवता हमारी पुकार को सुनें ॥७ ॥

[३६- सत्यौजा अग्नि सूक्त]

[ऋषि - चातन । देवता - सत्यौजा अग्नि । छन्द - अनुष्टुप्, ९ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

८६८. तान्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥१ ॥

जो शत्रु हम पर झूठा दोषारोपण करते हैं । जो हमें मारने की इच्छा करते हैं तथा जो हमसे शत्रुता का व्यवहार करते हैं, उन रिपुओं को सत्य बल वाले वैश्वानर अग्निदेव प्रबलता से भस्मसात् करें ॥१ ॥

८६९. यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥२ ॥

जो शत्रु हम निरपराधों को मारना चाहते हैं, जो केवल सताने की इच्छा से हमें मारना चाहते हैं, उन रिपुओं को हम वैश्वानर अग्निदेव के दोनों दाढ़ों में डालते हैं ॥२ ॥

८७०. य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे ऽमावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥३ ॥

जो घरों में अमावास्या की अँधेरी रात में भी (अपने शिकार को) खोजते-फिरते हैं, ऐसे परमांसभोजी और घातक पिशाचों (कृमियों) को हम मंत्र बल से पराभूत करते हैं ॥३ ॥

८७१. सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥४ ॥

रक्त पीने वाले पिशाचों को मंत्र बल द्वारा हम पराभूत करते हैं और उनके वैभव का हरण करते हैं । दुष्टता का बर्ताव करने वालों को हम नष्ट करते हैं । हमारा वांछित संकल्प हर्षदायक तथा सफल हो ॥४ ॥

८७२. ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् । नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥५ ॥

जो देवता या दिव्य पुरुष सूर्य की गति का माप कर सकते हैं और उन (पिशाचों) के साथ विनोद कर सकते हैं, उनके तथा नदियों एवं पर्वतों पर रहने वाले पशुओं के माध्यम से हम उन्हें भली प्रकार जानें ॥५ ॥

[विज्ञानवेत्ता देवपुरुष उन विषाणुओं के साथ तरह-तरह के प्रयोग करते हैं । वे उनसे भयभीत नहीं होते, उन्हें एक खेल की तरह लेते हैं । ऐसे पुरुषों तथा उन कृमियों से अप्रभावित रहने वाले पशुओं के माध्यम से उनका अध्ययन करना उचित है ।]

८७३. तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥६ ॥

जिस प्रकार गौओं के स्वामी को व्याघ्र पीड़ित करते रहते हैं, उसी प्रकार मंत्र बल द्वारा हम राक्षसों को पीड़ित करने वाले बनें । जिस प्रकार सिंह को देखकर भय के कारण कुत्ते छिप जाते हैं, उसी प्रकार ये पिशाच हमारे मंत्र बल को देखकर पतित हो जाएँ ॥६ ॥

८७४. न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥७ ॥

पिशाच हममें प्रविष्ट नहीं हो सकते । हम चोरों और डाकुओं से नहीं मिलते । जिस गाँव में हम प्रविष्ट होते हैं, उस गाँव के पिशाच विनष्ट हो जाते हैं ॥७ ॥

८७५. यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥८॥

हमारा यह मंत्र बल जिस गाँव में प्रविष्ट होकर स्थित रहता है, उस गाँव के राक्षस विनष्ट हो जाते हैं । इसलिए हिंसायुक्त कार्यों को वहाँ के निवासी जानते ही नहीं ॥८ ॥

८७६. ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हिताञ्जने अल्पशयूनिव ॥९ ॥

जैसे छोटे कीट, जनसमूह के चलने से पिसकर मर जाते हैं, जैसे हाथी के शरीर पर बैठे हुए मच्छर हाथी को क्रोधित करने के कारण मारे जाते हैं, वैसे समस्त राक्षसों को हम मंत्र बल से विनष्ट हुआ ही समझते हैं ॥९ ॥

८७७. अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥१० ॥

जिस प्रकार अश्व बाँधने वाली रस्सी से अश्वों को बाँधते हैं, उसी प्रकार उस शत्रु को पापदेव निर्ऋति अपने पाशों से बाँधें । जो शत्रु हम पर क्रोधित होते हैं, वे निर्ऋति के पाशों से मुक्त न हों ॥१० ॥

[३७- कृमिनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - बादरायणि । देवता - अजशृङ्गी ओषधि, ३-५ अप्सरासमूह, ७-१२ गन्धर्व- अप्सरासमूह । **छन्द** - अनुष्टुप्, ३ त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप्, ५ प्रस्तार पंक्ति, ७ परोष्णिक्, ११ षट्पदा जगती, १२ निचृत् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में ओषधि एवं मंत्र प्रयोग के संयोग से कृमियों के नाश का वर्णन है । मंत्रों में रोगोत्पादक विषाणुओं के लिए

रक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच आदि सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है। वैद्यक ग्रन्थ (माधव निदान) में गन्धर्वग्रह, पिशाचग्रह, रक्ष आदि से पीड़ित रोगियों के लक्षण दिए हैं। उनके उपचार की ओषधियों का भी वर्णन है। वैद्यक ग्रन्थों में वेद में वर्णित ओषधियों के नाम मिलते हैं। उनके जो गुण कहे गए हैं, वेद में वर्णित गुणों से उनकी संगति कहीं बैठती है, कहीं नहीं बैठती। यह शोध का विषय है कि किस प्रकार उनके वेद वर्णित प्रभाव प्राप्त किए जा सकते हैं-

८७८. त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥१ ॥

हे ओषधे ! सर्वप्रथम 'अथर्वा' ऋषि ने आपके द्वारा राक्षसों (रोगकृमियों) को विनष्ट किया था। 'कश्यप' 'कण्व' तथा 'अगस्त्य' आदि ऋषियों ने भी आपके द्वारा रोगाणुओं को विनष्ट किया था, ऐसा हम भी करते हैं ॥१ ॥

८७९. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥

हे अजशृंगी ओषधे ! आपके द्वारा हम उपद्रव करने वाले गन्धर्वों तथा अप्सराओं (दुर्गंध तथा पानी से उत्पन्न कृमियों) को विनष्ट करते हैं। आपकी तीव्र गंध से हम समस्त रोगरूप राक्षसों को दूर करते हैं ॥२ ॥

[गन्धर्व वायु को भी कहते हैं। वायु से फैलने वाले (गन्धर्व) तथा जल से फैलने वाले (अप्सरस्) रोगाणुओं के उपचार के लिए अजशृंगी (काकड़ासिंगी) ओषधि के प्रयोग की बात कही गई है। मलेरिया (शीत ज्वर) के कृमि पानी में ही पनपते हैं, ऐसे कृमियों को अप्सरस् कह सकते हैं।]

८८०. नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् । गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥३ ॥

जिस प्रकार नदी के पार उतरने की इच्छा वाले मनुष्य कुशल नाविक के पास जाते हैं, उसी प्रकार गुग्गुल, पीलु, नलदी, औक्षगंधी और प्रमोदिनी आदि ओषधियों के हवन से भयभीत होकर अप्सराएँ (जल से उत्पन्न कृमि) वापस लौटकर अपने निवास स्थान पर चली जाएँ और गतिहीन होकर पड़ी रहें ॥३ ॥

[ओषधियों में गुग्गुल (गूगल) को सब जानते हैं। पीला = पीलु को हिन्दी में 'झल्' कहते हैं। नलद = नलदी को माँसी या जटामाँसी कहते हैं। औक्षगंधी- जटामाँसी का ही एक भेद है, जिसे गंधमाँसी कहते हैं। प्रमोदिनी को धात की वृक्ष या 'धावई' कहा जाता है।]

८८१. यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥

हे अप्सराओ (जल में फैलने वाले कृमियो) ! जहाँ पर पीपल, वट और खिलखन आदि महान् वृक्ष होते हैं, वहाँ से आप अपने स्थान में लौट जाएँ और गतिहीन होकर पड़ी रहें ॥४ ॥

[पीपल को संस्कृत में 'शुचिद्रुम' (शुद्ध करने वाला) भी कहते हैं। यह रोगाणु निवारक होने के साथ ही दिन-रात आक्सीजन छोड़कर वायु को शुद्ध करने वाला है।]

८८२. यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥५ ॥

हे अप्सराओ (जल में उत्पन्न कृमियो) ! जहाँ पर आपके प्रमोद के लिए हिलने वाले हरे-भरे अर्जुन तथा श्यामल वृक्ष हैं और जहाँ पर आपके नृत्य के लिए कर-कर शब्द करने वाले कर्करी वृक्ष हैं, उस स्थान में आप वापस चली जाएँ और गतिहीन होकर पड़ी रहें ॥५ ॥

८८३. एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती। अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥६ ॥

विशेष प्रकार से उगने वाली लताओं में यह अत्यन्त बलशाली अजशृंगी कंजूसों और हिंसकों को उच्चाटन (उद्विग्न) करने वाली है। तीव्र गंधवाली और शृंगाकार फलवाली अजशृंगी पिशाचरूपी रोगों को नष्ट करे ॥६ ॥

८८४. आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः । भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥७ ॥

मोर के सदृश नृत्य करने वाले, गीतमय वाणियों वाले और हमें मारने की इच्छा वाले अप्सरापति गंधर्वों के अण्डकोशों को हम चूर्ण करते हैं और उनके प्रजनन अंगों को विनष्ट करते हैं ॥७ ॥

८८५. भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः । ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥

इन्द्र के लौह निर्मित हथियारों, जिनसे प्राणी भयभीत होते हैं और जिसमें सैकड़ों धारें हैं, उसके द्वारा 'अवका' (सिवार) खाने वाले गन्धर्वों (कृमियों) को इन्द्रदेव नष्ट करें ॥८ ॥

८८६. भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः । ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥

इन्द्र के स्वर्ण विनिर्मित हथियारों से, जिनसे प्राणी भयभीत होते हैं और जिनमें सैकड़ों धारें हैं, उसके द्वारा अवका (सिवार, शैवाल) खाने वाले गन्धर्वों को वे विनष्ट करें ॥९ ॥

८८७. अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥१० ॥

हे अजशृंगी ओषधे ! शैवाल (काई-फंगस) खाने वाले, चारों तरफ से चमकने वाले और दुःख देने वाले गन्धर्वों को जलाशयों में आप प्रकट करें ।आप उपद्रव करने वाले पिशाचों को विनष्ट करें और उन्हें दबाएँ ॥१० ॥

८८८. श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥

(इनमें से) एक (एक प्रकार के रोगाणु) कुत्ते के समान, एक बन्दर के समान और एक बालयुक्त बालक के समान होते हैं । ये गन्धर्व प्रिय दिखने वाले होकर स्त्रियों को प्राप्त (स्त्री रोगों के कारण) होते हैं । हम मंत्र बल द्वारा उन गन्धर्वों को इन स्त्रियों के पास से दूर करते हैं ॥११ ॥

८८९. जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥१२ ॥

हे गन्धर्वो (वायु में फैलने वाले) ! आप की अप्सराएँ (जल में विकसित) आपकी पत्नियाँ हैं और आप ही उनके पति हैं, इसलिए आप सब यहाँ से दूर हट जाएँ । आप अमरत्व धर्मी होकर मरणधर्मी मनुष्यों से न मिलें ॥१२॥

[३८ - वाजिनीवान् ऋषभ सूक्त]

[**ऋषि** - बादरायणि । **देवता** - १-४ अप्सरा, ५-७ वाजिनीवान् ऋषभ । **छन्द** - अनुष्टुप्, ३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ५ भुरिक् अत्यष्टि, ६ त्रिष्टुप्, ७ त्र्यवसाना पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भापुरउपरिष्टात् ज्योतिष्मती जगती ।]

८९०. उद्भिन्दतीं सञ्जयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥१ ॥

उद्भेदन (शत्रु उच्छेदन अथवा ग्रन्थियों का निवारण करने वाली), उत्तम विजय दिलाने वाली, स्पर्धाओं में उत्तम (विजयी बनाने वाले) कर्मों की अधिष्ठात्री देवी अप्सराओं को हम आहूत करते हैं ॥१ ॥

८९१. विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥२ ॥

चयन करने में कुशल, श्रेष्ठ व्यवहार वाली अप्सरा तथा स्पर्धा में श्रेष्ठ (विजयी बनाने वाले) कर्म कराने वाली स्पर्धा की अधिष्ठात्री देवी का हम आवाहन करते हैं ॥२ ॥

८९२. यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्। सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया। सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥३ ॥

स्पर्धाओं में गतिशील, उत्तम प्रयासों को अंगीकार करने वाली वह (देवी) हमारे द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अनुशासित करे। वह अपनी कुशलता से उन्नति प्राप्त करे तथा पयस्वती (पोषण देने वाली) होकर हमारे पास आए। हमारा यह श्रेष्ठ धन (दूसरों द्वारा) जीत न लिया जाए ॥३ ॥

८९३. या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती। आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥४ ॥

जो देवी (स्पर्धा के समय पिछड़ जाने पर होने वाले) शोक एवं क्रोध को भी अपने अक्षों (निर्धारित पक्ष या प्रयास) द्वारा आनन्द प्रदान करती हैं। ऐसी आनन्द और प्रमोद देने वाली अप्सराओं को हम आहूत करते हैं ॥४ ॥

८९४. सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति। यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वाँल्लोकान् पर्यैति रक्षन्। स न ऐतु होममिमं जुषाणो३न्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥५ ॥

जो देवियाँ आदित्य रश्मियों अथवा प्रभा के विचरने के स्थान में विचरण करती हैं, जिनके सेचन समर्थ पति (सूर्यदेव) समस्त लोकों की सुरक्षा करते हुए, दूर अन्तरिक्ष तथा समस्त दिशाओं में विचरते हैं; वे सूर्यदेव अप्सराओं सहित हमारी हवियों को ग्रहण करते हुए, हमारे समीप पधारें ॥५ ॥

८९५. अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन्। इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥६ ॥

हे बलवान् (सूर्यदेव) !आप कर्मठ बछड़ों या बच्चों की यहाँ पर सुरक्षा करें। यह आपके अनुग्रह (पर आश्रित) हैं, यह आपकी कर्म शक्ति है, आपका मन यहाँ रमे। आप हमारा नमन स्वीकार करें और हमारे निकट पधारें ॥६ ॥

८९६. अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन्। अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः। यथानाम व ईश्महे स्वाहा ॥७ ॥

हे शक्तिवान् ! आप कर्मठ बछड़ों की यहाँ पर सुरक्षा करें और उनका पालन करें। यह गोशाला है। यह उनके लिए घास है, यहाँ हम बछड़ों को बाँधते हैं। हमारा जैसा नाम है, उसी के अनुसार हम ऐश्वर्य पाएँ। हम आपके प्रति समर्पित हैं ॥७ ॥

[३९- सन्नति सूक्त]

[**ऋषि** - अङ्गिरा। देवता - सन्नति (१-२ पृथिवी, अग्नि, ३-४ वायु, अन्तरिक्ष, ५-६ दिव, आदित्य, ७-८ दिशाएँ, चन्द्रमा, ९-१० ब्रह्मा, जातवेदा (अग्नि) । **छन्द** - त्रिपदा महाबृहती, २,४,६,८ संस्तार पंक्ति, ९-१० त्रिष्टुप्।]

८९७. पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्। यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥१ ॥

धरती पर अग्निदेव के सम्मुख समस्त प्राणी नमन करते हैं । वे अग्निदेव भी विनम्र हुए भूतों से समृद्ध होते हैं । जिस प्रकार धरती पर अग्निदेव के सम्मुख सब विनम्र होते हैं, उसी प्रकार हमें सम्मान देने के लिए हमारे सामने उपस्थित हुए लोग विनम्र हों ॥१ ॥

८९८. पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः । सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥२ ॥

पृथ्वी गौ है और अग्नि उसका बछड़ा है । वह धरती अग्निरूपी बछड़े से (हमें) अन्न, बल, अपरिमित आयु, सन्तान, पुष्टि और सम्पत्ति प्रदान करे । हम उसे हवि समर्पित करते हैं ॥२ ॥

८९९. अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥३ ॥

अन्तरिक्ष में अधिष्ठाता देवता रूप में स्थित वायुदेव के सम्मुख सब विनम्र होते हैं और वे वायुदेव भी उनसे वृद्धि को प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार अन्तरिक्ष में वायुदेव के सम्मुख सब विनम्र होते हैं, उसी प्रकार हमें सम्मान देने के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित हुए लोग भी विनम्र हों ॥३ ॥

९००. अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥४ ॥

अभिलषित फल प्रदान करने के कारण अन्तरिक्ष गौ के समान है और वायुदेव उसके बछड़े के समान हैं । वह अन्तरिक्ष वायुरूपी अपने बछड़े से (हमें) अन्न, बल, अपरिमित आयु, सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे । हम उसे हवि समर्पित करते हैं ॥४ ॥

९०१ . दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥५ ॥

द्युलोक में अधिपति रूप में स्थित सूर्यदेव के सम्मुख समस्त द्युलोक निवासी विनम्र होते हैं और वे सूर्यदेव भी उनके द्वारा वृद्धि को प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार द्युलोक में सूर्यदेव के सम्मुख सब विनम्र होते हैं, उसी प्रकार हमें सम्मान देने के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित लोग विनम्र हों ॥५ ॥

९०२. द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः । सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥६ ॥

इच्छित फल प्रदान करने के कारण द्युलोक गौ के समान है और सूर्यदेव उसके बछड़े के समान हैं । वह द्युलोक सूर्यरूपी अपने बछड़े के द्वारा (हमें) अन्न- बल, अपरिमित आयु, सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे, हम उसे हवि समर्पित करते हैं ॥६ ॥

९०३. दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥७ ॥

पूर्व आदि दिशाओं में अधिष्ठाता देवता रूप में स्थित चन्द्रमा के सम्मुख समस्त प्रजाएँ विनम्र होती हैं और चन्द्रलोक भी उनके द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार दिशाओं में चन्द्रमा के सम्मुख सब विनम्र होते हैं, उसी प्रकार हमें सम्मान देने के लिए, हमारे सम्मुख उपस्थित लोग विनम्र हों ॥७ ॥

९०४. दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥८ ॥

दिशाएँ गौ हैं और चन्द्रमा उनका बछड़ा है । वे दिशाएँ चन्द्रमारूपी बछड़े के द्वारा (हमें) अन्न, बल, अपरिमित आयु, सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥८ ॥

९०५. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९ ॥

लौकिक अंगिरा सम्बन्धी अग्नि में मन्त्र बल द्वारा देवरूप अग्नि, प्रविष्ट होकर निवास करते हैं । वे 'चक्षु' और 'अंगिरा' आदि ऋषियों के पुत्र हैं । वे मिथ्यापवाद से बचाने वाले हैं । हम उन्हें नमनपूर्वक हवि प्रदान करते हैं, देवों के हविर्भाग को मिथ्या नहीं करते ॥९ ॥

९०६. हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१० ॥

हे समस्त उत्पन्न प्राणियों को जानने वाले अग्निदेव ! आप समस्त कर्मों के ज्ञाता हैं । हे जातवेदा अग्ने ! आपके जो सात मुख हैं, उनके लिए हम मन और अन्तःकरण द्वारा पवित्र हुए हवि को समर्पित करते हैं, आप उस हवि को ग्रहण करें ॥१० ॥

[४० - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - ब्रह्म (१ अग्नि, २ यम, ३ वरुण, ४ सोम, ५ भूमि, ६ वायु, ७ सूर्य, ८ दिशाएँ) । छन्द - त्रिष्टुप्, २ जगती, ८ पुरोऽतिशक्वरीपादयुग्जगती ।]

९०७. ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! जो शत्रु पूर्व दिशा में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु आपके पास जाकर पराङ्मुख होते हुए कष्ट भोगें । आभिचारिक कर्म करने वाले इन रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥१ ॥

९०८. ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥२ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! जो शत्रु दक्षिण दिशा में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा दक्षिण दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु यमदेव के समीप जाकर पराङ्मुख होते हुए कष्ट भोगें । उन अभिचारी रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥२ ॥

९०९. ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥३ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु पश्चिम दिशा में आहुति देकर पश्चिम दिशा से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु वरुणदेव के समीप जाकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । उन अभिचारी रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥३ ॥

९१०. य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥४ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु उत्तर दिशा में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा उत्तर दिशा से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु सोमदेव के समीप जाकर पराभूत होते हए कष्ट भोगें । उन अभिचारी रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥४ ॥

९११. ये३ऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥५ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु नीचे की ध्रुव दिशा में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा नीचे की ध्रुव दिशा से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु भूमि के समीप जाकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । उन अभिचारी रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥५ ॥

९१२. ये३ऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥६ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु द्यावा-पृथिवी के बीच अन्तरिक्ष में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा अन्तरिक्ष दिशा से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु वायुदेव के समीप जाकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । उन रिपुओं को हम इस प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥६ ॥

९१३. य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥७ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु ऊपर की दिशा में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा ऊर्ध्व दिशा से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु सूर्यदेव के समीप जाकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । उन रिपुओं को हम प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥७ ॥

९१४. ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान्।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥८ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु उप दिशाओं में आहुति देकर अभिचार कर्म द्वारा दिक्कोणों से हमें विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शत्रु परब्रह्म के समीप जाकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । उन रिपुओं को हम प्रतिसर कर्म द्वारा विनष्ट करते हैं ॥८ ॥

॥ इति चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चमं काण्डम् ॥

[१ - अमृता सूक्त]

[ऋषि - बृहद्दिवोऽथर्वा । देवता - वरुण । छन्द - त्रिष्टुप्, १ पराबृहती त्रिष्टुप्, ७ विराट् जगती, ९ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टि ।]

९१५. ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥१ ॥

जो दिन के सदृश आलोकित रहने वाला है, तीनों लोकों का पालन तथा संरक्षण करने वाला है और जिसने तीनों भुवनों को धारण किया है, वह हिंसारहित और अनश्वर प्राणवाला, श्रेष्ठ जन्म लेकर(शरीर रूप में) वर्द्धित होने वाला , समृद्धि वाला तथा मननशील (आत्मा) अपने उत्पत्ति स्थान से प्रकट हुआ ॥१ ॥

९१६. आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥२ ॥

जो प्रथम जीवात्मा धर्मपूर्ण कर्म को करता है, वह अनेकों श्रेष्ठ शरीरों को धारण करता है । जो अस्पष्ट वाणी को जानते हुए अन्न की कामना करता है, वह प्रथम उत्पन्न (जीवात्मा) अपने उत्पत्ति स्थान से प्रकट हुआ ॥२ ॥

९१७. यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः ।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥३ ॥

जो आत्मा धर्माचरण द्वारा कष्ट सहते हुए , स्वर्ण सदृश अपनी कान्ति को बिखेरने के लिए आपके शरीर में प्रविष्ट हुआ ।उस धर्माचारी आत्मा को द्यावा-पृथिवी अमर नाम प्रदान करते हैं और प्रजाएँ वस्त्र प्रदान करती हैं ॥३॥

९१८. प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम् ।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम् ॥४ ॥

जो स्थान-स्थान पर बैठकर जरारहित, प्राचीन तथा सर्वप्रथम ईश्वर का चिन्तन करके ईश्वर को प्राप्त कर चुके हैं । उनके समान ही ईश्वर का चिन्तन करके प्रजारूप बहिन का भार ढोने वाले, इस विवेकवान् तथा बलवान् राजा को ईश्वर की प्राप्ति कराएँ ॥४ ॥

९१९. तदू षु ते महत् पृथुज्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत् सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥५ ॥

हे विस्तृत पृथ्वी के अधिष्ठातादेव ! हम अथर्व विद्या के ज्ञाता पुरुष अपनी शास्त्र कुशलता के द्वारा आपको विशाल अन्न की हवि समर्पित करते हैं; क्योंकि धरती को स्थिर रखने वाले 'दो' (तत्त्व) चक्र के सदृश गतिशील इस धरती पर बढ़ रहे हैं ॥५ ॥

[पृथ्वी का सन्तुलन बनाने वाले 'दो' इस पृथ्वी पर बढ़ रहे हैं । यह दो जड़ एवं चेतन पदार्थ भी हो सकते हैं । पृथ्वी का सन्तुलन बनाए रखकर गतिशील बढ़ने वाले दो ध्रुव भी हो सकते हैं ।]

९२०. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यं हुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥६ ॥

ऋषियों ने मनुष्यों के लिए निषेधरूप, जो सात मर्यादाएँ निर्धारित की हैं, उनमें से एक का भी उल्लंघन करने पर वे पापी होते हैं । मर्यादाओं का पालन करने पर ध्रुव (श्रेष्ठ) स्थानों में स्थित होते हैं ॥६ ॥

९२१. उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१स्तत् सुमद्गुः ।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत् सचते हविर्दाः ॥७ ॥

हम व्रतधारी बनकर कर्मों को करते हुए , अविनाशी प्राणशक्ति से युक्त होकर आ रहे हैं । इसलिए हमारी आत्मा, प्राण और शरीर गुणवान् बन रहे हैं । जो समर्थ बनकर हवि समर्पित करते हैं, उनको इन्द्रदेव रत्न आदि धन प्रदान करते हैं ॥७ ॥

९२२. उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये ।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥८ ॥

पुत्र अपने क्षत्रिय (रक्षक) पिता की वन्दना करे और कल्याण प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ मर्यादापूर्ण धर्म का आवाहन करे । हे वरुणदेव ! आपके जो विशेष स्थान हैं, उनको दिखाते हुए आप बारम्बार घूमने वाले प्राणियों के शरीरों का सृजन करते हैं ॥८ ॥

९२३. अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् ।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥९ ॥

अदिति पुत्र मित्रावरुण को हम समृद्ध करते हैं । हे बलशाली वरुणदेव ! आप किसी से आवृत नहीं हैं । आप आधे पय (पोषक रस) से इस (जगत्) को समृद्ध करते हैं और आधे से स्वयं समृद्ध होते हैं । हे द्यावा-पृथिवी के अधिष्ठाता देव ! विद्वान् ऋषियों द्वारा प्रशंसित शरीरों का हम (वरुणदेव से) वर्णन करते हैं ॥९ ॥

[२ - भुवनज्येष्ठ सूक्त]

[**ऋषि** - बृहद्दिवोऽथर्वा । **देवता** - वरुण । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ९ भुरिक् परातिजागता त्रिष्टुप् ।]

९२४. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥१ ॥

संसार का कारणभूत ब्रह्म स्वयं ही सब लोकों में प्रकाशरूप में संव्याप्त हुआ, जिससे प्रचण्ड तेजस्वी बल से युक्त सूर्य का प्राकट्य हुआ । जिसके उदय होने मात्र से (अज्ञान-अन्धकाररूपी) शत्रु नष्ट हो जाते हैं । उसे देखकर सभी प्राणी हर्षित हो उठते हैं ॥१ ॥

९२५. वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥२ ॥

अपनी सामर्थ्य से वृद्धि को प्राप्त हुए अनन्त शक्तियुक्त (यह देव) शत्रुओं के अन्तःकरण में भय उत्पन्न करते हैं । वे सभी चर-अचर प्राणियों को संचालित करते हैं । ऐसे देव की हम (याजकगण) सम्मिलित रूप से एक साथ स्तुति करके, उन्हें तथा स्वयं को आनन्दित करते हैं ॥२ ॥

९२६. त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥३ ॥

हे देव ! सब यजमान आपके लिए ही अनुष्ठान करते हैं । जब यजमान विवाहोपरान्त दो या एक सन्तान के बाद तीन होते हैं, तो प्रिय लगने वाले (सन्तान) को प्रिय (धन या गुणों) से युक्त करें । बाद में इस प्रिय सन्तान को पौत्रादि की मधुरता से युक्त करें ॥३ ॥

९२७. यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥४ ॥

हे देव ! आप जिस समय सोमपान से आनन्दित होकर धन-सम्पदा पर विजय प्राप्त करते हैं । उस समय ज्ञानी स्तोतागण आपकी ही स्तुति करते हैं । हे देव ! आप हमें तेजस्विता प्रदान करें, दुस्साहसी असुर कभी आपको पराभूत न कर सकें ॥४ ॥

९२८. त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥५ ॥

हे देव ! आपके सहयोग से हम रणभूमि में दुष्ट शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं । युद्ध की इच्छा से प्रेरित होकर अनेक शत्रुओं से हम भेंट करते हैं । आपके वज्रादि आयुधों को हम स्तोत्रों द्वारा प्रोत्साहित करते हैं । स्तुति मंत्रों से हम आपकी तेजस्विता को और भी तीक्ष्ण करते हैं ॥५ ॥

९२९. नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥६ ॥

हे देव ! आप जिस यजमान के घर में हविरूप अन्न से परितृप्त होते हैं, उसे दिव्य और भौतिक सम्पदा प्रदान करते हैं । सम्पूर्ण प्राणियों के निर्माता, गतिशील द्युलोक और पृथ्वीलोक को आप ही सुस्थिर करते हैं । उस समय आपको अनेक कार्यों का निर्वाह करना पड़ता है ॥६ ॥

९३०. स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥७ ॥

स्तुत्य, विभिन्न स्वरूपों वाले, दीप्तिमान् , सर्वेश्वर और सर्वश्रेष्ठ आत्मीय (देव) की हम स्तुति करते हैं । वे अपनी सामर्थ्य से वृत्र, नमुचि, कुयव आदि सात राक्षसों के विनाशकर्त्ता तथा अनेक असुरों के पराभवकर्त्ता हैं ॥

९३१. इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥८ ॥

ऋषियों में श्रेष्ठ और स्वर्गलोक के आकांक्षी बृहद्दिव ऋषि इन (देवों) को सुख प्रदान करने के लिए ही इन वैदिक मन्त्रों का पाठ करते हैं । वे तेजस्वी, दीप्तिमान् इन्द्रदेव विशाल पर्वत (अवरोध) को हटाते हैं तथा शत्रु-पुरियों के सभी द्वारों के उद्घाटक हैं ॥८ ॥

९३२. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१मिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥९ ॥

अथर्वा के पुत्र महाप्राज्ञ बृहद्दिव ने देवों के लिए स्तुतियाँ कीं । माता सदृश भूमि पर उत्पन्न पवित्र नदियाँ, पारस्परिक भगिनी तुल्य स्नेह से जल प्रवाहित करती हैं तथा अन्न-बल से लोगों का कल्याण करती हैं ॥९ ॥

[३ - विजयप्रार्थना सूक्त]

[**ऋषि -** बृहद्दिवोऽथर्वा । **देवता -** १-२ अग्नि, ३-४ देवगण, ५ द्रविणोदा, ६ वैश्वदेवी, ७ सोम, ८, ११ इन्द्र, ९ धाता, विधाता, सविता, आदित्यगण, रुद्रगण, अश्विनीकुमार, १० आदित्यगण, रुद्रगण । **छन्द -** त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिष्टुप्, १० विराट् जगती ।]

९३३. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! संग्रामों या यज्ञों के समय हममें तेजस्विता जाग्रत् हो । आपको समिधाओं से प्रज्वलित करते हुए हम अपनी देह को परिपुष्ट करते हैं । हमारे लिए चारों दिशाएँ अवनत हों । आपको स्वामिरूप में प्राप्त करके हम शत्रु सेनाओं पर विजय प्राप्त करें ॥१ ॥

९३४. अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः ।

अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमारे शत्रुओं के क्रोध का दमन करते हुए दुर्धर्ष होकर हमारी सभी प्रकार से सुरक्षा करें । वे भयभीत होकर निरर्थक बातें करने वाले शत्रु पराङ्मुख होकर लौट जाएँ । इन शत्रुओं के मन-मस्तिष्क भ्रमित हो जाएँ ॥२ ॥

९३५. मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।

ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ॥३ ॥

अग्निदेव के साथ मरुद्गण, विष्णु और इन्द्र आदि सभी देवगण युद्धकाल में हमारा सहयोग करें । अन्तरिक्ष के समान विस्तृत लोक हमारे लिए प्रकाशमान हों । हमारे इन अभिलषित कार्यों में वायुदेव अनुकूल होकर प्रवाहित हों ॥३ ॥

९३६. मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।

एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥४ ॥

ऋत्विग्गण हमारी चरु, पुरोडाशादि यज्ञ सामग्री को आहुतियों के रूप में देवताओं को समर्पित करें । हमारे मन के संकल्प पूर्ण हों । हम किसी भी पाप में संलिप्त न हों । हे विश्वेदेवो ! आप हमें आशीर्वचन प्रदान करें ॥४ ॥

९३७. मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः ।

दैवा होतारः सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥५ ॥

श्रेष्ठ यज्ञादि कार्यों से प्रसन्न होकर सभी देवगण हमें ऐश्वर्य प्रदान करें । हम देवशक्तियों का आवाहन करें । प्राचीनकाल में जिन्होंने देवों को आहुति समर्पित की है, वे होतागण अनुकूल होकर देवों की अर्चना करें । हम शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ होकर वीर सुसन्ततियों से युक्त हों ॥५ ॥

९३८. दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥६ ॥

हे छह बड़ी दिव्य दिशाओ ! आप हमारे लिए विस्तृत स्थान प्रदान करें । हे सर्वदेवो ! आप हमें हर्षित करें । निस्तेजता, अपकीर्ति तथा द्वेष आदि पाप हमारे निकट न आने पाएँ ॥६ ॥

९३९. तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥७ ॥

हे तीनों (भारती, पृथ्वी और सरस्वती) देवियो ! आप हमारा बृहत् कल्याण करें और जो पोषक वस्तुएँ हैं, उसे हमारे शरीर और प्रजा के लिए प्रदान करें । हम सन्तानों और पशुओं से हीन न हों । हे राजन् सोम ! हम रिपुओं के कारण दु:खी न हों ॥७ ॥

९४०. उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥८ ॥

सर्वव्यापक, पूजनीय, अनेक यजमानों के द्वारा बुलाये जाने वाले, विभिन्न स्थानों में वास करने वाले इन्द्रदेव इस यज्ञ में पधारकर हमें सुख प्रदान करें । हे हरित अश्वों के स्वामिन ! आप हमारी सन्ततियों को सुखी करें । हमारे प्रतिकूल न होकर हमें अनिष्टों से बचाएँ ॥८ ॥

९४१. धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥९ ॥

सृष्टि के निर्माता एवं धारणकर्त्ता, जो सम्पूर्ण विश्व के अधिपति हैं, उन सर्वप्रेरक, पालनकर्त्ता और अहंकारी शत्रुओं के विजेता सवितादेवता, आदित्य, रुद्र, अश्विनीकुमार आदि सभी प्रमुख देव इस यज्ञ का संरक्षण करें तथा यजमान को पापों से बचाएँ ॥९ ॥

९४२. ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान्।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥१० ॥

जो हमारे शत्रु हैं, वे पराभूत हों । हम उन्हें इन्द्राग्नि की सामर्थ्य से विनष्ट करते हैं । वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण ये सभी हमें ऊँचे पदों पर आसीन करके पराक्रमी, ज्ञानसम्पन्न तथा सबके अधिपति बनाएँ ॥१० ॥

९४३. अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥११ ॥

जो पृथ्वी, धन तथा अश्वों को जीतने वाले और रिपुओं का सामना करने वाले हैं, उन इन्द्रदेव को हम द्युलोक से बुलाते हैं, वे संग्राम में हमारे इस स्तोत्र को सुनें । हे हर्यश्व इन्द्रदेव ! आप हमारे स्नेही बनें ॥११ ॥

[४ - कुष्ठतक्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - कुष्ठ, यक्ष्मनाशन । छन्द - अनुष्टुप्, ५ भुरिक् अनुष्टुप्, ६ गायत्री, १० उष्णिक् गर्भा निचृत् अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में कुष्ठ नामक ओषधि का वर्णन है । वैद्यक ग्रन्थ 'भावप्रकाश' में इसके गुण- धर्मों का वर्णन है । इसे उष्ण, कटु स्वाद वाली, शुक्र उत्पादक, वात, विसर्प, कुष्ठ, कफ आदि रोगों को दूर करने वाली कहा गया है-

९४४. यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥१ ॥

हे व्याधिनिवारक कुष्ठ ओषधे ! आप पर्वतों में उत्पन्न होने वाली तथा समस्त ओषधियों में अत्यधिक शक्तिदायी हैं । आप कष्टदायी रोगों को विनष्ट करती हुई यहाँ पधारें ॥१ ॥

९४५. सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि । धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ।

गरुड़ के उत्पत्ति स्थान हिमालय शिखर पर, उत्पन्न इस ओषधि को, आरोग्य धनरूप सुनकर लोग वहाँ जाते हैं और व्याधि निवारक इस ओषधि को प्राप्त करते हैं ॥२ ॥

९४६. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥३ ॥

यहाँ से तीसरे द्युलोक में जहाँ देवों के बैठने का स्थान ' अश्वत्थ' है, वहाँ पर देवों ने अमृत का बखान करने वाले इस 'कुष्ठ'ओषधि को प्राप्त किया ॥३ ॥

९४७. हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥४ ॥

स्वर्गलोक में सोने के बन्धन वाली स्वर्णिम नौका चलती है । वहाँ पर देवों ने अमृत के पुष्प 'कुष्ठ'ओषधि को प्राप्त किया था ॥४ ॥

९४८. हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥५ ॥

जिससे (जिस माध्यम से) 'कुष्ठ' ओषधि लायी गयी थी, उसके मार्ग, उसकी बल्लियाँ तथा उसकी नौकाएँ सोने की थीं ॥५ ॥

९४९. इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥६ ॥

हे कुष्ठ ओषधे ! आप हमारे इस पुरुष को उठाकर पूर्णतया रोगरहित करें और इसे आरोग्य प्रदान करें ॥६ ॥

९५०. देवेभ्यो अधि जातो ऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥७ ॥

हे कुष्ठ ओषधे ! आप देवताओं के द्वारा उत्पन्न हुई हैं । आप सोम ओषधि की हितकारी सखा हैं । इसलिए आप हमारे इस पुरुष के व्यान, प्राण और आँखों को सुख प्रदान करें ॥७ ॥

९५१. उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥८ ॥

वह 'कुष्ठ' नाम वाली ओषधि हिमालय के उत्तर में उत्पन्न हुई तथा पूर्व दिशा में मनुष्यों के समीप लायी गई । वहाँ पर उसके श्रेष्ठ नामों का लोगों ने विभाजन किया ॥८ ॥

९५२. उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥९ ॥

हे कुष्ठ ओषधे ! आपका और आपके पिता (उत्पादक हिमालय) दोनों का ही नाम उत्तम है । आप समस्त प्रकार के क्षय रोगों को दूर करें और कष्टदायी ज्वर को निर्वीर्य करें ॥९ ॥

९५३. शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥१० ॥

सिर की व्याधि, आँखों की दुर्बलता और शारीरिक दोष, इन सब रोगों को 'कुष्ठ' ओषधि ने दिव्य बल को प्राप्त करके दूर कर दिया ॥१० ॥

[५- लाक्षा सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - लाक्षा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

वैद्यक ग्रन्थों में 'लाख' का पर्याप्त वर्णन है । इसे कृमिहा (कृमि नाशक) , रक्षा, राक्षा, लाक्षा (रक्षक) , क्षतघ्नी (घाव भरने वाली) , दीप्ति, द्रवासा आदि नाम दिये गये हैं । वेद वर्णित इसके कुछ प्रयोग प्रचलित हैं; कुछ शोध के विषय हैं-

९५४. रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥१ ॥

हे लाक्षा (लाख) ! चन्द्रमा की रश्मियों के द्वारा पोषित होने के कारण रात्रि आपकी माता हैं और वृष्टि द्वारा उत्पन्न होने के कारण आकाश आपके पिता हैं तथा आकाश में बादलों को लाने के कारण अर्यमा (सूर्य) आपके पितामह हैं । आपका नाम 'सिलाची' है और आप देवों की बहिन हैं ॥१ ॥

९५५. यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।

भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥२ ॥

जो आपका पान करते हैं, वे जीवित रहते हैं । आप मनुष्यों की सुरक्षा करने वाली हैं । आप समस्त लोगों का भरण करने वाली तथा आरोग्य प्रदान करने वाली हैं ॥२ ॥

९५६. वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।

जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥३ ॥

पुरुष की कामना करने वाली कन्या के समान आप प्रत्येक वृक्ष पर चढ़ती हैं । आप विजित होने वाली तथा खड़ी होने वाली हैं, इसलिए आपका नाम 'स्परणी' है ॥३ ॥

९५७. यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।

तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥४ ॥

दण्ड से, बाण से अथवा रगड़ से जो घाव हो जाते हैं; उन सबकी, हे लाख ओषधे ! आप उपायरूप हैं । अतः आप इस पुरुष को रोगरहित करें ॥४ ॥

९५८. भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद् धवात् ।

भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥५ ॥

हे घावों को भरने वाली ओषधे ! आप कदम्ब, पाकड़, पीपल, धव, खैर, भद्र, न्यग्रोध तथा पर्ण से पैदा होती हैं, आप हमारे पास पधारें ॥५ ॥

९५९. हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे । रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि॥

हे स्वर्ण तथा सूर्य सदृश वर्णवाली सुभगे ! हे शरीर के लिए कल्याणकारी तथा रोगों को दूर करने वाली ओषधे ! आप रोगों के पास (उसे दूर करने के लिए) पहुँचती हैं; इसलिए आपका नाम 'निष्कृति' है ॥६ ॥

९६०. हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।

अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥७ ॥

हे स्वर्ण सदृश रंग वाली भाग्यशालिनि ! हे बलकारिणी तथा रोमों वाली लाक्षा ओषधे ! आप जल की बहिन हैं और वायु आपकी आत्मा है ॥७ ॥

९६१. सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥८॥

आपका नाम 'सिलाची' तथा 'कानीन' है और बकरियों के पालक वृक्षादि आपके पिता हैं। यम के जो पीले-काले रंग के घोड़े हैं, उनके रक्त से आपको सिंचित किया गया था ॥८॥

९६२. अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥९॥

हे घाव को भरने वाली ओषधे ! आप अश्व-रक्त के समान हैं। आप वृक्षों को सिंचित करने वाली तथा सरकने वाली हैं। आप टपकने वाली या प्रवहमान होकर हमारे पास पधारें ॥९॥

[६ - ब्रह्मविद्या सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - सोमारुद्र (१ ब्रह्म, २ कर्म, ३-४ रुद्रगण, ५-८ सोमारुद्र, ९ होतं, १० अग्नि, ११-१४ सर्वात्मा रुद्र) । **छन्द** - पङ्क्ति, १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती, ४ पञ्चपदा अनुष्टुप् उष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा जगती, ५-७ त्रिपदा विराट् गायत्री, ८ एकावसाना द्विपदार्च्यनुष्टुप्, १० प्रस्तारं पंक्ति, १४ स्वराट् पंक्ति ।]

९६३. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

सत्-चित्- सुखात्मक तथा जगत् का कारणभूत ब्रह्म, सृष्टि के पूर्व में ही उत्पन्न हुआ। पूर्व दिशा में उदित होने वाला जो सूर्यात्मक तेज 'वेन' है, वही सत् और असत् के उद्‌गम स्थान के ज्ञान को व्यक्त करने वाला है ॥१॥

९६४. अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥२॥

हे मनुष्यो ! आपने अज्ञान की अवस्था में जिन कर्मों को सम्पन्न किया था, वे हमारी सन्तानों को यहाँ पर विनष्ट न करें, अतः उन सबको हम आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं ॥२॥

९६५. सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥३॥

सामर्थ्ययुक्त पवित्र सोम की स्तुति की जाती है। आदिपिता ये सोमदेव अपने व्रतों का निर्वाह करते हुए महान् अन्तरिक्ष को अपने तेजस् से आवृत कर देते हैं। ज्ञानी याजक उन्हें धारणशील जल में मिश्रित करते हैं ॥३॥

९६६. पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥४॥

(हे सूर्यदेव !) अन्न या बलवर्द्धन के लिए आप शत्रुनिवारक होकर वृत्रों (अवरोधक आवरणों) को दूर करें। आप समुद्र (सागर या अन्तरिक्ष) से शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं, अतः आपका नाम 'सनिस्रस' (पराक्रमी) है। तेरहवाँ माह (पुरुषोत्तम मास) इन इन्द्र (सूर्य) का आवास होता है ॥४॥

९६७. न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥

निश्चितरूप से इस (पूर्वोक्त) क्रम के द्वारा ही इसने सिद्धि प्राप्त की है। आपके लिए यह हवि समर्पित है। हे तीक्ष्ण आयुध तथा तीक्ष्ण अस्त्र वाले सोम और रुद्र देवो ! इस युद्ध में आप हमें सुख प्रदान करें ॥५॥

९६८.अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥

इस विद्या के द्वारा ही इसने सिद्धि उपलब्ध की थी । आपके लिए यह हवि समर्पित है । हे तीक्ष्ण आयुध तथा अस्त्र वाले सोम और रुद्र देवो ! इस युद्ध में आप हमें सुख प्रदान करें ॥६ ॥

९६९.अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥

इस प्रक्रिया के द्वारा ही इसने सिद्धि प्राप्त की थी । आपके लिए यह हवि समर्पित है । हे तीक्ष्ण आयुध तथा अस्त्र वाले सोम और रुद्र देवो ! इस युद्ध में आप हमें सुख प्रदान करें ॥७ ॥

९७०. मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥८ ॥

हे सोम और रुद्र देवो ! आप हमें पाप से छुड़ाएँ और यज्ञ को ग्रहण करते हुए हमें अमरत्व प्रदान करें ॥८ ॥

९७१. चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥९ ॥

हे आँख, मन तथा मन्त्र सम्बन्धी आयुध ! आप हथियारों के भी हथियार हैं । जो हमको विनष्ट करने की कामना करते हैं, वे शस्त्ररहित हो जाएँ ॥९ ॥

९७२. योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥१० ॥

हिंसक पाप कर्मों की कामना वाले जो पापी लोग आँख, मन, चित्त तथा संकल्प से हमें क्षीण करना चाहते हैं, उनको हे अग्निदेव ! आप अपने शस्त्र से शस्त्रहीन करें । यह हवि आपके लिए समर्पित है ॥१० ॥

९७३. इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥११ ॥

हे अग्निदेव ! आप इन्द्र के घर हैं । आप सर्वगामी, सर्व आत्मा, सर्व शरीर तथा सर्वपुरुष हैं । अपनें समस्त साथियों सहित हम आपकी शरण में हैं और आप में प्रविष्ट होते हैं ॥११ ॥

९७४. इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥१२ ॥

हे अग्निदेव ! आप इन्द्रदेव के सुख-स्थल हैं । आप सर्वगामी, सर्व आत्मा, सर्वशरीर तथा सर्वपुरुषरूप हैं । अपने समस्त साथियों सहित हम आपकी शरण में हैं और आप में प्रविष्ट होते हैं ॥१२ ॥

९७५. इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥१३ ॥

हे अग्निदेव ! आप इन्द्रदेव के कवच हैं । आप सर्वगामी, सर्व आत्मा, सर्वशरीर तथा सर्वपुरुष हैं । अपने समस्त साथियों सहित, हम आपकी शरण में आते हैं और आप में प्रविष्ट होते हैं ॥१३ ॥

९७६. इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥१४ ॥

हे अग्ने ! आप इन्द्रदेव के ढाल स्वरूप हैं । आप सर्वगामी, सर्व आत्मा, सर्वशरीर तथा सर्वपुरुष हैं । अपने समस्त साथियों सहित हम आपकी शरण में आते हैं और आप में प्रविष्ट होते हैं ॥१४ ॥

[७ - अरातिनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १-३,६-१० अरातिसमूह, ४-५ सरस्वती । छन्द - अनुष्टुप्, १ विराट् गर्भा प्रस्तारपंक्ति, ४ पथ्याबृहती, ६ प्रस्तारपंक्ति ।]

इस सूक्त में 'अराति' तथा 'सरस्वती' का उल्लेख है । 'अराति' को अदानशीलता अथवा असमृद्धि की देवी या वृत्ति कहा गया है । इन्हें लक्ष्मी (दानशील-समृद्धिमूलक) देवी के विपरीत गुण वाली माना जाता है । लक्ष्मी एवं अराति दोनों शक्तियों के सदुपयोग भी होते हैं तथा दुरुपयोग भी । लक्ष्मी-समृद्धि का सदुपयोग निर्वाह, यजन एवं दानादि में है तथा दुरुपयोग अहंकार तथा व्यसनों में होता है । इसी प्रकार 'अराति' का दुरुपयोग दीनता, कंजूसी, संकीर्णता आदि में होता है तथा सदुपयोग मितव्ययिता, सादगी, निस्पृहता आदि दिव्य वृत्तियों के विकास में होता है । सरस्वती के उपासक समृद्धि की तरह अराति (गरीबी) का भी सदुपयोग जानते हैं तथा उस वृत्ति या देवी से भी निकट आकर दिव्य प्रवृत्तियाँ जाग्रत् करने की प्रार्थना करते हैं । इस सूक्त में ऋषि इसी प्रकार के भाव व्यक्त कर रहे हैं-

९७७. आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम् ।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये ॥१ ॥

हे अराते ! आप दिव्य सम्पदा से हमें पूर्ण करें और हमें घेरकर न बैठें । हमारे द्वारा लाई हुई दक्षिणा को आप रोककर न रखें । ईर्ष्यायुक्त असमृद्धि तथा अदान की अधिष्ठात्री देवी के लिए हमारा नमन है ॥१ ॥

९७८. यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम् । नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥

हे अराते ! आप जिस बकवादी (अभावों का बखान करने वाले) मनुष्य को अपने सम्मुख रखती हैं, उसको हम दूर से ही नमन करते हैं; परन्तु आप हमारी इस भावना को पीड़ित न करना ॥२ ॥

[ऋषि गरीबी का सम्मान रखना चाहते हैं; किन्तु उसके आधार पर अपनी उदारभावना को कुण्ठित नहीं होने देना चाहते ।]

९७९.प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम् । अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये॥

देवों (सद्गुणों की दैवी सम्पदा) के प्रति की हुई हमारी भक्ति दिन-रात बढ़ती रहे । हम 'अराति' के आश्रय में जाते (सादा जीवन स्वीकार करते) हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं ॥३ ॥

९८०.सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे । वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥

देव- आवाहित यज्ञों में, देवों को हर्षित करने वाली मधुर वाणी का हम उच्चारण करते हैं और 'अनुमति', 'सरस्वती' तथा 'भग' देवों के शरणागत होकर हम उनका आवाहन करते हैं ॥४ ॥

९८१. यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्यां मनोयुजा । श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥

मन से जुड़ी सरस्वती (वाणी) से हम जिस वस्तु (दिव्य सम्पदा) की याचना करते हैं, सोमदेव द्वारा प्रदान की गयी श्रद्धा उसे प्राप्त करे॥५॥

[मन से निकली वाणी से याचना करने पर दिव्यसम्पदाएँ प्राप्त होती हैं तथा उन्हें श्रद्धा- भावना में धारण किया जाता है ।]

९८२. मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥६ ॥

हे अराते ! आप हमारी वाणी तथा भक्ति को अवरुद्ध न करें । दोनों -इन्द्र और अग्नि देव हमें चारों ओर से ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ । समस्त देव हमें देने की अभिलाषा करें और हमारे रिपुओं के विपरीत चलें ॥६ ॥

९८३. परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥७ ॥

हे असमृद्धे (दरिद्रता) ! हम आपको क्लेश तथा पीड़ा देने वाली के रूप में जानते हैं, आप हमसे परे चली जाएँ । हे अराते ! हम आपकी विघटनकारी शक्ति को दूर करते हैं ॥७ ॥

९८४. उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥८ ॥

हे अराते ! आप मनुष्यों को आलस्य से संयुक्त करके नग्न (लज्जास्पद) स्थिति प्रदान करती हैं और उनके संकल्पों को धनरहित करके असफल करती हैं ॥८ ॥

९८५. या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥९ ॥

जो अत्यन्त विशाल होकर समस्त दिशाओं में व्याप्त हो गई है, उस स्वर्णिम रोमों वाली (लाभप्रद दिखने वाली) असमृद्धि को हम नमस्कार करते हैं ॥९ ॥

९८६. हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्रा पयेऽरात्या अकरं नमः ॥१० ॥

जो स्वर्णिम रंग वाली 'हिरण्यकशिपु' (राक्षस के वशीभूत या स्वर्णिम आवरण वाली) मही (पृथ्वी के समान या महान्) रमणीयता को नष्ट करने वाली है, उस अदानशीलता को हम नमस्कार करते हैं ॥१० ॥

[८ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १-२ अग्नि, ३ विश्वेदेवा, ४-९ इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप्, २ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३-४ भुरिक् पथ्यापंक्ति, ६ आस्तारपंक्ति, ७ द्व्युष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्ति, ९ त्र्यवसाना षट्पदा द्व्युष्णिग्गर्भा जगती ।]

९८७. वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह । अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥१॥

हे अग्निदेव ! आप बलशाली ओषधि गुणयुक्त वृक्ष के ईंधन से देवों के लिए घृत पहुँचाएँ और उन्हें हर्षित करें । हमारे आवाहन पर वे सब हमारे यज्ञ में पधारें ॥१ ॥

९८८. इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु । इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे । तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन् ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमारे यज्ञ में पधारें और हमारे द्वारा की हुई स्तुति को सुनें । आपकी तरफ अग्रगामी याजक हमारे संकल्प के अनुकूल रहें । हे उत्पन्न हुए लोगों को जानने वाले तथा शरीर को वश में रखने वाले इन्द्रदेव ! उन याजकों के द्वारा हम वीर्य प्राप्त कर सकें ॥२ ॥

९८९. यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति ।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥३ ॥

हे देवो ! आपकी भक्ति न करने वाले जो मनुष्य घात करना चाहते हैं, उनकी हवि को अग्निदेव न पहुँचाएँ और देवगण उनके यज्ञ में न जाकर हमारे ही यज्ञ में पधारें ॥३ ॥

९९०. अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।
अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥४ ॥

हे योद्धाओ ! आप इन्द्रदेव के (अभय) वचनों से बढ़ें और रिपुओं का संहार करें । जिस प्रकार भेड़िया, भेड़ों को मारता है, उसी प्रकार आप रिपुओं को मथ डालें । आप से वह जीवित न बचे, आप उसके प्राण को भी बींध डालें ॥४ ॥

९९१. यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये । इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥५ ।

हे इन्द्रदेव ! हमारी अवनति के लिए इन रिपुओं ने जिस ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाया है, वह आपके पैरों के नीचे हो । हम उसे मृत्यु की ओर फेंकते हैं ॥५ ॥

९९२. यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥६ ॥

हे देव ! 'तनूनपान' और 'परिपाण' क्रिया करते समय यदि रिपुओं ने पहले ही मन्त्रमय कवच बना लिए हों, तो उस समय उनके द्वारा कहे हुए वचनों को आप असफल करें ॥६ ॥

९९३. यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥७ ॥

हे वृत्र-संहारक इन्द्रदेव ! हमारे रिपुओं ने जिन योद्धाओं को अग्रगामी बनाया था और अभी जिनको बना रहे हैं, उनको आप पुनः पीछे करें । जिससे हम रिपुओं के सैन्य दल को विनष्ट कर सकें ॥७ ॥

९९४. यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वे३हमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८ ॥

जिस प्रकार इन्द्रदेव ने उत्तम स्तुति वचनों को प्राप्त करके, रिपुओं को अपने पैरों तले रौंद डाला था, उसी प्रकार हम भी रिपुओं को सदा के लिए तिरस्कृत करते हैं ॥८ ॥

९९५. अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य । अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१हं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥९ ॥

हे वृत्र संहारक इन्द्रदेव ! आप इस संग्राम में प्रचण्ड बनकर रिपुओं के मर्म स्थल में घाव करें । हे देव ! हम आपसे प्रेम करने वाले हैं, अतः आप इन रिपुओं पर चढ़ाई करें । हे इन्द्रदेव ! हम आपके अनुकूल रहकर अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं, इसलिए आप हमारे ऊपर अनुग्रह बुद्धि रखें ॥९ ॥

[९ - आत्मा सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** -वास्तोष्पति । **छन्द** - १,५ दैवी बृहती, २,६ दैवी त्रिष्टुप्, ३-४ दैवी जगती, ७ पञ्चपदा विराट् उष्णिक् बृहतीगर्भा जगती, ८ त्र्यवसाना चतुष्पदा पुरस्कृति त्रिष्टुप् बृहतीगर्भातिजगती ।]

९९६. दिवे स्वाहा ॥१ ॥

द्युलोक के अधिष्ठाता देवता के लिए यह हवि समर्पित है ॥१ ॥

९९७. पृथिव्यै स्वाहा ॥२ ॥

पृथ्वी के अधिष्ठाता देवता के लिए यह हवि समर्पित है ॥२ ॥

९९८. अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३ ॥

अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता देवता के लिए यह हवि समर्पित है ॥३ ॥

९९९. अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४ ॥

(हृदय के) अन्तरिक्ष में विद्यमान देवता के लिए यह हवि समर्पित है ॥४ ॥

१०००. दिवे स्वाहा ॥५ ॥

स्वर्गलोक (गमन) के लिए यह हवि समर्पित है ॥५ ॥

१००१. पृथिव्यै स्वाहा ॥६ ॥

पृथ्वी (पर हर्षपूर्वक निवास करने) के लिए यह हवि समर्पित है ॥६ ॥

१००२. सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥७ ॥

सूर्यदेव हमारे नेत्र हैं, वायुदेव प्राण हैं, अन्तरिक्षदेव आत्मा और पृथ्वी शरीर है । यह हम अमर नाम वाले हैं, द्यावापृथिवी द्वारा संरक्षित होने के लिए हम अपनी आत्मा को उनके आश्रित करते हैं ॥७ ॥

१००३. उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् । आयुष्कृदायुष्पत्नी
स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा । आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥८ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! आप हमारे आयु , बल, कर्म, कृत्या, बुद्धि तथा इन्द्रिय को उत्कृष्ट बनाएँ । हे आयुष्य बढ़ाने वाले तथा आयु की रक्षा करने वाले स्वधावान् द्यावा-पृथिवी आप दोनों हमारे संरक्षक हैं । आप हममें विद्यमान रहकर हमारी सुरक्षा करें, हमें विनष्ट न होने दें ॥८ ॥

[१० - आत्मरक्षा सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - वास्तोष्पति । **छन्द** - यवमध्यात्रिपदागायत्री, ७ यवमध्याककुप्, ८ पुरोधृति द्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिस्त्र्यवसाना चतुष्पदातिजगती ।]

पहले वाले सूक्त (क्र० ९) में साधक ने दिव्य शक्तियों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए स्वयं को उनके प्रति समर्पित किया है । इस आस्था से साधक को दिव्य संरक्षण प्राप्त होता है, जिसे अश्म - वर्म (पत्थर का अर्थात् अत्यन्त दृढ़ कवच) कहा गया है । उसी से रक्षा की प्रार्थना (मंत्र क्र० १ से ७ तक) की गयी है । आठवें मंत्र में, अपने व्यक्तित्व में विराट् सृष्टि के तेजस्वी अंशों के समावेश का भाव है । वृक्ष से बीज तथा बीज से वृक्ष के चक्र की तरह दिव्यता से मनुष्य तथा मनुष्य से दिव्यता का चक्र गतिशील रहता है । इस दिव्य भाव रूपी कवच के भीतर ही मनुष्यता सुरक्षित रहती है-

१००४. अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥१ ।

हे अश्मवर्म (पत्थर का कवच) ! आप हमारे हैं । हमें मारने की इच्छा वाले जो मनुष्य पूर्व दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ॥१ ॥

१००५. अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ।

हे अश्मवर्म !आप हमारे हैं । जो मनुष्य दक्षिण दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ॥२ ।

१००६. अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥

हे अश्मवर्म ! आप हमारे हैं । जो मनुष्य पश्चिम दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ॥३ ।

१००७. अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत् स ऋच्छात् ॥४ ॥

हे अश्मवर्म ! आप हमारे हैं । जो मनुष्य उत्तर दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ॥४ ॥

१००८. अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशो ऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ।।५ ।।

हे अश्मवर्म ! आप हमारे हैं । जो पापी ध्रुव दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ।।५ ।।

१००९. अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशो ऽघायुरभिदासात्। एतत् स ऋच्छात् ।।६ ।।

हे अश्मवर्म ! आप हमारे हैं । जो मनुष्य ऊर्ध्व दिशा से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाएँ ।।६ ।।

१०१०. अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्।
एतत् स ऋच्छात् ।।७ ।।

हे अश्मवर्म ! आप हमारे हैं । हमें मारने की इच्छा वाले जो पापी अन्तर्दिशाओं से हमें विनष्ट करना चाहते हैं, वे स्वयं ही नष्ट हो जाएँ ।।७ ।।

१०११. बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ । सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः
शरीरम्। सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ।।८ ।।

बृहत् चन्द्रदेव से हम मन का आवाहन करते हैं, वायुदेव से प्राण-अपान, सूर्यदेव से चक्षु, अन्तरिक्ष से श्रोत्र, धरती से शरीर तथा मनोयोगपूर्वक (प्रदान करने वाली) सरस्वती से हम वाणी की याचना करते हैं ।।८ ।।

[११ - संपत्कर्म सूक्त]

[**ऋषि -** अथर्वा । **देवता -** वरुण । **छन्द -** त्रिष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप्, ३ पंक्ति, ६ पञ्चपदा अतिशक्वरी, ११ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टि ।]

१०१२. कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ।।१ ।।

हे अत्यधिक बलवान् तथा ऐश्वर्यवान् वरुणदेव ! पालनकर्त्ता तथा प्राणदाता सूर्यदेव से आपने क्या-क्या कहा था ? हे बारम्बार धन प्रदान करने वाले देव ! आप सूर्यदेव को (जलरूप) दक्षिणा प्रदान करते हैं और मन से हमारी चिकित्सा करते हैं ।।१ ।।

१०१३. न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे ।
केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ।।२ ।।

हम इच्छा मात्र से ही पुनः - पुनः ऐश्वर्यवान् नहीं बनते हैं; लेकिन सुख के लिए सूर्यदेव से स्तुति करने पर इस सुखपूर्ण अवस्था को प्राप्त करते हैं । हे अथर्ववेदीय ऋत्विज् ! आप किस कुशलता द्वारा जातवेदा अग्निदेव (के समान ओजस्वी) हो गये हैं ।।२ ।।

१०१४. सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः ।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ।।३ ।।

यह सही है कि मैं गम्भीर हूँ और वैदिक (उपचारों) के माध्यम से 'काव्य' कहलाता हूँ । जिस व्रत को मैं धारण करता हूँ, उस व्रत को मेरी महिमा के कारण कोई आर्य और दास तोड़ नहीं सकता ।।३ ।।

१०१५. न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ।।४ ।।

हे स्वधावान् वरुणदेव ! आपके सिवा दूसरा कोई कवि नहीं है और बुद्धि के कारण दूसरा कोई धैर्यवान् नहीं है । आप समस्त प्राणियों के ज्ञाता हैं, इसीलिए वे कपटी मनुष्य आपसे भयभीत होते हैं ॥४ ॥

१०१६. त्वं ह्य१ङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥५ ॥

हे स्वधावान् तथा नीतिवान् वरुणदेव ! आप प्राणियों के सम्पूर्ण जन्मों के ज्ञाता हैं । हे ज्ञानी वरुणदेव ! इस तेजस्वी प्रकृति से परे (ऊपर) क्या है और इस श्रेष्ठ से अवर (नीचे) क्या है ? ॥५ ॥

१०१७. एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् । तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥६ ॥

इस रजोगुण युक्त (प्रकृति) से परे दूसरा एक (सतोगुण) है और उस सतोगुण से भी परे एक 'दुर्णश' अविनश्वर ब्रह्म' है । हे वरुणदेव ! आपकी महिमा को जानने वाले, हम आपसे कहते हैं कि हमारे सम्मुख कुत्सित व्यवहार करने वाले लोग अधोमुखी हों और हीनभाव वाले लोग भूमि पर नीचे होकर चलें ॥६ ॥

१०१८. त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।
मो षु पर्णीँ रभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७ ॥

हे स्नेही वरुणदेव ! प्राप्त होने वाले धन के अवसरों के प्रति आप बार-बार निन्दनीय वचन कहते हैं । इन प्रार्थना (आग्रह) करने वालों के साथ आप इतने उदासीन न हों, ताकि उनकी हानि भी न हो और वे आपको धनहीन भी मानने लगें ॥७ ॥

१०१९. मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि ।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८ ॥

हे स्तोताओ ! लोग हमें ऐश्वर्यहीन न कहें, हम आपको अनुदानस्वरूप गौएँ (वाणी-इन्द्रियादि) पुनः प्रदान करते हैं । मनुष्य की समस्त अन्तर्दिशाओं में विद्यमान वाक् शक्ति से आप हमारे सम्पूर्ण स्तोत्र को पढ़ें ॥८ ॥

१०२०. आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥९ ॥

हे वरुणदेव ! मनुष्यों से युक्त समस्त दिशाओं में आपके स्तोत्र संव्याप्त हों । आप जो कुछ हमें देने में सक्षम हैं, उसको हमें प्रदान करें । आप हमारे अनुरूप 'सप्तपदा' मित्र हैं ॥९ ॥

१०२१. समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥१० ॥

हे वरुणदेव ! हम दोनों समान बन्धु हैं और हमारा जन्म भी समान है; इस बात को हम जानते हैं । जो आपको नहीं प्रदान किया गया है, उन सबको हम प्रदान करते हैं । हम आपके योग्य सप्तपदा मित्र हैं ॥१० ॥

[जीव और ईश्वर, इष्ट और साधक सप्तपदा साथ-साथ सात कदम चलने वाले मित्र कहे गये हैं । उनका साथ सातों लोकों में बना रहता है । लौकिक सन्दर्भ में 'सप्तपदी' द्वारा मित्रता स्थापित करने की परिपाटी रही है ।]

१०२२. देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥११ ॥

(हे देव !) आप स्तुति करने पर देवों के लिए अन्न या आयुष्य प्रदाता देव हैं तथा विप्रों के लिए श्रेष्ठ मेधा-सम्पन्न विप्र (विज्ञान) हैं । हे स्वधावान् वरुणदेव ! देवों के बन्धु और हमारे पितारूप अथर्ववेत्ताओं को आपने उत्पन्न किया है । अत: आप हमें उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करें । आप हमारे श्रेष्ठ बन्धु तथा मित्र हैं ॥११ ॥

[१२ - ऋतयज्ञ सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरा । देवता - जातवेदा अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ पंक्ति ।]

१०२३. समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१ ॥

प्राणिमात्र के हितैषी हे मित्र अग्ने ! आप महान् गुण सम्पन्न होकर प्रज्वलित हों, कुशल याजकों द्वारा निर्धारित यज्ञ-मण्डप में देवगणों को आहूत करें तथा यजन करें । आप श्रेष्ठ चेतनायुक्त, विद्वान् तथा देवगणों के दूत हैं ॥१ ॥

१०२४. तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥२ ॥

शरीर के रक्षक और श्रेष्ठ वाणी वाले हे अग्निदेव ! आप सत्यरूप यज्ञ के मार्गों को वाक् माधुर्य से सुसंगत करते हुए हवियों को ग्रहण करें । विचारपूर्वक ज्ञान और यज्ञ देवगणों के लिए ग्रहण कर उन तक पहुँचाएँ ॥२ ॥

१०२५. आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥३ ॥

देवताओं को आहूत करने वाले हे अग्निदेव ! आप प्रार्थना करने योग्य वन्दनीय तथा वसुओं के समान प्रेम करने वाले हैं । आप देवताओं के होतारूप में यहाँ पधार कर उनके लिए यज्ञ करें ॥३ ॥

१०२६. प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥४ ॥

दिन के प्रारम्भकाल में भूमि या यज्ञभूमि को ढकने वाली ये कुशाएँ बहुत ही उत्तम हैं । ये देवताओं तथा अदिति के निमित्त सुखपूर्वक आसीन होने के योग्य हैं । यह यज्ञवेदी को ढकने के लिए फैलाई जाती हैं ॥४ ॥

१०२७. व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥५ ॥

जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति का विकास करने वाली होती हैं, वैसे ही देवत्व सम्पन्न महती 'द्वार' देवियाँ रिक्त स्थान वाली, सबको आने-जाने के लिए मार्ग देने वाली तथा देवगणों को सुगमता से प्राप्त होने वाली हों ॥५ ॥

१०२८. आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥६ ॥

उषा और रात्रि देवियाँ मनुष्यों के लिए विभिन्न प्रकार के सुख प्रकट करें । वे यज्ञस्थल पर आकर प्रतिष्ठित हों; क्योंकि वे यज्ञ भाग की अधिकारिणी (स्वामिनी) हैं । वे दोनों दिव्यलोकवासिनी, अतिगुणवती, श्रेष्ठ आभूषणादि से शोभायुक्त, उज्ज्वल, तेजस्वीस्वरूप वाली तथा सौन्दर्य को धारण करने वाली हैं ॥६ ॥

१०२९. दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७ ॥

दिव्य गुणों से युक्त 'होता', अग्निदेव और आदित्यगण सर्वश्रेष्ठ वेदमन्त्रों के ज्ञाता तथा मनुष्यों के लिए यज्ञ की रचना करने वाले हैं । वे देवपूजन के निमित्त यज्ञीय अनुष्ठानों के प्रेरक, कर्मकुशल, स्तुतिकर्त्ता तथा पूर्व दिशा के प्रकाश को भली प्रकार प्रकट करने वाले हैं ॥७ ॥

१०३०. आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥८ ॥

देवी भारती का हमारे यज्ञ में शीघ्रता से आगमन हो । इस यज्ञ की वार्ता को स्मरण करके देवी 'इला' मनुष्यों के समान यहाँ पदार्पण करें तथा देवी सरस्वती भी शीघ्र ही यहाँ पधारें । सत्कर्मशीला ये तीनों देवियाँ इस यज्ञ में आकर सुखकारी आसन पर प्रतिष्ठित हों ॥८ ॥

१०३१. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥९ ॥

हे होताओ ! द्यावा-पृथिवी (प्राणियों को) जन्म देने वाली हैं । उन्हें त्वष्टादेव ने सुशोभित किया है । आप ज्ञानवान्, श्रेष्ठ कामनायुक्त तथा यज्ञशील हैं, अतएव आज इस यज्ञ में उन त्वष्टादेव की यथोचित अर्चना करें ॥९ ॥

१०३२. उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥१० ॥

हे यूप (यज्ञ के स्तम्भ) ! आप स्वयं ही अपनी सामर्थ्य से देवों के निमित्त अन्नादि और अन्य यजनीय सामग्री श्रेष्ठ रीति से लाकर यथासमय प्रस्तुत करें । वनस्पतिदेव, शमितादेव और अग्निदेव मधुर घृतादि के साथ यजनीय हविष्यान्न का सेवन करें ॥१० ॥

१०३३. सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥११ ॥

प्रदीप्त होते ही अग्निदेव ने यज्ञीय भावना को प्रकट किया और देवताओं के अग्रणी दूत बने । इस यज्ञ के प्रमुख स्थानों में होता की भावना के अनुरूप वेदमन्त्रों का उच्चारण हो । स्वाहा के साथ यज्ञाग्नि में समर्पित किये गये हविष्यान्न को देवगण ग्रहण करें ॥११॥

[१३ - सर्पविषनाशन सूक्त]

[ऋषि - गरुत्मान् । देवता - तक्षक । छन्द - अनुष्टुप्, १,३ जगती, २ आस्तार पंक्ति, ५ त्रिष्टुप्, ६ पथ्यापंक्ति, ९ भुरिक् जगती, १०-११ निचृत् गायत्री ।]

१०३४. ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम् ।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥१ ॥

द्युलोक के देवता वरुणदेव ने हमें उपदेश दिया है, उनके प्रचण्ड वचनों (मंत्रों) से हम आपके (विषधर) विष को दूर करते हैं । जो विष मांस में घुस गया है, जो नहीं घुसा है अथवा जो ऊपर ही चिपका हुआ है, उस सब विष को हम ग्रहण करते हैं । जिस प्रकार रेत में जल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपके विष को पूर्णतः नष्ट करते हैं ॥१ ॥

१०३५. यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥२ ॥

आपके जल शोषक विष को हमने इन (नाड़ियों) के अन्दर ही पकड़ लिया है । आपके उत्तम, मध्यम और अधम विष - रस को हम ग्रहण करते हैं, वह हमारे (उपचार) भय से विनष्ट हो जाएँ ॥२ । ।

१०३६. वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।

अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥३ ॥

हमारे शब्द (मन्त्र) वर्षणशील बादल के सदृश शब्द एवं शक्ति वाले हैं । ऐसे प्रचण्ड वचनों के द्वारा हम आप (विषधर) को बाँधते हैं । मनुष्यों के द्वारा हमने आपके विष को रोक लिया है । जिस प्रकार ज्योति देने वाला सूर्य अंधकार के बीच उदित होता है, उसी प्रकार यह पुरुष उदय को प्राप्त हो ॥३ ॥

१०३७. चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।

अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥४ ॥

हे सर्प ! हम अपने नेत्रबल से तेरे नेत्रबल को नष्ट करते हैं और विष से विष को नष्ट करते हैं । हे सर्प ! तुम मर जाओ, जीवित न रहो ।तुम्हारा विष तुम्हारे अन्दर ही लौट जाए ॥४ ॥

१०३८. कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।

मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५ ॥

हे जंगल में घूमने वाले, धब्बों वाले, घास में निवास करने वाले, भूरे रंग वाले , कृष्ण तथा निन्दनीय सर्पो ! तुम हमारा कथन सुनो । तुम हमारे मित्र के घर के पास निवास न करो । हमारी इस बात को दूसरे सर्पों को सुनाते हुए अपने ही विष में रमते रहो ॥५ ॥

१०३९. असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।

सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥६ ॥

गीले स्थान में निवास करने वाले, काले और भूरे रंगवाले, जल से दूर रहने वाले तथा सबको परास्त करने वाले क्रोधी सर्पों के विष को हम वैसे ही उतारते हैं, जैसे धनुष से डोरी और रथों के बन्धन को उतारते हैं ॥६ ॥

१०४०. आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।

विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥७ ॥

हे सर्पो !तुम्हारे माता और पिता चिपकने वाले तथा न चिपकने वाले हैं । हम तुम्हारे भाइयों को सब प्रकार से जानते हैं ।तुम निर्वीर्य होकर क्या कर सकते हो ? ॥७ ॥

१०४१. उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।

प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥८ ॥

विशालकाय 'गूला' वृक्ष से पैदा हुई, उसकी पुत्री सर्पिणी, काली सर्पिणी की दासी है । दाँतों से क्रोध प्रकट करने वाली इन सर्पिणियों का दुःखदायक विष प्रभावहीन हो जाए ॥८ ॥

१०४२. कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका ।

याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥९ ॥

पर्वतों के समीप विचरने वाली और कान वाली 'साही' ने कहा कि जो धरती को खोदकर निवास करने वाली सर्पिणियाँ हैं, उनका विष प्रभावहीन हो जाए ॥९ ॥

['साही' विषधर जीवों के विष के उपचार में किस प्रकार सहायक हो सकती है, यह शोध का विषय है ।]

१०४३. ताबुवं न ताबुवं न घेत् त्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम् ॥१० ॥

आप 'ताबुव' नहीं हैं । निःसन्देह आप 'ताबुव' नहीं हैं; क्योंकि 'ताबुव' के द्वारा विष प्रभावहीन हो जाता है ।

१०४४. तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम् ॥११ ॥

आप 'तस्तुव' नहीं हैं । निःसंदेह आप 'तस्तुव' नहीं हैं; क्योंकि 'तस्तुव' के द्वारा विष प्रभावहीन हो जाता है।

[ताबुव और तस्तुव क्या हैं ? इस सन्दर्भ में शोध अपेक्षित है । कौशिक सूत्र में सर्प विष चिकित्सा के क्रम में कड़वी तुम्बी में जल भरकर मं०क्र० १० के साथ पीड़ित व्यक्ति को पिलाने का प्रयोग लिखा है । कुछ विद्वान् इन्हें कड़वी तोरई के साथ जोड़ते हैं, तो कुछ इन्हें ओषधि विशेष कहते हैं ।]

[१४- कृत्यापरिहरण सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - १-२ ओषधि, ३-१३ कृत्या परिहरण । छन्द - अनुष्टुप्, ३,५,१२ भुरिक् अनुष्टुप्, ८ त्रिपदा विराट् अनुष्टुप्, १० निचृत् बृहती, ११ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्, १३ स्वराट् अनुष्टुप् ।]

१०४५. सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥१ ॥

(हे ओषधे !) सुपर्ण (गरुड़ या सूर्य) ने आपको प्राप्त किया था और सूकर (आदिबाराह) ने अपनी नाक से आपको खोदा था । हे ओषधे ! कृत्या प्रयोग द्वारा हमें मारने वालों को आप विनष्ट करें ॥१ ॥

१०४६. अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥२ ॥

हे ओषधे ! आप दुःख देने वाले यातुधानों को विनष्ट करें और कृत्याकारियों को मारें । जो हमें मारने की कामना करते हैं, उनको भी आप विनष्ट करें ॥२ ॥

१०४७. रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥३ ॥

हे देवो ! हिंसा करने वालों के अस्त्र को उसकी त्वचा के ऊपर घाव करके पृथक् करें । जिस प्रकार मनुष्य सोने को प्रेमपूर्वक ग्रहण करता है, उसी प्रकार वह कृत्याकारी उस कृत्या को मोहग्रस्त होकर ग्रहण करे ॥३ ॥

१०४८. पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥४ ॥

हे ओषधे ! आप कृत्या को कृत्याकारियों के पास हाथ पकड़कर पुनः ले जाएँ और उन कृत्याकारियों को कृत्या के सम्मुख रख दें, जिससे वह कृत्याकारियों को विनष्ट कर डाले ॥४ ॥

१०४९. कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥५ ॥

कृत्याकारी को ही कृत्या प्राप्त हो और अभिशाप देने वाले को अभिशाप प्राप्त हो । सुखदायी रथ की गति से वह कृत्या कृत्याकारी के पास पुनः पहुँच जाए ॥५ ॥

१०५०. यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥६ ॥

चाहे स्त्री अथवा पुरुष ने आपको पापपूर्ण कृत्य करने के लिए प्रेरित किया हो, हम अश्व पर रस्सी पटकने (कशाघात) के समान कृत्या को कृत्याकारी पर ही पटकते हैं ॥६ ॥

१०५१. यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥७ ॥

हे कृत्ये ! यदि आप देवों द्वारा अथवा मनुष्यों द्वारा प्रेरित की गयी हैं, तो भी हम इन्द्र के सखा आपको पुनः लौटाते हैं ॥७ ॥

१०५२. अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व ।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥८ ॥

हे युद्ध जीतने वाले अग्ने ! आप कृत्या की सेनाओं को परास्त करें । इस प्रतिहरण कर्म के द्वारा हम कृत्या को कृत्या करने वालों के पास पुनः लौटाते हैं ॥८ ॥

१०५३. कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि ।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥९ ॥

हे संहारक साधनों से युक्त कृत्ये ! आप उस कृत्याकारी को बेधकर विनष्ट कर डालें । जिसने आपको प्रेरित नहीं किया है, उसको मारने के लिए हम आपको उत्तेजित नहीं करते हैं ॥९ ॥

१०५४. पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥१० ॥

हे कृत्ये ! पिता के पास पुत्र की तरह आप प्रयोगकर्त्ता के समीप जाएँ । जिस प्रकार लिपटने वाला सर्प दबने पर काट लेता है, उसी प्रकार आप उसे डसें । जिस प्रकार (बीच से टूटने पर) बन्धन पुनः अपने ही अंग में लगता है, उसी प्रकार हे कृत्ये ! आप उस कृत्याकारी के पास पुनः जाएँ ॥१० ॥

१०५५. उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव । कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥११ ॥

जिस प्रकार हथिनी, मृगी तथा एणी (कृष्ण) मृगी (आक्रमणकारी पर) झपटती है, उसी प्रकार वह कृत्या कृत्याकारी पर झपटे ॥११ ॥

१०५६. इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति ।
सा तं मृगमिव गृहणातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१२ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! वह कृत्या, कृत्याकारी पर बाण के समान सीधी गिरे और मृग के समान उस कृत्याकारी को पुनः पकड़ ले ॥१२ ॥

१०५७. अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१३ ॥

वह कृत्या अग्नि के सदृश कृत्याकारी से प्रतिकूल आचरण करती हुई उसके पास पहुँचे और जिस प्रकार पानी किनारों को काटता हुआ बढ़ता है; उसी प्रकार वह कृत्या, कृत्याकारी के अनुकूल होकर उसके पास पहुँचे । वह कृत्या सुखकारी रथ के समान कृत्याकारी पर पुनः चली जाए ॥१३ ॥

[१५ - रोगोपशमन सूक्त]

[ऋषि - विश्वामित्र । देवता - मधुलौषधि । छन्द - अनुष्टुप्, ४ पुरस्ताद् बृहती, ५,७-९ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

१०५८. एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।

हे ऋत (यज्ञ) से उत्पन्न एवं ऋतयुक्त ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले एक हों अथवा दस हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥१ ॥

१०५९. द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।

हे ऋत (यज्ञ या सत्य) से उत्पन्न एवं ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले दो हों अथवा बीस हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥२ ॥

१०६०. तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः।

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋत (सत्य या जल) युक्त ओषधे ! हमारी बुराई करने वाले तीन हों अथवा तीस हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥३ ॥

१०६१. चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥४ ॥

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले चार हों अथवा चालीस हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥४ ॥

१०६२. पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥५ ॥

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी बुराई करने वाले पाँच हों अथवा पचास हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥५ ॥

१०६३. षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ।

हे यज्ञ के लिए उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी बुराई करने वाले छह हों अथवा साठ हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥६ ॥

१०६४. सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥७ ॥

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले सात हों अथवा सत्तर हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥७ ॥

१०६५. अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः।

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले आठ हों अथवा अस्सी हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥८ ॥

१०६६. नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः।

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले नौ हों अथवा नब्बे हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥९ ॥

१०६७. दश च मे शतं च मेऽपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः।

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी निन्दा करने वाले दस हों या सौ हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥१० ॥

१०६८. शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥

हे यज्ञार्थ उत्पन्न ऋतमयी ओषधे ! हमारी बुराई करने वाले सौ हों अथवा हजार हों, आप मधुरता उत्पन्न करने वाली होकर हमारी वाणी को मधुर करें ॥११ ॥

[१६ - वृषरोगशमन सूक्त]

[**ऋषि** - विश्वामित्र। **देवता** - एकवृष। **छन्द** - साम्नी उष्णिक्, २,३,६ आसुरी अनुष्टुप्, ११ आसुरी।]

मंत्र क्र०१ से १० तक एक वृषः द्विवृषः ....दशवृषः सम्बोधन के साथ मनुष्य को 'सृज अरसोऽसि' कहा गया है। वृष शब्द बल का भी पर्याय है तथा वृष का अर्थ सृजन सामर्थ्ययुक्त बैल भी होता है। मनुष्य की दसों इन्द्रियाँ अथवा शक्ति की इकाइयाँ सृजनशील होनी चाहिए, अन्यथा वे निरर्थक कही जायेंगी। ग्यारहवें मन्त्र में उसे केवल एकादशः (ग्यारहवाँ) कहा गया है, वृष विशेषण उसके साथ नहीं जोड़ा गया है, इसका अर्थ है कि यह ग्यारहवाँ तत्त्व पूर्व दसों से भिन्न है।

ग्यारहवाँ 'मन' इन्द्रियों से भिन्न होता है। उसे 'अप उदक' कहा है। पानी का 'उदक' नाम इसलिए है कि वह वाष्पीभूत होकर ऊपर उठता है। 'अप उदक' का अर्थ हुआ ऊपर उठने की प्रवृत्ति से युक्त। मन का स्वभाव इन्द्रियों की ओर बहने का होता है- यह अप उदक वृत्ति है। अप उदक का अर्थ उदक से परे भी हो सकता है। इस भाव से मन को इन्द्रिय रसों से परे होना माना गया है। सूक्त में इन्द्रिय-सामर्थ्यों को सृजनशील होने तथा मन को इन्द्रिय-रसों से परे होने का बोध कराया गया प्रतीत होता है-

१०६९. यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥१ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप एक वृष (शक्ति की एक इकाई) से सम्पन्न हैं, तो आप और सृजन करें, अन्यथा आप रसरहित (सामर्थ्यहीन) माने जायेंगे ॥१ ॥

१०७०. यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥२ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप दो वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो आप सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य समझे जायेंगे ॥

१०७१. यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥३ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप तीन वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप सामर्थ्यहीन माने जायेंगे ॥

१०७२. यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥४ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप चार वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप रसहीन समझे जायेंगे ॥४ ॥

१०७३. यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥५ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप पाँच वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥५ ॥

१०७४. यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥६ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप छह वृष (शक्ति) से युक्त हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥६ ॥

१०७५. यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥७ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप सात वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो आप सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥

१०७६. यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥८ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप आठ वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥८ ॥

१०७७. यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥९ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप नौ वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥९ ॥

१०७८. यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥१० ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप दस वृष (शक्ति) से सम्पन्न हैं, तो सृजन करें, अन्यथा आप अयोग्य माने जायेंगे ॥१० ॥

१०७९. यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥११ ॥

(हे मनुष्य !) यदि आप (उपर्युक्त दस वृष शक्तियों से रहित) ग्यारहवें हैं, तो उदकरहित या उससे परे हैं ॥११ ॥

[१७ - ब्रह्मजाया सूक्त]

[ऋषि - मयोभू । देवता - ब्रह्मजाया । छन्द - अनुष्टुप्, १-६ त्रिष्टुप् ।]

इस सूक्त के देवता 'ब्रह्मजाया' हैं। 'जाया' का सामान्य अर्थ पत्नी लिया जाता है, इस आधार पर अनेक आचार्यों ने इस सूक्त का अर्थ ब्राह्मण की एकनिष्ठ पत्नी के संदर्भ में किया है। यह ठीक भी है; किन्तु मन्त्रोक्त गूढ़ताओं का समाधान इतने मात्र से होता नहीं दिखता। मनुस्मृति ९.८ के अनुसार जाया का अर्थ है-"जिसके माध्यम से पुनः जन्म होता हैं।" ब्रह्म या ब्राह्मण का जन्म 'ब्रह्मविद्या' से ही होता है। ब्रह्म या ब्राह्मण ब्रह्मविद्या के माध्यम से ही नव सृजन की प्रक्रिया आगे बढ़ाते हैं। अस्तु, ब्रह्मजाया का अर्थ- ब्रह्मविद्या करने से स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के भाव सिद्ध होते हैं। उसी सन्दर्भ में मंत्रार्थों को लिया जाना अधिक युक्तिसंगत है-

१०८०. तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥१ ॥

उन्होंने पहले ब्रह्मकिल्बिष (ब्रह्म विकार- प्रकृति अथवा रचना) को कहा- व्यक्त किया। उग्र तप से पहले दिव्य आपः (मूल सक्रिय तत्त्व) तथा सोम प्रकट हुए। दूर स्थित (सूर्य) जल तथा वायु तेजस् से युक्त हुए ॥१ ॥

१०८१. सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२ ॥

संकोच का परित्याग करके राजा सोम ने पावन चरित्रवती वह ब्रह्मजाया, बृहस्पति (ज्ञानी या ब्रह्मनिष्ठ पुरुष) को प्रदान की। मित्रावरुण देवों ने इस कार्य का अनुमोदन किया। तत्पश्चात् यज्ञ-सम्पादक अग्निदेव हाथ से पकड़कर उसे आगे लेकर आये ॥२ ॥

१०८२. हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३ ॥

हे बृहस्पतिदेव ! इसे हाथ से स्पर्श करना उचित ही है; क्योंकि यह 'ब्रह्मजाया' है, ऐसा सभी देवों ने कहा। इन्हें तलाशने के लिए जो दूत भेजे गये थे, उनके प्रति इनका अनासक्ति भाव रहा (जुहू ब्रह्मनिष्ठों के अलावा अन्यों का साथ नहीं देती), जैसे शक्तिशाली नरेश का राज्य सुरक्षित रहता है, वैसे ही इनकी चरित्रनिष्ठा अडिग रही ॥३ ॥

१०८३. यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥४ ॥

ग्राम (समूह विशेष) पर गिरती हुई इस विपत्ति, अविद्या को (जानकार लोग) विरुद्ध प्रभाववाली 'तारका' कहते हैं। जहाँ यह उल्काओं की तरह (विनाशक शक्तियुक्त) गतिशील 'तारका' गिरी हो (अविद्या फैल गई हो), यह ब्रह्मजाया (ब्रह्मविद्या) उस राष्ट्र में विशेष ढंग से उलट-पुलट करके (अविद्याजनित परिपाटियों को पुनः उलटकर सीधा करके) रख देती है ॥४ ॥

१०८४. ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं१ न देवाः ॥५ ॥

हे देवगण ! सर्वव्यापी बृहस्पतिदेव विरक्त होकर ब्रह्मचर्य नियम का निर्वाह करते हुए सर्वत्र विचरण करते हैं। वे देवताओं के साथ एकात्म होकर उनके अंग-अवयव रूप हैं। जिस प्रकार उन्होंने सर्वप्रथम सोम के हाथों 'जुहू' को प्राप्त किया, वैसे ही इस समय भी बृहस्पतिदेव ने इसे प्राप्त किया ॥५ ॥

[ब्रह्मलीन स्थिति में बृहस्पतिदेव दिव्यवाणी या यज्ञीय प्रक्रिया छोड़कर देवों के साथ एक रूप हो जाते हैं। देवता उन्हें पुनः ज्ञान-विस्तार एवं यज्ञ प्रक्रिया संचालन के लिए जुहू से युक्त करते हैं।]

१०८५. देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥६ ॥

जो सप्तर्षिगण तपश्चर्या में संलग्न थे, उनके द्वारा तथा चिरप्राचीन देवों ने इसके विषय में घोषणा की है कि यह ब्राह्मण द्वारा ग्रहण की गई कन्या अति सामर्थ्यवती है। परम व्योम में यह दुर्लभ शक्ति धारण करती है ॥६ ॥

१०८६. ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥७ ॥

जो गर्भपात होते हैं (अवाञ्छनीय का विकास क्रम क्षीण होता है)। जगत् में जो उथल-पुथल होती है तथा (लोग प्रायः) परस्पर लड़ते-भिड़ते हैं, उन सबको यह ब्रह्मजाया (ब्रह्मविद्या) नष्ट कर देती है ॥७ ॥

१०८७. उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥८ ॥

इस स्त्री (ब्राह्मी शक्ति) के पहले दस अब्राह्मण पति (ब्राह्मण-संस्कारहीन रक्षक अथवा दस प्राण-दस दिक्पाल आदि) होतें हैं; किन्तु जब ब्रह्मचेतना-सम्पन्न व्यक्ति (अथवा साधक) उसको ग्रहण करता है, तो वही उसका एक मात्र स्वामी होता है ॥८ ॥

१०८८. ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥

मनुष्यों के पाँचों वर्गों (समाज के सभी विभागों अथवा पाँचों तत्त्वों) से सूर्यदेव यह कहते हुए विचरण करते हैं कि ब्राह्मण ही इस स्त्री का पति है। राजा (क्षत्रिय) तथा वैश्य (व्यापारी) इसके पति नहीं हो सकते ॥९ ॥

[ब्राह्मी शक्ति केवल ब्रह्मनिष्ठों के प्रति आकर्षित होती है। उसका सामान्य प्रयोग भले ही अन्य लोग भी करते रहते हों।]

१०८९. पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः।

देवताओं और मनुष्यों ने बार-बार यह ब्रह्मजाया (ब्रह्मनिष्ठों को) प्रदान की है। सत्य स्वरूप राजाओं ने भी दुबारा शपथपूर्वक (संकल्पपूर्वक) इस सत्य निष्ठा को उन्हें प्रदान किया ॥१० ॥

[अन्य वर्ग उस ब्राह्मी चेतना को धारण करके उसको सुनियोजित करने में असफल हो जाते हैं। अतः वे उसे पुनः ब्रह्मनिष्ठों को सौंप देते हैं, तभी उसका समुचित लाभ मिलता है, जो अगले मंत्र में वर्णित है।]

१०९०. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥

ब्राह्मी विद्या को पुनः लाकर देवों ने बृहस्पतिदेव को दोष मुक्त किया। तत्पश्चात् पृथ्वी के सर्वोत्तम अन्न (उत्पादों) का विभाजन करके सभी सुखपूर्वक यज्ञीय उपासना करने लगे ॥११ ॥

[दिव्य वाणी एवं यज्ञीय प्रक्रिया से भूमि पर पदार्थों के वर्गीकरण तथा सदुपयोग का क्रम चल पड़ा। यह प्रक्रिया बार-बार दुहराई जाती है।]

१०९१. नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१२॥

जिस राष्ट्र में इस ब्रह्मजाया (ब्रह्म विद्या) को जड़तापूर्वक प्रतिबन्ध में डाला जाता है, उस राष्ट्र में सैकड़ों कल्याणों को धारण करने वाली 'जाया' (विद्या) भी सुख की शय्या प्राप्त नहीं कर पाती (फलित होने से वंचित रह जाती) है ॥१२॥

१०९२. न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१३॥

जिस राष्ट्र में ब्रह्मविद्या को जड़तापूर्वक प्रतिबन्धित किया जाता है, उस राष्ट्र के घरों में बड़े कान वाले (बहुश्रुत) तथा विशाल सिरवाले (मेधावी) पुत्र उत्पन्न नहीं होते ॥१३॥

१०९३. नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१४॥

जिस राष्ट्र में ब्रह्मविद्या को अज्ञानपूर्वक प्रतिबन्धित किया जाता है, उस राष्ट्र के वीर गले में स्वर्णाभूषण धारण करके (गौरवपूर्वक) लड़कियों अथवा सत्परम्पराओं के सामने नहीं आते ॥१४॥

१०९४. नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१५॥

जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया को दुराग्रहपूर्वक प्रतिबन्धित किया जाता है, उस राष्ट्र के श्यामकर्ण (श्रेष्ठ) सफेद घोड़े धुरे में नियोजित होकर भी प्रशंसित नहीं होते ॥१५॥

['अश्व' शक्ति के प्रतीक हैं। ब्रह्म- विद्याविहीन समाज में उन्हें श्रेष्ठ प्रयोजन में नियोजित करने पर भी प्रगति नहीं होती।]

१०९५. नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१६॥

जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया को जड़तापूर्वक प्रतिबन्धित किया जाता है, उस क्षेत्र में कमल के तालाब नहीं होते और न ही कमल के बीज उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

[संस्कृतिनिष्ठ व्यक्तित्वों के लिए 'कमल' श्रेष्ठ प्रतीक हैं। ब्रह्मविद्याविहीन समाज में आदर्श व्यक्तित्वों का विकास नहीं होता।]

१०९६. नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥१७॥

जिस राष्ट्र में ब्रह्मजाया को जड़तापूर्वक प्रतिबन्धित किया जाता है, उस राष्ट्र में दूध दुहने के लिए बैठने वाले मनुष्य इस गौ (गाय या पृथ्वी) से थोड़ा भी (निर्वाह योग्य) दूध (पोषण) नहीं निकाल पाते ॥१७॥

१०९७. नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥

जिस राष्ट्र में ब्राह्मण विशिष्ट ज्ञानरहित (या स्त्रीरहित) होकर रात्रि (अज्ञान) में पाप बुद्धि से निवास करते हैं, उस राष्ट्र में न तो कल्याण करने वाली धेनु (गौएँ या धारक क्षमताएँ) होती हैं और न भार वहन करने में समर्थ (राष्ट्र की गाड़ी खींचने वाले) वृषभ उत्पन्न होते हैं ॥१८॥

[१८ - ब्रह्मगवी सूक्त]

[ऋषि - मयोभू । देवता - ब्रह्मगवी । छन्द - अनुष्टुप्, ४ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५, ८-९, १३ त्रिष्टुप् ।]

इस सूक्त तथा अगले सूक्त के देवता 'ब्रह्मगवी' हैं । इसका सामान्य अर्थ 'ब्राह्मण की गाय' होता है । मन्त्रों में भी बार-बार 'ब्राह्मण की गाय' संबोधन आया है; किन्तु मंत्रार्थों के गूढ़भावों का निर्वाह तभी होता है, जब इसे उपलक्षण मानकर चला जाए। भावार्थ के अनुसार गौ के अर्थ-गाय, भूमि, इन्द्रियाँ, किरणें आदि होते हैं । इस आधार पर ब्राह्मण की गाय का अर्थ ब्राह्मण की सम्पदा भी ग्राह्य है; परन्तु मंत्रार्थों के भाव अधिक स्पष्ट तब होते हैं, जब इसे ब्राह्मण की वृत्ति, निष्ठा या वाणी के सन्दर्भ में लिया जाए । लोकमंगल या उच्चतम आदर्शों के प्रति समर्पित प्रतिभाओं को ब्राह्मण कहा जाता रहा है । उनकी गौ या सम्पत्ति, 'ब्रह्मवृत्ति' या ब्रह्मनिष्ठा ही होती है । उसे सुरक्षित रखे बिना किसी क्षेत्र या राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता । यह सर्वमान्य तथ्य इस सूक्त से स्पष्ट होता है-

१०९८. नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥१ ॥

हे राजन् ! देवों ने इस गौ का भक्षण करने के लिए आपको नहीं प्रदान किया है । हे राजन्य ! आप ब्राह्मण की नष्ट न करने योग्य गौ को नष्ट न करें ॥१ ॥

१०९९. अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥२ ॥

इन्द्रिय-विद्रोही, आत्म-पराजित तथा पापी राजा यदि ब्राह्मण की गौओं का भक्षण करे, तो वह आज ही जीवित रहे, कल नहीं ॥२ ॥

[बहादुर कहलाने वाले बाहरी क्षेत्र में तो विजयी हो जाते हैं; परन्तु अपनी दुष्प्रवृत्तियों, अहंकार आदि से पराजित हो जाते हैं । ऐसे आत्म - पराजित व्यक्ति ही पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं ।]

११००. आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा । सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥

हे राजन्य ! यह ब्राह्मण की गाय (निष्ठा) तिरस्कार करने के योग्य नहीं होती; क्योंकि वह चमड़े से आवृत फुफकारने वाली साँपिन के सदृश भयंकर विषैली होती है ॥३ ॥

११०१. निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥४ ॥

जो क्षत्रिय, ब्राह्मण को अन्न की तरह समझते हैं, वे साँप के विष का पान करते हैं और अपनी 'क्षात्र-वृत्ति' का पतन करते हैं तथा वर्चस् को क्षीण करते हैं ।वे क्रोधित अग्नि के समान अपना सब कुछ नष्ट कर डालते हैं ॥४ ।

[अन्न का अस्तित्व समाप्त करके अपने आपको पुष्ट किया जाता है । उसी तरह जो शासक ब्राह्मण प्रकृति के व्यक्तियों को हानि पहुँचाते हुए अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास करते हैं, वे एक प्रकार से आत्मघात ही करते हैं ।]

११०२. य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥५ ॥

धन- अभिलाषी जो मनुष्य ब्राह्मण को कोमल समझकर बिना विचारे उसको विनष्ट करना चाहते हैं, वे देवों की ही हिंसा करने वाले होते हैं । ऐसे पापी के हृदय में इन्द्रदेव अग्नि प्रज्वलित करते हैं, ऐसे विचरते हुए मनुष्य से द्यावा-पृथिवी विद्वेष करती हैं ॥५ ॥

११०३. न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥६ ॥

जिस प्रकार अपने प्रिय शरीर को कोई विनष्ट नहीं करना चाहता, उसी प्रकार अग्नि स्वरूप ब्राह्मण को विनष्ट नहीं करना चाहिए । सोम देवता इसके सम्बन्धी हैं और इन्द्रदेव इसके शाप के पालक अर्थात् पूर्ण करने वाले हैं ॥

११०४. शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते ॥७ ॥

जो मलीन पुरुष ऐसा समझते है कि हम ब्राह्मण के अन्न को स्वादपूर्वक खा सकते हैं (उनके स्वत्व का अपहरण कर सकते हैं), वे सैकड़ों विपत्तियों को प्राप्त होते हैं । वे उसको मिटाना चाहकर भी नहीं मिटा सकते ॥७ ।

११०५. जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥८ ॥

ब्राह्मण की जिह्वा ही धनुष की डोरी होती है, उसकी वाणी ही कुल्मल (धनुष का दण्ड) होती है । तप से क्षीण हुए उसके दाँत ही बाण होते है । देवों द्वारा प्रेरित आत्मबल के धनुषों से वह देव रिपुओं को बींधता है ॥८ ॥

११०६. तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥९ ॥

तप और क्रोध के साथ पीछा करके, तीक्ष्ण बाणों तथा अस्त्रों से युक्त ब्राह्मण, जिन बाणों को छोड़ते हैं, वे निरर्थक नहीं जाते । वे बाण शत्रु को दूर से ही बींध डालते हैं ॥९ ॥

११०७. ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥१० ॥

'वीतहव्य' वंश के (अथवा देवताओं का अंश-हव्य हड़पने वाले) जो हजारों राजा पृथ्वी पर शासन करते थे, वे ब्राह्मण की गाय (उनके शाप) को खाकर नष्ट हो गए थे ॥१० ॥

११०८. गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् । ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥

जो बालों की रस्सी से बँधी हुई अन्तिम अजा को भी हड़प कर जाते हैं, उन 'वैतहव्यों' को पीटती हुई गौओं ने तहस-नहस कर दिया ॥११ ॥

[ब्राह्मणगण देववृत्तियों की पुष्टि के लिए हव्य का अंश निकालते हैं । यज्ञादि प्रक्रिया द्वारा वह हव्य नई पोषक शक्ति को उत्पन्न करते हैं । दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति उस हव्यरूप अज-अजन्मी शक्ति को भी हड़पने का प्रयास करते हैं, ऐसी स्थिति में ब्राह्मण की निष्ठा कष्ट पाती है, तब उस उत्पीड़न से उत्पन्न गौ (वाणी-शाप) द्वारा उन दुष्टों को तहस-नहस कर दिया जाता है ।]

११०९. एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत । प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥

सैकड़ों ऐसे 'जन' जिन्होंने (अपने शौर्य से) पृथ्वी को हिला दिया था, वे ब्राह्मण की सन्तानों को मारने के कारण बिना सम्भावना के ही पराभूत हुए ॥१२ ॥

१११०. देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३ ॥

वह ब्राह्मण देवहिंसक 'विष' से जीर्ण होकर (अस्थिमात्र) काया में विद्यमान रहकर, मनुष्यों के बीच में विचरण करता है । जो मनुष्य देवों के बन्धुरूप ब्राह्मण की हत्या करता है, वह पितृयान द्वारा प्राप्त होने वाले लोक को नहीं प्राप्त होता ॥१३ ॥

११११. अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते । हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥

अग्निदेव ही हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, सोमदेव हमारे सम्बन्धी हैं तथा इन्द्रदेव शापित मनुष्य के विनाशकर्त्ता हैं। इस बात को ज्ञानी लोग जानते हैं ॥१४ ॥

१११२. इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।

सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥१५ ॥

हे राजन्! हे पृथ्वीपते! ब्राह्मण के बाण (शाप आदि) फुफकारती सर्पिणी के सदृश भयंकर होते हैं। वह उन बाणों से हिंसको को बींधता है ॥१५ ॥

[१९ - ब्रह्मगवी सूक्त]

[**ऋषि** - मयोभू। देवता - ब्रह्मगवी । छन्द - अनुष्टुप्, २ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ७ उपरिष्टाद्बृहती ।]

१११३. अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।

भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥१ ॥

सृञ्जय (इस नाम वाले या जयशील) अत्यधिक बढ़ गये थे, लेकिन उन्होंने भृगुवंशियों को विनष्ट कर डाला और वे वीतहव्य (हव्य हड़पने वाले) हो गये। अतः उनका पराभव हुआ और वे स्वर्गलोक का स्पर्श न कर सके ॥१

१११४. ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः।

पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥२ ॥

जो लोग बृहत्साम वाले (वेदाभ्यासी) आंगिरस (तेजस्वी) ब्राह्मणों को सताते रहे, उनकी सन्तानों को हिंसा करने वालों (पशुओं या काल) ने दोनों जबड़ों में पीस डाला ॥२ ॥

१११५. ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।

अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥३ ॥

जो लोग ब्राह्मणों को अपमानित करते हैं अथवा जो उनसे बलपूर्वक कर वसूल करते हैं, वे खून की नदियों में बालों को खाते हुए पड़े रहते हैं ॥३ ॥

[ब्राह्मण केवल निर्वाह के लिए ही साधन स्वीकार करते रहे हैं, अधिक प्राप्त होने पर उसे स्वतः जन कल्याण के कार्यों में लगा देते थे। ऐसे त्यागी लोकसेवियों से, सामान्य नागरिकों की तरह कर वसूल करना अनुचित माना गया है। ऐसी अनीति करने वालों को नारकीय पीड़ा सहनी पड़ती है।]

१११६. ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे।

तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥४ ॥

जिस कारण (अनीति से) राष्ट्र में ब्राह्मण की संतप्त की गयी "गौ" तड़फड़ाती रहती हैं, उसी (अनीति के) कारण राष्ट्र का तेज मर जाता है और उस राष्ट्र में शौर्यवान् वीर भी नहीं उत्पन्न होते ॥४ ॥

१११७. क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।

क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥५ ॥

इसको पीड़ित करना क्रूरता का कार्य है। इस (अपहृत गौ) का मांस तृषा उत्पन्न करने के कारण फेंकने योग्य होता है और उसका दूध पिये जाने पर पितरों में पाप उत्पन्न करने वाला होता है। ॥५ ॥

[अपहृत वस्तु के उपयोग से तृष्णारूप तृषा और भड़क उठती है तथा अनीतिपूर्वक साधन प्राप्त करने के प्रयासों से पापकर्म करने पड़ते हैं, जो कर्त्ता के साथ उनके पितरों के भी पुण्य का क्षय करते हैं।]

१११८. उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥६ ॥

जो राजा अपने आप को उग्र मानकर ब्राह्मण को पीड़ित करता है और जिस राष्ट्र में ब्राह्मण दुःखी होता है, वह राष्ट्र अत्यन्त पतित हो जाता है ॥६ ॥

१११९. अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७ ॥

ब्राह्मण पर डाली गयी विपत्ति, उसे पीड़ित करने वाले राजा के राज्य को, आठ पैरवाली, चार आँख वाली, चार कान वाली, चार ठोड़ी वाली, दो मुख वाली तथा दो जिह्वा वाली (कई गुनी घातक) होकर, हिला देती है ॥७ ॥

११२०. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥८ ॥

जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की हिंसा होती है, उस राष्ट्र को आपत्ति विनष्ट कर देती है । जिस प्रकार जल टूटी हुई नौका को डुबा देता है, उसी प्रकार पाप उस राष्ट्र को डुबा देता है ॥८ ॥

११२१. तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥९ ॥

हे नारद ! जो लोग ब्राह्मण की सम्पत्ति हरण करके अपना मानते हैं, उनको वृक्ष भी अपने से दूर कर देना चाहते हैं ॥९ ॥

११२२. विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥१० ॥

राजा वरुण कहते हैं कि ब्राह्मण की सम्पत्ति हरण करना देवों द्वारा निर्मित विष के समान है । ब्राह्मण का धन हड़प करके राष्ट्र में कोई जागता (जीवित) नहीं रहता ॥१० ॥

११२३. नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥११ ॥

ऐसे निन्यानबे (बहु संख्यक) उदाहरण हैं, जिन्हें भूमि ही नष्ट कर देती है । वे ब्राह्मणों की प्रजा (उनके आश्रितों) की हिंसा करके पराजित हो जाते हैं ॥११ ॥

११२४. यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥१२ ॥

हे ब्राह्मणों को पीड़ित करने वालो ! देवों ने कहा है, पैरों के चिह्नों को हटाने वाली जिस काँटों की झाड़ू को मृतक के साथ बाँधते हैं, उमको देवों ने आपके लिए बिछौना के रूप में कहा है ॥१२ ॥

११२५. अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥१३ ॥

हे ब्राह्मणों को पीड़ित करने वालो ! दुर्बल तथा जीते गये ब्राह्मणों के जो आँसू बहते हैं, देवों ने आपके लिए वही जल का भाग निश्चित किया है ॥१३ ॥

११२६. येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते। तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥

हे ब्राह्मणों को पीड़ित करने वालो ! जिस जल से मृत व्यक्ति को स्नान कराते हैं तथा जिससे मूँछ के बाल गीला करते हैं, देवों ने आपके लिए उतने जल का भाग ही निश्चित किया है ॥१४ ॥

११२७. न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति। नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥

सूर्य और वरुण द्वारा प्रेरित वृष्टि ब्राह्मण-पीड़क के ऊपर नहीं गिरती और उसको सभा सहमति नहीं प्रदान करती, वह अपने मित्रों को अपने वशीभूत भी नहीं कर सकता ॥१५ ॥

[२० - शत्रुसेनात्रासन सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - वनस्पति, दुन्दुभि । **छन्द** - त्रिष्टुप्, १ जगती ।]

११२८. उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥१ ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप बलिष्ठ प्राणियों के समान व्यवहार करके ऊँचा स्वर करने वाले हैं । आप वनस्पतियों से विनिर्मित तथा गो- चर्मों से आवृत हैं । आप उद्घोष करते हुए रिपुओं का दमन करें तथा सिंह के सदृश विजय की अभिलाषा करते हुए गर्जना करें ॥१ ॥

११२९. सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥२ ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आपकी अवस्था वृक्ष के समान है । आप विशेष प्रकार से बँधकर सिंह के समान तथा गौ को चाहने वाले साँड़ के समान गर्जना करने वाले हैं । आप शक्तिशाली हैं, इसलिए आपके शत्रु निर्वीर्य हो जाते हैं । आपका बल इन्द्र के समान होकर रिपुओं का विनाश करने वाला है ॥२ ॥

११३०. वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३ ॥

जिस प्रकार गौओं के समूह में गो-अभिलाषी वृषभ सहसा पहचान लिया जाता है, उसी प्रकार ऐश्वर्य को विजित करने की इच्छा वाले आप गर्जना करें । आप रिपुओं के हृदय को पीड़ा से बींध डालें, जिससे वे अपने गाँवों को छोड़कर गिरते हुए भाग जाएँ ॥३ ॥

११३१. संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥४ ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप ऊँची ध्वनि करते हुए युद्ध को जीतें । उनकी ग्रहणीय वस्तुओं को ग्रहण करते हुए, उनका निरीक्षण करें । आप दिव्य वाणी का उद्घोष करें और विधाता बनकर रिपुओं के ऐश्वर्यों को लाकर हमें प्रदान करें ॥४ ॥

११३२. दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥५ ॥

दुन्दुभि वाद्य की स्पष्ट निकली हुई ध्वनि को सुनकर, उसकी गर्जना से जागी हुई रिपु - स्त्रियाँ संग्राम में वीरों (पति) के मरने के कारण भयभीत होकर, अपने पुत्रों का हाथ पकड़कर भाग जाएँ ॥५ ॥

११३३. पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥६ ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप सबसे पहले ध्वनि करते हैं । इसलिए आप रिपु- सेनाओं को विनष्ट करते हुए पृथ्वी की पीठ पर प्रकाशित होते हुए मधुर ध्वनि करें ॥६ ॥

११३४. अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥७ ॥

इस द्यावा-पृथिवी के बीच में आपका उद्‌घोष हो । आपकी ध्वनियाँ शीघ्र ही चारों दिशाओं में फैलें । आप प्रशंसक शब्दों से समृद्ध होकर, ऊपर चढ़ते हुए, मित्रों में वेग उत्पन्न करने के लिए ध्वनि करें तथा गर्जना करें ॥७ ॥

११३५. धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥८ ॥

बुद्धिपूर्वक विनिर्मित नगाड़ा (दुन्दुभि) ध्वनि करता है, हे दुन्दुभि वाद्य ! आप पराक्रमी मनुष्यों के हथियारों को ऊँचा उठाकर उन्हें हर्षित करें । इन्द्रदेव आपके साथ प्रेम करते हैं । आप वीरों को बुलाएँ और हमारे मित्रों द्वारा रिपुओं का वध कराएँ ॥८ ॥

११३६. संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥९ ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप कड़ककर ध्वनि करते हैं और सेनाओं को विजयी तथा साहसी बनाते हैं । आप गाँवो को गुञ्जरित करने वाले, उनका कल्याण करने वाले तथा विद्वान् मनुष्यों को जानने वाले हैं । आप दो राजाओं के युद्धों में अनेक योद्धाओं को कीर्ति प्रदान करें ॥९ ॥

११३७. श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥१० ॥

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप कल्याण प्रदान करने वाले, ऐश्वर्य जीतने वाले, बल वाले तथा युद्ध को विजित करने वाले हैं । आप ब्राह्मणों द्वारा समर्थित हैं । जिस प्रकार सोमरस अभिषुत करते समय, पत्थर सोम वल्ली के ऊपर नृत्य करते हैं, उसी प्रकार भूमि अभिलाषी आप रिपुओं के धन पर नृत्य करें ॥१० ॥

११३८. शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित् ।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह ॥११ ॥

आप रिपुओं को विजित करने वाले, सदैव विजय प्राप्त करने वाले, वैरियों को वशीभूत करने वाले तथा खोज करने वाले हैं । आप अपनी वाणी का विस्फोट करते हुए (शत्रु को) उखाड़ने वाले हैं । आप कुशल वक्ता के समान ध्वनि को भर कर, युद्ध को विजित करने के लिए भली प्रकार गड़गड़ाहट करें ॥११ ॥

११३९. अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥१२ ॥

हे दुन्दुभिवाद्य !आप न गिरने वाले रिपुओं को गिरा देते हैं ।आप आनन्दित होने वाले, वीरों को चलाने वाले, युद्धों को विजित करने वाले तथा आगे बढ़ने वाले हैं । आप इन्द्र के द्वारा रक्षित हैं, अतः आपसे कोई युद्ध नहीं कर सकता ।आप युद्ध कर्मों को जानते हुए तथा रिपुओं के हृदय को जलाते हुए शीघ्र ही रिपुओं की ओर बढ़ें ॥१२॥

[२१ - शत्रुसेनात्रासन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - वनस्पति, दुन्दुभि, १०-१२ आदित्यगण । छन्द - अनुष्टुप्, १,४-५ पथ्यापंक्ति, ६ जगती, ११ बृहती गर्भा त्रिष्टुप्, १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री ।]

११४०. विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ।।१ ।।

हे दुन्दुभिवाद्य ! आप रिपुओं में वैमनस्य तथा हृदय की व्याकुलता का संचार करें । हम रिपुओं में द्वेष, भय तथा द्विविधापूर्ण मनःस्थिति स्थापित करने की कामना करते हैं, इसलिए आप उन्हें तिरस्कृत करके मार डालें ।।१ ।।

११४१. उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च । धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ।

घृत की हवि प्रदान करने पर हमारे शत्रु प्रकम्पित हों और मन, आँख तथा हृदय से भयभीत होकर भाग जाएँ।।

११४२. वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः । प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ।

हे दुन्दुभि वाद्य ! आप वनस्पतियों (लकड़ियों) से निर्मित हुए हैं और चमड़े की रस्सियों से बँधे हैं । आप मेघों के समान ध्वनि करने वाले हैं । हे घृत से सिंचित दुन्दुभि वाद्य !आप रिपुओं के लिए दुःखों की घोषणा करें ।।

११४३. यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ।।४ ।।

हे दुन्दुभि वाद्य ! जिस प्रकार वन के हिरण मनुष्यों से भयभीत होकर भागते हैं, उसी प्रकार आप गर्जना करके रिपुओं को भयभीत कर दें तथा उनके मन को मोहित (स्तम्भित) कर लें ।।४ ।।

११४४. यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ।।५ ।।

हे दुन्दुभि वाद्य ! जिस प्रकार भेड़िये से भयभीत होकर भेड़-बकरियाँ भागती हैं, उसी प्रकार आप गर्जना करके, रिपुओं को भयभीत करें और उनके चित्तों को मोहित करें ।।५ ।।

११४५. यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ।।६ ।।

जिस प्रकार पक्षी 'बाज़' से भयभीत होकर भागते हैं और जिस प्रकार सिंह की दहाड़ से प्राणी दिन-रात भयभीत हुआ करते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभि वाद्य ! आप गर्जना करके रिपुओं को भयभीत करें और उनके मन को मोहित करें ।।६ ।।

११४६. परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ।।७ ।।

जो संग्राम के अधिपति हैं, वे सब देवगण हिरण के चमड़े से बनाये हुए नगाड़े के द्वारा रिपुओं को अत्यन्त भयभीत कर देते हैं ।।७ ।।

११४७. यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह । तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ।।

इन्द्रदेव जिन पद - चापों से तथा छायारूप सेना के साथ क्रीड़ा करते हैं, उनके द्वारा सैन्यबद्ध होकर चलने वाले हमारे शत्रु त्रस्त हो जाएँ ।।८ ।।

११४८. ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥९ ॥

रिपुओं की संघबद्ध सेनाएँ परास्त होकर जिस दिशा की ओर गमन कर रही हैं, उस तरफ हमारे नगाड़े तथा प्रत्यञ्चाओं के उद्‌घोष साथ-साथ मिलकर जाएँ ॥९ ॥

११४९. आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये॥

हे सूर्यदेव ! आप रिपुओं की दृष्टि (शक्ति) का हरण कर लें । हे किरणो ! आप सब रिपुओं के पीछे दौड़ें । उनका बाहुबल कम होने पर उनके पैरों में बाँधी जाने वाली रस्सियाँ उलझ जाएँ ॥१० ॥

११५०. यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥११ ॥

हे भूमि को माता मानने वाले शूरवीर मरुतो ! आप राजा सोम, राजा वरुण, महादेव, मृत्यु तथा इन्द्रदेव के साथ संयुक्त होकर रिपुओं को मसल डालें ॥११ ॥

११५१. एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥१२ ॥

ये देव सेनाएँ सूर्य की पताका लेकर और समान विचारों से युक्त होकर , हमारे रिपुओं को विजित करें, हम यह हवि समर्पित करते हैं ॥१२ ॥

[२२ - तक्मनाशन सूक्त]

[ऋषि -भृग्वङ्गिरा । देवता - तक्मनाशन । छन्द - अनुष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप्, ५ विराट् पथ्या बृहती ।]

११५२. अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥१ ॥

अग्निदेव, सोमदेव, ग्रावा, मेघ के देवता इन्द्रदेव, पवित्र बल-सम्पन्न वरुणदेव, वेदी, कुशा तथा प्रज्वलित समिधाएँ ज्वर आदि रोगों को दूर करें और हमारे शत्रु यहाँ से दूर चले जाएँ ॥ १ ॥

११५३. अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्य ङ्ङधराङ् वा परेहि ॥२ ॥

हे जीवन को दुःखमय बनाने वाले ज्वर !आप जो समस्त मनुष्यों को निस्तेज बनाते हैं और अग्नि के समान संतप्त करते हुए उन्हें कष्ट प्रदान करते हैं, अतः आप नीरस (निर्बल) हो जाएँ और नीचे के स्थान से दूर चलें जाएँ ॥

[ज्वर को नीचे के भागों से जाने को कहा है । ज्वर के विकार, मल निष्कासक मार्गों से निकलें यह भाव युक्तिसंगत है]

११५४. यः परुषः पारुषेयो ऽवध्वंस इवारुणः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥

जो अत्यन्त कठोर है और कठोरता के कारण अवध्वंस के समान लाल (खूनी) रंग वाला है, हे सब प्रकार की सामर्थ्य वाले ! ऐसे ज्वर को आप अधोमुखी करके दूर करें ॥३ ॥

११५५.अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने । शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान्॥

हम ज्वर को नमस्कार करके नीचे उतार देते हैं । शाक खाने वाले मनुष्यों के मुक्के से विनष्ट होने वाला यह रोग, अत्यधिक वर्षा वाले देशों में बारम्बार आ जाता है ॥४ ॥

[यह ज्वर वर्तमान मलेरिया की प्रकृति का लगता है, जो अधिक वर्षा वाले इलाकों में विशेषरूप से होता है । अन्न छोड़कर शाकाहार पर रहने से यह शीघ्र दूर होता है, इसलिए इसे शाकाहारी के मुक्के से नष्ट होने वाला कहा गया है ।]

११५६. ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।

यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥५ ॥

इस ज्वर का निवास 'मूँज' नामक घास वाला स्थान है और इसका घर महावष्टि वाला स्थान हैं । हे ज्वर ! जब से आप उत्पन्न हुए हैं, तब से आप 'बाल्हीकों ' में दृष्टिगोचर होते हैं ॥५ ॥

११५७. तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय ।

दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥६ ॥

हे सर्प के सदृश जीवन को दुःखमय बनाने वाले तथा विरूप अंग करने वाले ज्वर ! आप विशिष्ट रोग हैं । अतः आप हम से अत्यन्त दूर चले जाएँ और निकृष्टता (मलीनता) में निवास करने वालों पर अपना वज्र चलाएँ ॥६॥

[इस ज्वर को विषैला तथा विद्रूप करने वाला कहा गया है । ऐसे ज्वरों को वैद्यक में व्याल और व्यंग कहा जाता है । यह मलीनता में रहने वालों को ही सताता है ।]

११५८. तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।

शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥७ ॥

हे जीवन को कष्टमय बनाने वाले ज्वर ! आप 'मूँज' वाले स्थान अथवा उससे भी दूर के 'बाल्हीक' देशों में जाने की अभिलाषा करें । हे तक्मन् ! आप पहली अवस्था वाली शूद्रा (अवसादग्रस्त) की कामना करें और उसे विशेष रूप से कँपा दें ॥७ ॥

११५९. महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य । प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा॥

आप मूँज वाले तथा महावृष्टि वाले प्रदेशों में गमन करें और वहाँ पर बाँधने वालों (अवरोध उत्पन्नकर्त्ताओं) का भक्षण करें । इन सब (अवांछनीय व्यक्तियों) अथवा अन्य क्षेत्रों को हम ज्वर के लिए कहते (प्रेरित करते) हैं ॥८॥

११६०. अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।

अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥९ ॥

आप अन्य क्षेत्रों में नहीं रमते हैं । आप हमारे वशीभूत रहकर हमें सुख प्रदान करते हैं । यह ज्वर प्रबल हो गया है, अब वह 'बाल्हीकों' (हिंसकों) के पास जाएगा ॥९ ॥

११६१. यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः ।

भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥१० ॥

आप जो शीत के साथ आने वाले हैं अथवा सर्दी के बाद आने वाले हैं अथवा खाँसी के साथ कँपाने वाले हैं । हे ज्वर ! यही आपके भयंकर हथियार हैं; उनसे आप हमें मुक्त करें ॥१० ॥

११६२. मा स्मैतान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।

मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥११ ॥

हे ज्वर ! आप कफ, खाँसी तथा क्षय आदि रोगों को अपना मित्र न बनाएँ और उस स्थान से हमारे समीप न आएँ । हे ज्वर ! इस बात को हम आपसे पुनः कहते हैं ॥११ ॥

११६३. तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।

पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥१२ ॥

हे ज्वर ! आप अपने भाई कफ, बहिन खाँसी तथा भतीजे पाप (दुष्कर्म) के साथ मलीन मनुष्यों के समीप गमन करें ॥१२ ॥

११६४. तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥१३ ॥

(हे देव !) आप तीसरे दिन आने वाले (तिजारी), तीन दिन छोड़कर आने वाले (चौथिया), सदैव रहने वाले, पीड़ा देने वाले तथा शरद् ऋतु , वर्षा ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में होने वाले ज्वरों तथा ठण्डी लाने वाले ज्वरों को विनष्ट करें ॥१३ ॥

११६५. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥१४ ॥

जिस प्रकार भेजे जाने वाले खजाने की सुरक्षा करने वाले मनुष्य गांधार, मूँजवान् , अंग तथा मगध देशों में भेजे जाते हैं, उसी प्रकार इस कष्टदायक रोग को हम (दूर) भेजते हैं ॥१४ ॥

[२३ - कृमिघ्न सूक्त]

[ऋषि - कण्व । देवता - इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप्, १३ विराट् अनुष्टुप् ।]

११६६. ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥१ ॥

द्युलोक, पृथ्वीलोक, देवी सरस्वती, इन्द्रदेव तथा अग्निदेव परस्पर एक साथ होकर हमारे लिए कृमियों का विनाश करें ॥१ ॥

११६७. अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि ।हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ।

हे धनपते इन्द्रदेव ! आप इस कुमार के शत्रुरूप कृमियों का निवारण करें । हमारे उग्र वचनों (मन्त्रों) द्वारा समस्त कष्टदायी कृमियों का विनाश करें ॥२ ॥

११६८. यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥३ ॥

जो कीड़े नेत्रों में भ्रमण करते हैं, जो नाकों में भ्रमण करते हैं तथा जो दाँतों के बीच में चलते हैं, उन कीड़ों को हम विनष्ट करते हैं ॥३ ॥

११६९. सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥४ ॥

दो कीड़े समानरूप वाले होते हैं, दो विपरीतरूप वाले, दो काले रंग वाले, दो लाल रंग वाले, एक भूरे रंग वाले, एक भूरे कान वाले, एक गिद्ध तथा एक भेड़िया, ये सब मन्त्र बल द्वारा विनष्ट हो गए ॥४ ॥

११७०. ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥५ ॥

जो कीड़े तीखी कोख वाले हैं, जो कीड़े काली और तीखी भुजा वाले हैं तथा जो विविधरूप वाले हैं, उन समस्त कीड़ों को हम मन्त्र - बल से विनष्ट करते हैं ॥५ ॥

११७१. उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥६ ॥

विश्वद्रष्टा सूर्यदेव दिखने वाले तथा न दिखने वाले (कृमियों) के विनाशक हैं । वे दृश्य-अदृश्य सभी प्रकार के कृमियों को रौंद डालते हैं ॥६ ॥

११७२. येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥७ ॥

जो शीघ्र गमन करने वाले, अत्यधिक पीड़ा देने वाले तथा कँपाने वाले तेजस्वी कीड़े हैं, वे सब दिखाई देने वाले तथा न दिखाई देने वाले कृमि विनष्ट हो जाएँ ॥७ ॥

११७३. हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥८ ॥

कीटाणुओं में से तीक्ष्ण गमन करने वाले कीड़े मन्त्र बल से विनष्ट हो गए और 'नदनिमा' नामक कीड़े भी मारे गये । जिस प्रकार पत्थर से चना मसला जाता है, उसी प्रकार हमने इन सबको मसल कर नष्ट कर दिया ॥८ ॥

११७४. त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥९ ॥

तीन सिर, तीन ककुद, विचित्र रंग तथा सफेद रंगवाले कीटाणुओं को हम विनष्ट करते हैं । उनकी पसलियों को तोड़ते हुए, हम उनके सिरों को भी कुचलते हैं ॥९ ॥

११७५. अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥१० ॥

हे कृमियो ! जिस प्रकार 'अत्रि', 'कण्व' तथा 'जमदग्नि' ऋषियों ने आपको विनष्ट किया था, उसी प्रकार हम भी करते हैं और 'अगस्त्य' ऋषि के मन्त्र बल से आपको कुचल देते हैं ॥१० ॥

११७६. हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥११ ॥

हमारे मंत्र तथा ओषधि के बल से कृमियों का राजा और उसका मंत्री मारा गया । उसकी माता, भाई तथा बहिन के विनष्ट होने से कृमियों का परिवार पूरी तरह से नष्ट हो गया ॥११ ॥

११७७. हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥१२ ॥

इस कृमि के परिवार वाले मारे गए और इसके समीप के घर वाले भी मारे गए तथा जो छोटे-छोटे कृमि बीज रूप में थे, वे भी मारे गए ॥१२ ॥

११७८. सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥१३ ॥

समस्त पुरुष कृमियों तथा समस्त मादा कृमियों के सिर को हम पत्थर से तोड़ते हैं और अग्नि के द्वारा उनके मुँह को जला देते हैं ॥१३ ॥

[२४- ब्रह्मकर्म सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - ब्रह्मकर्मात्मा (१ सविता, २ अग्नि, ३ द्यावापृथिवी, ४ वरुण, ५ मित्रावरुण, ६ मरुद्गण, ७ सोम, ८ वायु , ९ सूर्य, १० चन्द्रमा, ११ इन्द्र, १२ मरुतपिता, १३ मृत्यु , १४ यम, १५ पितरगण, १६ तता पितरगण, १७ ततामहा पितरगण) । छन्द - अति शक्वरी, ११ शक्वरी, १५-१६ त्रिपदा भुरिक् जगती, १७ त्रिपदा विराट् शक्वरी ।]

११७९. सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१ ॥

भगवान् सवितादेव समस्त उत्पन्न पदार्थों के अधिपति हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति (अग्निशाला-यज्ञकुण्ड) में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वादात्मक कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१ ॥

११८०. अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यांपुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥२ ॥

अग्निदेव वनस्पतियों के अधिपति हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥२ ॥

११८१. द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम् ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥३ ॥

द्यावा-पृथिवी दाताओं की स्वामिनी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥३ ॥

११८२. वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥४ ॥

वरुणदेव जल के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥४ ॥

११८३. मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥५ ॥

मित्र और वरुणदेव वृष्टि के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥५ ॥

११८४. मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥६ ॥

मरुद्गण पर्वतों के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में , संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥६ ॥

११८५. सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥७ ॥

सोमदेव ओषधियों के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में , संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥७ ॥

११८६. वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥८ ॥

वायुदेव अन्तरिक्ष के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में , संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥८ ॥

११८७. सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥९ ॥

सूर्यदेव आँखों के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥९ ॥

११८८. चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१० ॥

चन्द्रदेव नक्षत्रों के स्वामी हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में , संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१० ॥

११८९. इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥११ ॥

स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्रदेव हैं । वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में , संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥११ ॥

११९०. मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१२॥

मरुतों के पिता पशुओं के स्वामी हैं। वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वादात्मक कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१२॥

११९१. मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१३॥

प्रजाओं की स्वामिनी 'मृत्यु' हैं। वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वादात्मक कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं। ।१३॥

११९२. यमः पितृणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१४॥

पितरों के स्वामी यमदेव हैं। वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१४॥

११९३. पितरः परे ते मावन्तु ।अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां
प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१५॥

सात पीढ़ियों से ऊपर के पितरगण इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१५॥

११९४. तता अवरे ते मावन्तु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां
प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१६॥

वे सपिण्ड पितर (पिछले पितामह) इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वादात्मक कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१६॥

११९५. ततस्ततामहास्ते मावन्तु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां
प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१७॥

वे बड़े प्रपितामह इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में, चिति में, संकल्प में, देव आवाहन में तथा आशीर्वाद कर्म में हमारी सुरक्षा करें, हम उन्हें हवि समर्पित करते हैं ॥१७॥

[२५- गर्भाधान सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा। देवता - योनिगर्भ। छन्द - अनुष्टुप्, १३ विराट् पुरस्ताद् बृहती ।]

११९६. पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥१॥

पर्वत की (ओषधियों) से स्वर्गलोक के (पुण्यों या सूक्ष्म प्रवाहों) से तथा अंग-प्रत्यंग से एकत्रित एवं पुष्ट वीर्य धारण करने वाले पुरुष, जल प्रवाह में पत्ते रखने के समान गर्भ स्थान में गर्भ को स्थापित करते हैं ॥१ ॥

[खाद्यों, ओषधियों, अन्तरिक्षीय सूक्ष्मप्रवाहों, शारीरिकक्षमताओं के संयोग से पुरुष में गर्भाधान की क्षमता आती है ।]

११९७.यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ।

जिस प्रकार यह विस्तृत पृथ्वी समस्त भूतों के गर्भ को धारण करती है, उसी प्रकार मैं आपका गर्भ धारण करती हूँ और उसकी सुरक्षा के लिए आपका आवाहन करती हूँ ॥२ ॥

११९८.गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥

हे सिनीवाली ! आप गर्भ को संरक्षण प्रदान करें । हे सरस्वती देवि ! आप गर्भधारण में सहायक हों । हे स्त्री ! स्वर्णिम कमल के आभूषणों के धारणकर्त्ता अश्विनीकुमार आप में गर्भ को स्थिरता प्रदान करें ॥३ ॥

११९९.गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः । गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥

मित्र और वरुणदेव आपके गर्भ को परिपुष्ट करें । बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, अग्निदेव तथा धातादेव आपके गर्भ को धारण करें ॥४ ॥

१२००. विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥५ ॥

विष्णुदेव (नारी या प्रकृति को) गर्भाधान की क्षमता से युक्त करें । त्वष्टादेव उसके विभिन्न अवयवों का निर्माण करें । प्रजापति सेचन प्रक्रिया में सहायक हों और धाता गर्भधारण में सहयोग करें ॥५ ॥

१२०१. यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥६ ॥

जिस गर्भकरण-क्रिया को राजा वरुणदेव जानते हैं, जिसको देवी सरस्वती जानती हैं तथा जिसको वृत्रहन्ता इन्द्रदेव जानते हैं, उस गर्भ स्थिर रखने वाले रस का आप पान करें ॥६ ॥

१२०२. गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥७ ॥

हे अग्निदेव ! आप ओषधियों तथा वनस्पतियों के गर्भ हैं और आप समस्त भूतों के भी गर्भ हैं, इसलिए आप हमारे इस गर्भ को धारण करें ॥७ ॥

१२०३. अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥८ ॥

हे वीर्यवान् ! आप बलवान् हैं । आप उठकर खड़े हों और पराक्रम करते हुए गर्भाशय में गर्भ की स्थापना करें । हम आपको केवल सन्तान के निमित्त ही ले जाते हैं ॥८ ॥

१२०४. वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥९ ॥

हे अत्यन्त सान्त्वना वाली (अथवा सामगान करने वाली) साध्वी ! आप विशेषरूप से सजग रहें, हम आपके गर्भाशय में गर्भ की स्थापना करते हैं । सोमपायी देवों ने आप दोनों की सुरक्षा करने वाला पुत्र प्रदान किया है ।

१२०५. धात: श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१० ॥

हे धातादेव ! इस स्त्री की दोनों गर्भ धारण करने वाली नाड़ियों के बीच में, मनोहर रूप वाले पुरुष संतान की स्थापना करें और उसे दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए योग्य बनाएँ ॥१० ॥

१२०६. त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥११ ॥

हे त्वष्टादेव ! इस स्त्री की दोनों गर्भ धारण करने वाली नाड़ियों के बीच में, मनोहर रूप वाले पुरुष संतान की स्थापना करें और उसे दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए योग्य बनाएँ ॥११ ॥

१२०७. सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१२ ॥

हे सवितादेव ! इस स्त्री की दोनों गर्भ धारण करने वाली नाड़ियों के बीच में, मनोहर रूप वाले पुरुष संतान की स्थापना करें और उसे दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए योग्य बनाएँ ॥१२ ॥

१२०८. प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१३ ॥

हे प्रजापते ! इस स्त्री की दोनों गर्भ धारण करने वाली नाड़ियों के बीच में, मनोहर रूप वाले पुरुष संतान की स्थापन्ना करें और उसे दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए योग्य बनाएँ ॥१३ ॥

[सूक्त के भावों से स्पष्ट होता है कि गर्भ की स्थापना तथा उसके संरक्षण में स्थूल क्रिया-कलापों के साथ मानसिक संकल्पों की भी विशेष भूमिका रहती है ।]

[२६ - नवशाला सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - वास्तोष्पति, १ अग्नि, २ सविता, ३,११ इन्द्र, ४ निविद, ५ मरुद्गण, ६ अदिति, ७ विष्णु , ८ त्वष्टा, ९ भग, १० सोम, १२ अश्विनीकुमार, बृहस्पति । **छन्द** - द्विपदा प्राजापत्या बृहती, १,५ द्विपदार्ची उष्णिक् , ३ त्रिपदा विराट् गायत्री, ९ त्रिपदा पिपीलिकमध्या पुर उष्णिक् (एकावसाना), १२ परातिशक्वरी चतुष्पदा जगती ।]

१२०९. यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥१ ॥

हे यजुर्वेदीय मन्त्र तथा समिधाओ ! विशेष ज्ञानी अग्निदेव इस यज्ञ में आपसे मिलें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥१ ॥

१२१०. युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥२ ॥

परम ज्ञानी सवितादेव इस यज्ञ में सम्मिलित हों, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥२ ॥

१२११. इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥३ ॥

हे उक्थ (स्तोत्र) ! ज्ञानी इन्द्रदेव इस यज्ञ में आपसे मिलें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥३ ॥

१२१२. प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥४ ॥

हे शिष्ट मनुष्यो ! आप अपनी पत्नियों से मिलकर उनके साथ इस यज्ञ में आज्ञारूप वचनों को धारण करें । आपके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥४ ॥

१२१३. छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥५ ॥

जिस प्रकार माता पुत्र का पोषण करती है, उसी प्रकार मरुद्गण इस यज्ञ में सम्मिलित होकर छन्दों का पोषण करें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥५ ॥

१२१४. एयमगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥६ ॥

यह देवी अदिति कुशाओं तथा प्रोक्षणियों के सहित इस यज्ञ को समृद्ध करती हुई पधारीं हैं, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥६ ॥

१२१५. विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥७ ॥

भगवान् विष्णु अपनी तपः शक्ति को इस यज्ञ में सम्मिलित करें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥७ ॥

१२१६. त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥८ ॥

ज्ञानी त्वष्टादेव विधिवत् ठीक किये गये अनेक रूपों को इस यज्ञ में संयुक्त करें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥८ ॥

१२१७. भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥९ ॥

ज्ञानी भगदेव अपने श्रेष्ठ आशीर्वादों को इस यज्ञ में सम्मिलित करें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥

१२१८. सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥१० ॥

ज्ञानी सोम इस यज्ञ में अपने जल (रसों) को अनेक प्रकार से संयुक्त करें, उनके लिए हवि समर्पित करते हैं।

१२१९. इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥११ ॥

ज्ञानी इन्द्र अपने पराक्रम को इस यज्ञ में अनेक प्रकार से संयुक्त करें, उनके लिए हम हवि समर्पित करते हैं ।

१२२०. अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥१२ ॥

हे अश्विनीकुमार ! आप दोनों मंत्र तथा दान द्वारा यज्ञ को समृद्ध करते हुए हमारे पास पधारें । हे बृहस्पते ! आप मंत्रों के साथ हमारे समीप पधारें । यह यज्ञ, याजक को स्वर्ग प्रदान करने वाला हो, अश्विनीकुमारों तथा बृहस्पतिदेव के लिए हम हवि समर्पित करते हैं ॥१२ ॥

[२७ - अग्नि सूक्त]

[**ऋषि** - ब्रह्मा । **देवता** - अग्नि, तीन देवियाँ (इळा, सरस्वती, भारती) । **छन्द** - १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् २ द्विपदा साम्नी भुरिक् अनुष्टुप्, ३ द्विपदार्ची बृहती, ४ द्विपदा साम्नी भुरिक् बृहती, ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, ६ द्विपदा विराट् गायत्री, ७ द्विपदा साम्नी बृहती, ८ संस्तार पंक्ति, ९ षट्पदा अनुष्टुप् गर्भा परातिजगती, १०-१२ पुरउष्णिक् ।]

१२२१. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥१ ॥

इस अग्नि की समिधाएँ तथा इसकी पवित्र ज्वालाएँ ऊर्ध्वमुखी होती हैं । ये अग्निदेव अत्यन्त, प्रकाश वाले तथा मनोहर रूप वाले हैं । वे सूर्य के सदृश प्राण प्रदान करने वाले तथा यज्ञ में अनेक हाथों (ज्वालाओं) वाले हैं ॥१ ॥

१२२२. देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥२ ॥

समस्त देवताओं में ये प्रमुख देव हैं । ये मधु तथा घृत से मार्गों को पवित्र करते हैं ॥२ ॥

१२२३. मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद् देवः सविता विश्ववारः ॥३ ॥

मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय और सत्कर्म करने वाले सवितादेव तथा सबके द्वारा वरणीय अग्निदेव मधुरता से यज्ञ को संयुक्त करते हुए संव्याप्त हो रहे हैं ॥३ ॥

१२२४. अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥४ ॥

ये अग्निदेव घृत, बल तथा हविष्यान्न से स्तुत होकर सम्मुख पधारते हैं ॥४ ॥

१२२५. अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥५ ॥

देवों की अत्यधिक संगति वाले यज्ञों में अग्निदेव उसकी महिमा तथा स्रुचाओं को स्वयं से संयुक्त करें ॥५॥

१२२६. तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥६ ॥

तारक अग्निदेव तथा ऐश्वर्य- पोषक वसुदेव आनन्द प्रदान करने वाले और देवों की संगति करने वाले यज्ञों में विद्यमान रहते हैं ॥६ ॥

१२२७. द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥७ ॥

दिव्य द्वार तथा विश्वेदेव, इस याजक के संकल्प की विविध प्रकार से सुरक्षा करते हैं ॥७ ॥

१२२८. उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८ ॥

अग्नि के विस्तृत धामों से अवतरित होने वाली, गतिशील, साथ रहने वाली उषा और नक्ता (सन्ध्या-रात्रि) हमारे इस हिंसारहित यज्ञीय प्रयोग की सुरक्षा करें ॥८ ॥

१२२९. दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥९ ॥

हे दिव्य होताओ ! आप अपनी जिह्वा से हमारे कल्याण के लिए उच्चस्तरीय यज्ञाग्नि की प्रशंसा करें । इडा (पृथिवी) भारती तथा सरस्वती यह तीनों देवियाँ गुणगान करती हुई इस कुशा पर विराजें ॥९ ॥

१२३०. तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥१० ॥

हे त्वष्टा !आप हमें प्रचुर अन्न, जल तथा ऐश्वर्य की पुष्टि प्रदान करें और इस (थैली) की मध्य ग्रन्थि को खोलें।

१२३१. वनस्पतेऽव सृजा रराणः । त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥११ ॥

हे वनस्पते !आप ध्वनि करते हुए स्वयं को छोड़ें और शमन करने वाले अग्निदेव हवनीय पदार्थों को देवों के लिए स्वादिष्ट बनाएँ ॥११ ॥

१२३२. अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥१२ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! आप इन्द्रदेव के लिए स्वाहाकार यज्ञ सम्पादित करें और समस्त देवता इस हव्य का सेवन करें ॥१२ ॥

[२८- दीर्घायु सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - त्रिवृत् (अग्नि अदि) । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ६ पञ्चपदातिशक्वरी, ७, ९-१०,१२ ककुम्मती अनुष्टुप्, १३ पुर उष्णिक् ।]

इस सूक्त के देवता 'त्रिवृत्' हैं। यह सम्बोधन मंत्रों में बार-बार आया भी है। 'त्रिवृत्' का अर्थ तीन वृतों से युक्त अथवा तीन लपेटों से युक्त भी होता है। यज्ञोपवीत को तीन लपेटों वाला होने के कारण 'त्रिवृत्' कहते हैं। यज्ञोपवीत का नाम व्रतबन्ध भी है। वह भावों, विचारों एवं क्रियाओं को कल्याणकारी व्रतों से युक्त करने का प्रतीक होने से भी 'त्रिवृत्' कहा जा सकता है। तीन गुणों सत्, रज, तम से भी इसकी संगति बैठती है। तीन अवस्थाओं (बाल, तरुण, एवं वृद्धावस्था) के तीन व्रत (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ) भी इस व्याख्या में आ सकते हैं-

१२३३. नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥१ ॥

सौ वर्ष की (पूर्ण) आयु के लिए नौ प्राणों को नौ (शरीरस्थ नौ चक्रों अथवा अगले मंत्र में वर्णित नौ दिव्य धाराओं) के साथ संयुक्त करते हैं। इनमें से तीन हरित (सत् तत्त्वयुक्त, स्वर्णयुक्त अथवा लुभावने) हैं, तीन रजत के (रज तत्त्व, चाँदी या प्रकाशयुक्त अथवा सुखकर) हैं तथा तीन अयस् (तामसिक, लोहे के अथवा शुभकारक) हैं। वे तपः (स्थूल ताप या साधना से उत्पन्न ऊर्जा) के द्वारा भली प्रकार स्थित होते हैं ॥१ ॥

[मनुष्य में नौ चक्र समाहित हैं। तीन- मूलाधार, स्वाधिष्ठान एवं मणिपूरक कर्म प्रेरक अयस् युक्त हैं। तीन- अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञाचक्र प्रकाशक - राजस् हैं। तीन - तालुचक्र, सहस्रार तथा ब्रह्मरन्ध्र (व्योम चक्र) सत् या हिरण्ययुक्त अथवा हरण- आकर्षण करने वाले हैं। यज्ञोपवीत के सन्दर्भ में यह शोध का विषय है कि एक लड़ के तीन तार सोने के, दूसरी के चाँदी के तथा तीसरी के लोहे या अन्य धातु के बनाकर, उसे धारण करने से शरीर की तीन- ऊपरी, बीच के तथा नीचे वाले भागों या चक्रों पर क्या प्रभाव पड़ता है?]

१२३४. अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥२ ॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशा- उपदिशा तथा ऋतु- ऋतु विभाग (यह नौ) इस त्रिवृत् के संयोग से हमें पार लगा दें, लक्ष्य तक पहुँचा दें ॥२ ॥

[इनमें से द्यु, सूर्य एवं ऋतुओं को हरित; अन्तरिक्ष, चन्द्रमा और दिशाओं को रजस् तथा पृथ्वी, अग्नि एवं जल को अयस् कहा जा सकता है।]

१२३५. त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥३ ॥

इस त्रिवत् में तीन पुष्टियाँ आश्रित हों। पूषा (पुष्टियों के) देवता तुम्हारे आश्रय में दुग्ध- घृतादि की वृद्धि, अन्न की प्रचुरता, पुरुषों तथा पशुओं की अधिकता प्रदान करें ॥३ ॥

१२३६. इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु ॥४ ॥

हे आदित्यदेव ! आप इस साधक को ऐश्वर्य से पूर्ण करें। हे अग्निदेव ! आप स्वयं बढ़ते हुए इसको भी बढ़ाएँ। हे इन्द्रदेव ! आप इसको बल से युक्त करें। पालन करने वाले त्रिवृत् इसमें आश्रय ग्रहण करें ॥४ ॥

१२३७. भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥५ ॥

हरित (स्वर्ण या हरियाली) के द्वारा भूमि आपकी सुरक्षा करे । विश्व - पोषक तथा प्रेमपूर्ण अग्निदेव अयस् (लोहे या कर्म शक्ति) से आपका पालन करें और ओषधियुक्त अर्जुन (श्वेत, रजस्-चन्द्रमा) आपके मन में शुभ संकल्पमय सामर्थ्य स्थापित करें ॥५ ॥

१२३८. त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥६ ॥

यह हिरण्य (स्वर्ण अथवा हिरण्यगर्भ- मूल उत्पादक तेज) जन्म से ही तीन तरह से पैदा हुआ । इसका पहला जन्म अग्निदेव को परम प्रिय हुआ, दूसरा कूटे गये सोम से बाहर निकला और तीसरे को सारभूत जल का वीर्यरूप कहते हैं । (हे धारणकर्त्ता) यह हिरण्यमय त्रिवृत् आपके लिए आयुष्य देने वाला हो ॥६ ॥

१२३९. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥७ ॥

जमदग्नि (ऋषि अथवा प्रज्वलित अग्नि) के तीन आयुष्य, कश्यप (ऋषि अथवा तत्त्वदर्शी) के तीन आयुष्य तथा अमृत तत्त्व को तीन प्रकार से धारण करने वाले दर्शन, इन तीनों के द्वारा तुम्हारे आयुष्य को (संस्कारित या पुष्ट) करते हैं ॥७ ॥

[जमदग्नि के तीन आयुष्य (मंत्र क्र० १ में वर्णित) अयस् के, कश्यप (देखने वाले) के तीन आयुष्य रजत तथा अमृत तत्त्व दर्शन के तीन आयुष्य हरित (सत्त्व या हिरण्य) के कहे जा सकते हैं ।]

१२४०. त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥८ ॥

जब एक अक्षर (ॐ या अविनाशी) के साथ तीन सुपर्ण (श्रेष्ठ किरणों से युक्त) त्रिवृत् बनाकर समर्थ बनते हैं, तब वे अमृत से युक्त होकर समस्त विकारों का निवारण करते हुए मृत्यु को दूर हटा देते हैं ॥८ ॥

[ॐ के साथ अ, उ, म्, यह तीन शब्द एक होकर अथवा अनश्वर जीवात्मा के साथ भाव, विचार तथा कर्म प्रवाह एक होकर शक्तिशाली बनते हैं, तो वे उक्त प्रभाव दिखाते हैं ।]

१२४१. दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥९ ॥

हरित (हिरण्य या सत्) आपकी द्युलोक से सुरक्षा करें, सफेद (चाँदी या-रजस्) मध्यलोक से सुरक्षा करें तथा अयस् (लोहा या कर्मशक्ति) भूलोक से सुरक्षा करें । यह (ज्ञान) देवों की पुरियों में प्राप्त हुआ है ॥९ ॥

१२४२. इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥१० ॥

ये देवों की तीन पुरियाँ चारों तरफ से आपकी सुरक्षा करें । उनको धारण करके, आपके तेजस्वी होते हुए रिपुओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हों ॥१० ॥

१२४३. पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥११ ॥

देवताओं की स्वर्णिम नगरी अमृत स्वरूप है । जिस प्रमुख देव ने सबसे पहले इनको (त्रितों को) बाँधा (धारण किया) था, उनको हम अपनी दस अँगुलियाँ जोड़कर नमस्कार करते हैं । वे देवगण इस त्रिवृत् को बाँधने में हमें भी अनुमति प्रदान करें ॥११ ॥

१२४४. आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः ।

अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥१२ ॥

अर्यमादेव, पूषादेव तथा बृहस्पतिदेव आपको भली प्रकार बाँधें । प्रतिदिन पैदा होने वाले (सूर्य या प्रकाश) के नाम के साथ (साक्षी में) हम भी आपको बाँधते (धारण करते) हैं ॥१२ ॥

१२४५. ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥१३ ।

हम आपको आयुष्य तथा वर्चस् की प्राप्ति के लिए ऋतुओं, ऋतुओं के विभागों तथा संवत्सरों के उस (समर्थ) तेजस् से युक्त करते हैं ॥१३ ॥

१२४६. घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।

भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥१४ ॥

आप घृत सारतत्त्व से पूर्ण, मधु (मधुरता) से सिंचित, पृथ्वी के सदृश स्थिर तथा पार लगाने वाले हैं । आप रिपुओं को छिन्न-भिन्न करके उन्हें नीचा दिखाते हुए , हमें बृहत् सौभाग्य प्राप्त कराने के लिए हमारे ऊपर स्थिर हों ॥१४ ॥

[२९- रक्षोघ्न सूक्त]

[**ऋषि -** चातन । **देवता -** जातवेदा । **छन्द -** त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा विराट् गायत्री, ५ पुरोतिजगती विराट् जगती, १२ भुरिक् अनुष्टुप्, १३, १५ अनुष्टुप्, १४ चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में जातवेदा अग्नि से रोगों और उनके उत्पादक पिशाचों (दुष्ट कृमियों) के विनाश की प्रार्थना है । अनेक प्रकार के कृमियों के स्वरूप और उनसे मुक्ति के संकेत दिये गये हैं-

१२४७. पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।

त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥१ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप ओषधि जानने वाले वैद्य हैं । आप पहले वाले कार्यों का भार वहन करें तथा वर्तमान में होने वाले कार्यों को जानें । आपकी सहायता से हम गौ, घोड़े तथा मनुष्यों को रोगरहित अवस्था में पाएँ ॥१ ॥

१२४८. तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।

यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥२ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप समस्त देवताओं के साथ मिलकर ऐसा उपाय करें कि जिससे उस रोग की परिधि गिर जाए , जो हमें पीड़ा देते हैं तथा जो हमें खा जाना चाहते हैं ॥२ ॥

१२४९. यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।

विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥३ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! आप देवों के साथ मिलकर ऐसा उपाय करें कि जिससे उस रोग की घेराबन्दी टूट जाए ॥३ ॥

१२५०. अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।

पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! जो पिशाच इसको खाने की इच्छा कर चुके हैं, उनकी आँखों तथा उनके हृदयों को आप बींध डालें । उनकी जीभ को काट डालें । हे बलवान् अग्निदेव ! आप उन्हें विनष्ट कर डालें ॥४ ॥

१२५१. यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।

तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥५ ॥

पिशाचों ने इसके शरीर का जो भाग हर लिया है, छीन लिया है, लूट लिया है तथा जो भाग खा लिया है, हे ज्ञानी अग्ने ! उस भाग को आप पुनः भर दें । इसके शरीर में मांस तथा प्राणों को हम विधिवत् प्रयोगों से पुनः स्थापित करते हैं ॥५ ॥

१२५२. आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥६ ॥

जो पिशाच (कृमि) कच्चे-पक्के, आधे पके तथा विशेष पके भोजन में प्रवेश करके हमें हानि पहुँचाते हैं, ऐसे पिशाच स्वयं तथा अपनी सन्तानों के साथ कष्ट भोगें और यह रोगी नीरोग हो जाए ॥६ ॥

१२५३. क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३ यः ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥७ ॥

जो पिशाच (कृमि) दुग्ध मंथ (मठा) तथा बिना खेती उत्पन्न होने वाले अन्न (खाद्यों) में प्रवेश करके हमें हानि पहुँचाते हैं, वे पिशाच स्वयं तथा अपनी संतानों के साथ कष्ट भोगें और यह रोगी नीरोग हो जाए ॥७ ॥

१२५४. अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥८ ॥

जो पिशाच (कृमि) जलपान करते समय तथा बिछौने पर शयन करते समय हमें पीड़ित करते हैं, वे पिशाच अपनी प्रजाओं के साथ दूर हट जाएँ और यह रोगी नीरोग हो जाए ॥८ ॥

१२५५. दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥९ ॥

जो पिशाच (कृमि) रात अथवा दिन में बिस्तर पर सोते समय हमें पीड़ित करते हैं, वे पिशाच अपनी प्रजाओं सहित दूर हट जाएँ और यह रोगी नीरोग हो जाए ॥९ ॥

१२५६. क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥१० ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप मांसभक्षक, रक्तभक्षक तथा मन मारने वाले पिशाचों को विनष्ट करें । शक्तिशाली इन्द्रदेव उन्हें वज्र से मारें और निर्भीक सोमदेव उनके सिर को काटें ॥१० ॥

१२५७. सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।

सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥११ ॥

हे अग्निदेव ! कष्ट देने वाले यातुधानियों को आप सदैव विनष्ट करते हैं और संग्राम में असुरगण आपको पराजित नहीं कर पाते । आप मांस भक्षण करने वालों को समूल भस्म करें, आपके दिव्य हथियारों से कोई छूटने न पाए ॥११ ॥

१२५८. समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।

गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥१२ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! इस व्यक्ति का जो भाग हर लिया गया है तथा विनष्ट कर दिया गया है, उस भाग को आप पुनः भर दें, जिससे इसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट होकर चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हों ॥१२ ॥

१२५९. सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।

अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥१३ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! यह पुरुष चन्द्रमा की कलाओं के सदृश वृद्धि को प्राप्त हो । हे अग्ने ! आप इस निर्दोष व्यक्ति को पवित्र एवं नीरोग करें, जिससे यह जीवित रहे ॥१३ ॥

[विभिन्न समिधाओं की रोगनाशक शक्ति का संकेत इस मंत्र में है ।]

१२६०. एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।

तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥१४ ॥

हे अग्ने ! आपकी ये समिधाएँ पिशाचों (कृमियों) को विनष्ट करने वाली हैं । हे जातवेदा अग्ने ! आप इनको स्वीकार करें तथा इन्हें ग्रहण करें ॥१४ ॥

१२६१. तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।

जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ।१५ ॥

हे अग्निदेव ! आप अपनी लपटों द्वारा तृषा शमन करने वाली समिधाओं को स्वीकार करें । जो मांसभक्षी पिशाच इसके मांस को हरना चाहते हैं, वे अपने रूप को छोड़ दें ।१५ ॥

[३०- दीर्घायुष्य सूक्त]

[**ऋषि** - उन्मोचन । देवता - आयुष्य । छन्द - अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्ति, ९ भुरिक् अनुष्टुप्, १२ चतुष्पदा विराट् जगती, १४ विराट् प्रस्तारपंक्ति, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ।]

इस सूक्त में प्रियजनों के अन्दर प्राणशक्ति की क्षीणता से, अभिचार क्रियाओं से अथवा पूर्वकृत पापकर्मों के प्रभाव से होने वाले आयुक्षयणकारी रोगों को नष्ट करने के लिए मंत्र बल, साधना शक्ति तथा अन्य उपचारों द्वारा प्राण शक्ति संवर्द्धन के भाव- सूत्र व्यक्त किये गयें हैं-

१२६२. आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।

इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥१ ॥

आपके अत्यन्त समीप तथा अत्यन्त दूर के स्थान से हम आपके प्राणों को दृढ़ता से बाँधते हैं । आप पूर्व पितरों का अनुसरण न करें (शरीर न छोड़ें), यहीं रहें ॥१ ॥

१२६३. यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥

यदि आपके अपने लोग अथवा कोई हीन लोग आपके ऊपर अभिचार करते हैं, तो उससे छूटने तथा दूसरे होने की बात (विद्या, विधि) हम कहते हैं ॥२ ॥

१२६४. यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या ।उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥

यदि आपने स्त्री अथवा पुरुष के प्रति द्रोह किया अथवा शाप दिया है, तो उससे छूटने तथा दूर होने की दोनों बातें (विधियाँ) हम आपसे कहते हैं ॥३ ॥

१२६५. यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥४ ॥

यदि आप माता अथवा पिता के द्वारा किये गये पापों के कारण शयन कर रहे हैं, तो उस (पाप निमित्तक) रोग से छूटने तथा दूर होने की दोनों बातें (विधाएँ) हम बतलाते हैं ॥४ ॥

१२६६. यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः ।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥५ ॥

जिस ओषधि को आपके माता, पिता, भाई तथा बहिन ने तैयार किया है, उस ओषधि को आप भलीप्रकार सेवन करें । हम आपको वृद्धावस्था तक जीवित रहने वाला बनाते हैं ॥५ ॥

१२६७. इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह । दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥६ ॥

हे मनुष्यो ! आप अपने सम्पूर्ण मन के साथ पहले यहाँ निवास करते हुए जीवित रहें, यमदूतों का अनुसरण न करें ॥६ ॥

१२६८. अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥७ ॥

आप उदित होने के मार्ग को जानने वाले हैं । आप इस कर्म के बाद आवाहित होते हुए पुनः पधारें । उत्तरायण तथा दक्षिणायण आपकी जीवित अवस्था में ही व्यतीत हों ॥७ ॥

१२६९. मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥८ ॥

हे रोगी मनुष्य ! आप भयभीत न हों । हम आपको इस लोक में वृद्धावस्था तक जीवित रहने वाला बनाते हैं । हम आपके अंगों से यक्ष्मा तथा अंग - ज्वर बाहर निकाल देते हैं ॥८ ॥

१२७०. अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥९ ॥

आपके अंगों की पीड़ा, अंगों का ज्वर, हृदय का रोग तथा यक्ष्मा रोग हमारी वाणी (मंत्र शक्ति) से पराजित होकर बाज़ पक्षी के समान दूर भाग जाएँ ॥९ ॥

१२७१. ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥१० ॥

निद्रारहित तथा जाग्रत् अवस्था के बोध और प्रतिबोध यह दो ऋषि हैं । वे दोनों आपके प्राण की सुरक्षा करने वाले हैं । वे आपके अन्दर दिन-रात जागते हैं ॥१० ॥

१२७२. अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११ ॥

ये अग्निदेव समीप में रखने योग्य हैं । यहाँ आपके लिए सूर्यदेव उदित हों । आप घोर अन्धकार रूपी मृत्यु से निकलकर उदय को प्राप्त हों ॥११ ॥

१२७३. नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये ॥१२ ॥

जो हमें ले जाते हैं, उन यमदेव के लिए नमन है, उन पितरों के लिए नमन है तथा मृत्यु के लिए नमन है । जो अग्निदेव पार करना जानते हैं, उनको हम कल्याण वृद्धि के लिए सामने प्रस्तुत करते हैं ॥१२ ॥

१२७४. ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥१३ ॥

प्राण, मन, आँख तथा बल इसके समीप आएँ । इसका शरीर बुद्धि के अनुसार गमन करे और यह अपने पैरों पर खड़ा हो जाए ॥१३ ॥

१२७५. प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥१४ ॥

हे अग्ने ! आप इस व्यक्ति को प्राण तथा चक्षु से संयुक्त करें और शरीर बल से भलीप्रकार संयुक्त करके प्रेरित करें । हे अग्निदेव ! आप अमृत को जानने वाले हैं । यह व्यक्ति इस लोकं से न जाए और (मिट्टी में मिलकर - मरकर) पृथ्वी को अपना घर न बनाए ॥१४ ॥

१२७६. मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते ।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥१५ ॥

हे व्याधिग्रस्त मनुष्य ! आपका प्राण विनष्ट न हो और आपका अपान आच्छादित न हो । अधिष्ठाता सूर्यदेव अपनी किरणों के द्वारा आपको मृत्यु से ऊपर उठाएँ ॥१५ ॥

१२७७. इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥१६ ॥

यह अन्दर बँधी हुई, बोलने वाली जिह्वा कहती है कि आपके साथ रहने वाले क्षय-रोग तथा ज्वर- रोग की सैकड़ों पीड़ाओं को हम दूर करते हैं ॥१६ ॥

१२७८. अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥१७ ॥

जिस मृत्यु को निश्चितरूप से प्राप्त करने के लिए आप उत्पन्न हुए हैं, ऐसा यह अपराजित मृत्यु का लोक देवों को अत्यधिक प्रिय है; किन्तु हे मनुष्य ! हम आपका आवाहन करते हैं, आप वृद्धावस्था से पूर्व न मरें ॥१७ ॥

[३१- कृत्यापरिहरण सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - कृत्यादूषण । छन्द - ११ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, १२ पथ्याबृहती, १-१० अनुष्टुप् ।]

जो हीन मनोवृत्तियों के व्यक्ति अपनी प्राणशक्ति के स्थूल-सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा दूसरों का अनिष्ट करना चाहते हैं, उनके प्रयासों को हितकारी संकल्पों-प्राण प्रयोगों द्वारा उन्हीं दुष्टों की ओर पलट देने के भाव-प्रयोग इस सूक्त में वर्णित हैं-

१२७९. यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥१ ॥

अभिचारकों ने जिसको कच्ची मिट्टी के बर्तन में किया है, जिसको धान, जौ, गेहूँ, उपवाक् (इन्द्र जौ या कुटज), तिल, कंगनी आदि मिश्र धान्यों में किया है, जिसको कुक्कुट आदि के कच्चे मांस में किया है, ऐसी कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥१ ॥

१२८०. यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।

अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥२ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने मुर्गे पर किया है अथवा जिसको प्रचुर बाल वाले बकरे पर किया है अथवा जिसको भेड़ पर किया है, ऐसी कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥२ ॥

१२८१. यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।

गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥३ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने एक खुर वाले पशुओं पर किया है, जिसको दोनों ओर दाँत वाले गधे पर किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥३ ॥

१२८२. यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।

क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥४ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने मनुष्यों द्वारा पूजित भक्षणीय पदार्थों में ढककर खेतों में किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥४ ॥

१२८३. यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।

शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥५ ॥

जिस कृत्या को बुरे चित्त वाले अभिचारकों ने गार्हपत्य की पूर्व अग्नि में किया है, जिसको यज्ञशाला में किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥५ ॥

१२८४. यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।

अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥६ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने सभा में किया है, जिसको जुए के पाशों में किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥६ ॥

१२८५. यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।

दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥७ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने सेनाओं में किया है, जिसको बाणरूप हथियारों पर किया तथा जिसको दुन्दुभियों में किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं । ॥७ ॥

१२८६. यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।

सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥८ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने कुएँ में डालकर किया है, जिसको श्मशान में गाड़ दिया है तथा जिसको घर में किया है, उस कृत्या को हम अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥८ ॥

१२८७. यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥९ ॥

जिस कृत्या को अभिचारकों ने मनुष्य की हड्डी में किया है, जिसको प्रज्वलित अग्नि में किया है, उस कृत्या को हम चोरी से अग्नि प्रज्वलित करने वाले मांसभक्षी अभिचारकों के ऊपर पुनः लौटाते हैं ॥९ ॥

१२८८. अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥१० ॥

जो मनुष्य अज्ञानतावश, कुमार्ग से हम मर्यादापालकों पर कृत्या को भेजता है, हम उसको उसी मार्ग से उसके ऊपर भेजते हैं ॥१० ॥

१२८९. यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥११ ॥

जो मनुष्य हमारे ऊपर कृत्या प्रयोग करके हमारी अँगुलियों तथा पैरों को विन करना चाहते हैं, वे वैसा करने में सक्षम न हों; वे अभागे हम भाग्यशालियों के लिए कल्याण ही करें ॥ ११ ॥

१२९०. कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम्।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥१२ ॥

गुप्त रूप से काम करने वालों, गालियाँ देने वालों और अन्ततः दुःख देने वालों को इन्द्रदेव अपने विशाल हथियारों से नष्ट कर डालें और अग्निदेव अपनी ज्वालाओं से बींध डालें ॥१२ ॥

॥इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम्॥

॥ अथ षष्ठं काण्डम् ॥

[१- अमृतप्रदाता सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सविता । छन्द- १ त्रिपदा पिपीलिकमध्या साम्नी जगती, २-३ पिपीलिकमध्या पुर उष्णिक् ।]

१२९१. दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥१ ॥

हे आथर्वण ! (ऋषि अथर्वा के अनुयायी अथवा अविचल ब्रह्म के ज्ञाता) आप बृहत्साम का गायन करें, रात में भी गाएँ । देव सविता (सबके उत्पन्न कर्त्ता) की स्तुति करें ॥१ ॥

१२९२. तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः । सत्यस्य युवानम द्रोघवाचं सुशेवम् ॥२ ॥

जो (जीव मात्र को) भव सागर में सत्य की प्रेरणा देने वाले हैं, सदैव युवा रहने वाले, सुख देने वाले तथा द्रोहरहित (सबके लिए हितकारी) वचन बोलने वाले हैं, उन (सविता देव) की स्तुति करें ॥२ ॥

१२९३. स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि । उभे सुष्टुती सुगातवे ॥३ ॥

वे सवितादेव (उक्त) दोनों प्रकार के श्रेष्ठ गायन (मंत्र पाठ) के आधार पर पर्याप्त मात्रा में हमें अमृत अनुदान देते रहें ॥३ ॥

[२- जेताइन्द्र सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-सोम, वनस्पति । छन्द-परोष्णिक् ।]

१२९४. इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत । स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥१ ॥

हे याजको ! आप हमारी प्रार्थना को आदरपूर्वक सुनने वाले देवराज इन्द्र के लिए सोमरस निचोड़ें और अच्छी तरह परिशोधित-परिमार्जित करें ॥१ ॥

१२९५. आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः । विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥

जिनके पास अभिषुत सोम उसी प्रकार पहुँच जाता है, जैसे वृक्ष के पास पक्षी; ऐसे हे विज्ञानी वीर (इन्द्रदेव) ! आप आसुरी प्रवृत्ति वालों को विनष्ट करें ॥२ ॥

१२९६. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे । युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥३ ॥

हे अध्वर्यो ! सोमपान करने वाले, शत्रुहन्ता, वज्रधारी इन्द्रदेव के लिए सोम अभिषुत करें । चिरयुवा, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी, यजमानों की कामना की सिद्धि करने वाले इन्द्रदेव की स्तुति करें ॥३ ॥

[३- आत्मगोपन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-इन्द्रापूषन् , अदिति, मरुद्गण, अपांनपात्, सिन्धुसमूह, विष्णु , द्यौ, २- द्यावापृथिवी, ग्रावा, सोम, सरस्वती, अग्नि, ३-अश्विनीकुमार, उषासानक्ता, अपांनपात्, त्वष्टा । छन्द-जगती, १ पथ्यांबृहती ।]

१२९७. पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥१ ॥

हे इन्द्र और पूषन् देवता ! आप हमारी रक्षा करें । देव जननी अदिति और उनचास मरुद्गण हमारी रक्षा करें । "अपांनपात्" (जल को अपने स्थान से विचलित न होने देने वाले अन्तरिक्षीय विद्युत्‌रूप अग्निदेव) एवं सातों समुद्र हमारी रक्षा करें । द्युलोक एवं प्रजापालक विष्णुदेव भी हमारी रक्षा करें ॥१ ॥

१२९८. पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।

पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥२ ॥

अभीष्ट कामना की पूर्ति के लिए द्युलोक और पृथ्वीलोक हमारी रक्षा करें । सोमाभिषव करने का पत्थर, निष्पन्न सोम और श्रेष्ठ ऐश्वर्य वाली सरस्वती (विद्या की अधिष्ठात्री देवी) हमें पाप से बचाएँ । अग्निदेव अपने रक्षक प्रवाहों से हमारी सुरक्षा करें ॥२ ॥

१२९९. पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।

अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३ ॥

पालक अश्विदेव हमारी रक्षा करें । दिन और रात्रि के देवता उषासानक्ता हमें सुरक्षित रखें । मेघ जल को स्थिर रखने वाले (अग्निदेव) हिंसकों से हमें बचाएँ । हे त्वष्टादेवता ! आप सब तरह के विकास के लिए हमारी वृद्धि करें ॥३ ॥

[४-आत्मगोपन सूक्त]

[**ऋषि-** अथर्वा । देवता-१ त्वष्टा, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अदिति; २ अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति, मरुद्गण; ३ अश्विनीकुमार, द्यौष्पिता । छन्द-१ पथ्या बृहती, २ संस्तार पंक्ति, ३ त्रिपदा विराट् गायत्री ।]

१३००. त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥१ ॥

सबका निर्माण करने वाले देव त्वष्टा, सुखवर्षक पर्जन्य, सत्यज्ञान - सम्पन्न ब्रह्मणस्पति और अपने पुत्र एवं भाइयों (देवताओं) के साथ अदिति हमारी देवोचित स्तुति को सुनें और हम सबके दुर्धर्ष तथा पोषक बल की रक्षा करें ॥१ ॥

१३०१. अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।

अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥२ ॥

अंश, भग, वरुण, मित्र और अर्यमा तथा अदिति एवं समस्त मरुद्गण हमारी रक्षा करें । देवगण हमारी रक्षा उस शत्रु से करें, जो हमारा अनिष्ट करना चाहता हो । हमसे दूर हुआ वह हिंसक द्वैष, शत्रु को दूर भगा दे ॥२ ॥

१३०२. धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।

द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥३ ॥

हे अश्विदेवो ! आप हमारी सद्‌बुद्धि एवं यज्ञादि पवित्र कर्म का भली प्रकार रक्षण करें । हे विस्तीर्ण गमनशील वायुदेवता ! आप प्रमादरहित होकर हमें सुरक्षा प्रदान करें । हे प्राणिपालक द्यौः ! दुःशुना (दुर्गति या कुत्ते की दुष्प्रवृत्ति) को हमसे दूर भगा दें ॥३ ॥

[कुत्ते में स्वामिभक्ति, सूँघने की शक्ति, जागरूकता जैसे सद्‌गुण भी होते हैं और अपनी जाति पर ही गुर्राना, कहीं भी मुँह डालना जैसे दोष भी होते हैं, इसलिए केवल दोषों, दुर्गतियों से बचाव चाहा गया है ।]

[५-वर्चः प्राप्ति सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-१,३ अग्नि, २ इन्द्र । छन्द-१,३ अनुष्टुप्, २ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

१३०३. उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत । समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आप घृत द्वारा आवाहनीय हैं । आप अपने याजक को उत्तम स्थान प्रदान करके श्रेष्ठ बनाएँ और शरीर को तेजस् - सम्पन्न बनाएँ एवं पुत्र-पौत्रादि सन्तानों की वृद्धि करें ॥१ ॥

१३०४. इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी ।
रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥२ ॥

हे इन्द्र ! इस (मानव या याजक) को ऊर्ध्वगामी बनाएँ । यह आपके प्रसाद से स्वजातियों में सर्वश्रेष्ठ, स्वतन्त्र और सबको वश में करने वाला हो । इसे प्रचुर धन से पुष्ट करके, सुखपूर्वक जीकर, शतायु वाला बनाएँ ॥२ ॥

१३०५. यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३ ॥

हे अग्ने ! जिसके घर में हम यज्ञादि अनुष्ठान करें, आप उसे श्री-समृद्धि से सम्पन्न करें । सोम और ब्रह्मणस्पति देवता उसे आशीर्वचन प्रदान करें ॥३ ॥

[६-शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-१ ब्रह्मणस्पति, २-३ सोम । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१३०६. योऽ३स्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥

हे ब्रह्मणस्पते ! जो शत्रु देव - विमुख होकर हमें समाप्त करने की इच्छा करता है, आप उसे हमारे सोमाभिषव करने वाले याजक के वश में कर दें ॥१ ॥

१३०७. यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥२ ॥

हे सोम ! श्रेष्ठ विचार वाले हम पर, जो कटुभाषी शत्रु शासन करें, आप उनके मुँह पर वज्र से आघात करें, जिससे वह विचूर्ण होकर दूर हो जाएँ ॥२ ॥

१३०८. यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥३ ॥

हे सोम ! जो स्वजातीय अथवा विजातीय (निकृष्ट) शत्रु हमारा विनाश करें, अन्तरिक्ष से गिरने वाली बिजली की तरह आप उनके बल और सैन्य दल का संहार कर दें ॥३ ॥

[७ - असुरक्षयण सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-१-२ सोम, ३ विश्वेदेवा । छन्द-१ निचृत् गायत्री, २-३ गायत्री ।]

१३०९. येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः । तेना नोऽवसा गहि ॥१ ॥

हे सोम ! आपके जिस सुनियम के कारण देवयान नामक मार्ग पर मित्र आदि द्वादश आदित्य और उनकी माता अदिति बिना एक दूसरे से टकराए चलते हैं । आप वैसी ही भावना लेकर हमारी रक्षा करने को आएँ ॥१ ॥

१३१०. येन सोय साहन्त्यासुरान् रन्धयासि नः । तेना नो अधि वोचत ॥२ ॥

हे अजेय शक्तियुक्त सोम ! जिस शक्ति से आप हमारे शत्रुओं को परास्त करते हैं, उसी शक्ति के साथ हमें आशीर्वाद प्रदान करें ॥२ ॥

१३११. येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् । तेना नः शर्म यच्छत ॥३ ॥

हे देवो ! आपने अपनी जिस शक्ति से देव विरोधी असुरों के बल और आयुध प्रहारक शत्रुओं के बल को समाप्त करके जीत लिया था, उसी बल से हमें सुख प्रदान करें ॥३ ॥

[८ - कामात्मा सूक्त]

[ऋषि- जमदग्नि । देवता-कामात्मा, २सुपर्ण, ३ द्यावापृथिवी, सूर्य । छन्द-पथ्यापंक्ति ।]

इस सूक्त के देवता 'कामात्मा' हैं । सामान्यरूप से अपनी कामना करने वाली नारी-पत्नी का सन्दर्भ इससे जोड़ा गया है; किन्तु किसी भी व्यक्तित्व, कला या शक्ति के सन्दर्भ में भी इस सूक्त के भाव सटीक बैठते हैं-

१३१२. यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१ ॥

(हे देवि !) जिस प्रकार 'वेल' वृक्ष के सहारे ऊपर उठती है, उसी प्रकार तुम मेरी कामना वाली होकर, मेरे साथ सघनता से जुड़ी रहो और मुझसे दूर न जाओ ॥१ ॥

१३१३. यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥२ ॥

ऊपर उड़ता हुआ गरुड़ जैसे अपने पंखों को नीचे दबाता है, उसी प्रकार तुझे ऊर्ध्वगामी (तेरी प्रगति) बनाने के लिए तेरे मन को अपनी ओर लाता हूँ , जिससे तुम मेरे प्रति कामना वाली होकर हमारे पास रहो ॥२ ॥

१३१४. यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३ ॥

सूर्य जिस प्रकार पृथ्वी आदि लोकों को प्रकाश से संव्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार हम अपने प्रभाव से तुम्हारे मन को आकर्षित करते हैं । जिससे तुम हमारे प्रति कामना वाली होकर हमारे पास रहो, दूर न जाओ ॥३ ॥

[९ - कामात्मा सूक्त]

[ऋषि- जमदग्नि । देवता-कामात्मा ३, गोसमूह । छन्द-अनुष्टुप् ।]

सूक्त ८ की तरह इस सूक्त का अर्थ भी पत्नी के सन्दर्भ में किया जाता है; किन्तु तीसरे मंत्र का भाव 'घृत उत्पादक गौएँ मेरी ओर भेजें' यह संकेत करता है कि मंत्र का लक्ष्य ओजस्विता जैसी कोई सूक्ष्मशक्ति भी है-

१३१५. वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१ ॥

तुम मेरे शरीर और दोनों पैरों की इच्छा वाली हो । मेरे दोनों नेत्र और दोनों जंघाओं की कामना वाली हो । मेरे अंग-प्रत्यंग को स्नेह भरी दृष्टि से देखो । सेचन की कामनायुक्त तुम्हारी आँखें और केश मेरे चित्त को सुखाते (प्रेरित करते) हैं ॥१ ॥

१३१६. मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम् ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥२ ॥

मैं तुम्हें अपनी बाहुओं और हृदय में आश्रय लेने वाली बनाता हूँ, जिससे तुम मेरे कार्य में कुशल तथा मेरे चित्त के अनुरूप चलने वाली बनो ॥२ ॥

१३१७. यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्।
गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे ॥३ ॥

जिसकी नाभि हर्षदायक तथा हृदय स्नेहयुक्त है, उस (स्त्री आदि) को घृत उत्पादक गौएँ (या किरणें) हमारे साथ संयुक्त करें ॥३ ॥

[१० - संप्रोक्षण सूक्त]

[ऋषि- शन्ताति । देवता- १ अग्नि, २ वायु, ३सूर्य । छन्द-१साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती, ३ साम्नी बृहती ।]

१३१८. पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥१ ॥

विशाल पृथ्वी, शब्द ग्रहण करने वाली इन्द्रिय (श्रोत्र) या पृथ्वी के श्रोत्ररूप दिशाओं, वृक्ष - वनस्पतियों के अधिष्ठातादेव और पृथ्वी के स्वामी अग्निदेव के लिए यह उत्तम हवि समर्पित है ॥१ ॥

१३१९. प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२ ॥

जीव मात्र में संचरित होने वाले, जीव मात्र को चैतन्य करने वाले प्राण के लिए तथा उसके विचरण - स्थान अंतरिक्ष के लिए आहुतियाँ समर्पित हैं । अंतरिक्ष में विचरने वाले पक्षी और उसके अधिष्ठातादेव तथा वायु के लिए यह हवि अर्पित है ॥२ ॥

१३२०. दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥३ ॥

प्रकाशरूप द्युलोक के लिए, उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय चक्षु के लिए, उसके प्रकाश से प्रकाशित नक्षत्र के लिए और उसके स्वामी प्राणियों के प्रेरक सूर्य के लिए ये आहुतियाँ समर्पित हैं ॥३ ॥

[११ - पुंसवन सूक्त]

[ऋषि- प्रजापति । देवता-रेतस्, ३ प्रजापति अनुमति, सिनीवाली । छन्द-अनुष्टुप् ।]

जब पुत्र की कामना से गर्भिणी का संस्कार होता है, तो उसे 'पुंसवन' कहते हैं और जब कन्या के लिए वह किया जाता है, तो उसे 'स्त्रैषूय' कहते हैं। इस सूक्त में दोनों के लिए उपचारों के संकेत किए गए हैं। मन्त्रों के गठन रहस्यात्मक हैं तथा उन पर शोध कार्य अपेक्षित है-

१३२१.शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१ ॥

शमी पर जब अश्वत्थ आरूढ़ होता है, तो पुंसवन किया जाता है । इससे पुत्र प्राप्ति का योग बनता है । उस प्रभाव को हम स्त्रियों में भर देते हैं ॥१ ॥

[शमी के वृक्ष पर पीपल जमे, तो उससे ओषधि-योग बनाकर, स्त्री को देने से पुत्रोत्पत्ति का योग बनने का यहाँ संकेत मिलता है, जिस पर शोध अपेक्षित है। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि अश्वरूप (सशक्त) नर-शुक्र, जब सौम्य नारी-रज से संयुक्त होता है, तब पुत्र का योग बनता है। इस अनुकूलता को ओषधियों तथा मन्त्रोपचार द्वारा नारी में स्थापित करने का भाव भी यहाँ ग्राह्य है।]

१३२२. पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२ ॥

पुरुषत्व ही रेतस् (उत्पादक शुक्र) बनता है । उसका आधान स्त्री में किया जाता है, तब पुत्र-उत्पत्ति का योग बनता है । यह प्रजापति (प्रजा उत्पन्न करनें वाले देव या विशेषज्ञ) का कथन है ॥२ ॥

१३२३. प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत् । स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥

अन्यत्र (उक्त'अनुशासन से भिन्न स्थिति में) प्रजापति तथा अनुमति एवं सिनीवाली देवियाँ गर्भधारण कराती हैं, तो 'स्त्रैषूय' (कन्या उत्पत्ति) का योग बनता है; किन्तु उस (पूर्वोक्त) मर्यादा से पुत्र की ही उत्पत्ति होती है ॥३ ॥

[यहाँ भाव यह है कि जब प्रजापति (प्रजा उत्पन्नकर्त्ता) की अनुमति से नारी गर्भ धारण करती हैं, तो कन्या उत्पत्ति का योग बनता है तथा पूर्वोक्त विधि से पुत्र योग बनता है । मन्त्र क्रमांक २ में पुरुष शुक्र के स्त्री रज में आधान तथा मंत्र क्र० ३ में पुरुष शुक्र में स्त्री रज के आधान का भाव भी बनता है, जिससे पुत्र या पुत्री प्राप्ति का योग बनने की बात कही गई है ।]

[१२ - सर्पविषनिवारण सूक्त]

[**ऋषि**- गरुत्मान् । **देवता**-तक्षक । **छन्द**-अनुष्टुप् ।]

१३२४. परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥१ ॥

जिस प्रकार सूर्य द्युलोक को जानते हैं, उसी प्रकार हम सभी सर्पों के जन्म के ज्ञाता हैं । जिस प्रकार से रात्रि संसार को सूर्य से परे कर देती है, वैसे ही हम विष का निवारण करते हैं ॥१ ॥

१३२५. यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥२ ॥

ब्राह्मणों, ऋषियों तथा देवों ने जिस उपचार को पहले जान लिया था, जो भूत और भविष्यत् (दोनों कालों) में रहने वाला है, उससे हम तेरा (सर्प का) विष दूर करते हैं ॥२ ॥

१३२६. मध्वा पृञ्चे नद्य१: पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥३ ॥

(सर्प विष से ग्रसित रोगी को) मधु से सिंचित करता हूँ । नदी, पर्वत, छोटे-छोटे टीले यह सभी मधु (ओषधि प्रभाव) युक्त स्थान हैं । शीपाला (शैवाल वाली शान्त) , परुष्णी (घुमावदार जल धाराएँ) अथवा उक्त नामवाली नदियाँ मधुयुक्त हैं । विषनाशक मधु हृदय एवं मुख के लिए शान्ति देने वाला हो ॥३ ॥

[१३ - मृत्युञ्जय सूक्त]

[**ऋषि**- अथर्वा । **देवता**-मृत्यु । **छन्द**-अनुष्टुप् ।]

१३२७. नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥१ ॥

देव (विद्वान्) ब्राह्मणों के मारक आयुधों को नमन है । राजाओं के संहारकारक अस्त्र-शस्त्रों को नमस्कार है । वैश्यों, धनवानों के द्वारा होने वाली मृत्यु से बचाने के लिए आप को नमस्कार है ॥१ ॥

१३२८.नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः । सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः॥

हे मृत्यो ! आपकी पक्षपातपूर्ण बात की सूचना देने वाले दूत को नमस्कार हो, आपके पराभव की सूचना देने वाले दूत को नमस्कार हो । हे मृत्यो ! आपकी कृपालु बुद्धि को नमस्कार है एवं आपकी दण्ड प्रदान करने वाली (कठोर) बुद्धि को भी हम नमस्कार करते हैं ॥२ ॥

१३२९. नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥३ ॥

हे मृत्यो ! मेरे लिए आपको बुलाने वाले यातुधान (रोगादि शत्रु , शस्त्रादि) को नमन है और आपसे रक्षा करने वाली ओषधियों व शक्तियों को नमस्कार है । आपको प्राप्त कराने वाले मूल कारणों को नमस्कार है । ऐसे आपको तथा आशीर्वाद देने में समर्थ ब्राह्मणों को नमस्कार हो ॥३ ॥

[१४ - बलासनाशन सूक्त]

[ऋषि- बभ्रुपिङ्गल । देवता-बलास । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१३३०. अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् । बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥

शरीर की हड्डियों और जोड़ों में दर्द पैदा करने वाला, शरीर का बलनाशक श्वास, खाँसी आदि रोग हृदय एवं पूरे शरीर में व्याप्त हो रहा है । हे मन्त्र शक्ते ! आप उसे हमसे दूर कर दें ॥१ ॥

१३३१. निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा । छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव॥

जिस प्रकार कमल नाल को सहज ही उखाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार बल-विनाशक कफ के रोगी के क्षय रोग को जड़ से उखाड़ता हूँ । जैसे- पकी हुई ककड़ी का फल पौधे से अपने आप छूट जाता है, उसी प्रकार रोग होने के (बन्धन) कारण को शरीर से अनायास ही दूर करता हूँ ॥२ ॥

१३३२. निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा । अथो इट इव हायनोऽप द्राह्यवीरहा ॥

हे बलविनाशक बलास रोग ! जिस प्रकार शीघ्रगामी शुशुक नामक मृग दूर भागता है, उसी प्रकार हे वीर नाशक ! तू हमारे शरीर से निकल कर भाग । जैसे- बीता हुआ वर्ष पुनः वापस नहीं आता, उसी प्रकार हमारे पुत्रादि को नष्ट न करते हुए तू भाग जा (पुनः न आना) ॥३ ॥

[१५ - शत्रुनिवारण सूक्त]

[ऋषि- उद्दालक । देवता-वनस्पति । छन्द-अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के प्रथम मंत्र में 'ओषधीनां उत्तमः असि'- (तू ओषधियों में उत्तम है) , वाक्य आया है । आचार्य सायण ने इस भाव को पलाश पर आरोपित किया है; किन्तु इस सूक्त के देवता वनस्पति हैं, इसलिए उक्त भाव किसी एक वृक्ष विशेष से जोड़ने की अपेक्षा वनस्पतियों में ओषधीय गुण उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म प्रवाह के प्रति अधिक सटीक बैठता है । खनिजों, रसायनों (कैमिकल्स) से बनायी गयी ओषधियों की अपेक्षा वनस्पतिजन्य ओषधियाँ शरीर में अधिक स्वाभाविकता और सहजता से स्थापित (जज्ब) हो जाती हैं, इसलिए इन्हें ओषधियों में उत्तम कहना उचित है-

१३३३. उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१ ॥

(हे वनस्पते !) आप ओषधियों में श्रेष्ठ हैं, अन्य वृक्ष तेरे अनुगामी हैं । जो रोग हम पर आधिपत्य जमाना चाहते हैं, वे हमारे अधीन हो जाएँ ॥१ ॥

१३३४. सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥२ ॥

जिस प्रकार वृक्षों में ओषधि - प्रवाह (वृक्ष के अन्य गुणों में) श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बन्धुओं के साथ या अकेले ही जो हमारा अहित करना चाहते हैं, हम उनसे श्रेष्ठ हो जाएँ ॥२ ॥

[दुष्टों के विध्वंसक प्रयासों पर हमारे दोष- निवारक प्रयास विजयी हों-यहाँ यह भाव समाहित है ।]

१३३५. यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥

जिस प्रकार वृक्षों में 'तलाश' नामक वृक्ष है अथवा वृक्षों में आश्रय पाने वाले तत्त्वों में ओषधि (रोग नाशक) तथा सोम (पोषक प्रवाह) श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार हम भी उत्तम बनें ॥३ ॥

['तलाश' नामक ओषधि गुणयुक्त वृक्ष आजकल ज्ञात नहीं है । उसे पलाश कहना युक्तिसंगत नहीं लगता । तलाश का अर्थ स्वामी दयानन्द के भाष्य में 'आश्रय प्रदायक श्री' कहा गया है । इस अर्थ के साथ भी मंत्र की संगति बैठ जाती है ।]

[१६ - अक्षिरोगभेषज सूक्त]

[**ऋषि-** शौनक । **देवता**-चन्द्रमा । **छन्द**-निचृत् त्रिपदा गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री ।]

इस सूक्त के पहले एवं दूसरे मंत्र में 'आबय' नामक ओषधि का उल्लेख है । आचार्य सायण ने उसे 'सरसों' कहा है ; क्योंकि उसके रस को 'उग्र' कहा गया है । इन मन्त्रों के देवता चन्द्रमा हैं । चन्द्रमा को 'ओषधिपति' भी कहते हैं । 'आबय' का अर्थ खाद्य भी है और गतिशील भी है । इस आधार पर चन्द्रमा को 'आबय' कह सकते हैं । मन्त्रार्थ दोनों सन्दर्भों में सिद्ध होते हैं-

१३३६. आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो । आ ते करम्भमद्मसि ॥१ ॥

हे आबय (ओषधि विशेष अथवा चन्द्रमा) ! आपके खाने योग्य तथा न खाने योग्य रस उग्र (रोगनाशक) हैं । यह (आपका स्वरूप) दोनों का करंभ (मिश्रण) है ॥१ ॥

१३३७. विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हि न त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥२ ॥

विहह्ल (चमत्कारी) तथा मदावती (मस्ती पैदा करने वाली) नाम से प्रसिद्ध तेरे पिता और माता हैं । तू, जिसने अपने आपको खाद्य बनाया है, उन (माता-पिता) से भिन्न है ॥२ ॥

[विहह्ल एवं मदावती यदि ओषधियाँ हैं, तो उनके संयोग (कलम लगाकर विकसित की गई संकर प्रजाति) से बनी ओषधि, उन दोनों से भिन्न है । यदि यह सम्बोधन चन्द्रमा के ओषधियुक्त प्रवाहों के लिए है, तो उनके संयोग से बनी खाने योग्य ओषधि उनसे भिन्न होती ही है ।]

१३३८. तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत् । बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥३ ॥

हे तौविलिके (इस नाम की अथवा उत्पन्न होने वाली ओषधि) ! आप हमें शक्ति देकर रोगों का विनाश करें । 'एलब' नाम का यह आँखों का रोग पलायन कर जाए । रोग के कारणसहित बभ्रु और बभ्रुकर्ण नामक रोग शरीर से भाग जाएँ तथा 'निराल' नामक रोग भी निकल जाए ॥३ ॥

१३३९. अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला ॥४ ॥

हे आलस्य विनाशिनी अलसाला (सस्य मञ्जरी) ! तू प्रथम ग्रहणीय होने से पूर्वा है । हे शलाञ्जला (सस्य मञ्जरी) ! तू अणुओं तक पहुँचने वाली और अन्त में ग्रहण करने के कारण 'उत्तरा' है । हे नीलागलसाला (सस्य मञ्जरी) ! तुझे मध्य में ग्रहण किया जाता है ॥४ ॥

[१७ - गर्भदृंहण सूक्त]

[**ऋषि-** अथर्वा । **देवता**-गर्भदृंहण, पृथिवी । **छन्द**-अनुष्टुप् ।]

१३४०.यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ।

हे स्त्री ! जिस प्रकार यह विशाल पृथ्वी प्राणिमात्र के बीजरूप गर्भ को धारण करती है, उसी प्रकार तेरा गर्भ भी प्रसवकाल तक गर्भ में (दस मास तक) स्थिर हो ॥१ ॥

१३४१. यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥२ ॥

जिस प्रकार इस विशाल पृथ्वी ने पहाड़- उपत्यिकाओं सहित वृक्ष-वनस्पतियों को दृढ़तापूर्वक धारण कर रखा है, उसी तरह गर्भाशय में स्थित तेरा यह गर्भ प्रसव के लिए यथासमय (प्रसवकाल) तक स्थित रहे ॥२ ॥

१३४२. यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥३ ॥

विशाल पृथ्वी ने जैसे नाना प्रकार से विभक्त, व्यवस्थित, चराचर जगत् को स्वयं में धारण कर रखा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह गर्भ यथासमय (प्रसवकाल) तक स्थित रहे ॥३ ॥

१३४३. यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥४ ॥

जिस प्रकार यह विशाल धरित्री विविध स्वरूपों वाले जगत् को धारण किये हुए है, उसी प्रकार तुम्हारा यह गर्भ प्रसवकाल तक स्थित रहे ॥४ ॥

[१८ - ईर्ष्याविनाशन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-ईर्ष्याविनाशन । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१३४४. ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥१ ॥

हे ईर्ष्यालु मनुज ! हम तेरी ईर्ष्या (डाह) से होने वाली प्रथम गति एवं उसके बाद की गति को तथा उससे उत्पन्न हृदय को संतप्त करने वाली अग्नि और शोक को सर्वदा के लिए दूर कर देते हैं ॥१ ॥

१३४५. यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥२ ॥

जैसे भूमि मरे मन वाली (संवेदनाहीन) है, मृत व्यक्ति से भी अधिक मृत मन वाली है, उसी प्रकार ईर्ष्यालु का मन मर जाता (संवेदना शून्य, क्रूर हो जाता)है ॥२ ॥

१३४६. अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥३ ॥

हे ईर्ष्याग्रसित पुरुष ! व्यक्ति को पतन के मार्ग पर ले जाने वाले, हृदय में स्थित ईर्ष्याग्रस्त विचारों को, उसी प्रकार बाहर निकालता हूँ, जिस प्रकार शिल्पकार वायु को धौंकनी से बाहर निकालता है ॥३ ॥

[१९ - पावमान सूक्त]

[ऋषि- शन्ताति । देवता-चन्द्रमा, १ देवजन, मनुवंशी, विश्वाभूतानि (समस्त प्राणी), पवमान; २ पवमान, ३ सविता । छन्द-गायत्री, १ अनुष्टुप् ।]

१३४७. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥१ ॥

देवता मुझे पवित्र करें, विद्वान् मनुष्य हमारी बुद्धि और कर्म को पवित्र करें । सभी प्राणि-समुदाय हमें पवित्र करें । पवित्र करने वाले देव वायु या सोम भी हमें पवित्र करें ॥१ ॥

१३४८. पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे । अथो अरिष्टतातये ॥२ ॥

हे पवित्र सोमदेव ! आप हमें पापमुक्त करके पवित्र करें । कर्म करने के लिए, शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा दीर्घजीवन के लिए एवं हर प्रकार से कल्याण के लिए, पवित्र करने वाले देव हमें पवित्र करें ॥२ ॥

१३४९. उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३ ॥

हे सबके प्रेरणास्रोत सवितादेव ! आप इस लोक और परलोक के सभी सुखों की प्राप्ति के लिए, अपने पवित्र करने के साधन तेजस् से तथा अपनी प्रेरणा एवं यज्ञ से हमें पवित्र करें ॥३ ॥

[२० - यक्ष्मनाशन सूक्त]

ऋषि- भृग्वङ्गिरा । **देवता-**यक्ष्मनाशन । **छन्द-**१अतिजगती, २ ककुम्मती प्रस्तारपंक्ति, ३ सतः पंक्ति ।.

१३५०. अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति ।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥१ ॥

दाहक अग्नि की भाँति यह ज्वर शरीर में व्याप्त हो जाता है । उन्मत्त के समान प्रलाप करता हुआ, परलोक गमन कर जाता है । ऐसा प्रबल ज्वर किसी अनियमित व्यक्ति के पास चला जाए । तापरूपी अस्त्र से मारने वाले तथा जीवन दुःखित करने वाले ज्वर को हमारा नमस्कार है ॥१ ॥

१३५१. नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते ।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥२ ॥

रुद्रदेव को नमस्कार, पीड़ा देने वाले ज्वर को नमस्कार, तेजस्वी राजा वरुण, द्युलोक, पृथिवी तथा ओषधियों आदि सभी को हमारा नमस्कार है ॥२ ॥

१३५२. अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि ।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥३ ॥

दुःखी करने वाले, सभी स्वरूपों को पीला (तेजहीन) बना देने वाले, उस लाख और भूरे रंग वाले तथा वनों में फैलने वाले ज्वर को नमस्कार है ॥३ ॥

[२१ - केशवर्धनी ओषधि सूक्त]

[**ऋषि-** शन्ताति । **देवता-**चन्द्रमा । **छन्द-**अनुष्टुप् ।]

१३५३. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥१ ॥

तीनों लोकों में श्रेष्ठ, लौकिक और पारलौकिक कर्मों का सम्यक् फल प्रदान करने वाली, त्वचा के समान भूमि से उत्पन्न व्याधि निवारक इस ओषधि को मैं ग्रहण करता हूँ ॥१ ॥

१३५४. श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥२ ॥

हे हरिद्रा ओषधे ! तुम सभी ओषधियों में श्रेष्ठ और अन्य बूटियों में सबसे अधिक उत्तम रस, गुण तथा वीर्य से युक्त हो । जिस प्रकार दिन-रात के बीच सोम (शांतिदायक चन्द्रमा) एवं तेजस्वी सूर्य हैं । सभी देवताओं में जिस प्रकार वरुण सर्वश्रेष्ठ राजा हैं, उसी प्रकार तुम भी श्रेष्ठ हो ॥२ ॥

१३५५. रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ। उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥३॥

हे सामर्थ्य वाली ओषधियो ! आप, सबको आरोग्य प्रदान करती हैं एवं बलदात्री होने के कारण कभी हिंसित नहीं करती हैं, इसलिए आप आरोग्य प्रदान करने की इच्छा करें, केशों को बढ़ाने वाली सिद्ध हों ॥३ ॥

[२२ - भैषज्य सूक्त]

[ऋषि- शन्ताति । देवता-आदित्य रश्मि, २-३ मरुद्गण । छन्द-१, ३ त्रिष्टुप्, २ चतुष्पदा भुरिक् जगती ।]

१३५६. कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू दुः ॥१ ॥

श्रेष्ठ गतिमान् सूर्य-किरणें अपने साथ जल को उठाती हुई सबके आकर्षण के केन्द्र यानरूप सूर्य मण्डल के समीप पहुँचती हैं । वहाँ अन्तरिक्ष के मेघों में स्थित जल को बरसाते हुए पृथ्वी को सिक्त कर देती हैं ॥१ ॥

१३५७. पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥२ ॥

हे मरुतो ! स्वर्णाभूषणों को हृदय में धारण कर आपके गतिमान् होने से रसमय जल और अन्नादि ओषधियों को सुख प्राप्त होता है । हे देवो ! जहाँ जल वृष्टि हो, वहाँ शक्तिदाता अन्न एवं उत्तम बुद्धि स्थापित हो ॥२ ॥

१३५८. उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥३ ॥

हे जल को बरसाने वाले मरुतो ! जो वृष्टि, अन्न आदि सभी धान्यों और नीचे के स्थानों को जल से भर देती है, आप उसे प्रेरित करें । वृष्टि के लिए मेघ-गर्जना सबको कम्पायमान करती रहे, जैसे दुखी कन्या (माता-पिता को) कम्पायमान करती है और पत्नी, पति को प्रेरित करती है ॥३ ॥

[२३ - अपांभैषज्य सूक्त]

[ऋषि-शन्ताति । देवता-आपः । छन्द-१ अनुष्टुप्,२ त्रिपदा गायत्री, ३ परोष्णिक् ।]

१३५९. सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः । वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥१ ॥

हम श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग निरन्तर गतिमान् जल धाराओं में प्रवाहित दिव्य आपः (सृष्टि के मूल सक्रिय तत्त्व) का आवाहन करते हैं ॥१ ॥

१३६०. ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये । सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥२ ॥

सर्वत्र व्याप्त, निरन्तर गतिमान् जल धाराएँ क्रियाशक्ति उत्पन्न करके हमें इन (हीनताओं) से मुक्त करें, हम शीघ्र प्रगति करें ॥२ ॥

[(क) मनुष्य हीन स्तर के रस पाने के लिए पाप करते हैं । श्रेष्ठ रस की धाराएँ सतत प्रवाहित हैं, उनको पाकर मनुष्य पाप से मुक्त हो सकते हैं । (ख) गतिशील जल धाराओं से विद्युत् शक्ति प्राप्त करके प्रगति के मार्ग खोले जा सकते हैं ।]

१३६१. देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः । शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥

सबके प्रेरक - उत्पादक सविता देवता की प्रेरणा से सब मनुष्य अपने-अपने नियत लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के काम करें । कल्याणकारी ओषधियों की वृद्धि एवं हमारे लिए जल कल्याणकारी एवं पाप-क्षयकारी सिद्ध हों ॥३॥

[२४ - अपांभैषज्य सूक्त]

[ऋषि- शन्ताति । देवता-आपः । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१३६२ हिमवतः प्रस्त्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥१ ॥

हिमाच्छादित पर्वतों की जल धाराएँ बहती हुई समुद्र में मिलती हैं, ऐसी पापनाशक जल धाराएँ हमारे हृदय के दाह को शान्ति देने वाली ओषधियाँ प्रदान करें ॥१ ॥

१३६३. यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥२ ॥

जो-जो रोग हमारी आँखों , एड़ियों और पैरों के आगे के भागों को व्यथित कर रहे हैं, उन सब दुःखों को वैद्यों का भी उत्तम वैद्य जल हमारे शरीर से निकाल कर बाहर करे ॥२ ॥

१३६४. सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥३ ॥

आप समुद्र की पत्नियाँ हैं, समुद्र आपका सम्राट् है । हे निरन्तर बहती हुई जल धाराओ ! आप हमें पीड़ा से मुक्त होने वाले रोग का निदान दें, उपचार दें, जिससे हम आपके स्वजन नीरोग होकर अन्नादि बल देने वाली वस्तुओं का उपभोग कर सकें ॥३ ॥

[२५ - मन्याविनाशन सूक्त]

[ऋषि - शुनः शेप । देवता - मन्याविनाशन । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१३६५. पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥१ ॥

गले के ऊपरी हिस्से की नसों में जो पचपन प्रकार के गण्डमाला की फुंसियाँ व्याप्त हैं, वे इस प्रयोग से इस प्रकार नष्ट हों, जैसे पतिव्रता स्त्री के सामने दोषपूर्ण वचन नष्ट हो जाते हैं ॥१ ॥

१३६६. सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥२ ॥

जो सतहत्तर प्रकार की पीड़ाएँ गले में होती हैं, वे भी इस प्रयोग से इस प्रकार नष्ट हो जाएँ , जैसे पतिव्रता स्त्री के सामने पापमय वचन नष्ट हो जाते हैं ॥२ ॥

१३६७. नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥३ ॥

कन्धे के चारों तरफ जो निन्यानबे प्रकार की गण्डमालाएँ हैं, वे इस प्रयोग से उसी प्रकार नष्ट हो जाएँ , जैसे पतिव्रता स्त्री के सामने दोषपूर्ण वचन नष्ट हो जाते हैं ॥३ ॥

[२६ - पाप्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - पाप्मा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१३६८. अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥१ ॥

हे पापाभिमानी देव ! हे पाप्मन् ! तुम मुझे वश में करके दुःख देते हो, इसलिए सुखी करो । हे पाप्मन् ! तुम मुझे सरल-निष्कपट रूप में स्थापित करो ॥१ ॥

१३६९. यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥२ ॥

हे पाप्मन् ! यदि तुम मुझे नहीं छोड़ते हो, तो हम तुमको व्यावर्तन (चौराहे) पर इस अनुष्ठान से बलपूर्वक छोड़ते हैं । जिससे तुम असद्गामी लोगों के पास चले जाओ ॥२ ॥

१३७०. अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥३ ॥

इन्द्र सदृश सहस्रों विचार वाले हे अमरण-धर्मा पाप ! तुम हमसे दूर हो जाओ । जो असद् विचार वाले हमसे द्वेष रखते हों, उन्हें ही नष्ट करो ॥३ ॥

[२७ - अरिष्टक्षयण सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - यम, निर्ऋति । छन्द - जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

प्रशिक्षित कपोत (कबूतर) के द्वारा लोग पहले पत्र आदि भेजा करते थे । लगता है उनके माध्यम से कुछ अनिष्टकारी कीट या अभिमंत्रित शक्ति भी भेजी जाती थी, जिसके निवारण करने के संकेत इस सूक्त तथा अगले सूक्त में हैं-

१३७१. देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१ ॥

हे देवो ! पाप देवता द्वारा प्रेरित दूत (कपोत पक्षी) , जिस अशुभ सूचक संदेश के द्वारा हमें कष्ट पहुँचाने आया है, हम उस (अशुभ) के निवारण के लिए हव्यादि कर्मों से आपकी पूजा करते हैं । हमारे द्विपद पुत्र-पौत्रादि एवं चतुष्पद गौ, अश्वादिकों के अनिष्ट- निवारण के लिए , कपोत के आने के दोषों की शान्ति हो ॥१ ॥

१३७२. शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२ ॥

हे देवताओ ! हमारे घर आया हुआ यह कपोत कल्याणकारी और निष्कलुष सूचक हो, जिससे हमारे घर में कोई अशुभ कार्य न हो । हे विद्वान् अग्निदेव ! हमारे द्वारा समर्पित हव्य को ग्रहण करके, इस कपोत के यहाँ आने से होने वाले अनिष्ट या आयुध का निवारण करें ॥२ ॥

१३७३. हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने ।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥३ ॥

पंखों वाला आयुध हमारा विनाश न करे । वह अग्निशाला में अग्नि के पास अपना पैर रखे और हमारी गौओं और मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हो । हे देवताओ ! यह कपोत पक्षी हमारा विनाश न करे ॥३ ॥

[२८ - अरिष्टक्षयण सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - यम, निर्ऋति । छन्द - त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती ।]

१३७४. ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः ।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥१ ॥

हे देवताओ ! आप मन्त्र के द्वारा, दूर भेजने योग्य कपोत को, दूर भेजें । यह कपोत हमारी अन्नशाला को छोड़कर उड़ जाए । हम कपोत के अशुभ पद- चिह्नों का मार्जन करते हैं एवं अन्न से तृप्त होकर गौओं (या शोधक किरणों) को घुमाते हैं ॥१ ॥

१३७५. परीमे३ग्निमर्षत परीमे गामनेषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥२ ॥

इन (शमन प्रयोग करने वालों) ने अग्नि को सब ओर स्थापित किया है, इन्होंने गौओं (या किरणों को) चारों ओर पहुँचाया है, देव शक्तियों ने यश अर्जित किया है, इस प्रकार इन्हें कौन भयभीत कर सकता है ? ॥२ ॥

[अग्नि के हवनीय प्रयोगों गौओं के या सूक्ष्म शोधक किरणों के प्रयोग से दुष्प्रभाव समाप्त होने का भाव है । देव अनुग्रह से निर्भय होने की बात कही गयी है ।]

१३७६. यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
यो३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३ ॥

यमदेव अन्य देवों में प्रमुख हैं । ये प्राणियों की मृत्यु के समय की अनुक्रम से गणना करते हुए फल देने वाले हैं, दो पैर वाले मनुष्यों तथा चार पैर वाले पशुओं की मृत्यु के प्रेरक देव यम को नमस्कार है ॥३ ॥

[२९ - अरिष्टक्षयण सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - यम, निर्ऋति । छन्द - विराट् गायत्री, ३. त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टि ।]

१३७७. अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत् ।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥१ ॥

दूर दिखने वाले शत्रुओं तक , पक्ष (पंख) वाला आयुध पहुँचे । अशुभ बोलने वाला उल्लू और पैरों को पचनाग्नि के समीप रखने वाला यह अशुभ सूचक कपोत निर्वीर्य हो जाए ॥१ ॥

१३७८. यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः ।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥२ ॥

हे पाप देवता निर्ऋति ! दूतरूप ये कपोत और उलूक, आपके द्वारा भेजे हुए हों अथवा बिना आपके भेजे हुएहों, हमारे घर में आकर आश्रय प्राप्त न कर सकें ॥२ ॥

१३७९.अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात् ।
पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम् ।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्॥३॥

हमारे वीरों के लिए, उलूक एवं कपोत के अशुभ चिह्न अहिंसक हों । हमारे वीरों की असफल होकर लौटने की स्थिति न बने । हे यम के दूतरूप कपोत ! जिस प्रकार तेरे स्वामी यमदेव के घर के प्राणी तुझे निर्वीर्य देखते हैं, उसी प्रकार हम भी देखें ॥३ ॥

[३० - पापशमन सूक्त]

[ऋषि - उपरिबभ्रव । देवता - शमी । छन्द - जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा शंकुत्यनुष्टुप्]

१३८०. देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥१ ॥

सरस्वती नदी के तट के समीप मनुष्यों को देवताओं ने रसयुक्त मधुर 'यव' दिया; तब भूमि में धान्य उपजाने के लिए सुदानी मरुद्‌गण किसान बने और इन्द्रदेव हल के अधिष्ठाता बने ॥१ ॥

१३८१. यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात्त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२ ॥

हे शमी ! आपका आनन्ददायक रस केश उत्पादक एवं वर्द्धक होता है । जिससे आप पुरुष को हर्षयुक्त करते हैं । आप सैकड़ों शाखायुक्त होकर बढ़ें । हम आपको छोड़कर अन्य वृक्षों को काटते हैं ॥२ ॥

१३८२. बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि । मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥३ ॥

सौभाग्यकारिणी, बड़े पत्तों वाली, वर्षा के जल से वर्द्धित हे शमी ओषधे ! माता जिस प्रकार पुत्रों को सुख देती है , उसी प्रकार आप केशों के लिए सुखकारी हों ॥३ ॥

[३१ - गौ सूक्त]

[ऋषि - उपरिब्रभव । देवता - गौ । छन्द - गायत्री ।]

१३८३. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१ ॥

यह गो (वृषभ- निरन्तर पोषण देने वाला सूर्य) प्राणियों की माता पृथ्वी को आगे करता (बढ़ाता) है । यह पिता द्युलोक को भी प्रकाश से भर देता है ॥१ ॥

१३८४. अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥२ ॥

जो प्राण और अपान का व्यापार करने वाले प्राणी हैं, उनकी देह में सूर्यदेव की प्रभा विचरती है । ये महान् सूर्यदेव स्वर्ग और समस्त ऊपर के लोकों में भी प्रकाश फैलाते हैं ॥२ ॥

१३८५. त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् । प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥३ ॥

दिन और रात्रि के अवयवरूप (विभाग) तीस मुहूर्त (२४घण्टे), इन सूर्यदेव की आभा से ही प्रतिक्षण देदीप्यमान रहते हैं । वाणी भी तीव्र गमनशील सूर्यदेव का आश्रय लेकर रहती है । ।३ ॥

[३२ - यातुधानक्षयण सूक्त]

[ऋषि - चातन, ३ अथर्वा । देवता - १ अग्नि, २ रुद्र, ३ मित्रावरुण । छन्द-त्रिष्टुप्, २ प्रस्तार पंक्ति ।]

१३८६. अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥१ ॥

हे ऋत्विजो ! यातुधानों (स्वास्थ्य के लिए हानिकारक रोगाणु) को नष्ट करने हेतु प्रज्वलित अग्नि में घृतसहित हवि की आहुतियाँ प्रदान करो । हे अग्निदेव ! आप इन उपद्रवी राक्षसों (रोगाणु आदि) को भस्म करके हमारे गृहों को संतप्त होने से बचाएँ ॥१ ॥

१३८७. रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ।।२ ।।

हे पिशाचो ! रुद्रदेव ने तुम्हारी गर्दनें तोड़ दी हैं, वे तुम्हारी पसलियाँ भी तोड़ डालें । हे यातुधानो ! अनन्त वीर्यमयी ओषधि ने तुम्हें यमलोक पहुँचा दिया ।।२ ।।

१३८८. अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ।।३ ।।

हे मित्रावरुण ! हम निर्भयतापूर्वक इस देश में निवास करें । आप अपने तेज से मांस - भक्षक राक्षसों को हम से दूर भगाएँ । इन्हें कोई भूमि तथा आश्रय देने वाला न मिले और वे परस्पर लड़कर नष्ट हो जाएँ ।।३ ।।

[३३ - इन्द्रस्तव सूक्त]

[**ऋषि** - जाटिकायन । **देवता** - इन्द्र । **छन्द** - गायत्री, २ अनुष्टुप् ।]

१३८९. यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः । इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ।।१ ।।

हे मनुष्यो ! शत्रुओं के विनाश की प्रेरणा देने वाली, जिन इन्द्रदेव की रञ्जक ज्योति है, उन्हीं इन्द्रदेव के परम सुखदाता सेवनीय तेज का सेवन करो ।।१ ।।

१३९०. नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ।।२ ।।

वे दूसरों से सम्माननीय इन्द्रदेव तुम्हारे शत्रुओं का दमन कर देते हैं । जिस वृत्रासुर वध के समय उनका बल अदमनीय था, उसी प्रकार वे आज भी अदमनीय हैं ।।२ ।।

१३९१. स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् । इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ।।३ ।।

वे इन्द्रदेव, देवताओं और मनुष्यों आदि के स्वामी हैं तथा सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं । वे हम सबको पीत वर्ण की आभावाला धन (स्वर्ण) प्रदान करें ।।३ ।।

[३४ - शत्रुनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - चातन । **देवता** - अग्नि । **छन्द** - गायत्री ।]

१३९२. प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् । स नः पर्षदति द्विषः ।।१ ।।

हे स्तोताओ ! उन अग्निदेव की स्तुति करने वाली वाणी उच्चारित करो, जो (अग्निदेव) यातुधानों का विनाश करते हैं और इच्छाओं की पूर्ति करते हैं । वे अग्निदेव हमें राक्षस-पिशाचादि द्वेष करने वालों से बचाएँ ।।१।।

१३९३. यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्षदति द्विषः ।।२ ।।

जो अग्निदेव, यातुधानों को अपने तीक्ष्ण तेज से विनष्ट कर देते हैं । वे अग्निदेव हमको शत्रुओं से बचाएँ ।।२।।

१३९४. यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः ।।३ ।।

जो अग्निदेव, जलरहित मरुस्थल की रेत को अतितप्त करते हुए दमकते हैं । वे (अग्निदेव) राक्षस, पिशाच और शत्रुओं से हमारी रक्षा करें ।।३ ।।

१३९५. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पर्षदति द्विषः ।।४ ।।

जो अग्निदेव समस्त भुवनों में, विभिन्न रूपों में, अनेक प्रकार से देखते हैं एवं सूर्यरूप से प्रकाश देते हैं, वे अग्निदेव राक्षस - पिशाचादि शत्रुओं से हमारी रक्षा करें ॥४ ॥

१३९६. यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥५ ॥

जो अग्निदेव (विद्युत् या सूर्यरूप में) इस पृथ्वी से परे अन्तरिक्ष में प्रकट हुए हैं । वे देव, राक्षस, पिशाचादि शत्रुओं से हमारी रक्षा करें ॥५ ॥

[३५ - वैश्वानर सूक्त]

[ऋषि - कौशिक । देवता - वैश्वानर । छन्द - गायत्री ।]

१३९७. वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥१ ॥

समस्त मनुष्यों के हितैषी अग्निदेव हमारी रक्षा करने के लिए दूर देश से आएँ एवं सुन्दर स्तुतियों को सुनें ॥

१३९८. वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥२ ॥

वे समस्त मनुष्यों के हितैषी, वैश्वानर अग्निदेव हमारे स्तुतिरूप उक्थों (स्तोत्रों) से प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ में पधारें ॥२ ॥

१३९९. वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् । ऐषु द्युम्नं स्वर्यमत् ॥३ ॥

वैश्वानर अग्निदेव ने, उक्थों (मंत्रों) को समर्थ बनाया तथा यश एवं अन्न प्राप्ति की रीति बताते हुए स्वर्ग-सुख की प्राप्ति करा दी ॥३ ॥

[३६ - वैश्वानर सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अग्नि । छन्द - गायत्री ।]

१४००. ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥१ ॥

यज्ञात्मक ज्योति के अधिपति और यज्ञ स्वरूप, सदैव देदीप्यमान रहने वाले वैश्वानर अग्निदेव की हम उपासना करते हुए उनसे श्रेष्ठफल की याचना करते हैं ॥१ ॥

१४०१. स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत् सृजते वशी । यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥२ ॥

ये वैश्वानर अग्निदेव समस्त प्रजाओं के फल प्रदाता हैं । ये देवगणों को हविष्यान्न प्राप्त कराने वाले एवं सूर्य रूप से वसन्त आदि ऋतुओं का नियमन करने वाले हैं ॥२ ॥

१४०२. अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको वि राजति ॥३ ॥

उत्तम धामों के स्वामी अग्निदेव हैं । भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल की कामनाओं की पूर्ति करने वाले ये अग्निदेव और अधिक दीप्तिमान् हो रहे हैं ॥३ ॥

[३७ - शापनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्रमा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४०३. उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् ।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥१ ॥

सहस्राक्ष इन्द्रदेव रथारूढ़ होकर हमारे समीप आएँ एवं हमें शाप देने वाले को उसी प्रकार नष्ट करें, जैसे भेड़िया भेड़ को नष्ट करता है ॥१ ॥

१४०४. परि णो वृङ्ग्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥२ ॥

हे शपथ ! तू बाधक मत बन, हमको छोड़ दे और जो शत्रु हमें शाप दे रहे हैं, उन्हें उसी तरह भस्म कर दे, जिस प्रकार तड़ित् वृक्ष को भस्म कर देती है ॥२ ॥

१४०५. यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥३ ॥

हम शाप नहीं देते हैं; लेकिन यदि कोई हमें शाप दे, कठोर भाषा बोले, तो ऐसे शत्रु को हम वैसे ही मृत्यु के समक्ष फेंकते हैं, जैसे कुत्ते के आगे भक्षण हेतु रोटी डालते हैं ॥३ ॥

[३८ - वर्चस्य सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - बृहस्पति अथवा त्विषि । **छन्द** - त्रिष्टुप् ।]

१४०६. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१ ॥

मृगेन्द्र में, व्याघ्र में तथा सर्प में जो तेजस् है; अग्निदेव में, ब्राह्मण और सूर्यदेव में जो तेजस् है तथा जिस तेजस् से इन्द्रदेव प्रकट हुए हैं; वही वर्धमान इच्छित तेजस् हमको भी प्राप्त हो ॥१ ॥

१४०७. या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२ ॥

जो तेजस् हाथी और बाघ में है तथा जो स्वर्ण में, जल में, गौओं और मनुष्यों में रहता है, जिसने इन्द्रदेव को उत्पन्न किया है, वह दिव्य तेजस् हमारे इच्छित रूप में हमें प्राप्त हो ॥२ ॥

१४०८. रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥३ ॥

आवागमन के सांधन रथ के अक्षों में, सेचन-शक्तियुक्त वृषभ में, तीव्रगामी वायु में, वर्षाकारक मेघ में और उसके अधिपति वरुण में जो तेजस् है, जिसने इन्द्रदेव को उत्पन्न किया है ।वह 'त्विषि' दिव्य तेजस् हमें प्राप्त हो ॥

१४०९. राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४ ॥

राज्याभिषेक के समय बजने वाली दुन्दुभि में, घोड़ों के तीव्र गमन में, पुरुष के उच्चस्वर में, जो 'त्विषि' (तेजस्) है एवं जिसने इन्द्र को उत्पन्न किया है, वह त्विषि (तेजस्) दिव्यता के साथ हमें प्राप्त हो ॥४ ॥

[३९ - वर्चस्य सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - बृहस्पति अथवा त्विषि । **छन्द** - जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ।]

१४१०. यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१ ॥

अपरमित शक्ति वाली, पराभवकारक, बल देने में समर्थ, प्रसारित होने वाली यशोदायिनी हवि बढ़े । हे इन्द्रदेव ! इस बढ़ने वाली हवि से प्रसन्न होकर, आप-हम हविदाता यजमानों की श्रेष्ठ प्रगति करें ॥१ ॥

१४११. अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥२ ॥

समक्ष उपस्थित यशस्वी इन्द्रदेव की हम नमस्कारादि से पूजा एवं सेवा करते हैं। हे इन्द्रदेव ! आप हमें राज्य और यश प्रदान करें ॥२ ॥

१४१२. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥३ ॥

इन्द्रदेव एवं अग्निदेव यश की कामना करते हैं। सोमदेव भी यश की कामनासहित उत्पन्न हुए। जैसे ये सब यशस्वी बने, वैसे ही हम भी समस्त मनुष्यादि जीवों में यशस्वी बनें ॥३ ॥

[४० - अभय सूक्त]

[ऋषि – अथर्वा। देवता – १ द्यावापृथिवी, सोम, सविता, अन्तरिक्ष, सप्तर्षिगण; २ सविता, इन्द्र; ३ इन्द्र। छन्द – जगती, ३ अनुष्टुप्।]

१४१३. अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१ ॥

हे द्यावा-पृथिवि ! हम आपकी कृपा से भयभीत न रहें। अन्तरिक्ष, चन्द्रदेव एवं सूर्यदेव हमें निर्भय बनाएँ। सप्तर्षियों को प्रदत्त हवि हमें अभय प्रदान करे ॥१ ॥

१४१४. अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥२ ॥

हे सूर्यदेव ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे हम ग्राम में पर्याप्त अन्न प्राप्त करके कुशलपूर्वक रहें। इन्द्रदेव की कृपा से राजा हमसे प्रसन्न रहें। उन्हीं इन्द्रदेव की कृपा से हमें शत्रुओं का भय व्याप्त न हो ॥२ ॥

१४१५. अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप प्रसन्न होकर ऐसी कृपा करें, जिससे उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओं में हमारा कोई शत्रु न हो। हमसे कोई द्वेष न करे ॥३ ॥

[४१ - दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि – ब्रह्मा। देवता - चन्द्रमा, २ सरस्वती, ३ दिव्य ऋषिगण। छन्द – भुरिक् अनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्।]

१४१६. मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥१ ॥

मन, चित्त, बुद्धि, मति (स्मृति), श्रुति (श्रवण शक्ति) एवं चक्षुओं की वृद्धि के निमित्त हम आहुतियों द्वारा इन्द्रदेव को प्रसन्न करते हैं ॥१ ॥

१४१७. अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥२ ॥

अपान, व्यान और बहुत प्रकार से धारण करने वाले प्राण की वृद्धि के लिए हम विस्तृत प्रभावशाली सरस्वती देवी की हवि द्वारा सेवा करते हैं ॥२ ॥

१४१८. मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यॉअभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३ ॥

दिव्य सप्तर्षि हमारे शरीर की रक्षा करें । जो हमारे शरीर में उत्पन्न हुए हैं, वे हमें न त्यागें । वे अमरदेव हम मरणधर्मियों के अनुकूल रहकर हमें श्रेष्ठ और दीर्घ जीवन प्रदान करें ॥३ ॥

[४२- परस्परचित्तैकीकरण सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - मन्यु । छन्द - भुरिक् अनुष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ।]

१४१९. अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः ।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥१ ॥

धनुर्धारी पुरुष जिस प्रकार धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा को उतारता है, उसी तरह हम आपके हृदय से क्रोध को उतारते हैं; ताकि हम परस्पर मित्रवत् रह सकें ॥१ ॥

१४२०. सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते ।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥२ ॥

हम एक दूसरे से मन मिलाते हुए, एक मन होकर कार्य करें । इसीलिए हम आपके क्रोध को भारी पत्थर के नीचे फेंकते हैं ॥२ ॥

१४२१. अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३ ॥

हे क्रुद्ध (देव) ! हम आपके क्रोध को पैर के अग्रभाग एवं एड़ी से दबाते हैं । जिससे आप शान्त होकर हमारे चित्त के अनुकूल बनें और अनियंत्रित रहने की बात न करें ॥३ ॥

[४३ - मन्युशमन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - मन्युशमन । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४२२. अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥१ ॥

यह जो सामने दर्भ (कुश) खड़ा है, यह स्वयं के एवं अन्य दूसरे के क्रोध को नष्ट करने की शक्तिवाला है । यह स्वभावतः क्रोधी पुरुष एवं कारणवश क्रोध करने वाले के क्रोध को शान्त करने में समर्थ है ॥१ ॥

१४२३. अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥२ ॥

बहुत जड़ों वाला, समुद्र (जल की अधिकता) के समीप उत्पन्न होने वाला, पृथ्वी से उगा हुआ यह दर्भ क्रोध को शान्त करने वाला बतलाया गया है ॥२ ॥

१४२४. वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३ ॥

हे क्रुद्ध (देव) ! आपके हनु पर क्रोध से उत्पन्न नस की फड़कन को हम शान्त करते हैं एवं मुख-मण्डल पर क्रोध के कारण उत्पन्न चिह्नों को हम शान्त करते हैं । आप क्रोधवश विवश होकर कुछ (अनर्गल) न कहें तथा हमारे चित्त के अनुकूल रहें ॥३ ॥

[४४ - रोगनाशन सूक्त]

[ऋषि - विश्वामित्र । देवता - वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप् , ३ त्रिपदा महाबृहती ।]

१४२५. अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥१ ॥

जिस प्रकार यह ग्रह-नक्षत्रों वाला द्युलोक स्थिर है, यह पृथ्वी सभी प्राणियों की आधार है, यह भी स्थिर है, खड़े-खड़े सोने वाले ये वृक्ष भी ठहरे हैं, उसी तरह यह रोग (रक्तस्राव) ठहर जाए ॥१ ॥

१४२६. शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२ ॥

हे रोगिन् ! आपके पास जो सैकड़ों ओषधियाँ हैं एवं उनके जो हजारों प्रकार के योग हैं, उन सबसे अधिक लाभप्रद यह ओषधि है, जो रोग का शमन करने में विशिष्ट (प्रभावशाली) है ॥२ ॥

१४२७. रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३ ॥

रुद्र का मूत्र अमृतरूप रस है एवं यह विषाणका नामक ओषधि है । इनके विशेष यौगिक प्रयोग से आनुवंशिक 'वात रोग' भी अपने मूल कारण सहित नष्ट हो जाते हैं ॥३ ॥

[१- रुद्राक्ष से उत्सर्जित द्रव (तेल) , यह विशेष विधियों से निकाला जाता है । २- मेघ का उत्सर्जी द्रव अर्थात् वृष्टि जल । यहाँ जल चिकित्सा और शिवाम्बु-चिकित्सा अर्थात् मूत्र-चिकित्सा की ओर संकेत मिलता है ।]

[४५ - दुःष्वप्ननाशन सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरस् (अङ्गिरा), प्रचेता, यम । देवता - दुष्वप्ननाशन । छन्द - पथ्यापंक्ति, २ भुरिक् त्रिष्टुप, ३ अनुष्टुप् ।]

१४२८. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥१ ॥

हे पापासक्त मन ! तू अशोभन विचार वाला है, इसलिए हम तुझे नहीं चाहते । तू हमसे दूर हट जा और वृक्ष वाले वनों में विचरण कर । मेरा मन घर-परिवार एवं गौओं में उचित भाव से लगा रहे ॥१ ॥

१४२९. अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥२ ॥

निर्दयतापूर्वक निकट या दूर से की गई हिंसा के पाप एवं जागते अथवा सोते में किये गये जो पाप हैं, उन सब दुःस्वप्नों एवं दुष्कर्मों को अग्निदेव हमसे दूर करें ॥२ ॥

१४३०. यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥।

हे ब्रह्मणस्पते इन्द्रदेव ! पापों के कारण हम जिन दुःस्वप्नों से पीड़ित हैं । उन पापों से, आंगिरस मंत्रों से सम्बन्धित ज्ञानी वरुणदेव, हमें बचाएँ ॥३ ॥

[४६ - दुष्वप्ननाशन सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरस्, प्रचेता, यम । देवता - दुष्वप्ननाशन । छन्द - ककुम्मती विष्टारपंक्ति, २ त्र्यवसाना पञ्चपाद शक्वरीगर्भा जगती, ३ अनुष्टुप् ।]

१४३१. यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भो ऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारुरुर्नामासि ॥१ ॥

हे स्वप्न ! तू न जीवित है और न मृत है ; जाग्रत् अवस्था में हुए अनुभवों से पैदा हुई वासनाओं के गर्भ में तू सदा रहता है । वरुणानी तेरी माता एवं यम तेरा पिता है । तू 'अररु' नाम वाला है ॥१ ॥

१४३२. विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रो ऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥२ ॥

हे स्वप्न के अभिमानीदेव ! आपकी उत्पत्ति का हमें ज्ञान है । आप वरुणानी के पुत्र एवं यम के कार्यों के साधक हैं । हम आपको ठीक से जानते हैं । आप दुःस्वप्नों के भय से हमारी रक्षा करें ॥२ ॥

१४३३. यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥

जैसे गाय के दूषित खुर आदि अंगों को छेदित कर दूषणमुक्त करते हैं, जैसे ऋणग्रस्त व्यक्ति धन देकर ऋण मुक्त हो जाता है, वैसे दुःस्वप्नों से होने वाले भय को हम अपने से दूर करते हैं एवं शत्रुओं की ओर भेजते हैं ॥३॥

[४७ - दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरस्, प्रचेता, यम । देवता - १ अग्नि, २ विश्वेदेवा, ३ सौधन्वन् । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१४३४. अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः ।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥१ ॥

जो विश्व कर्त्ता, हितैषी एवं शान्तिदाता हैं, ऐसे हे अग्निदेव ! आप प्रातः सवन के यज्ञ में हमारी रक्षा करें । वे हमें यज्ञ के फल रूप- धन प्रदान करें एवं उनकी कृपा से हम अन्न एवं पुत्र, पौत्रादि सहित दीर्घायुष्य प्राप्त करें ॥१ ।

१४३५. विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥२ ॥

इन्द्रदेव अपने सहयोगी मरुद्गणों सहित द्वितीय सवन में हमें न त्यागें । वे हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर शतायु प्रदान करने की कृपा करें ॥२ ॥

१४३६. इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्व रानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥३ ॥

जिन्होंने सोमपान के लिए चमस नामक पात्र का निर्माण किया था, वें आंगिरस पुत्र ऋभु सुधन्वा रथ एवं चमस निर्माण कर देवत्व प्राप्त करने में सफल हुए थे । यह तृतीय सवन ऋभुओं का है, वे उत्तम फल हेतु हमें सुमति या सिद्धि प्रदान करें ॥३ ॥

[४८ - स्वस्तिवाचन सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरस्, प्रचेता, यम । देवता - १ श्येन, २ ऋभु, ३ वृषा । छन्द - उष्णिक् ।]

१४३७.श्येनो ऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥

हे यज्ञदेव ! आप बाज़ पक्षी के समान तीव्र गति वाले तथा गायत्रीच्छन्दा हैं । हम आपको धारण करते हैं । आप हमें यज्ञ के अन्तिम चरण तक पहुँचा दें । हम आपके निमित्त 'स्वाहा' प्रयोग करते हैं ॥१ ॥

१४३८. ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥

हे यज्ञदेव ! आप जगती छन्द प्रधान होने से ऋभु कहलाते हैं । आपको हम (सहारे के लिए) दण्ड स्वरूप ग्रहण करते हैं । आप हमें यज्ञ की श्रेष्ठ समापन ऋचा तक पहुँचाएँ । आपके निमित्त यह स्वाहाकार है ॥२ ॥

१४३९. वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥३॥

हे यज्ञदेव ! आप त्रिष्टुप् छन्द वाले वर्षणशील-इन्द्ररूप हैं । हम आपको प्रारम्भ करते हैं । आप हमें यज्ञ की अन्तिम उत्तम ऋचा तक पहुँचाएँ । यह स्वाहाकार आपके निमित्त है ॥३ ॥

[४९ - अग्निस्तवन सूक्त]

[ऋषि - गार्ग्य । देवता - अग्नि । छन्द - १ अनुष्टुप्, २ जगती, ३ विराट् जगती ।]

१४४०. नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः । कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥१॥

हे अग्निदेव ! आपकी काया की क्रूरता को कोई सहन नहीं कर सकता । जैसे गौएँ अपने ही उत्पन्न किये जरायु की झिल्ली (जेर) को उदरस्थ कर लेती हैं, वैसे ही अग्निदेव अपने द्वारा उत्पन्न पदार्थों को खा जाते हैं ॥१ ॥

१४४१. मेषइव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः ।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप मेष (मेढ़ा) की तरह एकत्रित होते और फैलते हैं और वनों में (दावाग्निरूप में) तृणों का भक्षण करते हैं । (शवाग्निरूप में) अपने शीर्ष (ज्वाला) से सिरों तथा रूप (तेजस्) से रूपों को दबाते हुए बभ्रुवर्ण वाले मुख से सोमलता आदि का भक्षण करते हैं ॥२ ॥

१४४२. सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥३ ॥

हे अग्ने !आपकी श्येनपक्षी के समान शीघ्रगामी ज्वालाएँ ध्वनि करती हैं एवं कृष्णमृग के समान गति करती हुई नृत्य करती हैं ।ये ज्वालाएँ धूम्र निर्माण करके मेघ बनाती हैं और जल को संसार के निमित्त धारण करती हैं ॥

[५० - अभययाचना सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अश्विनीकुमार । छन्द - विराट् जगती, २-३ पथ्यापंक्ति ।]

१४४३. हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥१ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप हिंसक चूहों का नाश कर दें । आप इनके सिर को काट दें, हड्डी -पसली चूर्ण कर दें । आप इन चूहों के मुख बन्द करके हमारी फसलों, धान्य आदि की सुरक्षा करें ॥१ ॥

१४४४. तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥२ ॥

हे हिंसा करने वाले चूहे और पतङ्गो ! ब्रह्म जैसी भयंकर, अश्विनीकुमारों के निमित्त दी जा रही यह आहुति, तुम्हें नष्ट करने के हेतु ही है ।अतः आहुति अर्पित करने के पूर्व ही तुम हमारे यवान्न आदि को छोड़कर भाग जाओ ॥

१४४५. तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वाञ्जम्भयामसि ॥३ ॥

हे चूहों एवं पतङ्गों (कीटों) आदि के स्वामिन् ! आप हमारा कथन सुनें । विभिन्न ढंग से खाने वाले, जंगल या ग्राम में रहने वाले, (सब उपद्रवियों) को इस प्रयोग के द्वारा हम नष्ट करते हैं ॥३ ॥

[५१ - एनोनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - शन्ताति । **देवता** - १-२ आप; ३ वरुण । **छन्द** - २ त्रिष्टुप्, १ गायत्री, ३ जगती ।]

१४४६. वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥१ ॥

वायु द्वारा पवित्र हुआ सोमरस मुख द्वारा सेवन करने पर अति तीव्रगत्ति से प्रत्येक शरीर में, नाभि तक पहुँच जाता है । वह सोम इन्द्र का मित्र है ॥१ ॥

१४४७. आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥२ ॥

मातृवत् पोषक जल हमें पावन बनाए । घृतरूपी जल हमारी अशुद्धता का निवारण करे । जल की दिव्यता अपने दिव्य स्रोत से सभी पापों का शोधन करे । जल से शुद्ध और पवित्र बनकर हम ऊर्ध्वगामी हों ॥२ ॥

१४४८. यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥३ ॥

हे उषे !आप स्तोताओं को धन के लिए एवं हमें सत्यभाषण के लिए प्रेरित करती हैं । आप अन्धकार का नाश करती हैं । हमें धन प्रदान करने के लिए आप स्थिरमति हों । कल्याणकारी साधनों द्वारा हमारा पालन करें ॥३ ।

[५२ - भैषज्य सूक्त]

[**ऋषि** - भागलि । **देवता** - १ सूर्य, २ गौएँ, ३ भेषज । **छन्द** - अनुष्टुप् ।]

१४४९. उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥१ ॥

पिशाचादि; रात्रि के समय अँधेरे में उपद्रव करते हैं, उन्हें समाप्त कर देने के लिए सूर्यदेव उदयाचल-शिखर पर सबके समक्ष अन्तरिक्ष में प्रकट हो रहे हैं । हमें न दिखने वाले यातुधानों को भी वे देव अपनी सामर्थ्य से विनष्ट कर दें ॥१ ॥

१४५०. नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।
न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥२ ॥

सूर्यदेव के प्रकट होने से अन्धकार में छिपी नदियों की लहरें एवं प्रवाह अब स्पष्ट दिखने लगे हैं । जंगली हिंसक पशु भी जंगलों में बैठ गए तथा हमारी गौएँ अब निर्भय होकर गोशाला में बैठ गई हैं ॥२ ॥

१४५१. आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥३ ॥

दीर्घ आयु प्रदान करने वाली एवं रोग नष्ट करने में समर्थ महर्षि कण्व द्वारा निर्दिष्ट (चित्ति-प्रायश्चित्ति) ओषधि हमने प्राप्त कर ली है । यह ओषधि अदृश्य जीवाणुओं को कारण सहित नष्ट करके रोग से हमें पूर्णतः मुक्त करे ॥३॥

[५३ - सर्वतोरक्षण सूक्त]

[ऋषि - बृहच्छुक्र । देवता - द्यौ, पृथिवी, शुक्र, सोम, अग्नि, वायु, सविता, २ वैश्वानर, ३ त्वष्टा । छन्द - त्रिष्टुप्, १ जगती ।]

१४५२. द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥१ ॥

द्यावा-पृथिवी हमें मनोवांछित फल प्रदान करें । सूर्यदेव धन, वस्त्रादि प्रदान करते हुए दक्षिण दिशा से हमारी रक्षा करें । पितर सम्बन्धी स्वधा के अभिमानी देवता कृपा करके हमें अन्नादि प्रदान करें । अग्निदेव, सवितादेव, वायुदेव, भगदेव एवं सोमदेव आदि भी हमारे अनुकूल रहें ॥१ ॥

१४५३. पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२ ॥

जीवन का आधार 'प्राण' हमें पुन: प्राप्त हो, जीवन हमें पुन: प्राप्त हो, आँख और प्राण हमें फिर से प्राप्त हों । हे सर्वहितैषी, अदम्य, नेतृत्वक्षमता युक्त अग्निदेव !आप हमारे शरीर में स्थित रहकर रोगादि पापों को नष्ट करें ॥२॥

१४५४. सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥३ ॥

तेजस् तथा पयस् से हमारे शरीर के अंग-अवयव कान्तियुक्त हों एवं मन कल्याणकारी हो । त्वष्टादेव अपने ही हाथों से रोगपीड़ित काया को शोधित करके और अधिक श्रेष्ठ, स्वस्थ एवं कान्तियुक्त बनाएँ ॥३ ॥

[५४ - अमित्रदम्भन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - अग्नीषोम । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४५५. इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥१ ॥

हम इस (व्यक्ति) को आपके साथ संयुक्त करते हैं । हे देव ! आप प्रसन्न होकर इसके बल, धन एवं अन्य महत्त्वपूर्ण सम्पदा की उसी प्रकार वृद्धि करें, जिस प्रकार वर्षा का जल घास को बढ़ाता है ॥१ ॥

१४५६.अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम्॥

हे अग्निदेव ! यजमान को श्रेष्ठ फल प्राप्त हो, इस निमित्त हम यह उत्तम कर्म (यज्ञादि) करते हैं । हे सोमदेव ! इस यजमान को पुन: बल एवं धन प्रदान करें ॥२ ॥

१४५७.सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥

हे इन्द्रदेव ! आप उन शत्रुओं का संहार करें, जो हिंसक हैं । हे इन्द्रदेव ! आप स्वगोत्र या अन्य गोत्र वाले उन दोनों प्रकार के शत्रुओं को सोम का अभिषव करने वाले इस यजमान के वश में करें ॥३ ॥

[५५ - सौमनस्य सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - १ विश्वेदेवा, २-३ रुद्र । छन्द - १,३ जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

१४५८. ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।

तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१ ॥

हे देवताओ ! आप हमें वह (देवयान) मार्ग दिखाएँ, जिस मार्ग से देवता गण जाते हैं और जो द्यावा-पृथिवी के मध्य स्थित है ॥१ ॥

१४५९. ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।

आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥२ ॥

ग्रीष्मादि ऋतुओं के अधिष्ठाता देवगण हमें उत्तम रीति से प्राप्त होने वाले धन से सम्पन्न करें । जिस प्रकार हम गृह के आश्रय में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहते हैं, उसी प्रकार आपके आश्रित रहकर गौ, पुत्र-पौत्रादि से युक्त होकर सुखपूर्वक रहें ॥२ ॥

१४६०. इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।

तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥३ ॥

हे मनुष्यो ! इदावत्सर, परिवत्सर और सम्वत्सर के प्रति अनेकों प्रकार से नमस्कारों द्वारा उन्हें प्रसन्न करो । इदावत्सरादि की कृपा-अनुग्रह से यज्ञादि करने की सद्बुद्धि मिले एवं उसके सुफलों को भी हम प्राप्त करें ॥३ ॥

[५६ - सर्परक्षण सूक्त]

[ऋषि- शन्ताति । देवता - १ विश्वेदेवा, २-३ रुद्र । छन्द - उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्ति, २ अनुष्टुप्, ३ निचृत् अनुष्टुप्]

१४६१. मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान् ।

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥१ ॥

सर्प हमारी एवं हमारे पुत्र-पौत्रादि की हिंसा न कर सकें । सर्प का बन्द मुख बन्द रहे एवं खुला मुख खुला ही रह जाए, (उस उद्देश्यपूर्ति में सहायक) ऐसे देवताओं को नमस्कार है ॥१ ॥

१४६२. नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये । स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥२ ॥

काले वर्ण वाले सर्पराज को नमस्कार, तिरछी लकीरों वाले और बभ्रु वर्ण वाले 'स्वज' नामक सर्पों को नमस्कार एवं इनके नियामक देवों को नमस्कार है ॥२ ॥

१४६३. सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू । सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम्

हे सर्प ! तेरी ऊपर एवं नीचे की दन्त-पंक्तियों को आपस में मिलाता हूँ । तेरी ठोढ़ी के ऊपर तथा नीचे के भागों को सीता हूँ । दोनों जीभों को सटाता हूँ । अनेक फन एक साथ बाँधता हूँ ॥३ ॥

[५७ - जलचिकित्सा सूक्त]

[ऋषि - शन्ताति । देवता - रुद्र । छन्द - अनुष्टुप्, ३ पथ्याबृहती ।]

१४६४. इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् । येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥

निश्चितरूप से यह ओषधि है, यह रुद्रदेव की ओषधि है । इसका प्रयोग, एक दण्ड (डण्डे) के माध्यम से अनेक शल्य वाले बाण के व्रण को दूर करने (ठीक करने) में किया जाता है ॥१ ॥

१४६५. जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।

जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥२ ॥

(हे परिचारको !) आप (ओषधियुक्त या मंत्र सिद्ध या शुद्ध) जल से (रोगी या रोगयुक्त अंगों को) पूरी तरह

से या आंशिकरूप से सिंचित करें (धोएँ या प्रभावित करें) । यह रोग नष्ट करने वाली उग्र ओषधि है । हे रुद्रदेव ! आपकी इस ओषधि से हमें सुख प्राप्त हो ॥२ ॥

१४६६. शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३ ॥

हे देव ! हमसे रोगजनित दुःखादि दूर रहें । हमारे पशु एवं प्रजा रोग - मुक्त रहें । रोग के मूलभूत कारण 'पापों' का नाश हो । समस्त जगत् के स्थावर- जंगम प्राणियों एवं कर्मों की रोगनाशक शक्ति का हमें ज्ञान हो ॥३॥

[५८ - यशःप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - बृहस्पति (१-२ इन्द्र, द्यावापृथिवी, सविता, ३ अग्नि, इन्द्र, सोम) । छन्द - जगती, २ प्रस्तार पंक्ति, ३ अनुष्टुप् ।]

१४६७. यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१ ॥

धनवान् इन्द्रदेव, द्यावा-पृथिवी एवं सवितादेव हमें यश प्रदान करें । हम दक्षिणा प्रदान करने वालों के प्रिय हो जाएँ ॥१ ॥

१४६८. यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२ ॥

जैसे आकाश से पृथ्वी पर जल-वर्षा करने से इन्द्रदेव यशस्वी हैं, जल ओषधियों में यशस्वी है । उसी प्रकार सब देवताओं एवं मनुष्यों में हम यश को प्राप्त करें ॥२ ॥

१४६९. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥३ ॥

इन्द्रदेव, अग्निदेव एवं सोमदेव आदि जैसे यशस्वी हुए हैं, उसी प्रकार बल चाहने वाले हम सब प्राणियों में यशस्वी बनें ॥३॥

[५९ - ओषधि सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - रुद्र, अरुन्धती, ओषधि । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४७०. अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥१॥

हे अरुन्धती - दिव्य ओषधे ! आप बैलों को, गौओं को, अन्य चार पाँव वाले पशुओं को एवं पक्षियों को सुख प्रदान करें ॥१ ॥

१४७१.शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती । करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥

यह (सहदेवी) ओषधि हमें सुख प्रदान कर हमारे गोत्र को दुग्ध - सम्पन्न बनाए एवं हमारे पुत्र-पौत्रादि को रोग मुक्त करे ॥२ ॥

१४७२.विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥

हे (सहदेवी) ओषधे ! अनेक रूपों वाली, सौभाग्यशालिनी एवं जीवनदायिनी आप रुद्र द्वारा फेंके गये शस्त्र अर्थात् रोगों से हमारे पशुओं को कृपा करके बचाएँ ॥३ ॥

[६० - पतिलाभ सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अर्यमा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४७३. अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये॥

प्रशंसनीय सूर्यदेव पूर्व दिशा से उदित हो रहे हैं । वे स्त्रीरहित पुरुष को स्त्री एवं कन्या को पति प्राप्त कराने की इच्छा से उदीयमान हो रहे हैं ॥१ ॥

१४७४. अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती । अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥

हे अर्यमन् (सूर्यदेव) ! ये पति की कामना वाली कन्याएँ अब तक पति न मिलने के कारण खिन्न हो रही हैं । हे अर्यमन् ! अन्य कन्याएँ भी इनके प्रति शान्ति कर्म करने में संलग्न हैं ॥२ ॥

१४७५. धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥३ ॥

समस्त विश्व के धारणकर्त्ता ने पृथ्वी, द्युलोक और सविता को अपने-अपने स्थान में धारण किया । वे धातादेव ही इन पति- अभिलाषिणी कन्याओं को इच्छित पति प्रदान करने की कृपा करें ॥३ ॥

[६१ - विश्वस्त्रष्टा सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - रुद्र । छन्द - १ त्रिष्टुप्, २-३ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१४७६. मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१ ॥

सर्वप्रेरक सूर्यदेव ने सुखदायक तेजस् सब ओर भर दिया है । जल के अधिष्ठातादेव मधुर जल प्रदान करें । तपः से उत्पन्न देवता हमें इष्ट फल प्रदान करें तथा सवितादेव हमारे लिए विस्तृत हों ॥१ ॥

१४७७. अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२ ॥

(सूर्य या रुद्रदेव की ओर से कथन) मैंने द्युलोक एवं पृथ्वी को अलग किया है । वसन्त आदि छह ऋतुओं और (संसर्पांहस्पति नामक अधिमास रूप) सातवीं ऋतु को मैंने ही बनाया है । मानवी (सत्यासत्य) एवं दैवी वाणी का वक्ता मैं ही हूँ ॥२ ॥

१४७८. अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥३ ॥

पृथ्वी, स्वर्ग , गंगादि सात नदियों एवं सात समुद्रों का उत्पादक मैं हूँ । मैं ही सत्यासत्य का वक्ता तथा मित्र, अग्नि और सोम को एक साथ संयुक्त करता हूँ ॥३ ॥

[६२ - पावमान सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - रुद्र (वैश्वानर, वात, द्यावापृथिवी) । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१४७९. वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१ ॥

समस्त मनुष्यों में व्याप्त अग्निदेव अपनी किरणों द्वारा, वायुदेव प्राण द्वारा, जल अपने रसों से तथा रस एवं जलतत्त्व धारण करने वाली द्यावा-पृथिवी अपने पोषक रस से हमें पवित्र बनाएँ । ।१ ॥

१४८०. वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।

तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२ ॥

हे मनुष्यो ! वैश्वानर सम्बन्धी सत्य स्तुति प्रारम्भ करो । जिस वाणी के शरीर के पृष्ठ भाग विस्तृत हैं, उस वाणी से (स्तुति से) वैश्वानर अग्निदेव प्रसन्न होकर धन प्रदान करें ॥२ ॥

१४८१. वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।

इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥३ ॥

शुद्ध पवित्र होकर तथा दूसरों को पवित्र करते हुए वैश्वानर अग्निदेव की स्तुति करें । अन्न से हृष्ट-पुष्ट रहते हुए चिरकाल तक सूर्यदेव का दर्शन करें अर्थात् स्वस्थ रहते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त करें ॥३ ॥

[६३ - वर्चोबलप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - द्रुह्वण । देवता - १-३ निर्ऋति, यम, मृत्यु; ४ अग्नि । छन्द - १ जगती, २ अतिजगतीगर्भा जगती, ४ अनुष्टुप् ।]

१४८२. यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।

तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१ ॥

(हे पुरुष !) देवी निर्ऋति (अविद्या) ने आकर्षक रूप से मोहित कर तेरे गले में, जो बन्धन बाँध रखा है, मैं आयु , बल एवं तेजस्विता के लिए उस पाप रूप रस्सी से तुझे मुक्त करता हूँ । तुम हर्षदायी अन्न ग्रहण करो ॥१ ॥

१४८३. नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२ ॥

हे निर्ऋते ! आपको नमस्कार है, आप लौह- बन्धन से हमें मुक्त करें । यम ने तुम्हें पुनः मेरे अधीन कर दिया है । उन यमदेव के निमित्त नमस्कार है ॥२ ॥

१४८४. अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥३ ॥

हे निर्ऋते !जब आप पुरुष को लौह- बन्धन से बाँधती हैं, तब मृत्यु के ज्वर आदि रूप दुःखों के सहस्रों पाशों से वह बँध जाता है ।अपने अधिष्ठाता देव यम एवं पितरों की सहमति से इसे आनन्दमय स्वर्ग में पहुँचा दें ॥३ ॥

१४८५. संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ । इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥

हे इच्छित कामनाओं के पूरक अग्निदेव ! आप यज्ञ वेदी पर देदीप्यमान हों । आप सब प्रकार के धन के स्वामी हैं, अतः प्रसन्न होकर हमें धन प्रदान करें ॥४ ॥

[६४ - सांमनस्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - विश्वेदेवा, मन । छन्द - अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

१४८६. सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१ ॥

(हे साधको !) जिस प्रकार पूर्व समय से ही देवगण संयुक्त होकर अपने भागों (सौंपे गये हव्य-दायित्वों) को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम समान रूप से (सहयोगपूर्वक) ज्ञान प्राप्त करो, परस्पर मिलकर (संगठित होकर) रहो तथा तुम्हारे मन संयुक्त होकर अपना प्रभाव प्रकट करें ॥१ ॥

१४८७. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥२ ॥

हे स्तोताओ ! आप सभी के विचार तन्त्र (मन, बुद्धि, चित्त) तथा व्रत- सिद्धान्त समान हों । मैं आपके जीवन को एक ही मन्त्र से अभिमंत्रित (सुसंस्कृत) करता हूँ और एक समान आहुति प्रदान करके यज्ञमय बनाता हूँ ॥२ ॥

१४८८.समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

हे स्तोताओ (मनुष्यो) ! तुम्हारे हृदय (भावनाएँ) एक समान हों, तुम्हारे मन (विचार) एक जैसे हों, संकल्प (कार्य) एक जैसे हों; ताकि तुम संगठित होकर अपने सभी कार्य पूर्ण कर सको ॥३ ॥

[६५ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्र, इन्द्र अथवा पराशर । छन्द - १ पथ्यापंक्ति, २-३ अनुष्टुप् ।]

१४८९. अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा ।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥१ ॥

(शत्रु के) क्रोध एवं शस्त्रास्त्र दूर हों । शत्रुओं की भुजाएँ अशक्त एवं मन साहसहीन हों । हे दूर से ही शर-संधान में निपुण देव ! आप उन शत्रुओं के बल को पराङ्मुख करके नष्ट करें तथा उनके धन हमें प्रदान करें ॥१ ॥

१४९०. निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ । वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥२

हे देवताओ ! आप असुरों की भुजाओं की सामर्थ्य को क्षीण करने के लिए जिन बाणों का प्रयोग करते हैं । उसी से आहुति के द्वारा हम शत्रुओं की भुजाओं को काटते हैं ॥२ ॥

१४९१. इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥३

प्राचीनकाल में जिन इन्द्रदेव ने असुरों को बाहुबल से हीन कर दिया था, उन्हीं की कृपा - सहायता से हमारे पराक्रमी वीर योद्धा शत्रुओं को जीतें ॥३ ॥

[६६ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्र अथवा इन्द्र । छन्द - १ त्रिष्टुप्, २-३ अनुष्टुप् ।]

१४९२. निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव ! हम पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं का भुजबल क्षीण हो । जो शत्रु सैन्य सहित हमसे संग्राम करने के लिए आते हैं, आप उन्हें अपने घोर संहारक (वज्र) से नष्ट करें और जो विशेष घात करने वाले हों, वे वीर भी विद्ध होकर भाग जाएँ ॥१ ॥

१४९३. आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥२ ॥

हे शत्रुओ ! धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए हम पर बाण बरसाने वाले एवं दौड़कर आने वाले तुम्हें इन्द्रदेव पराजित करके मार डालें ॥२ ॥

१४९४. निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥३ ॥

हमारे शत्रुओं का भुजबल समाप्त हो जाए । उनके अङ्ग शक्तिहीन हो जाएँ । हे इन्द्रदेव ! आपकी कृपा से शत्रुओं की सम्पत्ति हम प्राप्त करें ॥३ ॥

[६७ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्र अथवा इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१४९५. परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥१ ॥

हे इन्द्र और पूषा देवो ! शत्रुसेना अतिमोहवश उचित निर्णय न ले सके । आप उन शत्रुओं के मार्गों को अवरुद्ध कर दें ॥१ ॥

१४९६. मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः । तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ।

हे शत्रुओ ! इन्द्रदेव तुम्हारे प्रधान वीरों का संहार कर दें और तुम फन कटे सर्प की तरह, तेजहीन, ज्ञान-शून्य हुए व्यर्थ ही संग्राम स्थान में भटकते रहो ॥२ ॥

१४९७. ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि । पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥३॥

हे कामनाओं की पूर्ति करने वाले इन्द्रदेव ! आप हमारे इन वीरों को काले मृगचर्म (कवचरूप में) पहना दें और शत्रुओं में भय उत्पन्न करें, जिससे पराजित होकर भागे हुए उन शत्रुओं के धन, गौएँ आदि हमें प्राप्त हो जाएँ ॥

[६८ - वपन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १ सविता, आदित्यगण, रुद्रगण, वसुगण; २ अदिति, आपः, प्रजापति; ३ सविता, सोम, वरुण ।छन्द - १ चतुष्पदा पुरोविराट् अतिशाक्वरगर्भा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप् ।]

१४९८. आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥१ ॥

सर्वप्रेरक सवितादेव मुण्डन करने वाले छुरे सहित आए हैं । हे वायुदेव ! आप भी सिर को गीला करने के निमित्त उष्ण जल सहित आएँ । रुद्र एवं आदित्यगण एकचित्त होकर बालक के सिर को गीला करें । हे ज्ञानवानो ! आप सोम के केशों का मुण्डन करें ॥१ ॥

१४९९. अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥२ ॥

अदिति माता इसके बालों का वपन करें, जलदेव अपने तेजस् से बालों को गीला करें । दीर्घायु और दर्शन शक्ति के लिए प्रजापति इसकी चिकित्सा करें ॥२ ॥

१५००. येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥३ ॥

ज्ञानी सवितादेव ने राजा सोम का जिस उस्तरे से मुण्डन किया था । हे ब्राह्मणो ! ऐसे छुरे (उस्तरे) से आप इसके बालों का मुण्डन करें । इस श्रेष्ठ संस्कार के द्वारा ये गौएँ, घोड़े, पुत्र- पौत्रादि से समृद्ध हों ॥३ ॥

[यहाँ मुण्डन की क्रिया स्थूल-सूक्ष्म विकारों के निवारण की क्रिया है । मुण्डन के उपलक्षण से प्रकृति एवं प्राणियों में होने वाली व्यापक प्रक्रिया का उल्लेख है । बालों को जड़ से काटने के लिए उन्हें जल से गीला - मुलायम करके तेजधार के उपकरण (छुरे) से हटाया जाता है । सूक्ष्म विकारों के निवारण में भी इसी प्रकार स्नेह रूप जल से मुलायम करके तेजस्विता की धार से काटना उचित होता है । सवितादेव तेजस्वी किरणों से सोम (पोषक- प्रवाहों) के विकारों को उच्छेदित करते रहते हैं ।]

[६९ - वर्चस् प्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वा । **देवता** - बृहस्पति, अश्विनीकुमार । **छन्द** - अनुष्टुप् ।]

१५०१. गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥१ ॥

हिमवान् पर्वत में, रथारूढ़ वीरों के जयघोषों में, स्वर्ण तथा गौओं के दुग्ध प्रदान करने में जो यश है तथा पर्जन्य धारा और अन्न के मधुर रस में जो मधुरता है, वह हमें भी प्राप्त हो ॥१ ॥

१५०२. अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥२ ॥

हे कल्याण करने वाले अश्विनीकुमारो ! आप हमें मधु के मधुर तत्त्व से युक्त करें, जिससे हमारी वाणी मधुर हो । लोगों के प्रति हम मधुर एवं भर्गः शक्तिसम्पन्न वाणी बोलें ॥२ ॥

१५०३.मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः । तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥

अन्न एवं यज्ञ के फलरूप सार में जो यश है तथा मुझ में जो तेजस्विता है, उसे प्रजापतिदेव, उसी प्रकार सुदृढ़ करें, जिस प्रकार द्युलोक में दीप्ति को स्थिर किया है ॥३ ॥

[७० - अघ्न्या सूक्त]

[**ऋषि** - काङ्कायन । **देवता** - अघ्न्या । **छन्द** - जगती ।]

१५०४. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः । एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥१ ॥

जैसे मांसाहारी को मांस, शराबी को शराब, जुआरी को पासे एवं कामी पुरुष को स्त्री प्रिय होते हैं । वैसे ही हे अवध्य (गौ या प्रकृति) माता ! आप अपने बछड़े (बच्चों) से प्रेम करें ॥१ ॥

१५०५. यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः । एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥२ ॥

जैसे हाथी, हथिनी के पैर के साथ पैर मिलाने पर प्रसन्न होता है एवं कामी पुरुष का मन स्त्रियों में रमा रहता है, वैसे ही हे अबध्य (माँ) ! आपका मन बछड़े से जुड़ा रहे ॥२ ॥

१५०६. यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः । एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥३ ॥

जैसे रथ में चक्र को धुरी दृढ़ता से जोड़े रखती है और जैसे कामी पुरुष का मन स्त्री में रमा रहता है, वैसे ही (हे मातः !) आप अपने बछड़े से जुड़ी रहें ॥३ ॥

[७१ - अन्न सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - १-२ अग्नि, ३ विश्वेदेवा । छन्द - जगती, ३ त्रिष्टुप् ।]

१५०७. यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥१ ॥

हमने जो विविध प्रकार के अन्न तथा जो सुवर्ण, घोड़ा, गौ, बकरी, भेड़ आदि का संग्रह कर लिया है; अग्निदेव उस सम्पदा को प्रतिग्रह - दोष से मुक्त कर सुहुत (यज्ञीय संस्कार युक्त) बनाएँ ॥१ ॥

१५०८. यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥२ ॥

यज्ञ से संस्कारित एवं असंस्कारित दोनों प्रकार के जो द्रव्य; पितरों, देवताओं और मनुष्यों द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं, जिससे हमारे मन में हर्षातिरेक हो रहा है; उन सभी को अग्निदेव सुहुत (यजनीय) बनाएँ ॥२ ॥

१५०९. यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३ ॥

हे देवताओ ! असत्य व्यवहार से खाये गये अन्न एवं लिये गये ऋण को बिना चुकता किये, हम जो संग्रह करते हैं, वह अन्न वैश्वानर- अग्निदेव की कृपा से हमारे लिए मधुर और कल्याणकारी बने ॥३ ॥

[७२ - वाजीकरण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वाङ्गिरा । देवता - शेपोऽर्क । छन्द - जगती, २ अनुष्टुप्, ३ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

१५१०. यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥१ ॥

जिस प्रकार बन्धनरहित पुरुष आसुरी माया द्वारा विविध रूपों का सृजन करता है । उसी प्रकार (हे देव !) आप प्रजननाङ्ग को संतानोत्पत्ति हेतु समर्थ बनाएँ ॥१ ॥

१५११. यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥२ ॥

सन्तति उत्पादन हेतु समर्थ जैसा शरीराङ्ग होता है, वैसा पूर्णपुरुष जैसा तुम्हारा भी अंग सन्तानोत्पादक हो ॥२॥

१५१२. यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥३ ॥

जिस प्रकार वन्य पशु, हाथी, घोड़ा आदि अपने शरीराङ्ग को पुष्ट तथा वीर्यवान् बनाए रखते हैं, उसी प्रकार इस पुरुष के अंग सुदृढ़ तथा पूर्णपुरुष के समान परिपुष्ट हों ॥३ ॥

[७३ - सांमनस्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - सांमनस्य, वरुण, सोम अग्नि, बृहस्पति, वसुगण; ३ वास्तोष्पति । छन्द - भुरिक् अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

१५१३. एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।

अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥१ ॥

अग्निदेव, सोमदेव, वरुणदेव यहाँ आएँ । समस्त देवों के स्वामी बृहस्पतिदेव आठों वसुओं के साथ आएँ । हे समान जन्म वाले ! आप समान मन वाले होकर इस उग्र चेतना सम्पन्न को श्री - सम्पन्न बनाएँ ॥१ ॥

१५१४. यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।

तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२ ॥

हे बान्धवो ! जो बल आपके हृदय में है एवं जो संकल्प आपके मन में है, उनको हविष्यान्न एवं घृत के द्वारा परस्पर सम्बद्ध करते हैं । श्रेष्ठ कुलोत्पन्न आपकी रुचि हमारी ओर बनी रहे ॥२ ॥

१५१५. इहैव स्त माप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।

वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३ ॥

हे बान्धवो ! आप हमसे अलग न जाएँ , हमसे स्नेहपूरित व्यवहार करें । मार्ग रक्षक पूषा देवता आपको हमारे प्रतिकूल चलने पर रोकें । वास्तोष्पति देवता हमारे लिए आपको अनुकूलतापूर्वक बुलाएँ ॥३ ॥

[७४ - सांमनस्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - सांमनस्य, नाना देवता, त्रिणामा । छन्द - अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।]

१५१६. सं वः पृच्यन्तां तन्व१ः सं मनांसि समु व्रता ।

सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥१ ॥

हे सांमनस्य चाहने वालो ! आपके तन और मन परस्पर स्नेह से मिले रहें । कर्म भी परस्पर मिल-जुलकर श्रेष्ठ ढंग से सम्पन्न हों । भगदेव और ब्रह्मणस्पतिदेव तुमको हमारे लिए बारम्बार बुलाएँ ॥१ ॥

१५१७. संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥२ ॥

हे मन की समानता के इच्छुक ! भगदेवता के श्रमपूर्वक किये गये तप जैसे श्रेष्ठ कर्म के द्वारा हम आपको समान ज्ञान वाला बनाते हैं, जिससे आपके मन और हृदय समान ज्ञान से सम्पन्न बनें ॥२ ॥

१५१८. यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।

एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥३ ॥

अदिति के पुत्र मित्रावरुण जिस प्रकार आठ वसुओं के साथ एवं उग्र रुद्र अपनी उग्रता को त्यागकर मरुद्‌गणों के साथ समान ज्ञान सम्पन्न हुए, उसी प्रकार हे तीन नामों वाले अग्निदेव ! आप क्रोध को त्याग कर इन सांमनस्य के इच्छुक मनुष्यों को परस्पर मिलाएँ ॥३ ॥

[७५ - सपत्नक्षयण सूक्त]

[ऋषि - कबन्ध । देवता - इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप्, ३ षट्पदा जगती ।]

१५१९.निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति । नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥१ ।

शत्रुओं की जो सेना हमको पीड़ा पहुँचाने के लिए एकत्रित हो रही है, वह अपने स्थान से पतित हो जाए । शत्रु नाश के लिए अर्पित आहुतियों से इन्द्रदेव प्रसन्न होकर शत्रुओं का नाश करें ॥१ ॥

१५२०.परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा । यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२ ।

वृत्रासुर के संहारकर्त्ता इन्द्रदेव उस शत्रु को दूरस्थ स्थान तक खदेड़ दें, जहाँ से वह सैकड़ों वर्षों में भी लौटकर न आ सके ॥२ ॥

१५२१. एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति । एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥३ ॥

वह शत्रु तीनों भूमि तथा पाँचों प्रकार के जनों से दूर चला जाए । वह ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ सूर्य और अग्नि का प्रकाश भी न हो । द्युलोक में जब तक सूर्यदेव हैं, तब तक वह लौट न सके ॥३ ॥

[७६ - आयुष्य सूक्त]

[ऋषि - कबन्ध । देवता - सान्तपनाग्नि । छन्द - अनुष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप् ।]

१५२२. य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे । संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥

जो जन इस अग्नि (यज्ञ) के चारों ओर उपासना करने के लिए बैठते हैं तथा दिव्य दृष्टि के लिए इसका आधान करते हैं, उनके हृदयों में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो ॥१ ॥

१५२३. अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे । अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥२ ॥

उस तपने वाले ज्ञानाग्नि को हम आयुष्य वृद्धि के लिए प्राप्त करते हैं । जिससे प्रकट धूम्र को अद्धाति (ऋषि या ज्ञानीजन) मुख से निकलता हुआ देखते हैं ॥२ ॥

[निकलने वाले धूम्र से अग्नि के होने का पता चलता है । जब अन्तःकरण में दिव्य ज्ञानाग्नि जाग्रत् होती है, तो उसका प्रमाण मुख से निकलने वाली वाणी से प्रकट होता है । दिव्य अग्नि के दिव्य धूम्र को ज्ञानी जन ही पहचान पाते हैं ।]

१५२४. यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् । नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥३ ॥

जो क्षत्रिय पुरुष विधिवत् स्थित अग्नि की (सन्दीपनी) आहुति का ज्ञाता है, वह कुटिल (छलपूर्ण) क्षेत्रों में (भ्रमित होकर) मृत्यु की दिशा में पैर आगे नहीं बढ़ाता ॥३ ॥

१५२५. नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति । अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृहणात्यायुषे ॥४ ॥

ऐसा ज्ञाता क्षत्रिय दीर्घजीवन की कामना से अग्निदेव का स्तोत्र पाठ करता है, उसे घेरने वाले शत्रु भी नहीं मार सकते ॥४ ॥

[७७ - प्रतिष्ठापन सूक्त]

[ऋषि - कबन्ध । देवता - जातवेदा (अग्नि) । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५२६. अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् । आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥१ ॥

द्युलोक, भूलोक एवं दोनों के मध्य सम्पूर्ण जगत् अपने-अपने स्थान एवं मर्यादा में स्थिर हैं, पर्वत भी अपने-अपने स्थान में स्थिर हैं , वैसे ही हम स्थाम्नि(अपनी गमनशील शक्तियों को आत्मशक्ति) द्वारा मर्यादा में स्थिर करते हैं ॥१ ॥

१५२७. य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम् ।आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥

जो गो (इन्द्रियादि शक्तियों) के पालनकर्त्ता (प्राण, मन आदि) परम स्थान पाकर भी निम्न स्थानों की ओर (प्राणियों में) आते हैं तथा जिनमें सर्वत्र आने-जाने की सामर्थ्य है, हम उनका आवाहन करते हैं ॥२ ॥

१५२८. जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः । सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप इन शक्तियों को (निम्न गमन से) लौटाएँ । आने के लिए आपके पास सहस्रों मार्ग हैं । उनसे हमें आप समर्थ बनाएँ ॥३ ॥

[७८ - धनप्राप्तिप्रार्थना सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १-२ चन्द्रमा, रयि (धन) ३ त्वष्टा (दीर्घायु) । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५२९. तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः ।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥१ ॥

प्रदत्त हवि इस (पुरुष) को एवं जो स्त्री इसे प्रदान की गयी है, उसे भी बारम्बार पुष्ट करे । पुष्टिकारक रसों से इन दोनों की वृद्धि हो ॥१ ॥

१५३०.अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् । रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥

पति-पत्नी दोनों दुग्धादि से पुष्ट हों, राष्ट्र के साथ विकसित हों तथा अनेक प्रकार के तेजस्वी ऐश्वर्य से ये दोनों परिपूर्ण रहें ॥२ ॥

१५३१. त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥३ ॥

त्वष्टादेव ने इस स्त्री को उत्पन्न किया है, हे पति ! आपको भी त्वष्टादेव ने इस स्त्री के लिए उत्पन्न किया है । वे त्वष्टादेव ही आप दोनों को दीर्घायुष्य प्रदान कर, सहस्रों वर्षों तक जीवनयापन करने वाला बनाएँ ॥३ ॥

[७९ – ऊर्जाप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - संस्फान । छन्द - गायत्री, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती ।]

१५३२. अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः ॥१ ॥

अग्निदेव आहुतियों को द्युलोक तक पहुँचाते हैं, इसलिए पालक कहलाते हैं । वे अग्निदेव हमारे घरों को धन-धान्य आदि सामग्री से भरपूर रखें ॥१ ॥

१५३३. त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥२ ॥

हे अन्तरिक्ष के स्वामी वायुदेव ! आप हमारे घरों को बलवर्द्धक रसमय अन्न से भरें । प्रजा, पशु तथा अन्य पुष्टिकारक धन-धान्य भी हमें प्राप्त हो ॥२ ॥

१५३४. देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे ।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥३ ॥

हे आदित्यदेव ! आप हजारों पोषक सम्पदाओं के ईश्वर हैं । आप अपनी उन सम्पदाओं को हमें प्रदान करें । आपकी कृपा-अनुग्रह से हम ऐश्वर्य के भागीदार बनें ॥३ ॥

[८० - अरिष्टक्षयण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - चन्द्रमा । छन्द - भुरिक् अनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ प्रस्तार पंक्ति ।]

इस सूक्त में 'कालकाञ्जो' तथा 'देवस्य शुनः' - देवलोक के श्वानों का उल्लेख है । इनके गूढ़ार्थ विचारणीय हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा काठक संहिता में 'कालकाञ्जों ' का उपाख्यान है । वे तीन असुर (शक्तिशाली) थे; जिन्होंने स्वर्ग प्राप्ति हेतु इष्टकाओं (यज्ञाग्नि) का चयन किया । इन्द्र ने इष्टकाओं को अपने अधिकार में ले लिया, तब उन असुरों ने स्वर्ग पर आक्रमण किया । उसे अपने अधिकार में लिया, तो इन्द्र ने 'इष्टका' का प्रहार किया । उससे वे बिचक गये तथा बिखर गये । उस बिखराव से दो बड़े अंश दिव्य श्वान बने ।

ऐसी कथाएँ आलंकारिक होती हैं । 'काल' का अर्थ होता है- 'समय' तथा 'कञ्ज' का अर्थ है 'कमल' । इस आधार पर 'कालकाञ्ज' समयरूपी कमल का बोध कराने वाला होता है । विज्ञान के मतानुसार समय का बोध पदार्थ की गति के सापेक्ष है । जब पदार्थ के तीन शक्तिशाली घटक (असुर) धन विभव (+ चार्ज) युक्त, ऋण विभव (-चार्ज) युक्त तथा उदासीन (न्यूट्रल) कण उत्पन्न होकर गतिशील हुए, तभी प्रथम बार समय का बोध हुआ । अतः वे कालकाञ्ज कहलाए । उन्होंने इष्टकाओं (उर्जा की सूक्ष्म इकाईयों) को एकत्रित किया । इन्द्र (नियामक शक्ति) ने उन पर इष्टका (ऊर्जाकणों) का प्रहार किया, तो वे पदार्थ समूहों में बिखर गये । उस प्रक्रिया में दो बड़े गतिशील पिण्ड (सूर्य एवं चन्द्र) उत्पन्न हुए ; जो द्युलोक के शुनः (फूले हुए) कहलाये । इन्द्र शक्ति के दबाव से सूक्ष्म असुर कणों के घनीभूत होने से ठोस पिण्ड (पृथ्वी जैसे) बन गये तथा जो भाग शुनः फूले हुए रह गये, वे सूर्य जैसे तारे बन गये । अधिकांश आचार्यों ने देवस्य शुनः को सूर्य के सन्दर्भ में लिया भी है । काल का बोध सूर्य एवं चन्द्र की सापेक्ष गति से होता है । इसलिए उन्हें 'कालकञ्ज' कहना भी उचित है । उक्त दृष्टि से मन्त्रों के अर्थों की ठीक-ठीक सिद्धि भी होती है-

१५३५. अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥१ ॥

विश्व के भूतों (पदार्थों - प्राणियों) को प्रकाशित करता हुआ, जो अन्तरिक्ष से अवतरित होता है । उस दिव्यलोक के शुनः (फूले हुए पिण्ड-सूर्य) की जो महत्ता है, उससे प्राप्त हविष्य हम, आपको अर्पित करते हैं ॥१ ॥

[सूर्य के प्रभाव से उत्पन्न वनस्पतियों से ही हव्य बनता है । उसी से यजन किया जाता है ।]

१५३६. ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः । तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥२ ॥

ये जो तीन कालकाञ्ज (असुर या पदार्थ कण) द्युलोक में देवों की तरह रहते हैं, उन्हें हम अपनी रक्षा के लिए तथा कल्याण के लिए आवाहित करते हैं ॥२ ॥

१५३७. अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी जल में विद्युत्रूप उत्पत्ति है, द्युलोक में आपका आदित्यात्मक भाव से स्थान है । समुद्र के बीच में तथा पृथ्वी पर आपकी महिमा स्पष्ट है । हे अग्निदेव ! दिव्य श्वान (सूर्य) के तेजरूप हवि से हम आपका पूजन करते हैं ॥३ ॥

[८१ - गर्भाधान सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - आदित्य, ३ त्वष्टा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में किसी दिव्य परिहस्त (हाथ में धारण करने का कंकण) का उल्लेख है । प्रजा एवं धन देने वाला (मंत्र१) तथा देवमाता अदिति द्वारा धारण किया जाने वाला यह कंकण पदार्थ-निर्मित नहीं हो सकता, यह तो तेजोवलय का रक्षण आवरण ही हो सकता है । इस सूक्त के देवता अदितिपुत्र आदित्य हैं । सूर्यमण्डल के चारों ओर एक कंकण-तेजोवलय होता है, जो सूर्य के गर्भ में चल रही उत्पादक प्रक्रिया को सुरक्षित तथा सुसंचालित रखता है । इस तेजोवलय के अंशों को ही प्रकृति अथवा नारी के गर्भ में चल रहे उत्पादन चक्र की सुरक्षा के लिए आवाहित किया गया प्रतीत होता है-

१५३८. यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृहणानः परिहस्तो अभूदयम् ॥१ ॥

हे अग्ने ! आसुरी वृत्तियों एवं शक्तियों को आप अपने वश में रखने में समर्थ हैं एवं दोनों हाथों से उन्हें नष्ट करते हैं, ऐसे देव पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा एवं धन की सुरक्षा करने वाले कंकण (तेजोवलय) सिद्ध हुए हैं ॥१ ॥

१५३९. परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे।

हे तेजोवलय ! आप गर्भ और योनि (उत्पादन क्षेत्र) की सुरक्षा करें। हे मर्यादे ! आप पुत्र धारण करें एवं समय पूर्ण होने पर उसे बाहर आने की प्रेरणा दें ॥२ ॥

१५४०. यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥३ ॥

जिस कंकण को पुत्र की कामना वाली अदिति देवी ने धारण किया था, उसे त्वष्टा (रचना कुशल) देव उस नारी (या प्रकृति) को धारण कराएँ, ताकि वह पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ हो ॥३ ॥

[८२ - जायाकामना सूक्त]

[ऋषि - भग। देवता - इन्द्र। छन्द - अनुष्टुप्।]

१५४१. आगच्छत आगतस्य नाम गृहणाम्यायतः।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥१ ॥

वृत्रासुर-संहारक, वसुओं से उपासित शतक्रतु इन्द्रदेव का नाम लेकर (उनकी साक्षी में) आने वाले जो अति समीप आ गये हैं, मैं उन (शक्ति प्रवाहों या वरों) का वरण (अपनी इन्द्रियों या पुत्रियों के लिए) करता हूँ।

१५४२. येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥२ ॥

भग देवता ने मुझसे कहा - "अश्विनीकुमारों ने जिस मार्ग द्वारा सूर्या - सावित्री को प्राप्त किया था, उसी उत्तम मार्ग से तुम भी स्त्री प्राप्त करो" ॥२ ॥

१५४३. यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आपका जो धन देने में समर्थ, स्वर्ण का बड़ा अंकुश (नियन्त्रण सामर्थ्य) है, उसी से मुझ पुत्राभिलाषी को आप स्त्री प्रदान करें ॥३ ॥

[८३ - भैषज्य सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरा। देवता - सूर्य, चन्द्र, (२ रोहिणी, ३ रामायणी)। छन्द - अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा निचृदार्ची अनुष्टुप्।]

१५४४. अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु।

हे गण्डमाला रोग ! तुम (शरीर को छोड़कर) घोंसले से निकलने वाले गरुड़ की तरह (तीव्र गति से) निकलते जाओ। सूर्यदेव रोग की ओषधि बनाएँ और चन्द्रमा रोग को दूर करें ॥१ ॥

१५४५. एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे। सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥२ ॥

हे गण्डमालाओ !तुम (वात, पित्त, कफ भेद से) चितकबरी, श्वेत, काली तथा रक्तवर्ण वाली हो, इस तरह सब नाम हमने लिया । हे अपचितो !(इससे प्रसन्न होकर) तुम वीरपुरुष की हिंसा न करो और यहाँ से चली जाओ॥

१५४६. असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।

ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥३ ॥

गलने वाली, सड़ने वाली गण्डमाला की जड़ नाड़ियों में छिपी रहती है । यह (गण्डमाला) मूल कारण सहित नष्ट हो जाए ॥३ ॥

१५४७. वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४ ॥

हम मन से हवन करते हैं, यह हवन उत्तम हो । तुम अपनी आहुति ग्रहण कर यहाँ से भाग जाओ ॥४ ॥

[८४ - निर्ऋतिमोचन सूक्त]

[ऋषि - अङ्गिरा । देवता - निर्ऋति ।छन्द - भुरिक् जगती, २ त्रिपदार्षी बृहती, ३ जगती, ४ भुरिक् त्रिष्टुप्]

१५४८. यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् ।

भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥१ ।

हे निर्ऋते (दुर्गति के बन्धनो) ! पीड़ितों को मुक्त करने के लिए हम तुम्हारे क्रूर मुख में आहुति देते हैं । तुम मन से उसे ग्रहण करके रोगी को रोग-मुक्त करो । ओषधियों से तैयार हुआ यह जल रोगी को रोग-मुक्त करे । साधारणतया तुम्हें लोग ब्रह्मरूप से जानते हैं ; परन्तु हम तुम्हारे कारणरूप पाप को भी जानते हैं ॥१ ॥

१५४९. भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु । मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥२ ॥

हे सर्वत्र विद्यमान निर्ऋते ! तुम हमारे द्वारा दी गई आहुति से हवियुक्त हो, अपना शमन करो । इन गो (गाय या इन्द्रियाँ) आदि को रोग के कारणरूप पापों से मुक्त करो ॥२ ॥

१५५०. एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३ ॥

हे निर्ऋते ! तुम रोग-बन्धन से मुक्त करके हमें सुख प्रदान करो । हे रोगिन् ! तुमको मृत्यु के देवता यम ने फिर हमारे निमित्त लौटा दिया है । अतः उन प्राणापहारी यमदेव को नमस्कार है ॥३ ॥

१५५१. अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४ ॥

हे निर्ऋते ! जब तुम लौह और काष्ठयुक्त अपने बन्धनों से जकड़ती हो, तब वह हजारों मारक दुःखों से बँध जाता है । पितरों और यम से मिलकर तुम इसे श्रेष्ठ दुःखरहित स्वर्ग के समान स्थिति तक पहुँचाओ ॥४ ॥

[८५ - यक्ष्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - वनस्पति । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५५२. वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।

यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥१ ।

यह दानादि गुण-सम्पन्न वरण वृक्ष की मणि राजयक्ष्मा आदि रोगों को नष्ट करे । इस रोग- पीड़ित को देवगण रोग से मुक्त करें ॥१ ॥

१५५३. इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥२ ॥

हे रोगिन् ! मणि-बन्धनकर्त्ता हम, इन्द्रदेव, मित्र, वरुण तथा अन्य देवताओं के वचनों के द्वारा तुम्हारे यक्ष्मा रोग को हटाते हैं ॥२ ॥

१५५४. यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः ।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥३ ॥

जिस प्रकार वृत्रासुर ने जगत्-पोषक, मेघ स्थित जल- प्रवाह को रोका था, उसी प्रकार हे रोगिन् ! हम वैश्वानर अग्निदेव के द्वारा तुम्हारे रोग को रोकते हैं ॥३ ॥

[८६ - वृषकामना सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - एकवृष । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५५५. वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥१ ॥

यह श्रेष्ठता की इच्छा वाला पुरुष, इन्द्रदेव की कृपा से तृप्त करने वाला हो । यह द्युलोक को तृप्त करके पर्जन्य की वर्षा द्वारा समस्त प्राणियों को तृप्त करने वाला हो । (हे श्रेष्ठता की इच्छा वाले पुरुष !) तुम सर्वश्रेष्ठ हो ॥१ ॥

१५५६. समुद्र ईशे स्त्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥२ ॥

जैसे जल के स्वामी समुद्र, पृथ्वी के स्वामी अग्नि, नक्षत्रों के स्वामी चन्द्रमा हैं, वैसे ही हे श्रेष्ठता के चाहने वाले पुरुष ! तुम भी सर्वश्रेष्ठ बनो ॥२ ॥

१५५७. सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप असुरों के सम्राट् और तुलना की दृष्टि से देवताओं के अर्धभाग (सर्वश्रेष्ठ) हो । हे श्रेष्ठता की कामना वाले पुरुष ! ऐसे श्रेष्ठ इन्द्रदेव की कृपा से तुम भी श्रेष्ठ हो जाओ ॥३ ॥

[८७ - राज्ञः संवरण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - ध्रुव । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५५८. आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१ ॥

हे राजन् ! आपको इस (राष्ट्र या क्षेत्र) का अधिपति नियुक्त किया गया है । आप इसके स्वामी हैं, आप नित्य अविचल और स्थिर होकर रहें । प्रजाजन आपकी अभिलाषा करें । आपके माध्यम से राष्ट्र का गौरव क्षीण न हो ॥

१५५९. इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलत् । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥

आप इसमें ही अविचल होकर रहें । कभी पद से वंचित न हों । पर्वत के समान आप निश्चल होकर रहें । जैसे स्वर्ग में इन्द्रदेव हैं, वैसे ही आप पृथ्वी पर स्थिर होकर शासन करें और राष्ट्र का नेतृत्व करें ॥२ ॥

१५६०. इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥

इन्द्रदेव इस (अधिपति) को अक्षय यजनीय सामग्री उपलब्ध करके स्थिरता प्रदान करें। सोम उन्हें अपना आत्मीय मानें। ब्रह्मणस्पति भी उन्हें आत्मीय ही समझें ॥३ ॥

[८८ - ध्रुवोराजा सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - ध्रुव । छन्द - अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।]

१५६१. ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१ ॥

जिस प्रकार आकाश, पृथ्वी, सम्पूर्ण पर्वत और समस्त विश्व अविचल हैं, उसी प्रकार ये प्रजाजनों के स्वामी 'राजा' भी स्थिर रहें ॥१ ॥

१५६२. ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२ ॥

हे राजन् ! आपके राष्ट्र को वरुणदेव स्थायित्व प्रदान करें। दिव्य गुणों से युक्त बृहस्पतिदेव स्थिरता प्रदान करें। इन्द्रदेव और अग्निदेव भी आपके राष्ट्र को स्थिर रूप से धारण करें ॥२ ॥

१५६३. ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥३ ॥

हे राजन् ! अपने को सुदृढ़- स्थिर रखकर शत्रुओं को मसल डालो। जिनका आचरण शत्रुओं के समान है, ऐसों को भी गिरा दो। शत्रु नाश होने पर समस्त दिशाओं की प्रजा समान बुद्धि एवं समान मन वाली हो और उनकी समिति आपकी सुदृढ़ता के लिए योजना बनाने में समर्थ हो ॥३ ॥

[८९ - प्रीतिसंजनन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - (रुद्र) १ सोम, २ वात, ३ मित्रावरुण । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५६४. इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥१ ॥

सोम-प्रदत्त, प्रेम करने वाला यह बलवान् सिर है, इससे उत्पन्न हुए बल से अर्थात् प्रेम से हम आपके हृदय के भावों को उद्दीप्त करते हैं ॥१ ॥

१५६५. शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥२ ॥

हम तुम्हारे हृदय के भावों को उद्दीप्त करते हैं। तुम्हारे मन को प्रेम भाव से प्रभावित करते हैं, जिससे तुम हमारे प्रति उसी प्रकार अनुकूल हो जाओ, जिस प्रकार धूम्र, वायु के अनुकूल एक ही दिशा में प्रवाहित होता है ॥२॥

१५६६. मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३ ॥

मित्रावरुणदेव, देवी सरस्वती, पृथ्वी के दोनों अन्तिमभाग एवं मध्यभाग (निवासी- प्राणी) तुम्हें हमारे प्रति जोड़ें अर्थात् इन सब दिव्य-शक्तियों की कृपा से तुम्हारा स्नेह हमारे प्रति बढ़े ॥३ ॥

[९० - इषुनिष्कासन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - रुद्र । छन्द - अनुष्टुप्, ३ आर्षी भुरिक् उष्णिक् ।]

१५६७. यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥१ ॥

हे पीड़ित ! शूल रोग के अधिष्ठाता देव, रुलाने वाले रुद्रदेव ने तुम्हारे अङ्गों एवं हृदय को बींधने के लिए, बाणों को फेंका है । हम आज उन्हें उखाड़ते हैं ॥१ ॥

१५६८. यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥२ ॥

हे शूल रोगी पुरुष ! तुम्हारे शरीर के अङ्गों एवं धमनियों आदि की विषाक्तता को इन ओषधियों के द्वारा समाप्त कर उन्हें विषरहित करते हैं ॥२ ॥

१५६९. नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै । नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥३ ॥

हे रुद्र ! आपको नमस्कार है । आपके धनुष पर चढ़े हुए बाण एवं छोड़े गये बाण को भी नमस्कार है ॥३ ॥

[९१ - यक्ष्मनाशन सूक्त]

[ऋषि - भृग्वङ्गिरा । देवता - १-२ यक्ष्मनाशन, ३ आपः । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५७०. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः । तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥

इस जौ को आठ बैलों वाले तथा छह बैलों वाले हल से जोतकर, ओषधि के निमित्त उत्पन्न किया है । हे रोगिन् ! हम इस जौ के द्वारा रोग-बीज को निम्नगामी करके निकालते हैं ॥१ ॥

१५७१. न्य१ग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः । नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥२ ।

वायुदेव, दिव्यलोक से नीचे के लोक में प्रवाहित होते हैं, सूर्यदेव ऊपर से नीचे की ओर ताप देते हैं, गौ नीचे की ओर दुही जाती है, उसी प्रकार से आपके अमंगल भी अधोगामी हों ॥२ ॥

१५७२. आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥३ ॥

जल सम्पूर्ण रोगों का निवारक है । जल ही रोगों के (मूल) कारण का नाश करने वाला है । जल ही सबके लिए हितकारी ओषधिरूप है, वह आपके निमित्त रोगनाशक हो ॥३ ॥

[इस सूक्त में प्राणशक्ति तथा मन्त्रशक्ति के प्रभाव से अनुप्राणित अन्न एवं जल से रोगोपचार का उल्लेख किया गया है]

[९२ - वाजी सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - वाजी । छन्द - १ जगती, २-३ त्रिष्टुप् ।]

१५७३. वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१ ॥

हे अश्व ! तुम रथ में युक्त होने पर वायु-वेग वाले हो । तुम अपने लक्ष्य तक इन्द्रदेव की प्रेरणा से, मन जैसी तीव्र गति से पहुँचो । सबके ज्ञाता मरुद्गण तुमसे जुड़ें तथा त्वष्टादेव तुम्हारे पैरों को वेगवान् बनाएँ ॥१ ॥

१५७४. जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२ ॥

हे अश्व ! श्येन पक्षी के समान एवं वायु के समान वेग तुम्हारे अन्दर छिपा है, उसे प्रकट कर बलवान् बनकर, तीव्र गति से संग्राम में पार करने वाले होकर युद्ध को जीतो ॥२ ॥

१५७५. तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३ ॥

हे वेगवान् अश्व ! तुम्हारे शरीर पर सवार हमारे शरीर गन्तव्य पर शीघ्र पहुँचें । तुम्हें घाव आदि से बचाकर सुख प्रदान करते हैं । तुम द्युलोक के सूर्य के समान बनकर सहज ज्ञान से चलकर अपने निवास तक पहुँचो ॥३ ॥

[९३ - स्वस्त्ययन सूक्त]

[ऋषि - शन्तातिः । देवता - रुद्र (१ यम, मृत्यु, शर्व, २ भव शर्व, ३ विश्वेदेवा, मरुद्गण, अग्नीषोम, वरुण, वातपर्जन्य) । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१५७६. यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१ ॥

नियामक मृत्युदेव, पापियों को मारने वाले, उत्पीड़क, पोषक, हिंसक, शस्त्र फेंकने वाले, नील शिखा वाले, पापियों की हिंसा करने के लिए अपनी सेना के साथ चढ़ाई करने वाले ये देवता हमारे पुत्र-पौत्रादि को सुरक्षित रखकर सुख प्रदान करें ॥१ ॥

१५७७. मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥२ ॥

संकल्प द्वारा, घृतादि की आहुति द्वारा हम शर्व (फेंके जाने वाले) अस्त्र के स्वामी रुद्रदेव और अन्य नमस्कार योग्यों को नमस्कार करते हैं । (जिसके परिणाम स्वरूप) पापरूपी विष हमसे दूर चले जाएँ ॥२ ॥

१५७८. त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥३ ॥

हे मरुद्गण और विश्वेदेवो ! आप अघविषा वाली कृत्याओं और उनके संहारक साधनों से बचाएँ । मित्र, वरुण, अग्नि और सोमदेव हमें बचाएँ एवं वायु तथा पर्जन्य देवता हम पर अनुग्रह करें ॥३ ॥

[९४ - सांमनस्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वाङ्गिरा । देवता - सरस्वती । छन्द - अनुष्टुप्, २ विराट् जगती ।]

१५७९. सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥१ ॥

हे विरुद्ध मन वाले मनुष्यो ! हम तुम्हारे मनों, विचारों एवं संकल्पों को एक भाव से युक्त कर, परस्पर विरोधी कार्यों को अनुकूलता में परिवर्तित करते हैं ॥१ ॥

१५८०. अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२ ॥

हे विरुद्ध मन वाले मनुष्यो ! तुम्हारे मनों को हम अपने अनुकूल करते हैं । तुम अनुकूल चित्त वाले यहाँ आओ । तुम्हारे हृदयों को हम अपने वश में करते हैं । तुम हमारा अनुसरण करते हुए कर्म करो ॥२ ॥

१५८१. ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३ ॥

द्यावा-पृथिवी परस्पर अभिमुख होकर हमसे संबद्ध हैं, वाक् देवी सरस्वती भी संबद्ध हैं, इन्द्रदेव और अग्निदेव भी हमसे संबद्ध हैं, अतः हम सब इनकी कृपा से समृद्ध हों ॥३ ॥

[९५ - कुष्ठौषधि सूक्त]

[**ऋषि** - भृग्वङ्गिरा ।**देवता**— वनस्पति । **छन्द**—अनुष्टुप्]

१५८२.अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥

यहाँ से तीसरे द्युलोक में देवताओं के बैठने का अश्वत्थ है, वहाँ अमृत का वर्णन करने वाले 'कुष्ठ'(ओषधि) का ज्ञान देवताओं ने प्राप्त किया ॥१ ॥

१५८३.हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥

हिरण्य (तेजोमय पदार्थ) से बनी नौका हिरण्य (तेजस्) के बन्धनों से बँधी हुई स्वर्ग में चलती है । वहाँ अमृत- पुष्प, 'कुष्ठ'(ओषधि) को देवताओं ने प्राप्त किया ॥२ ॥

१५८४. गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत । गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥

हे अग्ने ! ओषधियों के गर्भ में आप हैं । हिमवालों के गर्भ में भी आप हैं । आप ही समस्त भूत-प्राणियों में गर्भरूप में रहते हैं, ऐसे हे अग्निदेव ! आप हमारे रोगी को रोग-मुक्त करें ॥३ ॥

[९६ - चिकित्सा सूक्त]

[**ऋषि** - भृग्वङ्गिरा । **देवता** - १-२ वनस्पति, ३ सोम । **छन्द** - अनुष्टुप्, ३ त्रिपदा विराट् गायत्री]

१५८५. या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१ ॥

जो सैकड़ों प्रकार की ओषधियाँ हैं, उनमें सोम का निवास है । जो बृहस्पतिदेव के द्वारा अनेक रोगों में प्रयोग की गई हैं, वे ओषधियाँ हमें रोगमूलक पाप से छुड़ाएँ ॥१ ॥

१५८६. मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या दुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२ ॥

जल अथवा ओषधियाँ हमें शापजनित रोग या पाप से बचाएँ । मिथ्या-भाषण से लगने वाले वरुणदेव के अधिकार वाले पापों से बचाएँ । यमराज के पाप 'बन्धन-पाश' से बचाएँ और समस्त देव- सम्बन्धी पापों से हमें मुक्त रखें ॥२ ॥

१५८७. यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥३ ॥

हमने जागते हुए या सोते हुए जो पाप कर्म इन्द्रियों द्वारा, वाणी द्वारा अथवा मन द्वारा किए हों, हमारे उन समस्त पापों से सोम देवता अपनी पवित्र शक्ति द्वारा, हमें मुक्त करें ॥३ ॥

[९७ - अभिभूर्वीर सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १,३ देवगण, २ मित्रावरुण । छन्द - त्रिष्टुप्, २ जगती, ३ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१५८८. अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥१ ॥

यज्ञदेव, अग्निदेव, सोमदेव और इन्द्रदेव शत्रुओं को पराभूत करें । हम इन समस्त देवों की कृपा से शत्रु-सेनाओं को जीत लें, इस निमित्त यह हवि अग्निदेव को अर्पित करते हैं ॥१ ॥

१५८९. स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥२ ॥

हे विद्वान् मित्र और वरुणदेव ! यह हविरूप अन्न आपको तृप्त करे । आप प्रजा को क्षत्रिय बल से सींचें । निर्ऋति देवता को हमसे दूर करें तथा किये गये पापों से भी हमको मुक्त करें ॥२ ॥

१५९०. इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥३ ॥

हे वीरो ! यह वीर्यवान् राजा वीररस से हर्षित हो, तुम भी अनुयायी बनो । गाँवों को जीतने वाले, उग्र स्वभाव वाले, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, वज्र के समान भुजाओं वाले, शत्रुओं को जीतने वाले, शस्त्र फेंककर शत्रु पर वार करने वाले वीर के अनुकूल रहकर अपना व्यवहार करो अर्थात् युद्ध हेतु सदैव तैयार रहो ॥३ ॥

[९८ - अजरक्षत्र सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - इन्द्र । छन्द - त्रिष्टुप्, २ बृहतीगर्भा आस्तार पंक्ति ।]

१५९१. इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१ ॥

इन्द्रदेव (या राजा) की विजय हो । वे कभी पराजित न हों । राजाधिराज हे इन्द्रदेव ! आप शत्रुओं का नाश करने वाले स्तुत्य हैं, वन्दनीय हैं । इस कारण आप हमारे द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं ॥१ ॥

१५९२. त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२ ॥

हे राजेन्द्र ! आप अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक कीर्ति-सम्पन्न हों । आप प्रजाजनों को समृद्धशाली बनाएँ । इन देव सम्बन्धी प्रजाओं के आप स्वामी बनें । आपका क्षात्रबल बढ़े एवं आप जरारहित दीर्घ आयु वाले हों ॥२ ॥

१५९३. प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप पूर्व आदि समस्त दिशाओं के स्वामी हों । आप वृत्रासुरहन्ता हैं, शत्रुनाशक हैं । समस्त भूमण्डल आपका है । कामनाओं की वर्षा करने वाले हे इन्द्रदेव ! हम आपका आवाहन करते हैं, आप हमें इस संग्राम में विजयी बनाएँ ॥३ ॥

[९९ - संग्रामजय सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - १-२ इन्द्र, ३ सोम, सविता । छन्द - अनुष्टुप्, ३ भुरिक् बृहती ।]

१५९४.अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव ! पाप या पराजय के पूर्व ही हम आपका आवाहन करते हैं । आप प्रचण्ड बल-सम्पन्न एवं संग्राम जीतने में निपुण हैं । आप बहुत नाम वाले तथा अकेले ही युद्ध जीतने वाले शूर- वीर हैं ॥१ ॥

१५९५. यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते । इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥२॥

शत्रु सेना हमें मारने के लिए जिन आयुधों को उठा रही है (उनसे बचने के लिए) , रक्षा करने में समर्थ इन्द्रदेव की भुजाओं को हम अपने चारों ओर रक्षा-कवच के रूप में धारण करते हैं ॥२ ॥

१५९६. परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥३ ॥

इन्द्रदेव, जिनकी भुजाओं को हमने अपने चारों ओर धारण किया है, वे हमारी रक्षा करें । हे सवितादेव एवं सोमदेव ! आप कल्याण करने वाले हैं, आप हमारा मन श्रेष्ठ बनाएँ , जिससे हम युद्ध में विजय पा सकें ॥३ ॥

[१०० - विषदूषण सूक्त]

[ऋषि - गरुत्मान् । देवता - वनस्पति (आसुरी दुहिता) । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१५९७. देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥१ ॥

इन्द्र आदि समस्त देवता हमें स्थावर एवं जंगम विष-नाशक ओषधि प्रदान करें । सर्वप्रेरक सवितादेव, इड़ा, सरस्वती एवं भारती देवियाँ भी हमें ऐसी ओषधि प्रदान करें ॥१ ॥

१५९८.यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् । तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥

हे देवताओ ! उपजीका (ओषधि) ने जलरहित मरुस्थल में जल को क्षरित किया है । उन देवताओं से प्रदत्त जल द्वारा विष को नष्ट करें ॥२ ॥

१५९९. असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥३ ॥

हे ओषधे ! तुम असुरों की पुत्री हो और देवताओं की बहिन हो । हे अन्तरिक्ष और पृथ्वी से उत्पन्न मृत्तिके ! तुम स्थावर एवं जंगम विष को दूर करो ॥३ ॥

[१०१ - वाजीकरण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वाङ्गिरा । देवता - ब्रह्मणस्पति । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६००.आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च ।यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥

हे पुरुष ! तुम सेचन समर्थ वृषभ के समान प्राणवान् हो । शरीर के अङ्ग-अवयव सुदृढ़ एवं वर्धित हों । इस प्रकार (मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से परिपक्व तथा पुष्ट होने पर ही) स्त्री को प्राप्त करो ॥१ ॥

१६०१. येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥२ ॥

जिस रस के द्वारा कृश पुरुष को वीर्यवान् बनाते हैं और जिसके द्वारा रुग्ण पुरुष को पुष्ट किया जाता है । हे ब्रह्मणस्पते ! उसके द्वारा आप इस पुरुष के शरीराङ्ग को, प्रत्यञ्चा चढ़े धनुष के समान सामर्थ्य वाला बनाएँ ॥२ ॥

१६०२. आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥३ ॥

हे वीर्यकामी पुरुष ! अब हम लक्ष्य-वेधन में समर्थ धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा के समान तुम्हारे शरीराङ्ग को पुष्ट करते हैं । तुम प्रसन्न मन एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले होने पर, जीवनसंगिनी के साथ रहो ॥३ ॥

[१०२-अभिसांमनस्य सूक्त]

[ऋषि - जमदग्नि । देवता - अश्विनीकुमार । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६०३. यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥१ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! जिस प्रकार रथ में जुते हुए घोड़े वाहक की इच्छानुसार बर्ताव करते हैं, उसी प्रकार आपका मन हमारी ओर आकर्षित रहे और आप सदैव हमारे अनुकूल व्यवहार करें ॥१ ॥

१६०४. आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥२ ॥

आपके मन को मैं उसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करता हूँ, जिस प्रकार अश्वराज खूँटे में बँधी रज्जु को क्रीड़ा में सहज ही उखाड़ कर अपनी ओर खींच लेता है तथा वायु द्वारा उखाड़ा गया तृण जिस प्रकार वायु में ही घूमता रहता है, उसी प्रकार आपका मन हमारे साथ ही रमण करे ॥२ ॥

१६०५. आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥३ ॥

आपके ऐश्वर्य प्रदायक अञ्जन के समान हर्षदायक, 'कुष्ठ' तथा 'नल' के हाथों द्वारा हम आपकी अनुकूलता प्राप्त करते हैं ॥३ ॥

[१०३ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - उच्छोचन । देवता - इन्द्राग्नी, (१ बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा, भग, अश्विनीकुमार; २ इन्द्र, अग्नि; ३ इन्द्र । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६०६. संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥१ ॥

हे शत्रुओ ! बृहस्पतिदेव तुम्हें पाश में बाँधें । सर्वप्रेरक सवितादेव तुम्हें बाँधें । अर्यमा देवता भी तुम्हें बन्धन में डालें ।भगदेव और अश्विनीकुमार भी तुम्हें बाँधें ॥१ ॥

१६०७. सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान्।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥२ ॥

शत्रुओं को हम पाश द्वारा बाँधते हैं । दूर स्थित, मध्य में स्थित एवं समीपस्थ सेनाओं को हम नष्ट करते हैं । इन्द्रदेव सेनापतियों को अलग करें और हे अग्निदेव ! आप उनको पाश के द्वारा बाँधकर अपने अधीन करें ॥

१६०८. अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥३ ॥

फहसते हुए ध्वजाओं वाले शत्रु- संघ रणक्षेत्र में संग्राम के लिए उतावले होकर आ रहे हैं । हे इन्द्रदेव ! आप इन्हें अलग-अलग कर दें और हे अग्निदेव ! आप इन्हें पाश में बाँधकर अपने अधीन कर लें ॥३ ॥

[१०४ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि—प्रशोचन । देवता—इन्द्राग्नी अथवा मन्त्रोक्त । छन्द—अनुष्टुप्]

१६०९.आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥

आदान और संदान नामक पाशों में हम शत्रुओं को बाँधते हैं । उन शत्रुओं के जो अपान और प्राण हैं, उन्हें हम जीवनी-शक्ति के साथ छिन्न-भिन्न करते हैं ॥१ ॥

१६१०.इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् । अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥

हमने इस आदान नामक पाश यन्त्र को तप के द्वारा सिद्ध कर लिया है, जो इन्द्रदेव द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ है । हे अग्निदेव ! आप संग्राम में हमारे शत्रुओं को पाश से बाँधें ॥२ ॥

१६११. ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥३ ॥

इन्द्रदेव और अग्निदेव प्रसन्न होकर इन शत्रुओं को बन्धन युक्त करें । राजा सोम एवं इन्द्रदेव मरुद्गणों के सहयोग से हमारे शत्रुओं को बाँधें ॥३ ॥

[१०५ - कासशमन सूक्त]

[ऋषि - उन्मोचन । देवता - कासा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६१२. यथा मनोमनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥१ ॥

जिस प्रकार शीघ्रगामी मन जानने योग्य दूर स्थित पदार्थों तक शीघ्रता से पहुँचता है, उसी प्रकार हे कासे (खाँसी रोग) ! तुम मन के वेग से इस रोगी को छोड़कर दूर भाग जाओ ॥१ ॥

१६१३. यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥२ ॥

तीक्ष्ण बाण जिस प्रकार दूर जाकर भूमि पर गिरता है, उसी प्रकार हे कासे ! तुम भी अति वेग से भूमि के अन्य स्थल पर जाकर गिरो ॥२ ॥

१६१४. यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥३ ॥

जिस प्रकार सूर्य किरणें शीघ्रता से दूर तक पहुँचती हैं, वैसे ही हे कासे ! तुम इस रोगी को छोड़ कर समुद्र के विविध प्रवाहों वाले प्रदेश में प्रस्थान करो ॥३ ॥

[१०६ - दूर्वाशाला सूक्त]

[ऋषि - प्रमोचन । देवता - दूर्वाशाला । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६१५. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आप अभिमुख होकर अथवा पराङ्मुख होकर गमन करते हैं, तो हमारे देश में फूलसहित दूर्वा उगती है । हमारे गृहादि स्थानों में सरोवर हो, जिनमें कमल खिलें ॥१ ॥

१६१६. अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥२ ॥

हमारा घर जलपूर्ण रहे ।वह बड़ी जलराशियों के निकट हो । हे अग्ने ! आप अपनी ज्वालाओं को पीछे करें ॥२ ॥

१६१७. हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥३ ॥

हे शाले ! हम तुम्हें शीतल वातावरण से युक्त करते हैं । तुम हमें शीतलता प्रदान करो । अग्निदेव हमारे लिए शीत निवारण के निमित्त ओषधि स्वरूप बनें ॥३ ॥

[१०७ - विश्वजित् सूक्त]

[ऋषि - शन्ताति । देवता - विश्वजित् । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६१८. विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१ ॥

हे विश्वजित् देव ! आप जिस त्रायमाणा (रक्षक) शक्ति के सहयोग से जगत् का पालन करते हैं, उनके आश्रय में हमें रखें । आप हमारे चौपायों (गौओं, घोड़ों आदि) एवं दो- पैर वालों (पुत्र-पौत्र, सेवक आदि) की रक्षा करें ॥१ ॥

१६१९. त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि ।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥२ ॥

हे त्रायमाण देव ! आप हमें विश्वजित् देव को प्रदान करें । हे विश्वजित् ! आप हमारे चौपायों एवं दो पैर वालों की रक्षा करें ॥२ ॥

१६२०. विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि ।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥३ ॥

हे विश्वजित् देव ! आप हमें कल्याणी शक्ति के अधीन करें । हे कल्याणि ! आप हमारे दो पैर वालों एवं चार पैर वालों की रक्षा करें ॥३ ॥

१६२१. कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥४ ॥

हे कल्याणी देवि ! आप हमें समस्त कार्यों के ज्ञाता सर्वविद् देव को प्रदान करें । हे सर्वविद् देव ! आप हमारे दो पैर वालों एवं चार पैर वालों की रक्षा करें ॥४ ॥

[१०८- मेधावर्धन सूक्त]

[ऋषि - शौनक । देवता - १-३,५ मेधा, ४ अग्नि । छन्द - अनुष्टुप्, २ उरोबृहती, ३ पथ्याबृहती ।]

१६२२. त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥१ ॥

हे देवत्व को धारण करने में समर्थ मेधे ! आप हम सबके द्वारा सर्व प्रथम पूज्य हैं । आप गौओं, अश्वों सहित हमें प्राप्त हों । सूर्य किरणों के समान सर्वव्यापक शक्तिसहित आप हमारे पास आएँ ॥१ ॥

१६२३. मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥२ ॥

वेदों से युक्त ब्रह्मण्वती, ब्राह्मणों से सेवित ब्रह्मजूता, अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषियों द्वारा प्रशंसित, ब्रह्मचारियों द्वारा प्रवर्धित या स्वीकार की गई श्रेष्ठ मेधा बुद्धि का, हम देवताओं या देवत्व की रक्षा के लिए आवाहन करते हैं ॥२ ॥

१६२४. यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥३ ॥

ऋभुदेव जिस बुद्धि को जानते हैं । दानवों में जो बुद्धि है । ऋषियों में जो कल्याणकारी बुद्धि है । उस मेधा को हम साधक में स्थापित करते हैं ॥३ ॥

१६२५.यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ।

मंत्र द्रष्टा ऋषिगण एवं पृथ्वी आदि भूतों की रक्षा करने वाले कश्यप, कौशिक आदि बुद्धिमान् , जिस मेधा के ज्ञाता हैं । हे अग्निदेव ! आप हमें उस मेधा से युक्त कर मेधावी बनाएँ ॥४ ॥

१६२६.मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥

हम प्रातःकाल, मध्याह्नकाल एवं सायंकाल में मेधा देवी की सेवा करते हैं । सूर्य रश्मियों के साथ स्तुतियों द्वारा हम मेधाशक्ति को धारण करते हैं ॥५ ॥

[प्रातः, मध्याह्न तथा सायं त्रिकाल संध्या द्वारा मेधा का जागरण होता है । सवितादेव की सूक्ष्मशक्ति मेधावर्द्धक है ।]

[१०९ - पिप्पलीभैषज्य सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - पिप्पली, भैषज्य, आयु । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६२७. पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३ताविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥१ ॥

पिप्पली नामक ओषधि क्षिप्त (वातविकार, उन्माद) रोग की ओषधि है और महाव्याधि की ओषधि भी है, जिसकी कल्पना (रचना) देवताओं ने की थी । यह एक ओषधि ही जीवन को नीरोग और दीर्घायु प्रदान करने में समर्थ है ॥१ ॥

१६२८. पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि । यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ।

अपने जन्म से पूर्व, आते समय पिप्पलियों ने बताया था कि जीवित प्राणी (मनुष्यादि) जिस किसी को भी हमें ओषधि रूप खिलाया जाए, वह नष्ट नहीं होता ॥२ ॥

[ऋषिगण ओषधियों को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म प्रवाहों को प्रत्यक्ष देखते-समझते थे ।]

१६२९. असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥३ ॥

हे पिप्पली ओषधे ! तुम वात विकार से पीड़ित एवं हाथ- पैर फेंकने वाले उन्माद रोग की ओषधि हो । तुमको प्रथम असुरों ने गढ़ा था, फिर जगत् के हित के लिए देवगणों ने तुम्हारा उद्धार किया है ॥३ ॥

[असुरों का तात्पर्य स्थूल पदार्थ कणों से है । पहले ओषधि का स्थूल रूप बनता है, तब दिव्य धाराएँ उसमें गुण स्थापित करती हैं । परिपक्व होने पर ही वे प्रभावकारी सिद्ध होती हैं ।]

[११० - दीर्घायु सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप्, १ पंक्ति ।]

१६३०. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१ ॥

पुरातनकाल से आप (यज्ञों में) देवों का आवाहन करने वाले और यजन करने वाले हैं । हे अग्निदेव ! आप अभिनव होतारूप से वेदी पर प्रतिष्ठित होकर हमें पूर्ण सुख, सौभाग्य और ऐश्वर्य प्रदान करें ॥१ ॥

१६३१. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप इस (जातक)-को ज्येष्ठानक्षत्र के हानिकारक तथा मूलनक्षत्र के घातक प्रभावों से बचाएँ । इस (इन नक्षत्रों में जन्में बालक) को यम के संहारक दोषों से मुक्त करें और शतायु बनाएँ ॥२ ॥

१६३२. व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३ ॥

क्रूर नक्षत्र वाले दिन में उत्पन्न यह बालक दूसरों को सुख देने वाला, वीर-पराक्रमी बने । बड़ा होने पर यह अपनी जन्म देने वाली माता एवं पालक पिता को हर प्रकार से सुख प्रदान करे ॥३ ॥

[१११- उन्मत्ततामोचन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अग्नि । छन्द - अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।]

१६३३. इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! यह पुरुष पापों से उत्पन्न रोगरूप बन्धनों से बँधा हुआ उन्माद रोग के कारण प्रलाप कर रहा है, कृपा कर आप इसे रोग और कारणरूप पापों से मुक्त करें । यह आपका भाग (हवि) और अधिक देने वाला हो ॥१ ॥

१६३४. अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥२ ॥

हे गन्धर्वग्रह से जकड़े हुए पुरुष ! तुम्हें अग्निदेव उन्माद मुक्त करें । तुम्हारे उद्भ्रान्त मन को शान्त एवं स्थिर करने के लिए हम उन ओषधियों का प्रयोग करते हैं, जिनका हमें ज्ञान है ॥२ ॥

१६३५. देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥३ ॥

किये गये दैवी अथवा राक्षसी पापों के फलस्वरूप उत्पन्न उन्माद को शान्त करने की ओषधि को हम जानते हैं । हम उन्हीं ओषधियों का प्रयोग करते हैं, जिससे तुम्हारा चित्त भ्रमरहित अर्थात् स्थिर हो जाए ॥३ ॥

[उन्माद - रोग - पागलपन आसुरी तथा दैवी प्रकृति के होते हैं । आसुरी प्रकृति के उन्माद में व्यक्ति तोड़-फोड़ हिंसादि कार्य करता है । दैवी उन्माद में अपने को दिव्य गुण सम्पन्न समझता हुआ आशीर्वाद आदि देने जैसे हावभाव प्रकट करता है ।]

१६३६. पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽससि ॥४ ॥

हे पुरुष ! अप्सराओं ने तुम्हें रोगमुक्त कर दिया है । भग एवं इन्द्रदेव सहित समस्त देवों ने तुम्हें रोगमुक्त कर लौटा दिया है ॥४ ॥

[११२- पाशमोचन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१६३७. मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! यह अपने से बड़ों का संहारक न बने, असत्य इसे मूलोच्छेदन दोष से मुक्त करे । हे देव ! आप दोष से मुक्त करने के उपाय जानते हैं । आप इसे जकड़ने वाली शक्ति के बन्धनों से मुक्त करें । इस निमित्त समस्त देवता आपको विमुक्त करने की अनुज्ञा दें ॥१ ॥

१६३८. उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप उन पाशों से मुक्त करें, जिन तीन पाशों के द्वारा इस दूषित पुरुष के तीनों अपने (माता-पिता और पुत्र) बँधे हैं ; क्योंकि आप पाशों से मुक्त करने के उपायों को जानते हैं ॥२ ॥

१६३९. येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३ ॥

जिन पाशों के द्वारा ज्येष्ठ भाई से पूर्व विवाह करने वाला बाँधा गया है । उसका प्रत्येक अङ्ग जिन बन्धनों से जकड़ा है । पाशों को खोलने वाले हे अग्निदेव ! आप इसके पाशों को खोलें एवं पाशों के मूल कारण 'पाप' को भ्रूण (अथवा श्रोत्रिय) की हत्या करने वाले में आरोपित करें ॥३ ॥

[११३ - पापनाशन सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - पूषा । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ पंक्ति ।]

१६४०. त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥१ ॥

इस परिवित्त पाप को देवताओं (अथवा इन्द्रियों) ने पहले त्रित (मन-बुद्धि एवं चित्त) में रखा । त्रित (मन) ने इसको मनुष्यों (की काया) में आरोपित किया । उस पाप से उत्पन्न रोग (गठिया) आदि ने तुम्हें जकड़ लिया है, तो देवतागण मन्त्रों के द्वारा तुम्हारी उस पीड़ा को दूर करें ॥१ ॥

[ऋषि यह तथ्य प्रकट करते है कि गठिया जैसे शारीरिक रोग भी मनो-कायिक (साइको सोमेटिक) होते हैं। पहले वे अंत:करण में पकते हैं, तब काया में प्रकट होते हैं।]

१६४१. मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥२ ॥

हे पाप्मन् ! तुम सूर्य किरणों में, धुएँ में, वाष्परूप मेघों में, कुहरा अथवा नदी के फेन में प्रविष्ट होकर छिप जाओ। हे पूषा देव ! आप इस पाप को भ्रूण (अथवा श्रोत्रिय) की हत्या करने वाले में आरोपित करें ॥२ ॥

१६४२. द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३ ॥

त्रित का वह पाप तीन स्थानों से बारह स्थानों (दस इन्द्रियों तथा चिन्तन एवं स्वभाव आदि) में आरोपित हुआ है। वही पाप मनुष्य में प्रविष्ट हो जाता है। हे पुरुष ! तुम्हें यदि पापजनित रोग आदि ने जकड़ रखा है, तो देवगण उस रोग आदि को मन्त्रों (ज्ञानालोक) द्वारा विनष्ट करें ॥३ ॥

[११४ - उन्मोचन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - विश्वेदेवा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६४३. यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥१ ॥

जिस पाप को हम जाने या अनजाने में कर चुके हैं, जिसके कारण देवता क्रोधित हैं, हे देवताओ ! आप हमें यज्ञ सम्बन्धी सत्य के द्वारा उस पाप से बचाएँ ॥१ ॥

१६४४. ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥२ ॥

हे देवताओ ! जिस पाप के कारण हम यज्ञ करने की इच्छा होने पर भी यज्ञ करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। आप यज्ञ के सत्य और परम सत्यरूप ब्रह्म के द्वारा हमें उस पाप से मुक्त करें ॥२ ॥

१६४५. मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥३ ॥

हे विश्वेदेवो ! हम घृताहुति द्वारा जो यज्ञकर्म करना चाहते हुए भी पापवश उसे नहीं कर पा रहे हैं, हे देवगणो ! आप हमें उस पाप से मुक्त करें ॥३ ॥

[११५ - पापमोचन सूक्त]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता - विश्वेदेवा । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६४६. यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥१ ॥

हे विश्वेदेवो !जाने-अनजाने हुए पापों से आप हमें बचाएँ। कृपा करके आप हमारे सब प्रियजनों को बचाएँ ॥

१६४७. यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२ ॥

जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में हमने अज्ञानवश जिन पापों को किया है, उनसे हमें उसी प्रकार मुक्त कर दें, जिस प्रकार काष्ठ के खूँटे से बँधे पशु के पैर को मुक्त करते हैं ॥२ ॥

१६४८. द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३ ।

जिस प्रकार पशु बन्धनमुक्त होता है या स्नान के बाद मनुष्य मलादि से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है या पवित्र करने के साधन छाननी आदि के द्वारा घृत पवित्र होता है, उसी प्रकार समस्त देवगण हमें पाप से मुक्त करें ॥३ ॥

[११६ - मधुमदन्न सूक्त]

[**ऋषि** - जाटिकायन । **देवता** - विवस्वान् । **छन्द** - जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

१६४९. यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥१ ॥

कृषि कार्य करने वाले लोग भूमि जोतने सम्बन्धी जिन नियमों को क्रियान्वित करते रहे, उसी कृषि विद्या के द्वारा अन्नवान् हों । उस अन्न को हम वैवस्वत् के निमित्त हविरूप में अर्पित करते हैं । अब हमारा अन्न यज्ञ के योग्य एवं मधुर हो ॥१ ॥

१६५०. वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥२ ॥

वैवस्वत्देव अपने निमित्तप्रदान किये गये हविर्भाग को ग्रहण करें । हवि के मधुर भाग से प्रसन्न होकर वे हमें मधुर अन्न प्रदान करें ।माता-पिता का द्रोह करने से जो पाप हम अपराधियों को मिला है, वह शान्त हो जाए ॥२ ।

१६५१. यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥३ ॥

माता-पिता अथवा भाई के प्रति किये गये अपराध से प्राप्त यह दण्डरूप पाप शान्त हो एवं जिन पितरों से इसका सम्बन्ध है, उनका मन्यु (सुधारात्मक रोष) हमारे लिए हितप्रद सिद्ध हो ॥३ ॥

[११७ - आनृण्य सूक्त]

[**ऋषि** - कौशिक । **देवता** - अग्नि । **छन्द** - त्रिष्टुप् ।]

१६५२. अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥१ ॥

जिस ऋण को वापस करना चाहिए, उसे वापस न करने के कारण मैं ऋणी हुआ हूँ । इस बलवान् ऋण के कारण यमराज के वश में भ्रमण करूँगा । हे अग्निदेव ! आप ऋण के कारण होने वाले पारलौकिक पाशों से मुक्त करने के ज्ञाता हैं । अतएव आपकी कृपा से मैं ऋणरहित हो जाऊँ ॥१ ॥

१६५३. इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥२ ॥

इस लोक में रहते हुए मृत्यु के पूर्व ही मैं उस ऋण का भुगतान करता हूँ । हे अग्निदेव ! मैंने जो धान्य ऋण लेकर खाया है, वह यह है । मैं आपकी कृपा से उस ऋण से मुक्त होता हूँ ॥२ ॥

[मनुष्य पर कर्मफल का अनुशासन है। जो व्यक्ति स्वार्थवश अपने निजी सुख के लिए दूसरों का या समाज का अहित करते हैं, वे नियन्ता की दृष्टि में दण्ड के भागीदार बन जाते हैं। उस ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञादि परमार्थपरक कार्य करने होते हैं। इसी जन्म में उनकी पूर्ति कर देने से परलोक या अगले जन्म में दण्ड नहीं भोगना पड़ता है।]

१६५४. अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥३॥

हे अग्निदेव ! आपकी कृपा से हम इस लोक में ऋणमुक्त हों, परलोक में ऋणमुक्त हों तथा तृतीय लोक में ऋणमुक्त हों। देवयान और पितृयान मार्गों में एवं समस्त लोकों में हम उऋण होकर रहें ॥३॥

[११८ - आनृण्य सूक्त]

[ऋषि - कौशिक । देवता - अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१६५५. यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥१॥

हस्त-पादादि इन्द्रियों के द्वारा जो पाप हो गया है तथा इन्द्रिय-लिप्सा की पूर्ति के लिए जो ऋण लिया है, उसे तीक्ष्ण दृष्टि वाली 'उग्रंपश्या' तथा 'उग्रजिता' नामक दोनों अप्सराएँ ऋणदाता को भुगतान कर दें ॥१॥

[अप्सरा सम्बोधन यहाँ सत्प्रवृत्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। उग्रपश्या अर्थात् कठोर दृष्टि से आत्म समीक्षा की क्षमता तथा उग्रजिता अर्थात् उग्रतापूर्वक दोषों-अवरोधों को जीत लेने की सामर्थ्य हमें ऋण मुक्त बनाती है।]

१६५६. उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥२॥

हे उग्रपश्या और राष्ट्रभृत् (राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाली) अप्सराओ ! जो पाप हमसे हो चुके हैं। जो पाप इन्द्रियों के विषय में प्रवृत्त होने से हुए हैं। उनका आप इस प्रकार निवारण करें, जिससे वे हमें पीड़ित न करें। आप हमें ऋणमुक्त करें। जिससे यमलोक में ऋणदाता हमें पाश से कष्ट न दें ॥२॥

१६५७. यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥३॥

जिससे वस्त्र, सुवर्णादि के लिए ऋण ले रहा हूँ और जिसकी भार्या के पास याचना करने के लिए जाता हूँ; हे देवो ! वे हमसे (अनुचित) वचन न बोलें। हे देवपत्नियो ! हे अप्सराओ ! आप मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान दें ॥

[११९ - पाशमोचन सूक्त]

[ऋषि - कौशिक । देवता - वैश्वानर अग्नि । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१६५८. यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

ऋण देने की इच्छा रहने पर एवं चुकता करने का वचन देने पर भी ऋण देने में असमर्थ रहा। समस्त प्राणियों के हितैषी एवं सबको बसाने वाले अधिपति हे अग्निदेव ! आप हमें इस दोष से बचाएँ एवं पुण्यलोक में हमें श्रेष्ठ गति प्रदान करें ॥१॥

१६५९. वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥२॥

लौकिक (समाज) ऋण एवं देवऋण से उऋण होने का संकल्प मैं वैश्वानर अग्निदेव को समर्पित करता हूँ, वे अग्निदेव सम्पूर्ण ऋणात्मक पाशों (बन्धनों) को खोलना जानते हैं । वे हमें बन्धनमुक्त करके परिपक्व (सत्कर्मों के परिणाम स्वरूप) स्वर्ग प्राप्त कराएँ ॥२ ॥

१६६०. वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३ ॥

सबको पवित्र करने वाले वैश्वानर अग्निदेव हमें पवित्र करें । मैं ऋण चुकाने की केवल प्रतिज्ञा बार-बार करता रहा हूँ । अज्ञानवश ऐहिक सुख की आशाएँ करता रहा हूँ और मन से उन्हीं की याचना करता रहा हूँ । ऐसे असत्य व्यवहार से जो पाप उत्पन्न हुए हों, वे सब दूर हों ॥३ ॥

[१२० - सुकृतलोक सूक्त]

[**ऋषि** - कौशिक । **देवता** - अन्तरिक्ष, पृथिवी, द्यौ, अग्नि । **छन्द** - जगती, २ पंक्ति, ३ त्रिष्टुप् ।]

१६६१. यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१ ॥

द्यु, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी के प्राणियों के प्रति और माता-पिता के प्रति कष्टकारक व्यवहार के कारण हमसे जो पाप हो गये हैं, इन पापों से ये गार्हपत्य अग्निदेव हमारी रक्षा करें और हमें पुण्यलोक में श्रेष्ठ गति प्रदान करें ॥१ ॥

१६६२. भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥२ ॥

पृथ्वी माता हमारी जन्मदात्री है । यह देवमाता अदिति के समान पूज्य है । अन्तरिक्ष हमारे भाई और द्युलोक हमारे पिता के समान हैं । ये सब हमें पापों से बचाएँ एवं हमारा कल्याण करने वाले सिद्ध हों । हम निषिद्ध स्त्री के साथ पापयुक्त व्यवहार करके लोकभ्रष्ट न हों ॥२ ॥

१६६३. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥३ ॥

श्रेष्ठ हृदय वाले, यज्ञादि पुण्यकर्म करने वाले, अपने शारीरिक रोगों से मुक्त होकर उत्तम गति को प्राप्त करें । अंगों के विकार से मुक्त होकर सहज, सरल जीवनयापन करते हुए स्वर्गादिक श्रेष्ठ लोकों में रहते हुए अपने आत्मीय पितरों एवं पुत्रों को देखें ॥३ ॥

[१२१ - सुकृतलोकप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि** - कौशिक । **देवता** - अग्नि, ३ तारके । **छन्द** - त्रिष्टुप्, ३-४ अनुष्टुप् ।]

१६६४. विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥१ ॥

बन्धनों की अधिष्ठात्री हे निर्ऋति देवि ! आप वरुणदेव के उत्तम, मध्यम एवं अधम पाशों को तोड़ते हुए हमें मुक्त करें । दुःस्वप्न और पापों को दूर करके हमें स्वर्गलोक तक पहुँचाएँ ॥१ ॥

१६६५. यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥२ ॥

हे पुरुष ! जो तुम काष्ठस्तम्भ और रस्सी से बाँधे जाते हो । जो भूमि में बाँधे जाते हो और जो वाणी (वचनों) द्वारा बाँधे जाते हो, ऐसे समस्त बन्धनों से ये गार्हपत्य अग्निदेव मुक्त करके स्वर्गलोक तक पहुँचाएँ ॥२ ॥

१६६६. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥३ ॥

भगवती (ऐश्वर्ययुक्त) तथा विचृत (अंधकार नाशक) दो तारिकाएँ अथवा शक्तियाँ हमें मृत्यु से मुक्त करें, जिससे यह बद्ध पुरुष (जीव) बन्धन से मोक्ष को प्राप्त करे ॥३ ॥

१६६७. वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥४ ॥

(हे देव !) आप विविध प्रकार से प्रगति करके बन्धन में जकड़े आर्त पुरुष को बन्धनमुक्त करें । हे पुरुष ! तुम बन्धन से मुक्त होकर गर्भाशय से बाहर आए शिशु के समान स्वतन्त्र होकर सर्वत्र विचरण करो ॥४ ॥

[१२२ - तृतीयनाक सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - विश्वकर्मा । छन्द - त्रिष्टुप्, ४-५ जगती ।]

१६६८. एतं भागं परि ददामि विद्वन् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥१ ॥

हे समस्त जगत् के रचयितादेव ! आप सर्वप्रथम प्रकट हुए हैं । हम आपकी महिमा को जानते हुए, इस पक्व हवि को अपनी रक्षा के लिए आपको अर्पित करते हैं । यज्ञीय प्रक्रिया के इस अविच्छिन्न सूत्र का अनुसरण करके हम वृद्धावस्था के पश्चात् भी पार हो जाएँगे-सद्गति पा जाएँगे ॥१ ॥

१६६९. ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥२ ॥

कई लोग इस फैले हुए (जीवन में स्थान पाने वाले) यज्ञीय सूत्रों का अनुसरण करके तर जाते हैं । जिनके आने (धारण किए जाने) से पितृ-ऋण चुक जाता है । बन्धुरहित व्यक्ति भी पैत्रिक धनादि का दान कर ऋण-मुक्त होते हैं और स्वर्ग प्राप्त करते हैं ॥२ ॥

१६७०. अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥३ ॥

हे दम्पति ! परलोक के हित को लक्ष्य में रखकर सत्कर्म प्रारम्भ करो, उसमें सतत लगे रहो । सत्कर्म के श्रेष्ठ फल को श्रद्धायुक्त आस्तिक जन ही प्राप्त करते हैं । तुम भी ब्राह्मण को देने वाला पक्वान्न और अग्निदेव को अर्पित किया जाने वाला हविरूप अन्न दान करके श्रेष्ठ लोक को प्राप्त करो ॥३ ॥

१६७१. यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः ।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४ ॥

हम यज्ञ को तप और मनोयोगपूर्वक करते हुए, देवों की ओर प्रगति करते हैं । हे अग्निदेव ! आपकी कृपा से बुढ़ापे तक श्रेष्ठ कर्म करते हुए हम दुःख - शोकरहित स्वर्गधाम में पहुँचें एवं पुत्र-पौत्रादि को देखकर हर्ष युक्त हों ॥४ ॥

१६७२. शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥५ ॥

शुद्ध-पवित्र यज्ञीय योषाओं (आहुतियों या विधियों) को मैं ब्राह्मण-ऋत्विजों के हाथों में पृथक्-पृथक् सौंपता हूँ । जिस कामना से मैं आप लोगों को अभिषिक्त (नियुक्त) करता हूँ, वह फल मुझे मरुद्गणों सहित इन्द्रदेव की कृपा से प्राप्त हो ॥५ ॥

[१२३ - सौमनस्य सूक्त]

[ऋषि - भृगु । देवता - विश्वेदेवा । छन्द - त्रिष्टुप्, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिक् अनुष्टुप् ।]

१६७३. एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१ ॥

हे साथ रहने वाले देवताओ ! हम आपको निधि (हवि) का भाग अर्पित करते हैं, जिसे जातवेदा अग्निदेव आप तक पहुँचाते हैं । यह यजमान हवि अर्पण करने के बाद ही स्वर्गलोक में आएगा, आप उसे भूलना नहीं ॥१ ॥

१६७४. जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥२ ॥

हे साथ-साथ रहने वाले देवताओ ! परम व्योम-स्वर्गलोक में इस यजमान का श्रेष्ठ कर्मानुसार-स्थान सुनिश्चित कर दें । यह यजमान हवि अर्पित करके कुशलतापूर्वक वहाँ पहुँचेगा, तब इसे भूले बिना इष्टापूर्त्त का फल प्रदान करें ॥२ ॥

१६७५. देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥३ ॥

जो पालन करते हैं, वे देव हैं । दैवी गुण एवं भावयुक्त पूजनीय ही हमारे पालनकर्त्ता हैं । मैं जो हूँ, वही हूँ ॥
[मैं देवों का, दिव्यात्माओं का अंश या वंशज हूँ, वही मेरा सहज स्वभाव है, मैं इस आस्था पर दृढ़ हूँ, ऐसा बोध होने पर ही साधक उच्चस्तरीय गति पाता है ।]

१६७६. स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥४ ॥

मैं यज्ञ के लिए अन्न पकाता हूँ,हवि का दान एवं यज्ञ करता हूँ, ऐसे यज्ञों के फल से मैं पृथक् न होऊँ ॥४ ॥

१६७७. नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥५ ॥

हे राजा सोम ! हमारे अपराधों को क्षमा करके आप स्वर्गलोक में हमें सुख प्रदान करें । हे स्वामिन् ! आप हमारे कर्म फलों को जानकर प्रसन्न मन से हमें सुख प्रदान करें ॥५ ॥

[१२४ - निर्ऋत्यपस्तरण सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - दिव्य आपः । छन्द - त्रिष्टुप् ।]

१६७८. दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥१ ॥

विशाल द्युलोक से दिव्य अप् (जल या तेज) युक्त रस की बूँदें हमारे शरीर पर गिरी हैं । हम इन्द्रियों सहित, दुग्ध के समान सारभूत अमृत से एवं छन्दों (मन्त्रों) से सम्पन्न होने वाले यज्ञों के पुण्यफल से युक्त हों ॥१ ॥

१६७९. यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।

यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वासस आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥२ ॥

वृक्ष के अग्रभाग से गिरी वर्षा की जल बूँद, वृक्ष के फल के समान ही है । अन्तरिक्ष से गिरा जल बिन्दु निर्दोष वायु फल के समान है । शरीर अथवा पहिने वस्त्रों पर उसका स्पर्श हुआ है, वह प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त जल के समान निर्ऋति देव (पापों को) को हम से दूर करें ॥२ ॥

१६८०. अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव ।

सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥३ ॥

(यह अमृत वर्षा) उबटन, सुगंधित द्रव्य, चन्दन, आदि सुवर्ण धारण तथा वर्चस् की तरह समृद्धि रूप है । यह पवित्र करने वाला है । इस प्रकार पवित्रता का आच्छादन होने के कारण पापदेवता और शत्रु हमसे दूर रहें ॥३ ॥

[१२५ - वीर-रथ सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - वनस्पति । छन्द - त्रिष्टुप्, २ जगती ।]

१६८१. वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।

गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥१ ॥

वनस्पति (काष्ठ) निर्मित हे रथ ! आप हमारे मित्र होकर मजबूत अंग तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से सम्पन्न होकर संकटों से हमें पार लगाएँ । आप श्रेष्ठ कर्म द्वारा बँधे हुए हैं, इसलिए वीरतापूर्वक कार्य करें । हे रथ ! आपका सवार जीतने योग्य समस्त वैभव को जीतने में समर्थ हो ॥१ ॥

१६८२. दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।

अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥२ ॥

हे अध्वर्यो ! पृथ्वी और सूर्यलोक से ग्रहण किये गये तेज, वनस्पतियों से प्राप्त बल तथा जल से प्राप्त ओज युक्त रस को नियोजित करें ।सूर्य किरणों से आलोकित वज्र के समान सुदृढ़ रथ को यजन कार्य में समर्पित करें ॥

१६८३. इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।

स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥३ ॥

हे दिव्य रथ ! आप इन्द्रदेव के वज्र तथा मरुतों की सैन्यशक्ति के समान सुदृढ़ एवं मित्रदेव के गर्भरूप आत्मा तथा वरुणदेव की नाभि के समान हैं । हमारे द्वारा समर्पित हविष्यान्न को प्राप्त कर तृप्त हों ॥३ ॥

[१२६ - दुन्दुभि सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - दुन्दुभि । छन्द -भुरिक् त्रिष्टुप्, ३ पुरोबृहती विराड्गर्भा त्रिष्टुप् ।]

१६८४. उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत् ।

स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥१ ॥

हे दुंदुभे ! आप अपनी ध्वनि से भू तथा द्युलोक को गुंजायमान करें, जिससे जंगम तथा स्थावर जगत् के प्राणी आपको जानें ।आप इन्द्र तथा दूसरे देवगणों से प्रेम करने वाले हैं, अतः हमारे रिपुओं को हमसे दूर हटाएँ ॥१

१६८५. आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥२ ॥

हे दुंदुभे ! आपकी आवाज को सुनकर शत्रु-सैनिक रोने लगें । आप हमें तेजस् प्रदान करके हमारे पापों को नष्ट करें । आप इन्द्रदेव की मुष्टि के समान सुदृढ़ होकर हमें मजबूत करें तथा हमारी सेना के समीप स्थित दुष्ट शत्रुओं का पूर्णरूपेण विनाश करें ॥२ ॥

१६८६. प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! उद्घोष करके आप दुष्टों की सेनाओं को भली प्रकार दूर भगाएँ । हमारी सेना विजय उद्घोष करती हुई लौटे । हमारे द्रुतगामी अश्वों के साथ वीर रथारोही घूमते हैं, वे सब विजयश्री का वरण करें ॥३ ॥

[१२७ - यक्ष्मनाशन सूक्त]

[**ऋषि** - भृग्वङ्गिरा । **देवता** - वनस्पति, यक्ष्मनाशन । **छन्द** - अनुष्टुप्, ३ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ।]

१६८७.विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन॥

हे ओषधे ! तुम कफ, क्षय, फोड़े-फुंसी, श्वास-खाँसी में रक्त गिरना आदि रोगों को नष्ट करो । तुम त्वचा के विकारों एवं मांस में उत्पन्न विकारों को नष्ट करो ॥१ ॥

१६८८. यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥२ ॥

हे कास श्वासयुक्त बलास रोग ! काँख में उत्पन्न दो गिल्टियाँ तुम्हारे कारण हैं । मैं उसकी ओषधि को जानता हूँ । चीपुद्र (ओषधि विशेष जो आजकल ज्ञात नहीं) उसे समूल नष्ट करती है ॥२ ॥

१६८९. यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः ।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥३ ॥

नाड़ियों के मुख से अनेक प्रकार से फैलकर जो विसर्पक रोग हाथ, पैर, आँख, कान आदि तक पहुँच जाता है, उसे तथा विद्रध नामक व्रण को, हृदय रोग को, गुप्त यक्ष्मा रोग को तथा निम्नगामी रोग को मैं ओषधियों द्वारा वापस लौटा (प्रभावहीन कर) देता हूँ ॥३ ॥

[१२८ - राजा सूक्त]

[**ऋषि** - अथर्वाङ्गिरा । **देवता** - सोम, शकधूम । **छन्द** - अनुष्टुप् ।]

१६९०. शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥१ ॥

नक्षत्रों ने शकधूम (अग्नि विशेष) को राजा बनाया ; क्योंकि वे चाहते थे कि यह नक्षत्र मण्डल का राज्य उन्हें शुभ दिवस में प्राप्त हो ॥१ ॥

१६९१. भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः ।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥२ ॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल एवं सायंकाल हमारे लिए पुण्यदायक हो तथा रात्रि का समय भी हमारे लिए शुभ हो ॥२ ॥

१६९२. अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥३ ॥

हे नक्षत्र मण्डल के राजा शकधूम ! आप दिन और रात्रि, नक्षत्रों, सूर्य एवं चन्द्र को हमारे लिए शुभप्रद करें ॥३ ॥

१६९३. यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥४ ॥

हे शकधूम ! आपने सायंकाल, रात्रि एवं दिन आदि 'काल' हमारे लिए पुण्यप्रद किये हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥४ ॥

[१२९ - भगप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - भग । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१६९४. भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना । कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥

शांशप वृक्ष के (अथवा शान्तिपूर्ण) ऐश्वर्य के समान आनन्ददायी इन्द्रदेव के द्वारा मैं अपने आपको भाग्यशाली बनाता हूँ । हमारे शत्रु हमसे दूर रहें ॥१ ॥

१६९५. येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह । तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥२॥

हे ओषधे ! तुम भग देवता के तेज के साथ हमें संयुक्त करके सौभाग्यशाली बनाओ । हमारे शत्रु हमसे दूर रहें ॥२ ॥

१६९६. यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः । तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ।

(हे देव !) जो अन्न और जो गतिशील ऐश्वर्य वृक्षों (ओषधि) में स्थित हैं, उसके प्रभाव से आप हमें सौभाग्यशाली बनाएँ । हमारे शत्रु हमसे विमुख होकर दूर चले जाएँ ॥३ ॥

[१३० - स्मर सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता - स्मर । छन्द - अनुष्टुप्, १ विराट् पुरस्ताद् बृहती ।]

१६९७. रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥१ ॥

यह काम (कामासक्त स्वभाव) रथ (मनोरथ) से जीतने वाली अप्सराओं एवं रथ द्वारा जीती गई अप्सराओं का है । हे देवताओ ! आप इस 'काम' को हमसे दूर करें । हमें पीड़ित न कर सकने के कारण वह शोक करे ॥१ ॥

१६९८. असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥२ ॥

यह मुझे स्मरण करे । हमारा प्रिय हमें स्मरण करे । हे देवताओ ! आप इस 'काम' को हमसे दूर करें, जिससे यह हमें पीड़ित न कर पाने से शोक करे ॥२ ॥

१६९९. यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥३ ॥

यह हमारा स्मरण करे, परन्तु हमें इसका कभी ध्यान भी न आए। हे देवताओ ! आप इस 'काम' को हमसे दूर करें। यह हमारे लिए शोक करे ॥३ ॥

१७००. उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥४ ॥

हे मरुतो ! उन्मत्त करो। हे अन्तरिक्ष ! उन्मत्त करो। हे अग्निदेव ! आप उन्मत्त करें। वह काम (हमें उन्मत्त न कर पाने के कारण) शोक करे ॥३ ॥

[१३१ - स्मर सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा। देवता - स्मर। छन्द - अनुष्टुप्।]

१७०१. नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥१ ॥

जो तेरी व्यथाएँ सिर से एवं पैर से आई हैं, उन्हें मैं दूर करता हूँ। हे देवताओ ! आप काम को हमसे दूर करें। वह मुझे प्रभावित न कर सके ॥१ ॥

१७०२. अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥२ ॥

हे अनुमते ! आप इस (प्रार्थना) को अनुकूल मानें। हे आकूते ! आप मेरी इन विनम्रता से प्रसन्न हों। हे देवताओ ! आप कामविकार को हमसे दूर करें। वह मुझे प्रभावित न कर सके ॥२ ॥

१७०३. यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥३ ॥

जो बारह कोस अथवा बीस कोस (१ कोस = २मील) अथवा इससे भी आगे घोड़े की सवारी से पहुँच सकने योग्य दूरी से यहाँ वापस आते हैं। हे देव ! ऐसे आप हमारे पुत्रों के पिता हैं ॥३ ॥

[१३२ - स्मर सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा। देवता - स्मर। छन्द - १ त्रिपदा अनुष्टुप्, २,४ त्रिपदा विराट् महाबृहती, ३ भुरिक् अनुष्टुप्, ५ त्रिपदा महाबृहती।]

१७०४. यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥१ ॥

समस्त देवताओं ने जगत् के प्राणियों को काम - पीड़ित करने के लिए जल से सींचा था। मैं वरुणदेव की धारणा शक्ति के द्वारा कामविकार को संतप्त करता हूँ ॥१ ॥

१७०५. यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥२ ॥

विश्वेदेवा ने जिस काम को जल में अभिषिक्त किया, मैं वरुण की शक्ति के द्वारा काम को संतप्त करता हूँ ॥२॥

१७०६. यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥३ ॥

इन्द्राणी ने काम को मानसिक पीड़ा देने के लिए जल में अभिषिक्त किया । हे योषित् ! आपके कल्याण के लिए वरुणदेव की शक्ति से मैं उसे शान्त करता हूँ ॥३ ॥

१७०७. यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥४ ॥

इन्द्रदेव और अग्निदेव द्वारा जल में अभिषिक्त काम को हम वरुणदेव की धारणा शक्ति से संतप्त करते हैं ॥

१७०८. यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥५ ॥

मित्रावरुणदेव ने मनोवेग रूप काम को जल से अभिषिक्त किया था, उस काम को मैं संतप्त करता हूँ ॥५ ॥

[१३३ - मेखलाबन्धन सूक्त]

[ऋषि - अगस्त्य । देवता - मेखला । छन्द - १ भुरिक् त्रिष्टुप्, २,५ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ४ जगती ।]

१७०९. य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥१ ॥

देवताओं ने इस मेखला को बाँधा है, जो हमें सदैव कर्म करने के लिए तत्पर रखती है तथा कर्म में लगाती है । हम जिन देवताओं के अनुशासन में रहते हुए कार्य-व्यवहार कर रहे हैं । वे हमें सफल होने का आशीर्वाद प्रदान करें और बन्धनों से मुक्त करें ॥१ ॥

१७१०. आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥२ ॥

हे आहुतियों से संस्कारित मेखले ! तुम ऋषियों की आयुध हो । तुम किसी व्रत के पूर्व बाँधी जाती हो । तुम शत्रुओं के योद्धा को मारने वाली हो ॥२ ॥

१७११. मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥३ ॥

मैं वैवस्वत् यम का कर्म करने वाला बनता हूँ ; क्योंकि मैं ब्रह्मचर्य व्रत (तप,दम,शम) एवं विशेष दीक्षा नियमों का पालन करने वाला हूँ । व्रत-भंग करने वाले शत्रुओं को मैं अपने अभिचार कर्म द्वारा नष्ट करूँगा । इस मेखला बन्धन से मैं शत्रुओं की आक्रामक गति को रोकता हूँ ॥३ ॥

१७१२. श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वस ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥४ ॥

यह मेखला (मर्यादा) श्रद्धा की पुत्री एवं तपः शक्ति से उत्पन्न है । यह पदार्थों के निर्माता ऋषियों की बहिन है । हे मेखले ! तुम हमें उत्तम भविष्य निर्माण के लिए सुमति एवं धारण-शक्तिसम्पन्न सद्बुद्धि प्रदान करो तथा तपः शक्ति एवं आत्मबल सम्पन्न बनाओ ॥४ ॥

१७१३. यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥५ ॥

हे मेखले ! तुम्हें भूतों के निर्माता आदि ऋषियों ने बाँधा था । अतः तुम अभिचार दोष का नाश कर दीर्घायु के लिए मुझसे बँधो ॥५ ॥

[१३४ - शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - वज्र । छन्द - परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री, ३ अनुष्टुप् ।]

१७१४. अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१ ॥

इन्द्रदेव के वज्र के समान यह दण्ड भी शत्रुओं को रोकने एवं उनके राज्य को नष्ट करने में समर्थ हो । जिस प्रकार इन्द्रदेव ने वृत्रासुर के गले को एवं भुजाओं को काटा था, वैसे ही यह दण्ड शत्रु को नष्ट करे ॥१ ॥

१७१५. अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥२ ॥

(वह शत्रु) उत्कृष्टों से नीचे तथा और भी नीचे होकर पृथ्वी में छिपकर रहे या गड़ जाए, पुनः ऊपर न उठे ॥२ ॥

१७१६. यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥३ ॥

हे वज्र ! तुम शत्रुओं को खोजकर मारो एवं उन्हें सीमान्त स्थान पर गिराकर नष्ट कर डालो ॥३ ॥

[१३५ - बलप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि - शुक्र । देवता - वज्र । छन्द - अनुष्टुप् ।]

१७१७. यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१ ॥

मैं पौष्टिक अन्न को खाता हूँ, ताकि मेरा बल बढ़े । मैं वज्र धारण करता हूँ और शत्रु के कंधों को उसी प्रकार काटता हूँ, जिस प्रकार इन्द्रदेव वृत्रासुर के कंधों को काटकर अलग करते हैं ॥१ ॥

१७१८. यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥२ ॥

जिस प्रकार समुद्र, नदी को पीकर अपने में समा लेता है । उसी प्रकार मैं भी जो पीता हूँ, सो ठीक ही पीता हूँ । मैं पहले शत्रु के प्राण, अपान आदि के रस को पीकर शत्रु को ही पी जाता हूँ ॥२ ॥

१७१९. यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३ ॥

जो मैं निगलता हूँ, उसे ठीक ही निगलता हूँ । शत्रु के प्राण, अपान, चक्षुरूप आदि रस को निगलता हूँ, फिर बाद में शत्रु को ही निगल जाता हूँ ॥३ ॥

[१३६ - केशदृंहण सूक्त]

[ऋषि- वीतहव्य । देवता-नितली वनस्पति । छन्द-अनुष्टुप्, २ एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती ।]

१७२०. देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥१ ॥

हे ओषधे ! तुम पृथ्वी पर उत्पन्न हुई हो । तिरछी होकर फैलती हुई हे ओषधि देवि ! हम आपको अपने केशों को सुदृढ़ करने केलिए, खोदकर संगृहीत करते हैं ॥१ ॥

१७२१. दृंह प्रत्नाञ्जनयाजाताञ्जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥२ ॥

हे दिव्यौषधे !तुम केशों को लम्बे, सुदृढ़ करो एवं जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन केशों को उत्पन्न करो ॥

१७२२.यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते । इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा॥

तुम्हारे जो केश गिर जाते हैं, जो मूल से टूट जाते हैं, उस दोष को ओषधि रस से भिगोकर दूर करते हैं ॥३ ॥

[१३७ - केशवर्धन सूक्त]

[ऋषि- वीतहव्य । देवता-नितली वनस्पति । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१७२३. यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ।

जिन महर्षि जमदग्नि ने अपनी कन्या के केशों की वृद्धि के लिए , जिस ओषधि को खोदा, उसे वीतहव्य नाम वाले महर्षि, कृष्ण केश नामक मुनि के घर से लाए थे ॥१ ॥

१७२४. अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥२ ॥

हे केश बढ़ाने की इच्छा वाले ! तुम्हारे केश पहले तो अँगुलियों द्वारा नापे जा सकते थे, वे अब 'व्याम' (दोनों हाथ फैलाने पर जो लम्बाई होती है) जितने लम्बे हो गये हैं । सिर के चारों ओर के काले बाल 'नड' नाम वाले तृणों के समान शीघ्रता से बढ़ें ॥२.॥

१७२५. दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्ता शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥३ ॥

हे ओषधे ! तुम केशों के अग्रभाग को लम्बा, मध्य भाग को स्थिर एवं मूल भाग को सुदृढ़ करो । 'नड' (नरकट) जैसे नदी के किनारे पर शीघ्रता से बढ़ते हैं, वैसे ही सिर के चारों ओर काले केश बढ़ें ॥३ ॥

[१३८ - क्लीबत्व सूक्त]

[ऋषि - अथर्वा । देवता- नितली वनस्पति । छन्द-अनुष्टुप्, ३ पथ्यापंक्ति ।]

१७२६. त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे । इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥

हे ओषधे ! आप ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । इस समय आप हमारे द्वेष - पुरुष को क्लीब स्त्री के समान बनाएँ ॥१ ॥

१७२७. क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥२ ॥

हे ओषधे ! आप हमारे शत्रुओं को क्लीब और स्त्री के समान करें । उनके पुरुषत्व के प्रतीक अंग विशेष को इन्द्रदेव वज्र से चूर्ण कर दें एवं सिर पर लम्बे केश वाला बनाएँ ॥२ ॥

१७२८. क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥३ ॥

हे शत्रु हमने तुम्हें इस कर्म से क्लीब एवं नपुंसक कर दिया है । हम ऐसे नपुंसक एवं वीर्य शून्य शत्रु के लम्बे केशों में कुरीर एवं कुम्ब (जाल और आभूषण) धारण कराते हैं ॥३ ॥

१७२९. ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम् ।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः ॥४ ॥

देवताओं द्वारा बनाई गई अण्डकोषों के अधीन जो दोनों वीर्य-वाहिका नलिकाएँ हैं, उनको दण्ड के द्वारा हम भंग करते हैं ॥४ ॥

१७३०. यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥५ ॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ नरकट आदि को पत्थरों से कूटती हैं, वैसे ही हम तेरे अण्डकोषों के प्रभाव को भंग करते हैं ॥५ ॥

[१३९ - सौभाग्यवर्धन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-वनस्पति । छन्द-त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती, २-५ अनुष्टुप् ।]

१७३१. न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम । शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥१ ॥

हे ओषधे ! सौभाग्य को बढ़ाने वाली होकर आप प्रकट होकर हमें सौभाग्यशाली बनाएँ । आपकी सौ शाखाएँ तथा तैंतीस उप शाखाएँ हैं । उस सहस्रपर्णी के द्वारा हम तुम्हारे हृदय को संतप्त करते हैं ॥१ ॥

१७३२. शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथा शुष्कास्या चर ॥२ ॥

(हे कामिनी !) तुम्हारा हृदय हमारे विषय में चिन्तन करके सूख जाए । हमें काम में शुष्क करके तुम्हारा मुख शुष्क हो तथा तुम सूखे मुख वाली होकर चलो ॥२ ॥

१७३३. संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥३ ॥

हे ओषधे ! आप सौभाग्यदायिनी एवं पीतवर्णी हैं । आप सेवनीय और उत्साहवर्द्धक हैं । आप हम दोनों को आकर्षित करके एक दूसरे के अनुकूल करके हमारे हृदयों को अभिन्न कर दें ॥३ ॥

१७३४. यथोदकमपपुषोऽपशुष्यत्यास्यम् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥४ ॥

(हे कामिनी !) जिस प्रकार तृषा से पीड़ित व्यक्ति का मुख सूखता है, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करने की कामना से, वियोग ताप से तप्त हुई, सूखे मुँह वाली होकर चलो ॥४ ॥

१७३५. यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।

एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥५ ॥

जिस प्रकार नेवला साँप को टुकड़े-टुकड़े काटकर पुनः जोड़ देता है । उसी प्रकार हे वीर्यवती ओषधे ! आप वियोगी स्त्री-पुरुष को परस्पर पुनः मिला दें ॥५ ॥

[१४०- सुमङ्गलदन्त सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-ब्रह्मणस्पति या दन्त समूह । छन्द-उरोबृहती, २ उपरिष्टात् ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ३ आस्तारपंक्ति ।]

१७३६. यौ व्याघ्रावववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।

यौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥१ ॥

व्याघ्र के समान हिंसक, बढ़े हुए दो दाँत माता और पिता को कष्ट देने वाले हैं । हे मन्त्राधिपति देव ! हे अग्निदेव ! आप उन्हें माता-पिता के लिए सुख प्रदान करने वाला बनाएँ ॥१ ॥

१७३७. व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।

एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥२ ॥

हे दाँतो ! तुम चावल , जौ, उड़द एवं तिल खाओ । यह तुम्हारा भाग तुम्हारी तृप्ति के निमित्त प्रस्तुत है । तुम तृप्त होकर माता-पिता को कष्ट देने वाले न रहो ॥२ ॥

१७३८. उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।

अन्यत्र वां घोरं तन्व१: परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३ ॥

ये दोनों दाँत मित्ररूप हों, सुख देने वाले हों । इस बालक के शारीरिक कष्ट को देखकर माता-पिता को जो कष्ट होता है, उस कष्ट से माता-पिता मुक्त हों ॥३ ॥

[१४१ - गोकर्णलक्ष्यकरण सूक्त]

[ऋषि- विश्वामित्र । देवता-अश्विनीकुमार । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१७३९. वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।

इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥१ ॥

वायुदेव इन गौओं को एकत्रित करें । त्वष्टादेव इन्हें पुष्ट करें । इन्द्रदेव इन्हें स्नेहयुक्त वचन कहें । रुद्रदेव इनकी चिकित्सा करें और इन्हें बढ़ाएँ ॥१ ॥

१७४०. लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।

अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥२ ॥

हे गौओं के पालक ! लाल वर्ण वाले ताँबे के शस्त्र द्वारा जोड़ी (मिथुन) का चिह्न अंकित करो । अश्विनीकुमार वैसा ही चिह्न बनाएँ , जो सन्तति के साथ अति हितकारी हो ॥२ ॥

१७४१. यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।

एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥३ ॥

जिस प्रकार देवताओं, असुरों एवं मानवों द्वारा शुभ चिह्न अंकित किए जाते हैं । हे अश्विनीकुमारो ! आप भी अनेक प्रकार के पुष्टिकारक शुभ चिह्न अंकित करें ॥३ ॥

[१४२ - अन्नसमृद्धि सूक्त]

[ऋषि- विश्वामित्र । देवता-वायु । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१७४२. उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥१ ॥

हे यव ! आप उगकर ऊँचे हों । अनेक प्रकार से बढ़ें । अपने रसवीर्य रूप-तेजस् से हमारे भण्डारण पात्रों को भर दें । आकाश से उपलात्मक वज्र तुम्हें नष्ट न करे ॥१ ॥

१७४३. आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥२ ॥

हमारे वचनों को सुनने वाले 'यवदेव' आकाश के समान ऊँचे तथा समुद्र के समान अक्षय हों । हम इस भूमि में (वृद्धि पाने के लिए) आपसे प्रार्थना करते हैं ॥२ ॥

१७४४. अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥३ ॥

हे यव ! आपके पास बैठने वाले कर्मकर्त्ता क्षयरहित हों । धान्य-राशियाँ अक्षय रहें । इन्हें घर लाने वाले एवं उपयोग करने वाले अक्षय सौभाग्य वाले हों ॥३ ॥

॥इति षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं काण्डम् ॥

[१ - आत्मा सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- आत्मा । छन्द- त्रिष्टुप्, २ विराट् जगती ।]

इस सूक्त के ऋषि "अथर्वा ब्रह्मवर्चस कामः" अर्थात् अविचल भाव से ब्रह्मवर्चस की कामना करने वाले हैं। देवता है 'आत्मा'। इस आधार पर इस सूक्त में ब्रह्मवर्चस की साधना करते हुए आत्मतत्त्व का बोध करने के सूत्र उद्घाटित किये गये प्रतीत होते हैं-

१७४५. धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥१॥

जो (साधक) अपने मन एवं धी (बुद्धि) की सामर्थ्य से वाणी के मूल उत्पत्ति स्थान तक पहुँचते हैं और ऋत-सत्य वचन ही बोलते हैं, जो तीसरे (चित्त) के द्वारा ब्रह्म से संयुक्त होकर वृद्धि पाते हैं और चतुर्थ (अहंकार) द्वारा (परमात्मसत्ता के) धेनु (धारक सामर्थ्य वाले) विशेषता पर आस्था रखते हैं (वे ही परम लक्ष्य पाते हैं।) ॥१॥

[अन्तःकरण चतुष्टय के चार विभाग हैं- मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। साधक पहले दो- मन एवं बुद्धि के संयोग से वाणी के मूल उत्पत्ति स्थान तक पहुँचकर ऋत भाषण करें। पाणिनीय शिक्षा में वाणी की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि आत्मा बुद्धि के संयोग से अर्थ विशेष का अनुसंधान करती है और उसे व्यक्त करने के लिए मन को प्रेरित करती है। मन शरीरस्थ अग्नि को और अग्नि वायु को गति देती है, तब वायु के संघात से स्वर की उत्पत्ति होती है। इस आधार पर वाणी के मूल तक पहुँचने से साधक आत्मतत्त्व का बोध कर लेता है। तृतीय करण चित्त है, जिसमें संस्कार रहते हैं। चित्त को ब्रह्म के साथ संयुक्त करके बढ़ाएँ। चौथे अहंकार 'स्व' के बोध से आत्मा तथा ब्रह्म की 'धेनु' कामधेनु- सामर्थ्य की अवधारणा करें; ऐसा ऋषि-निर्देश है। ऐसा करने वाले को क्या लाभ होते हैं? इसे अगले मन्त्र में स्पष्ट किया गया है।]

१७४६. स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्व१: स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥२॥

वह (प्रथम मन्त्र के अनुसार साधना करने वाला साधक) ही (वास्तव में) उत्पन्न हुआ कहा जाता है। वह पुत्र (जीव) अपने माता-पिता (ब्रह्म एवं प्रकृति) को जान लेता है। वह पुनः- पुनः दान देने वाला (अक्षय दिव्य सम्पदा का अधिकारी) हो जाता है। वह अन्तरिक्ष एवं द्युलोक को अपने अधीन कर लेता है; वह विश्वरूप हो जाता है और सर्वत्र संव्याप्त हो जाता है ॥२॥

[२ - आत्मा सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- आत्मा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१७४७. अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥१॥

जो (साधक) अविचल पिता (परमात्मा) देवों से सम्बन्ध रखने वाले माता के गर्भ तथा चिर युवा पिता के उत्पादक तेज को तथा इनके संयोग से चलने वाले इस (विश्वचक्र रूप) यज्ञ को मनः शक्ति से देखता (जानता) है; वह यहाँ बोले और हमें उसके बारे में उपदेश दे ॥१॥

[३ - आत्मा सूक्त]

[ऋषि-अथर्वा । देवता-आत्मा । छन्द-त्रिष्टुप् ।]

१७४८. अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥१ ॥

वह परमात्मा इस (विश्व व्यवस्था के अनुसार) विविध श्रेष्ठ कर्मों को उत्पन्न करता है । वह तेजस्वी मधुरता को धारण करने वाला, वरणीय (प्रभु) विस्तृत मार्ग पर आगे बढ़ाता हुआ अपने (सूक्ष्म) शरीर से (प्राणी) साधक के शरीर को प्रेरित करता है ॥१ ॥

[४ - विश्वप्राण सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- वायु । छन्द-त्रिष्टुप् ।]

१७४९. एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१ ॥

उत्तम प्रकार से जिनका आवाहन किया जाता है । वे सर्वप्रेरक प्रजापति तथा वायुदेव एक और दस से, दो और बीस से तथा तीन और तीस शक्तियों से विशेष प्रकार से युक्त होकर यज्ञ में पधारें और मनोकामना पूर्ण करें तथा उन शक्तियों को हमारे कल्याण के लिए मुक्त करें ॥१ ॥

[५ - आत्मा सूक्त]

[ऋषि अथर्वा । देवता- आत्मा । छन्द-त्रिष्टुप्, ३ पंक्ति, ४ अनुष्टुप् ।]

१७५०. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१ ॥

जो पूर्व में यज्ञ द्वारा यज्ञपुरुष का यजन (पूजन) करके देवत्व को प्राप्त हुए हैं; वे इस महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ कर्म को सम्पन्न करके, उस सुखपूर्ण स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं , जहाँ पहले से ही साधन- सम्पन्न देवता रहते हैं ॥१ ॥

१७५१. यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥२ ॥

जो यज्ञ विश्वात्मारूप से प्रकट होकर सर्वत्र कारणरूप से व्याप्त हुआ, वह विशिष्ट ज्ञान का साधन बना । फिर वही वृद्धि को प्राप्त होकर , देवगणों के स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हुआ है, ऐसा यज्ञ हमें धन प्राप्त कराए ॥२ ॥

१७५२. यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥३ ॥

श्रेष्ठ कर्म से प्राप्त देवत्वधारी याजक , हविरूप अमर मन से अमर देवों का यजन करते हैं । इस प्रकार परमाकाश में उदित परमात्मारूप सूर्य के सतत प्रकाश को प्राप्त करते हैं ॥३ ॥

१७५३. यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे।

देवताओं ने पुरुष (आत्मा) रूपी हवि से जो यज्ञ किया है । अन्य विशिष्ट हवि द्वारा किया गया यज्ञ क्या इस यज्ञ से महान् हो सकता है ? ॥४ ॥

१७५४. मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥५ ॥

विवेकरहित यजमान, श्वान और गौ आदि पशुओं के अवयवों के द्वारा यजन करता है, तो यह अकर्म मूर्खतापूर्ण और निन्दनीय है । जो मन के द्वारा यज्ञ की महान् प्रक्रिया को जानते हैं, ऐसे आत्म-यज्ञ को जानने वाले परमज्ञानी महापुरुष ही परमात्मा के स्वरूप को बतलाएँ ॥५ ॥

[६ - अदिति सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-अदिति । छन्द-त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१७५२. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१ ॥

यह अदिति ही स्वर्ग और अन्तरिक्ष है । यही माता- पिता है और यही पुत्र है । समस्त देव एवं पंचजन भी यही अदिति है; जो उत्पन्न हुए हैं और उत्पन्न होने वाले हैं, वे भी अदिति ही हैं ॥१ ॥

[अदिति का अर्थ है- अखण्डित । ब्रह्माण्डगत अखण्ड शक्ति प्रवाह ही अदिति है । उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती रहती है ।]

१७५६. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥२ ॥

उत्तम कर्म करने वालों का हित करने वाली, सत्य की रक्षक, अनेकानेक क्षात्र तेज दिखाने वाली, अजर, विशाल, शुभकारी, सुख देने वाली, योग-क्षेम चलाने वाली तथा अन्न देने वाली माता अदिति का हम रक्षा के लिए आवाहन करते हैं ॥२ ॥

[७ - आदित्यगण सूक्त (६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-अदिति । छन्द-विराट् जगती ।]

१७५७. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१ ॥

उत्तम प्रकार से रक्षा करने वाली , अहिंसक, प्रकाशयुक्त, उत्तम सुख देने वाली, उत्तम मार्ग पर कुशलतापूर्वक चलाने वाली, पृथिवीमाता की शरण में हम जाते हैं । ये सुदृढ़ पतवार एवं अछिद्र नौका के समान तारने वाली हैं ।

१७५८. वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥२ ॥

अन्न की उत्पत्ति करने के लिए अन्न देने वाली महान् माता अदिति या मातृभूमि का हम यशोगान करते हैं । जिसके ऊपर यह विशाल अन्तरिक्ष है, वह पृथिवी माता हमको त्रिगुणित सुख प्रदान करे ॥२ ॥

[८ - आदित्यगण सूक्त (७)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-अदिति । छन्द-आर्षी जगती ।]

१७५९. दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् ।

तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१ ॥

जो असुर समुद्र के मध्य में अति गहरे स्थान में रहते हैं, उन्हें वहाँ से हटाकर, मातृभूमि की स्वाधीनता चाहने वाले देवगणों को उनके स्थान पर स्थापित करते हैं। ये देवगण योग्य हैं एवं इनकी वहाँ आवश्यकता है ॥१ ॥

[९ - शत्रुनाशन सूक्त (८)]

[ऋषि- उपरिबभ्रव । देवता-बृहस्पति । छन्द-त्रिष्टुप् ।]

१७६०. भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु ।

अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥१ ॥

हे मनुष्य ! तुम सुख को गौण एवं परम कल्याण को प्रधान मानने वाले मार्ग का अवलम्बन करो। इस देवमार्ग के मार्गदर्शक बृहस्पति (देवगुरु) के समान ज्ञानी हों। इस पृथ्वी पर श्रेष्ठ वीर पुरुष उत्पन्न हों, जिससे शत्रु दूर रहें अर्थात् यहाँ शान्ति रहे ॥१ ॥

[१० - स्वस्तिदा पूषा सूक्त (९)]

[ऋषि- उपरिबभ्रव । देवता- पूषा । छन्द-त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदार्षी गायत्री, ४ अनुष्टुप् ।]

१७६१. प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।

उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१ ॥

पूषा देवता, द्युलोक के मार्ग में अन्तरिक्ष के मार्ग में तथा पृथिवी के मार्ग में प्रकट होते हैं। ये देव दोनों प्रिय स्थानों में प्राणियों के कर्म के साक्षीरूप होकर विचरते हैं ॥१ ॥

१७६२. पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥२ ॥

ये पोषणकर्त्ता देव, सब दिशाओं को यथावत् जानते हैं। वे देव हम सबको उत्तम निर्भयता के मार्ग से ले जाते हैं। कल्याण करने वाले, तेजस्वी, बलवान्, वीर, कभी प्रमाद न करने वाले देव हमारा मार्गदर्शन करते हुए हम सबको उन्नति के मार्ग पर ले चलें ॥२ ॥

१७६३. पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥३ ॥

हे देव पूषन् ! हम आपके व्रतानुष्ठान में रहने से कभी नष्ट न हों। हम आपका व्रत धारण कर आपकी स्तुति करते हुए सदैव धन, पुत्र, मित्र आदि से सम्पन्न रहें ॥३ ॥

१७६४. परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् । पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥४ ॥

हे पोषणकर्त्ता पूषादेव ! आप अपना दाहिना हाथ (उसका सहारा या अभयदान) हमें प्रदान करें। हमारे जो साधनादि नष्ट हो गये हैं, हम उन्हें पुनः प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। आपकी कृपा से वे हमें प्राप्त हों ॥४ ॥

[११ - सरस्वती सूक्त (१०)]

[ऋषि- शौनक । देवता- सरस्वती । छन्द-त्रिष्टुप् ।]

१७६५. यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः ।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥१ ॥

हे सरस्वती देवि ! आपका दिव्य ज्ञानरूपी पय शान्ति देने वाला, सुख देने वाला, मन को पवित्र करने वाला, पुष्टिदाता एवं प्रार्थनीय है। उस दिव्य पय को हमें भी प्रदान करें ॥१ ॥

[१२ - राष्ट्रसभा सूक्त (११)]

[ऋषि- १- शौनक । देवता- सरस्वती । छन्द-त्रिष्टुप् ।]

१७६६. यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥१ ॥

आपकी विशाल, गर्जना वाले, समस्त विश्व में व्याप्त मार्गदर्शक ध्वजा के समान इस जगत् को भूषित करने वाली विद्युत् से हम सबकी धान्यादि की क्षति न हो। सूर्यदेव की किरणों के द्वारा हमारी फसलें पुष्ट हों ॥१ ॥

[१३ - शत्रुनाशन सूक्त (१२)]

[ऋषि- शौनक । देवता- १ सभा - समिति अथवा पितरगण, २ सभा, ३ इन्द्र, ४ मन । छन्द- २-४ अनुष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१७६७. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु ॥१ ॥

समिति और सभा प्रजापति के द्वारा पुत्रियों के समान पालन करने योग्य हैं । वे (समिति एवं सभा) प्रजापति (राजा) की रक्षा करें । हे पितरो ! जिनसे परामर्श माँगूँ, वह सभासद मुझे उचित सलाह प्रदान करे । आप हमें सभा में विवेकसम्मत एवं नम्रतापूर्वक बोल सकने की सद्बुद्धि प्रदान करें ॥१ ॥

१७६८. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥२ ॥

हे सभे ! हम आपके नाम को जानते हैं । आपका 'नरिष्टा' (अरिष्टरहित) नाम उचित ही है । सभा के जो कोई भी सदस्य हों, वे हमारे साथ समान विचार एवं वाणी वाले होकर रहें ॥२ ॥

१७६९. एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥३ ॥

सभा में विराजमान इन समस्त सभासदों के विशेष ज्ञान एवं वर्चस् को ग्रहण कर मैं लाभान्वित होता हूँ । इन्द्रदेव हमें समस्त सभा के सामने ऐश्वर्यवान् बनाएँ ॥३ ॥

१७७०. यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥४ ॥

हे सभासदो ! हमसे विमुख हुए, आपके मनों को, हम अपनी ओर आकर्षित करते हैं । अतः आप सब सावधान होकर मेरी बात सुनें और उस पर विचार करें ॥४ ॥

[१४ - सविता सूक्त (१३)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सूर्य । छन्द-अनुष्टुप् ।]

१७७१. यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१ ॥

सूर्य उदित होकर, जिस प्रकार तारों के प्रकाश को अपने प्रकाश से अभिभूत करके क्षीण कर देता है, उसी प्रकार हम द्वेष करने वाले स्त्री एवं पुरुषों के वर्चस् (प्रभाव) को नष्ट करते हैं ॥१ ॥

[दूसरों का प्रभाव कम करने का यही श्रेष्ठ ढंग है कि अपना प्रभाव अत्यधिक प्रखर बनाया जाए।]

१७७२. यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥२ ॥

सूर्य उदित होकर सोते हुए पुरुषों के तेज को जिस प्रकार हर लेता है, उसी प्रकार मैं उन विद्वेषियों का तेज हरण कर लूँ, जो मुझे आता (प्रगति करता) देखकर कुढ़ते हैं ॥२ ॥

[१५ - सविता सूक्त (१४)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सविता । छन्द-अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ४ जगती ।]

१७७३. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥१ ॥

द्यौ और पृथ्वी लोक के रक्षक, समस्त जगत् के उत्पादक, सत्यप्रेरक, ज्ञानी, जगत्कर्त्ता रमणीय पदार्थों के धारक, सबके प्यारे एवं ध्यान करने योग्य सविता देव की हम उपासना करते हैं ॥१ ॥

१७७४. ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥२ ॥

जिनका अपरिमित तेज, स्वेच्छा से ऊपर फैलता हुआ सब जगह प्रकाशित होता है; श्रेष्ठ कर्मकर्त्ता देव, जिनकी प्रेरणा से, स्वर्णिम किरणों (हाथों) से स्वर्ग (दायक सोम) उत्पन्न करते हैं, ऐसे सवितादेव की हम प्रार्थना करते हैं ॥२ ॥

१७७५. सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥३ ॥

हे सवितादेव ! जिस प्रकार आपने आरम्भ में जन्मे मनुष्यों को समस्त आवश्यक पदार्थ प्रदान किए हैं। उसी प्रकार इस पालक यजमान को देह (पुत्र-पौत्रादि), श्रेष्ठता एवं अन्य पशु आदि प्रदान करें ॥३ ॥

१७७६. दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥४ ॥

हे देव ! आप सबके प्रेरक, सर्वश्रेष्ठ और सबको अभिलषित पदार्थ प्रदान करते हैं। पूर्व पुरुषों को धन, बल एवं आयु प्रदान करने वाले हे देव ! आप इस अभिषुत आनन्दप्रद सोम को ग्रहण करें। वे गतिमान् देव सर्वत्र अप्रतिहत गति से संचार करते हैं ॥४ ॥

[१६- सविता सूक्त (१५)]

[ऋषि- भृगु । देवता- सविता । छन्द- त्रिष्टुप्]

१७७७. तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥१ ॥

हे सवितादेव ! हम सत्यप्रेरक, विलक्षण, सबकी रक्षा करने वाली, शोभनीय, उत्तम तथा अनेक धारा वाली, उस बुद्धि की याचना करते हैं, जिसे कण्व ऋषि ने प्राप्त किया है ॥१ ॥

[१७ - सविताप्रार्थना सूक्त (१६)]

[ऋषि- भृगु । देवता- सविता । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१७७८. बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित् सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥१ ॥

हे बृहस्पतिदेव एवं सवितादेव ! व्रतपालक यजमान के दोषों को दूर करके, उसे प्रगति की प्रेरणा दें । इस यजमान को अन्य श्रेष्ठ व्रतों के पालन द्वारा सौभाग्यशाली बनाने के लिए आप उद्‌बोधित करें । समस्त देवगण इसका अनुमोदन करें ॥१ ॥

[१८ - द्रविणार्थप्रार्थना सूक्त (१७)]

[ऋषि- भृगु । देवता- सविता (पृथिवी, पर्जन्य) छन्द- १ त्रिपदार्षी गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३-४ त्रिष्टुप् ।]

१७७९. धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः । स नः पूर्णेन यच्छतु ॥१ ॥

विश्व को धारण करने वाले 'धाता देव' जगत् के ईश हैं । समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ देव 'धाता' हमें प्रचुर धन आदि प्रदान करें ॥१ ॥

१७८०. धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥२ ॥

समस्त धन के स्वामी देव 'धाता' का हम श्रेष्ठ बुद्धि से ध्यान करते हैं एवं उनसे याचना करते हैं, प्रसन्न होकर वे हमें अक्षय जीवनीशक्ति प्रदान करें ॥२ ॥

१७८१. धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३ ॥

प्रजा की कामना करने वाले 'धाता देवता' यजमान को श्रेष्ठ पदार्थ प्रदान करें । अदितिदेवी और अन्य देवताओं सहित समस्त देव उसे अमृत प्रदान करें ॥३ ॥

१७८२. धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥४ ॥

धारक, प्रेरक, कल्याणकर्त्ता सवितादेव, प्रजारक्षक, पुरुषार्थयुक्त, प्रकाशरूप अग्निदेव, त्वष्टादेव, विश्व में व्याप्त विष्णुभगवान् हमारी आहुति ग्रहण करें, प्रजा के साथ आनन्द में रहने वाले देव यजमान को धन प्रदान करें ।

[१९ - वृष्टि सूक्त (१८)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- पर्जन्य अथवा पृथिवी । छन्द- चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक्, २ त्रिष्टुप् ।]

१७८३. प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः ।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥१ ॥

हे पृथिवीमाता ! आप हल द्वारा अच्छी प्रकार जोतने पर वर्षा के जल को अच्छी प्रकार धारण करने योग्य हो जाएँ । हे पर्जन्य ! आप दिव्य मेघों के द्वारा श्रेष्ठ जल वृष्टि करें ॥१ ॥

१७८४. न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥२ ॥

जहाँ सोम आदि ओषधियाँ होती हैं एवं सोम की पूजा होती है, वहाँ सब प्रकार कल्याण होता है । वहाँ 'हिम' पीड़ित नहीं करता, ग्रीष्म असह्य ताप नहीं देता एवं वर्षा समय से होती है, जिससे भूमि समृद्धि को प्राप्त होती है ।

[२० - प्रजा सूक्त (१९)]

[**ऋषि**- ब्रह्मा । **देवता**- धाता, प्रजापति, पुष्टपति । **छन्द**- जगती ।]

१७८५. प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ।
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥१ ॥

प्रजापतिदेव पुत्र - पौत्र आदि प्रजाओं को उत्पन्न करें । पोषक धातादेव, उत्तम मन वाला बनाएँ । इससे प्रजाएँ एक मत, एक विचार युक्त एवं विवेकवान् होकर एक उद्देश्य के लिए कार्य करें । पुष्टि के देवता हमें पुष्टि प्रदान करें ॥१ ॥

[२१ - अनुमति सूक्त (२०)]

[**ऋषि**- ब्रह्मा । **देवता**- अनुमति । **छन्द**- अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ४ भुरिक् अनुष्टुप्, ५ जगती, ६ अति शाक्वरगर्भा जगती ।]

१७८६. अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥

(कर्मों की) अनुमति (के अभिमानी) देवी (चन्द्रमा) आज हमारे अनुकूल होकर, हमारे यज्ञ की जानकारी समस्त देवताओं तक पहुँचाएँ । अग्निदेव भी हमारे द्वारा अर्पित हवि को समस्त देवगणों तक पहुँचाएँ ॥१ ॥

१७८७. अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ।

हे अनुमति नामक देवि ! आप हमें कल्याण करने वाले कार्य करने की सुबुद्धि प्रदान करें । आप अग्नि में अर्पित हवि को ग्रहण करके हमें श्रेष्ठ प्रजाएँ प्रदान करें ॥२ ॥

१७८८. अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम् ।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥३ ॥

हे अनुमन्ता पुंदेव ! आप हम पर क्रोधित न हों, बल्कि सुखदायक बुद्धि से हमें पुत्रादि एवं अक्षय धन प्रदान करने का अनुग्रह करें ॥३ ॥

१७८९. यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४ ॥

हे धनदात्री अनुमति देवि !उत्तम नीति वाली,आवाहन करने योग्य, अभिमत फलदायिनी आप हमारे यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाएँ ।हे वरणीय सौभाग्यशाली देवि ! आप हमें उत्तम वीरों सहित श्रेष्ठ धन प्रदान करें ॥४ ॥

१७९०. एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् ।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥५ ॥

हे अनुमति देवि ! आप, हमारे इस विधिवत् सम्पन्न होने वाले यज्ञ की रक्षा करते हुए, सुक्षेत्र पुत्रादि फल देने के लिए पधारें । हे देवि ! आपकी कृपा से ही श्रेष्ठ कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है ॥५ ॥

१७९१. अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः ॥६ ॥

हे अनुमति देवि ! इस चराचर जगत् में, अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वालों एवं सुबुद्धिपूर्वक कार्य करने वालों में अनुमति रूप से संव्याप्त आप हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें ॥६ ॥

[२२ - एको विभुः सूक्त (२१)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- आत्मा । छन्द- पराशक्वरी विराट् गर्भा जगती ।]

१७९२. समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥१ ॥

हे बन्धुओ ! आप सब द्युलोक के स्वामी सूर्यदेव की स्तुति करें । ये देव नवजात प्राणियों के प्रधान स्वामी हैं एवं अतिथि के समान ही पूजनीय हैं । ये सनातन सूर्यदेव इस पितृभूत नवजात प्राणी को अपना समझ कर इस पर कृपा करें । ये देव अनेक सन्मार्गों के संचालक हैं ॥१ ॥

[२३ - ज्योति सूक्त (२२)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- ब्रध्न, उषा । छन्द- द्विपदा एकावसाना विराड् गायत्री, २ त्रिपदा अनुष्टुप् ।]

१७९३. अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१ ॥

ये देव सब में आत्मारूप से व्याप्त हैं । ये सवितादेवता हमें सहस्र वर्ष पर्यन्त स्वस्थ जीवनयापन की शक्ति प्रदान करें । ज्ञानियों में मान्य, अनेक सन्मार्गों के संचालक, उत्तम बुद्धि एवं ज्योति रूप स्थित देव हमें सत्कर्म में प्रेरित कर आयु प्रदान करें ॥ १ ॥

१७९४. ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्। अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ।।

ज्ञानदायिनी, पापनाशनी, तेजस्वी उषाएँ, हमें महान् सवितादेव की ओर प्रेरित करें ॥२ ॥

[२४ - दुष्वप्ननाशन सूक्त (२३)]

[ऋषि- यम । देवता- दुष्वप्ननाशन । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१७९५. दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१ ॥

दुःस्वप्न आना, दुखीजीवन, हिंसकों के उपद्रव, दरिद्रता, विपत्ति का भय, बुरे नामों का उच्चारण और समस्त प्रकार के दुष्टभाषण आदि दोषों का हम निष्कासन करते हैं ॥१ ॥

[२५ - सविता सूक्त (२४)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- सविता । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१७९६. यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१ ॥

जो फल हमें, इन्द्रदेव, अग्निदेव, विश्वेदेवा एवं मरुद्गण आदि देते हैं, वह फल हमें, सत्यधर्मा-प्रजापति, अनुमति देवी एवं सूर्यदेव प्रदान करें ॥१ ॥

[२६ - विष्णु सूक्त (२५)]

[ऋषि- मेधातिथि । देवता-विष्णु । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१७९७. ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥१ ॥

जिनके बल से लोक-लोकान्तर स्थिर हैं, जो अत्यन्त वीर और शूर हैं, जो अपनी बलपूर्ण चेष्टाओं के द्वारा आगे बढ़ते रहते हैं, उन दोनों विष्णु और वरुणदेव को यज्ञ [illegible]ता हवि प्रदान करता है ॥१ ॥

१७९८. यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति [illegible] च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥२ ॥

जिनकी आज्ञा से समस्त जगत् (चौदह भुवन) प्रकाशित हो रहे [illegible], [illegible]म रीति से प्राण धारण किये हैं एवं अपने धर्मकर्त्तव्य, बल एवं शक्तियों से देखते हैं, उन विष्णु एवं वरुणदेव को सर्वप्रथम आहूत करके हम हवि अर्पित करते हैं ॥२ ॥

[२७ - विष्णु सूक्त (२६)]

[ऋषि- मेधातिथि । देवता-विष्णु । छन्द- त्रिष्टुप्, २ त्रिपदा विराड् गायत्री, ३ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्वरी, ४-७ गायत्री ।]

१७९९. विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१ ॥

हम सर्वव्यापक विष्णु के सुखवर्द्धक पुरुषार्थ का वर्णन करते हैं । इन्होंने बहुत प्रकार से प्रशंसित, तीन पदों द्वारा पृथ्वीलोक; स्वर्गलोक एवं अंतरिक्षलोक की शोभनीय रचना की एवं सर्वश्रेष्ठ स्वर्गलोक में स्वयं को स्थित किया है ॥१ ॥

१८००. प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२ ॥

महान् विष्णु के गुणगान करने से उनके दिव्य पराक्रमों का दर्शन होता है । जिस प्रकार विशालकाय सिंह गिरि गुहा आदि सभी स्थानों में संचार करता हुआ अतिशीघ्र कहीं से कहीं पहुँचने में समर्थ होता है, उसी प्रकार स्मरण मात्र से दूर से दूर रहने वाले विष्णुदेव समीप आ जाते हैं ॥२ ॥

१८०१. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ।

हे भगवन् ! आप तीनों लोकों में विचरण करते हैं । समस्त भुवनों में आपका निवास है । हे देव ! आप हमें भी साधनों सहित निवास दें । हे अग्निरूप विष्णुदेव ! इस यज्ञ में अर्पित घृत को ग्रहण करके प्रसन्न होकर आप यजमान को समृद्धि प्रदान करें ॥३ ॥

१८०२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य पांसुरे ॥४ ॥

सर्वव्यापक विष्णुदेव इस जगत् में विचक्रमण (पदन्यास) कर रहे हैं । उन्होंने अपने पाँव को तीन प्रकार से रखा । इनके पाँव में तीनों लोक समा गये ॥४ ॥

१८०३. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । इतो धर्माणि धारयन् ॥५ ॥

दूसरों के प्रभाव में न आने वाले, रक्षक, व्यापक विष्णु भगवान् ने तीन पाँवों को इस जगत् में रखा है एवं तीनों लोकों को धर्मसहित धारण किया है ॥५ ॥

१८०४. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥६ ॥

हे लोगो ! आप सब सर्वव्यापक विष्णु भगवान् के कार्य (स्थान) को देखें । जहाँ से ये सब गुण- धर्मों का अवलोकन करते हैं । ये इन्द्रदेव के अच्छे मित्र हैं ॥६ ॥

१८०५. तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥७ ॥

बुद्धिमान् , ज्ञानीजन, भगवान् विष्णु के परमधाम का प्रत्यक्ष दर्शन उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार द्युलोक में स्थित चक्षुरूप-सूर्यदेव को सब जन देखते हैं ॥७ ॥

१८०६. दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८ ॥

हे विष्णुदेव ! द्युलोक, भूलोक एवं विस्तृत अन्तरिक्ष से प्रचुर साधन आप अपने दोनों हाथों में भरकर हम सबको प्रदान करें ॥८ ॥

[२८ - इडा सूक्त (२७)]

[ऋषि- मेधातिथि । देवता-इडा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८०७. इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१ ॥

जिस धेनु के चरणों में, देवताओं के समान आचरण करने वाले यजमान पवित्र होते हैं, वे सोमपृष्ठा, फलदायी सामर्थ्यवाली घृतपदी, समस्त देवताओं से सम्बन्धित इडा (वाणी) हमारे यज्ञ को सर्वत्र प्रकाशित करे । यह धेनु वैसा ही करे, जिससे हमारे कर्म श्रेष्ठ फलदायक हों ॥१ ॥

[२९ - स्वस्ति सूक्त (२८)]

[ऋषि- मेधातिथि । देवता- वेद । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८०८.वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥१ ॥

वेद (अथवा दर्भ समूह) हमारा कल्याण करने वाले हों । सुथार के हथियार, लकड़ी काटने वाला कुल्हाड़ा, घास काटने वाली दराँती, गँड़ासा (फरसा) आदि हमारे लिए कल्याणकारी हों । यह सब हवि बनाने वाले, यजन करने वाले, यजमान का सहयोग करें ॥१ ॥

[३० - अग्नाविष्णू सूक्त (२९)]

[ऋषि- मेधातिथि । देवता- अग्नाविष्णू । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८०९. अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥१ ॥

हे अग्निदेव और विष्णुभगवान् ! एक स्थान में निवास करने वाले आप दोनों देवों की बड़ी महिमा है । आप दोनों देव गुह्य घृत का पान करते हैं । आप यजमानों के घर में सात रत्नों को धारण करते हैं । आप दोनों की दिव्य जिह्वा होमे हुए घृत का रसास्वादन करे ॥१ ॥

१८१०. अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥२ ॥

हे अग्निदेव एवं विष्णुभगवान् ! आप दोनों का स्थान अति प्रिय है । आप दोनों गुह्य रस का सेवन करते हैं । आप प्रत्येक घर में स्तुति द्वारा बढ़ते हैं । आप जिह्वा द्वारा गुह्य घृत का रसास्वादन करें ॥२ ॥

[३१ - अञ्जन सूक्त (३०)]

[**ऋषि**—भृग्वङ्गिरा ।**देवता**— द्यावापृथिवी, मित्र, ब्रह्मणस्पति । **छन्द**—बृहती]

१८११. स्वाक्तं म द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥१ ॥

द्यावा-पृथिवी, सूर्यदेव, ब्रह्मणस्पति, सविता देवता; ये सभी हमारी आँखों की स्वस्थता के लिए कृपा करके अञ्जन प्रदान करें ॥१ ॥

[दिव्य शक्तियों का सुअञ्जन दिव्य दृष्टि प्रदायक होता है; जिससे विश्व के रहस्य स्पष्ट होने लगते हैं ।]

[३२ - शत्रुनाशन सूक्त (३१)]

[**ऋषि**- भृग्वङ्गिरा । देवता- इन्द्र । छन्द-भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१८१२. इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप अनेक रक्षा साधनों के द्वारा हमारी रक्षा करें । हे धनवान्, पराक्रमी वीर ! हमसे द्वेष करने वाले का पतन हो और हमारे शत्रु का नाश हो ॥१ ॥

[३३ - दीर्घायु सूक्त (३२)]

[**ऋषि**- ब्रह्मा । देवता- आयु । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८१३. उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् । अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ।

हम उन अग्निदेव के पास हवि-अन्न लेकर जाते हैं, जो सर्वप्रिय, स्तुति करने योग्य युवा हैं । वे नम्रतापूर्वक अर्पित की गई हमारी आहुतियों से प्रसन्न होकर हमें दीर्घायुष्य प्रदान करें ॥१ ॥

[३४ - दीर्घायु सूक्त (३३)]

[**ऋषि**- ब्रह्मा । देवता- मरुद्‍गण, पूषा, बृहस्पति । छन्द-पथ्यापंक्ति ।]

१८१४. सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१ ॥

मरुत् देवता हमें धनसहित प्रजा प्रदान करें । ब्रह्मणस्पति, अग्निदेव एवं पूषादेव हमको श्रेष्ठ सन्तान और धनादिसहित दीर्घायु प्रदान करें ॥१ ॥

[३५ - शत्रुनाशन सूक्त (३४)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- जातवेदा । छन्द- जगती ।]

१८१५. अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमारे शत्रुओं का विनाश करें । हे जातवेदा अग्ने ! आप भविष्य में होने वाले शत्रुओं का नाश करें । हमसे युद्ध के लिए तत्पर जनों का पतन हो । आपकी कृपा से हम आक्रोश शून्य; निष्पाप रहकर कभी दीनता को प्राप्त न हों ॥१ ॥

[३६ - सपत्नीनाशन सूक्त (३५)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- जातवेदा । छन्द- अनुष्टुप् ३ त्रिष्टुप् ।]

१८१६. प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥१ ॥

हे जातवेद अग्निदेव ! आप हमसे विपरीत आचरण करने वाले शत्रुओं को नष्ट करें । अप्रकट अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाले शत्रुओं का विनाश करें । इस राष्ट्र को समृद्धिशाली एवं सौभाग्यशाली बनाएँ । समस्त देवगण इसका अनुमोदन करें ॥१ ॥

१८१७. इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२ ॥

हे स्त्री ! हम तुम्हारी सौ नाड़ियों और सहस्र धमनियों के मुख पत्थर से बन्द करते हैं ॥२ ॥

१८१८. परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३ ॥

तुम्हारे गर्भस्थान से परे जो हैं, उन्हें समीप करते हैं । इससे तुम्हें प्राणवान् सन्तान प्राप्त हो । पत्थर को आवरण रूप से स्थित करता हूँ ॥३ ॥

[३७ - अञ्जन सूक्त (३६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- अक्षि । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८१९. अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥१ ॥

हे पत्नी ! हम दोनों के नेत्रों में परस्पर मधुर (स्नेह) भाव हो । नेत्रों में पवित्रता का अञ्जन रहे । हमारे हृदय और मन एक समान धारणा वाले हों ॥१ ॥

[३८ - वास सूक्त (३७)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- वास । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८२०. अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥१ ॥

हे स्वामिन् ! आप सदैव मेरे ही होकर रहें । मैंने मनोयोगपूर्वक जो वस्त्र तैयार किया है, उसे आपको अर्पित करके, स्नेह से वशीभूत कर अन्यत्र जाने से रोकती हूँ ॥१ ॥

[३९ - केवलपति सूक्त (३८)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- आसुरीवनस्पति । छन्द- अनुष्टुप्, ३ चतुष्पदा उष्णिक् ।]

१८२१. इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥१ ॥

मैं इस ओषधि को खोदती हूँ । यह ओषधि पति को अनुकूल बनाने में समर्थ है । यह पति को अन्यत्र भटकने से रोकती है । इससे दाम्पत्य-जीवन आनन्दमय व्यतीत होता है ॥१ ॥

१८२२. येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥२ ॥

इस आसुरी नामक ओषधि अथवा पदार्थ शक्ति के द्वारा इन्द्रदेव समस्त देवताओं से अधिक प्रभावशाली बने । इसके द्वारा मैं अपने पति को अधिक प्रभावशाली बनाकर, उनकी सहधर्मिणी बनकर प्रगति करूँगी ॥२ ॥

१८२३. प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३ ॥

हे शंखपुष्पी ओषधे ! सोम, सूर्य एवं समस्त देवताओं को सम्मुख करने के लिए आपके सहयोग की अपेक्षा करती हूँ ॥३ ॥

१८२४. अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥४ ॥

हे स्वामिन् ! सभा में भले ही केवल आप बोलें, पर घर में मैं भी बोलूँगी, उसे सुनकर आप अनुमोदन करें । आप सदैव मेरे ही रहें, अन्य का नाम भी न लें ॥४ ॥

[समाज में पुरुष केवल अपने मतानुसार चल सकता है; किन्तु पारिवारिक संदर्भ में पत्नी के परामर्श का महत्त्व स्वीकार करना आवश्यक है ।]

१८२५. यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥५ ॥

हे स्वामिन् ! यदि आपको कहीं वन आदि में जाना पड़े अथवा नदी के पार जाएँ, तब भी यह ओषधि आपको आबद्ध करके मेरे सम्मुख करे ॥५ ॥

[४० - आपः सूक्त (३९)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- सुपर्ण, वृषभ । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८२६. दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१ ॥

ओषधियों को बढ़ाने वाले, जल के मध्य विश्व को तृप्त करने वाले, शोभन मन वाले, वर्षा के द्वारा प्राणियों को तृप्त करने वाले सरस्वान्देव को इन्द्रदेव हमारे गोष्ठ में स्थापित करें ॥१ ॥

[४१ - सरस्वान् सूक्त (४०)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- सरस्वान् । छन्द- त्रिष्टुप्, १ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१८२७. यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥१ ॥

जिन सरस्वान् देवता के कर्मों का समस्त पशु अनुगमन करते हैं एवं सभी जल परस्पर मिलते हैं, वृष्टि एवं पुष्टि जिनके अधीन हैं, जिनके कर्मों में समस्त वस्तुओं के पोषणपति निविष्ट हैं, रक्षा एवं तृप्ति के लिए हम उन सरस्वान् देव का आवाहन करते हैं ॥१ ॥

१८२८. आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२ ॥

पुष्टि के स्वामी, धन स्थान में स्थित धन के स्वामी, यजमानों को अन्न देने की इच्छा वाले हविदाता से प्रसन्न हों ।उनके अभिमुख होकर कामनाओं की पूर्ति करने वाले सरस्वान् की, हम हवि द्वारा सेवा करते हुए बुलाते हैं ॥२॥

[४२ - सुपर्ण सूक्त (४१)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- श्येन । छन्द-जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

१८२९. अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१ ॥

समस्त प्राणियों के कर्मों के साक्षी, प्रशंसनीय गति वाले, अनन्त द्युलोक में दीखने वाले, मरुस्थलों में कृपा करके वर्षा करने वाले सूर्यदेव अपने मित्र इन्द्रदेव को द्युलोक से नीचे के लोकों का अतिक्रमण कर, हमारे नवीन घर बनाने के स्थल में लाएँ ॥१ ॥

१८३०. श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥२ ॥

अनन्त किरणों वाले, अपरिमित कर्मफलों वाले, सुन्दर गति वाले, अन्न को धारण करने वाले सूर्यदेव हमें चिरस्थायी करें । हमारे द्वारा अर्पित धन अथवा हवि पितरों के लिए स्वधारूप (तृप्तिदायक) हो ॥२ ॥

[४३ - पापमोचन सूक्त (४२)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- सोमारुद्र । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८३१. सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१ ॥

हे सोम और रुद्रदेव ! आप विषूचिका रोग एवं अमीवा रोग को हमारे घर से नष्ट करें । हमारे कृत पापों एवं रोग की कारणभूत पिशाचिनी को दूर ले जाकर नष्ट करें ॥१ ॥

[अमीबा रोग आँव-अमीबाइसिस को कहते हैं, विसूचिका हैजे को कहते हैं । यह दोनों पेट में अन्न के ठीक से न पचने के कारण पैदा होते हैं ।]

१८३२. सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२ ॥

हे सोम एवं रुद्रगण ! आप हमारे शरीरों में रोगनाशक ओषधियों को स्थापित करें , एवं शरीरों में व्याप्त पापों को हमसे अलग करके उन्हें नष्ट करें ॥२ ॥

[४४ - वाक् सूक्त (४३)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- वाक् । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८३३. शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥१ ॥

हे वाक्देव ! आपके कुछ शब्द कल्याणकारी-शुभ और कुछ अकल्याणकारी-अशुभ होते हैं, श्रेष्ठ मन वाले आप दोनों प्रकार की वाणियों को धारण करें । उच्चारण करने वाले के अन्दर, वाणी के तीन प्रकार या भाग (परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा) रहते हैं, जबकि श्रोता के पास चौथाई भाग (बैखरी) व्यक्त होकर पहुँचता है ॥१ ॥

[४५ - इन्द्राविष्णू सूक्त (४४)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- इन्द्र, विष्णु । छन्द- भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१८३४. उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव और विष्णुदेव ! आप दोनों सदैव अजेय हैं । आपमें से एक भी कभी पराजित नहीं हुए । हे देव ! जब आप दोनों स्पर्धा से युद्ध करते हैं, तब हजारों शत्रुओं को तीन प्रकार से हरा देते हैं और इच्छित वस्तु (लोक, वेद या वाणी) को अपने वश में कर लेते हैं ॥१ ॥

[४६ - ईर्ष्यानिवारण सूक्त (४५)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- भेषज । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८३५. जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१ ॥

सम्पूर्ण मानवों के लिए हितकारी जनपद से तथा समुद्र से अथवा दूर से लाई गई ओषधि ईर्ष्या तथा क्रोध हटाने में समर्थ है ॥१ ॥

[४७ - ईर्ष्यानिवारण सूक्त (४५)]

[ऋषि- प्रस्कण्व । देवता- ईर्ष्यापनयन । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८३६. अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् । एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥

हे ईर्ष्या निवारण करने वाले देव ! आप अग्निदेव के समान हमारे सब कार्यों को भस्म करें एवं ईर्ष्यालु पुरुष की ईर्ष्या को उसी प्रकार शान्त करें, जिस प्रकार जल के द्वारा अग्नि को शान्त करते हैं ॥१ ॥

[४८ - सिनीवाली सूक्त (४६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सिनीवाली । छन्द- अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।]

१८३७. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥१ ॥

हे सिनीवालि ! आप अनेकों द्वारा स्तुत्य हैं । आप देवताओं की भगिनीरूप ही हैं, ऐसे महान् गुणों वाली हे देवि ! आप हमारे द्वारा अर्पित हवि को ग्रहण करें एवं प्रसन्न होकर पुत्रादि प्रजा प्रदान करें ॥१ ॥

१८३८. या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी । तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥

हे ऋत्विज् और यजमानो ! जो सिनीवाली देवी सुन्दर बाहु, सुन्दर अँगुलियों एवं अंग- सौष्ठव से सुशोभित होने वाली हैं, आप उन उत्तम सन्तान देने वाली देवी को हवि अर्पित करें ॥२ ॥

१८३९. या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषिपतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥३ ॥

हे प्रजापालिका सिनीवाली देवि ! आप परम ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव के सामने जाती हैं, उनकी पूजा करती हैं । हजारों लोगों से स्तुत्य.हे व्यापनशील देव की पत्नी ! हम आपके लिए हवि अर्पित करते हैं, आप प्रसन्न होकर अपने पति इन्द्रदेव द्वारा धन प्रदान कराएँ ॥३ ॥

[४९ - कुहू सूक्त (४७)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- कुहू । छन्द- जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

१८४०. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१ ॥

कुहू देवी उत्तमकर्म वाली, ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाली तथा स्तुति करने योग्य हैं । ऐसी दिव्य शक्ति सम्पन्न देवी का हम इस यज्ञ में आवाहन करत्ते हैं । वे प्रसन्न होकर हमें श्रेष्ठ धन एवं सैकड़ों प्रकार से दान करने वाले वीर पुत्र प्रदान करें ॥१ ॥

१८४१. कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥२ ॥

देवताओं में जो अमृतरूप हैं, कुहू देवी उनकी पत्नी (पालन करने वाली) हैं । आवाहन करने योग्य देवीं हमारे इस यज्ञ में आकर हवि ग्रहण करें । हमें धनादि से पुष्ट करें ॥२ ॥

[५० - राका सूक्त (४८)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- राका । छन्द- जगती ।]

१८४२. राकामहं सुहवा सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१ ॥

उन पूर्ण चन्द्रमा के सामन आह्लाददायिनी, स्तुति करने योग्य देवी का हम उत्तम ढंग से आ वान करते हैं । वे सौभाग्यशालिनी देवी अपनी सुई एवं सीने की विशेष क्रिया के दिव्य प्रभाव से हमें सैकड़ों प्रकार के दान देने में समर्थ यशस्वी वीर पुत्र प्रदान करें ॥१ ॥

१८४३. यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥२ ॥

हे राका देवि ! आप उत्तम सुन्दर सुमतियों के द्वारा हवि दाता यजमान को कल्याणकारी धन देती हैं । आज उन्हीं सुमतियों सहित, प्रसन्न मन होकर आएँ और हमें श्रेष्ठ धन से पुष्ट करें ॥२ ॥

[५१ - देवपत्नी सूक्त (४९)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- देवपत्नी । छन्द- आर्षीजगती, २ चतुष्पदा पंक्ति ।]

१८४४. देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।

याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥१ ॥

देवपत्नियाँ हमारी रक्षा के लिए कृपा करके हमारे निकट आएँ एवं लाभ प्राप्त कराने की इच्छा से अन्न प्रदान करें । जो देवियाँ पृथ्वी पर, जो जलवृष्टि के लिए अन्तरिक्ष में निवास करती हैं, वे सब हमको सुख प्रदान करें ॥१

१८४५. उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।

आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥२ ॥

देवताओं की पत्नियाँ ये देवियाँ हमारा कल्याण करें । इन्द्राणी, वरुणानी, रोदसी (द्यावा-पृथिवी) तथा अश्विनीकुमारों की पत्नी 'राट्' हमारी प्रार्थना सुनें । स्त्रियों के ऋतुकाल में ये देवियाँ हमारा हित करें ॥२ ॥

[५२ - विजय सूक्त (५०)]

[ऋषि- अङ्गिरा । देवता- इन्द्र । छन्द- अनुष्टुप्, ३, ७ त्रिष्टुप्, ४ जगती, ६ भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१८४६. यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति । एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥१ ॥

जिस प्रकार विद्युत् अग्नि नित्य प्रति वृक्षों को भस्म करती है, उसी प्रकार हम सभी जुआरियों को पाँसों के द्वारा अतुलनीय रीति से मारते हैं ॥१ ॥

१८४७. तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् । समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥२

द्यूतकर्म (जुए) में शीघ्रता वाले तथा देर करने वालों में मैं प्रधान हूँ । द्यूतकर्म न छोड़ने वालों का ऐश्वर्य, धन आदि मुझ पाँसों को प्राप्त हो ॥२ ॥

१८४८. ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।

रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥३ ॥

हम उन स्वावसु अग्निदेव की स्तुति करते हैं, जो स्तुतिकर्त्ताओं को अपना धन प्रदान करते हैं । वे देव प्रसन्न होकर हमें कृत नामक पाँसे (श्रेष्ठ संकल्प या कर्म) प्रदान करें । जिस प्रकार रथ में अन्न लाते हैं, उसी प्रकार सत्कर्म द्वारा शत्रुओं के धन को भी प्राप्त करें ॥३ ॥

१८४९. वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।

अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥४ ॥

हे इन्द्रदेव ! हम आपकी सहायता से घेरने वाले शत्रुओं को जीतें । प्रत्येक युद्ध में आप हमारे प्रयत्नों को सुरक्षित रखें । हमारे प्रगति मार्ग में बाधक शत्रुओं के बलों को नष्ट करें । हे धनवान् इन्द्रदेव ! आप हमें वरिष्ठ स्थान तक पहुँचाकर धन प्रदान करें ॥४ ॥

१८५०. अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।

अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥५ ॥

हे हर प्रकार से पीड़ा देने वाले शत्रु ! हम तुझे जीत लेंगें । जिस प्रकार भेड़िया भेड़ को मथ कर मार देता है, उसी प्रकार हम तम्हारे कृत (पाँसों) को मथकर नष्ट कर देंगे ॥५ ॥

१८५१. उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ।।६ ।।

विजयाभिलाषी वीर अपने घातक शत्रुओं को जीत लेता है । स्वयं के धन आदि का हनन करने वाला मूढ़ वास्तव में अपने कृत कर्मों का फल ही भोगता है । जो व्यक्ति संग्रह न करके देव कार्यों में धन नियोजित करता है, उस व्यक्ति को ही विशिष्ट धन की प्राप्ति होती है ।।६ ।।

१८५२. गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ।।७ ।।

हे इन्द्रदेव ! हम दुर्गति वाली दरिद्रता से उत्पन्न दुर्मति को गौ आदि पशुधन द्वारा दूर करें, यव आदि के द्वारा क्षुधा को शान्त करें ।हम प्रकाशवानों (प्रतिभावानों) में श्रेष्ठ रहें एवं अपनी शक्तियों के द्वारा धन प्राप्त करें ।।७ ।।

१८५३. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ।।८ ।।

हमारे दाहिने हाथ में कृत (कर्म) एवं बायें हाथ में विजय है । इन दोनों से हम गौ, अश्व, धन, भूमि एवं स्वर्ण आदि प्राप्त करने में सफल हों ।।८ ।।

१८५४. अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ।।९ ।।

हमें दुग्ध देने वाली गौ जैसी फलदायी विजय हेतु अक्ष (पाँसे या पुरुषार्थ) प्राप्त हों । जिस प्रकार धनुष प्रत्यञ्चा (डोरी) से युक्त होनें पर विजय दिलाने वाला होता है, उसी प्रकार आप हमें पुरुषार्थ से संयुक्त कर श्रेष्ठ फल प्रदान करें ।।९ ।।

[५३ - परिपाण सूक्त (५१)]

[ऋषि- अङ्गिरा । देवता- इन्द्राबृहस्पती । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८५५. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ।।१ ।।

बृहस्पतिदेव, ऊपर-नीचे एवं पिछले भाग से हमारी रक्षा करें, इन्द्रदेव पूर्व और मध्य भाग से हमारी रक्षा करें एवं सखारूप इन्द्रदेव अपने स्तोताओं को मित्र भाव से धन आदि प्रदान कर श्रेष्ठ बनाएँ ।।१ ।।

[५४ - सांमनस्य सूक्त (५२)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-सांमनस्य और अश्विनीकुमार । छन्द- ककुम्मती अनुष्टुप्, २ जगती ।]

१८५६. संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ।।१ ।।

हे अश्विनीकुमारो ! हम स्वजनों सहित समान ज्ञान वाले हों । हमसे प्रतिकूल बात करने वाले भी हमारे साथ अनुकूल बुद्धि वाले हों ।,हे अश्विनीकुमार देवो ! आप कृपा कर हम सब में, इस विषय में सुमति स्थापित करें ।।१ ।।

१८५७. सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ।।२ ।।

हम मन से श्रेष्ठज्ञान प्राप्त करें । ज्ञानवान् होकर, एक मत से; बिना परस्पर विरोध किए, हम कार्य करें । देवताओं से प्रेम करने वाले हम कभी अलग न हों । परस्पर हमारी वाणी विषादकारक न हो । भविष्य में इन्द्रदेव का वज्र हम पर न गिरे ॥२ ॥

[५५ - दीर्घायु सूक्त (५३)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- आयु, बृहस्पति, अश्विनीकुमार । छन्द- त्रिष्टुप्, ३ भुरिक् त्रिष्टुप् ४ उष्णिक् गर्भार्षी पंक्ति, ५-७ अनुष्टुप् ।]

१८५८. अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१ ॥

हे अग्निदेव एवं बृहस्पतिदेव ! आप दोनों परलोक में मिलने वाली यातनाओं से इसे मुक्त करें एवं आपकी कृपा से दोनों अश्विनीकुमारदेव इसे मृत्युकारक रोगों से बचाएँ ॥१ ॥

१८५९. सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥२ ॥

हे प्राण एवं अपान ! आप दोनों इस मनुष्य को छोड़ें नहीं; बल्कि (इसमें) भली प्रकार संचरित हों । हे पुरुष ! प्राण-अपान तुम्हारी देह में संचार करते रहें, जिससे वर्धमान होकर तुम सौ वर्ष तक जीवित रहो । तेजस्वी अग्निदेव तुम्हारी रक्षा करें ॥२ ॥

१८६०. आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा तावितामु ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३ ॥

हे आयु की कामना वाले पुरुष ! स्वास्थ्य विरोधी आचरणों के कारण, जो तेरी आयु क्षीण हो गई है, उसे प्राण-अपान फिर से बढ़ाएँ । यज्ञ द्वारा प्रसन्न अग्निदेव तुम्हें सुरक्षित रखें एवं दीर्घायु प्रदान करें ॥३ ॥

१८६१. मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४ ॥

इस मनुष्य को प्राण-अपान छोड़कर न जाएँ । हम इस आयु की कामना वाले पुरुष को सप्त ऋषियों की शरण में पहुँचाते हैं, वे इसे वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक रखें ॥४ ॥

[ऋषियों द्वारा प्रदर्शित जीवन पद्धति के अनुसरण से सुखी-दीर्घजीवन का लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।]

१८६२. प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५ ॥

हे प्राण-अपान !आप दोनों इस आयु की कामना वाले पुरुष के शरीर में वैसे ही भ्रमण करते रहें, जैसे गोशाला में बैल प्रविष्ट होकर घूमते रहते हैं । यह बिना किसी बाधा के वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक जीवनयापन करे ॥५ ॥

[जिस प्रकार वृषभों के संसर्ग में गौएँ उत्पादक बनती हैं, उसी प्रकार प्राणों के संसर्ग से इन्द्रियाँ उत्पादक शक्ति से सम्पन्न बनती हैं ।]

१८६३.आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥

हे आयु की कामना वाले पुरुष ! हम तुम्हारे क्षयरोग को दूर हटाते हुए , तुम्हें दीर्घजीवी बनाने के लिए अग्निदेव से प्रार्थना करते हैं ॥६ ॥

१८६४. उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

तमस् क्षेत्र को पार करके, श्रेष्ठ-स्वर्ग में चढ़ते हुए हम, सबके उत्पादक-तेजस्वी सूर्यदेव को प्राप्त करें ॥७

[५६ - विघ्नशमन सूक्त (५४)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- ऋक्साम । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८६५. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥१ ॥

हम पढ़े हुए ऋक् और यजु का हवि द्वारा पूजन करते हैं । हम ऋत्विज् -यजमान ऋचाओं और सामों के द्वारा यजन करते हैं । ये दोनों यज्ञशाला में दमकते हुए सुशोभित होते हैं ।यही देवताओं तक यज्ञ को पहुँचाते हैं ।

[५७ - मार्गस्वस्त्य अयन सूक्त (५४-५५)]

[ऋषि- भृगु । देवता- इन्द्र । छन्द- अनुष्टुप्, २ विराट् परोष्णिक् ।]

१८६६. ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥१ ॥

जिस प्रकार हमने ऋग्वेद के द्वारा हवि, सामवेद से ओज और यजुर्वेद से बल को जाना है । (हे इन्द्रदेव !) यह पूछकर जाना हुआ वेदज्ञान हमें पीड़ा न पहुँचाए, प्रत्युत इच्छित फल प्रदान करे ॥१ ॥

१८६७. ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः । तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप अपने द्युलोक के अधोभाग वाले मार्गों के द्वारा जगत् को (प्राणियों को) अपने-अपने कर्म में नियोजित करते हैं । आप उन्हीं मार्गों से हमें सुखरहित पुष्टि प्रदान करें ॥२ ॥

[५८ - विषभेषज्य सूक्त (५६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- १, ३,५-८ वृश्चिकादि, २ वनस्पति, ब्रह्मणस्पति । छन्द- अनुष्टुप्, ४ विराट् प्रस्तारपंक्ति ।]

१८६८. तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥१ ॥

तिरछी रेखाओं वाले, काले, फुफकारने वाले सर्प के विष को तथा कंकपर्वा नामक प्राणी-विष को यह 'मधुक' नामक ओषधि नष्ट करती है ॥१ ॥

१८६९. इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः । सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ।

यह प्रयुक्त ओषधि मधु से निष्पन्न हुई है । यह मधुर रस बढ़ाने वाली है । यह काटने वाले प्राणियों एवं उनके विष को नष्ट करने में समर्थ है ॥।२ ॥

१८७०. यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम्।

जहाँ काटा है और रक्त पिया है, उस स्थान से तीव्रदंशन करने वाले मच्छर के विष को हम नष्ट करते हैं ॥३ ॥

१८७१. अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥४ ॥

विष के प्रभाव से रोगी अंग सिकोड़ रहा है, ढीली संधियों वाला हो गया है, मुख को टेढ़ा-मेढ़ा कर रहा है, ऐसे रोगी को इस ओषधि द्वारा स्वस्थ करते हैं ॥४ ॥

[रोगी के लक्षण टिटनेस रोग जैसे हैं । टिटनेस उत्पादक विष के उपचार का संकेत इस मन्त्र में प्रतीत होता है ।]

१८७२. अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः । विषं ह्य१स्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥

निर्बल दिखने वाले, रेंगकर चलने वाले इस शर्कोटक (इस नाम वाले या विष से टेढ़ा कर देने वाले) जन्तु के विष को हमने नष्ट कर दिया है ॥५ ॥

१८७३. न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥६ ॥

हे बिच्छू ! तेरी बाहुओं में, सिर में और मध्य भाग में कष्ट देने की सामर्थ्य नहीं है । केवल पूँछ में थोड़ा विष है, फिर तू दुर्बुद्धि के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट देने की इच्छा से क्यों फिरता है ? ॥६ ॥

१८७४.अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटम रसंविषम् ॥

हे सर्प ! तुझे चीटियाँ खा लेती हैं और मोरनी भी तेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालती है । हे विषनाशक ओषधे ! तुम शर्कोटक को विष विहीन कर दो ॥७ ॥

१८७५.य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्

हे वृश्चिक ! तुम्हारी पूँछ में ही थोड़ा सा विष है, फिर भी तू पूँछ और मुँख इन दोनों से ही आघात करता है ॥

[५९ - सरस्वती सूक्त (५७)]

[**ऋषि-** वामदेव । देवता- सरस्वती । छन्द- जगती ।]

१८७६. यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१ ॥

मेरे जिन अंगों को याचित वस्तु के न प्राप्त होने से कष्ट हुआ है और इससे मुझमें जो आत्म-ग्लानि या हीनता के भाव आए, उन सबको देवी सरस्वती स्नेहपूर्वक दूर करें ॥१ ॥

१८७७. सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥२ ॥

मरुत्वान् (प्राणवान्) शिशु के लिए सात दिव्य प्रवाह रस प्रदान करते हैं । जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सत्कर्मों से सेवा करता है, उसी प्रकार ये शिशु की सेवा करते हैं । इसके पास दो शक्तियाँ हैं, जो इसके तेज को बढ़ाती, कार्य कराती और पोषण करती हैं ॥२ ॥

[यह मंत्र अनेकार्थक प्रतीत होता है । शिशु वरुण है, तो सप्तधाराएँ इसके लिए प्रवाहित हैं, जीवात्मा है, तो उसके लिए सप्त प्राण प्रवाहित होते हैं । सूर्य या अग्नि हैं , तो उसकी सप्त रश्मियाँ हैं । दो शक्तियाँ स्वाहा-स्वधा, पुष्टि-तुष्टि, द्यावा-पृथिवी आदि को कह सकते हैं, जो प्रकाशित होती तथा पोषण प्रदान करती हैं ।]

[६०- अन्न सूक्त (५८)]

[**ऋषि-** कौरुपथि । देवता- इन्द्रावरुण । छन्द- जगती, २ त्रिष्टुप् ।]

१८७८. इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥१ ॥

हे सोमपान करने वाले कर्मधारी इन्द्र और वरुणदेव ! आप दोनों इस निचोड़े गये हर्षवर्द्धक सोम का पान करें। इस हेतु आपका अपराजेय रथ, आप दोनों को देवत्व की कामना वाले यजमान के घर के निकट लाए ॥१ ॥

१८७९. इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥२ ॥

हे वरुण और इन्द्रदेव ! आप दोनों अभिलषित फलों की वर्षा करने वाले हैं । आपके लिए परम-मधुर सोमभाग अन्न रूप 'चमस' आदि पात्रों में रखा हुआ है ।आप इस बिछाए गए कुश के आसन पर बैठकर तृप्त हों॥

[६१ - शापमोचन सूक्त (५९)]

[ऋषि- बादरायणि । देवता- अरिनाशन । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८८०. यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्षइव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥१ ॥

जो उलाहना न देने वाले मुझको शापित करे एवं कठोर वाक्यों द्वारा हमारी निन्दा करे, वह उसी प्रकार नष्ट हो जाए, जिस प्रकार बिजली से आहत हुआ वृक्ष मूल सहित सूख जाता है ॥१ ॥

[६२ - रम्यगृह सूक्त (६०)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- वास्तोष्पति, गृह समूह । छन्द- अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।]

१८८१. ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥१ ॥

अन्न धारण करने वाला, धन का दान करने वाला, श्रेष्ठबुद्धि वाला, शान्त मन वाला होकर सबके प्रति मित्र भाव रखता हुआ, समस्त वन्दनीय जनों आदि का वन्दन करता हुआ, मैं अपने घर के पास पहुँच रहा हूँ (या घर में प्रवेश कर रहा हूँ), यहाँ सब लोग मुझसे निर्भय होकर आनन्द से रहें ॥१ ॥

१८८२. इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२ ॥

ये हमारे घर हमें सुख देने वाले, बलदायक अन्न एवं दुग्ध आदि से युक्त रहें । प्रवास से लौटने पर ये हम स्वामियों को भूलें नहीं ॥२ ॥

१८८३. येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥

इन घरों में रहते हुए हमें सुखानुभूति हो ।घरों में हम अपने इष्ट-मित्रों को बुलाते हैं, हम सब आनन्द से रहें ॥३॥

१८८४. उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४ ॥

हे गृहो ! आप धन- सम्पन्न रहें । आप मधुर पदार्थों से युक्त रहते हुए, हमारे मित्र बने रहें ! आप में निवास करने वाले व्यक्ति भूख और प्यास से पीड़ित न रहें । हे गृहो ! परदेश से लौटते हुए हमसे तुम डरो नहीं ॥४ ॥

१८८५. उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५ ॥

हमारे घरों में गौएँ, भेड़-बकरियाँ और सब प्रकार सत्ववाला अन्न रहे, कोई कमी न रहे ॥५ ॥

१८८६. सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६ ॥

हे गृहो ! तुम सत्ययुक्त और उत्तम भाग्यवाले, अन्नवान् बनो, तुम्हारे अन्दर हास्य-विनोदमय वातावरण रहे, भूखे-प्यासे लोग न रहें । हे गृहो ! तुम हमसे डरो नहीं ॥६ ॥

१८८७. इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥७ ॥

हे गृहो ! तुम इसी क्षेत्र में रहो, मुझ प्रवासी के पीछे अस्त-व्यस्त न हो; विभिन्न रूप वालों का पोषण करो । मैं कल्याण करने वाला साधनों सहित वापस जाऊँगा । हमारी हर प्रकार से उन्नति हो । ॥७ ॥

[६३ - तपः सूक्त (६१)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- अग्नि । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८८८. यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः । प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥१॥

तप की प्रक्रिया के आधार पर जो तप किया जाता है, वह हम करते हैं, उससे हम ज्ञान प्रिय तथा दीर्घायु बनें

१८८९. अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः । श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ।।

हे अग्निदेव ! हम आपके समीप नियमों का पालन करते हुए, शारीरिक-मानसिक संयम रूप तप करते हैं । इससे श्रुतियों को सुनकर धारण करने की शक्ति बढ़े एवं दीर्घायु प्राप्त हो । ॥२ ॥

[६४ - शत्रुनाशन सूक्त (६२)]

[ऋषि- कश्यप । देवता- अग्नि । छन्द- जगती ।]

१८९०. अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥१ ॥

जो अग्निदेव महान् देवों को हवि पहुँचाते हैं । जो पुरोहित, प्रवृद्ध, बलवान् तथा महारथी के समान प्रजा को अपने अधीन करने वाले हैं, वे पृथ्वी की नाभि-वेदिका में स्थापित होकर, हमारे शत्रुओं को पद दलित करें ॥१ ॥

[६५ - दुरितनाशन सूक्त (६३)]

[ऋषि- कश्यप । देवता- अग्नि । छन्द- जगती ।]

१८९१. पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥१ ॥

युद्ध में शत्रुसेना को पराजित करने वाले, हवि के भार को सहन करने वाले अग्निदेव को उत्कृष्ट लोक से स्तोत्रों द्वारा बुलाते हैं । वे अग्निदेव हमें समस्त प्रकार के कष्ट से बचाएँ एवं दुर्गति करने वाले पापों का नाश करें ।

[६६ - पापमोचन सूक्त (६४)]

[ऋषि- यम ।.देवता- आपः,अग्नि । छन्द- भुरिक् अनुष्टुप्, २ न्यङ्कुसारिणी बृहती ।]

१८९२. इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१ ॥

काले रंग के पक्षी (अथवा दुर्भाग्य) ने आकाश मार्ग से इन मेरे अंगों पर अभिघात किया है । इस कारण दुर्गति प्रदान करने वाले पाप से अभिमन्त्रित जल रक्षा करे ॥१ ॥

१८९३. इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥२ ॥

हे मृत्युदेव ! इस काले (दुर्भाग्य सूचक) ने तुम्हारे मुख के द्वारा मेरा स्पर्श किया है । उससे लगे पाप को गार्हपत्य अग्निदेव नष्ट करें ॥२ ॥

[६७ - दुरितनाशन सूक्त (६५)]

[ऋषि- शुक्र । देवता- अपामार्गवीरुत् । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१८९४. प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥१ ॥

हे अपामार्ग ओषधे ! आप प्रतीची फल (उलटे मुड़े फल) वाली होकर विकसित होती हैं । मेरे समस्त पापों (रोगों) को नष्ट करें ॥१ ॥

१८९५. यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥२ ॥

हे सर्वतोमुख अपामार्ग ओषधे ! हम से जो दुःखदायी पापकर्म हो गए हैं और दुर्बुद्धि के कारण जो मलिन पाप हम कर चुके हैं , उन्हें आप सब प्रकार से नष्ट करें ॥२ ॥

१८९६.श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ।।

हे अपामार्ग ओषधे ! आप हमारे उन पापों (दोषों) को दूर करें, जो काले-पीले से गन्दे दाँतों वाले, कुत्सित नख वाले एवं व्याधिग्रस्त निस्तेज व्यक्ति के साथ बैठने से मुझ में आए हो ।।३ ॥

[६८ - ब्रह्म सूक्त (६६)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- ब्राह्मणम् (ब्रह्म) । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१८९७. यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥१ ॥

जो इस आकाश में, वायु में, वृक्षों में, घास आदि वनस्पतियों में एवं पशुओं (प्राणियों) में सदा स्रवित होता है, प्रकट होने वाला ब्रह्मतेज हमें पुनः प्राप्त हो ॥१ ॥

[६९ - आत्मा सूक्त (६७)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- आत्मा । छन्द- पुरः परोष्णिक् बृहती ।]

१८९८. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१ ॥

हमें इन्द्रिय शक्ति, आत्मचेतना एवं ब्रह्म फिर से प्राप्त हों । यज्ञादि स्थानों में रहने वाली अग्नियाँ हमें प्राप्त हों । हम फिर से धन प्राप्त करके समृद्ध बनें ॥१ ॥

[७० - सरस्वती सूक्त (६८)]

[ऋषि- शन्ताति । देवता- सरस्वती । छन्द- अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

१८९९. सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ।

हे सरस्वतीदेवि ! आपके दिव्य व्रतों और धामों के लिए अर्पित आहुतियों को आप ग्रहण करें । आप हमें पुत्र - पौत्रादि रूप प्रजा प्रदान करें ॥१ ॥

१९००. इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं१ यत् ।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२ ॥

हे सरस्वतीदेवि ! आपके लिए हमने घृतयुक्त हवि अर्पित की है, उसे आप पितरों तक पहुँचने के लिए प्रेरित करें । जो हवि हम आपके लिए अर्पित करते हैं, उसके प्रभाव से हम मधुरता युक्त अन्न से सम्पन्न हों ॥२ ॥

[७१- सरस्वती सूक्त (६८)]

[ऋषि- शन्ताति । देवता- सरस्वती । छन्द- गायत्री ।]

१९०१. शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति । मा ते युयोम संदृशः ॥१ ॥

हे वाग्देवी सरस्वति ! आप समस्त सुख देने वाली हैं । आप हमें रोगों से पूर्णरूपेण मुक्त करके हमारा कल्याण करें । हे देवि ! हम आपके वास्तविक स्वरूप का दर्शन करते रहें ॥१ ॥

[७२ - सुख सूक्त (६९)]

[ऋषि- शन्ताति । देवता- सुख । छन्द- पथ्या पङ्क्ति ।]

१९०२. शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१ ॥

हे वायुदेव ! आप हमारे लिए सुखदायकरूप से प्रवाहित हों एवं सुखपूर्वक प्रेरित करने वाले सूर्यदेवता सुख- स्वास्थ्यवर्द्धक ताप ही प्रदान करें । हमारा उषाकाल, दिन एवं रात्रि में सब प्रकार कल्याण हो ॥१ ॥

[७३ - शत्रुदमन सूक्त (७०)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- श्येन । छन्द- त्रिष्टुप्, २ अतिजगतीगर्भा जगती, ३ पुरः ककुम्मती अनुष्टुप्, ४-५ अनुष्टुप् ।]

१९०३. यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१ ॥

जो शत्रु हमें नष्ट करने के संकल्पसहित हवि और मन्त्रों से अभिचार कर्म कर रहा हो, उसके मन वाणी और देह से किये गये कर्म के फलित होने के पहले ही, हे निर्ऋतिदेव ! आप मृत्यु के सहयोग से उसे नष्ट करें ॥१ ॥

१९०४. यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥२ ॥

यातुधान, राक्षस और निर्ऋतिदेव, हमारे शत्रु द्वारा किये जा रहे अभिचार कर्म को विपरीत क्रिया द्वारा नष्ट कर दें । इन्द्रदेव द्वारा प्रेरित देवता शत्रु द्वारा हवन में प्रयुक्त किये जाने वाले घृत को नष्ट कर दें ॥२ ॥

१९०५. अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥३ ॥

हमारे अनिष्ट करने वाले शत्रु के घृत द्वारा होने वाले हवन को अधिराज और अजिर नामक मृत्यु-दूत श्येनबाज के समान झपट कर नष्ट कर दें ॥३ ॥

१९०६.अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥४ ॥

हे अभिचारी शत्रु ! हम तुम्हारी दोनों भुजाएँ एवं मुँख बाँधते हैं और अग्नि के भयानक कोप के द्वारा तुम्हारी हवि, घृत आदि का नाश करते हैं ॥४ ॥

१९०७. अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥५ ॥

हे शत्रु ! अभिचार कर्म में प्रवृत्त हाथों को हम बाँधते हैं । मन्त्र बोलने वाले मुख को बाँधते हैं । हवि द्वारा सिद्ध होने वाले तेरे कार्य को भी हम अग्नि के विकराल कोप से नष्ट करते हैं ॥५ ॥

[७४ - अग्नि सूक्त (७१)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- अग्नि । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९०८. परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि। धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥

हे अरणिमंथन से प्रकट अग्निदेव ! आप उन राक्षसों का नाश करें , जो यज्ञादि कर्म में बिघ्न उपस्थित करते हैं । हे अग्निदेव ! इन मारने वालों को नष्ट करने के लिए ही हम आपको सब ओर से धारण करते हैं ॥१ ॥

[७५ - इन्द्र सूक्त (७२)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- इन्द्र । छन्द- अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

१९०९. उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन।

हे ऋत्विजो ! आप वसन्त ऋतु आदि में होने वाले यज्ञ में इन्द्रदेव के निमित्त पक रहे यज्ञीय भाग का निरीक्षण, आसन से उठकर करते रहें । परिपक्व होने तक इन्द्रदेव की स्तुति करते रहें । पके भाग से इन्द्रदेव के लिए अग्नि में आहुति दें ॥१ ॥

१९१०. श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव !आपके निमित्त पकाया जा रहा हविर्भाग पक चुका है तथा आपके याग का समय हो रहा है, अतः आप शीघ्रता से आएँ ।ऋत्विग्गण आपके निमित्त सोमपूरित पात्र लिए हुए हैं । हम सब आपकी उपासना उसी प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार कुल के रक्षक पुत्रगण विचरण करते हुए संघपति पिता की उपासना करते हैं ॥२ ॥

[७६ - इन्द्र सूक्त (७२)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- इन्द्र । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१९११. श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः ॥१ ॥

यह दुग्ध गौ के थनों (स्तन) में पका, फिर अग्नि पर पकाया गया है, इसके पश्चात् इससे दधि बनाया गया, अतएव यह हविरूप सत्य और नवीन है । हे अनेक कर्मों के कर्त्ता वज्रधारी इन्द्रदेव ! आप मध्य दिन के समय निचोड़े दधि मिश्रित सोम का पान करें ॥१ ॥

[७७ - घर्म सूक्त (७३)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता - घर्म, अश्विनीकुमार । छन्द- त्रिष्टुप्,१, ४, ६ जगती, २ पथ्याबृहती ।]

१९१२. समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु ।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥१ ॥

हे दोनों बलवान् अश्विनीकुमारो ! आप द्युलोक के देवताओं में अग्रणी हैं । प्रदीप्त अग्नि के ताप द्वारा भली प्रकार तपाया गया घृत पात्र में है । आप दोनों के निमित्त (गौ दुग्ध) मधुर रस का दोहन कर लिया है । हम हवि पूरित घर वाले स्तोता, आपको यज्ञ में बुलाते हैं ॥१ ॥

१९१३. समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२ ॥

हे कामनाओं की पूर्ति करने वाले दोनों अश्विनीकुमार ! अग्नि प्रदीप्त हो गई है, घृत तपाया जा चुका है । गोदुग्ध का दोहन कर लिया गया है । शत्रुसंहारक अश्विनीकुमारों की स्तुति द्वारा सेवा करके होता गण आनन्दित हो रहे हैं ॥२ ॥

१९१४. स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३ ॥

प्रदीप्त प्रवर्ग्य नाम का यह यज्ञ दोनों अश्विनीकुमारों के निमित्त ही है । जिस विशेष पात्र चमस के द्वारा अश्विनीकुमार रस पान करते हैं और जिससे देवों को हव्य अर्पित किया गया है, वह पात्र पवित्र है । उसी पात्र के द्वारा समस्त देवता अग्निरूपी मुख से अपना भाग ग्रहण करते हैं ॥३ ॥

१९१५. यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४ ॥

हे दोनों अश्विनीकुमारो ! वह घृतयुक्त गोदुग्ध पात्रों में भर दिया है । यह आपका भाग है, अतः आप दोनों आएँ । हे माधुर्ययुक्त, यज्ञस्वरूप, पालनकर्त्ता देवो ! आप आकर इस तपे हुए घर्म (परिपक्व रस) का पान करें ॥४ ॥

१९१६. तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥५ ॥

हे दोनों अश्विनीकुमारो ! यह तपाया गया तेजरूपी दुग्ध आप दोनों को प्राप्त हो । हवन करने वाले अध्वर्युगण दुग्धसहित आपकी सेवा करें । आप दोनों स्वस्थ गौ के इस मधुर घृतयुक्त दुग्ध को ग्रहण करें ॥५ ॥

१९१७. उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥६ ॥

हे अध्वर्यो ! आप गोदुग्ध का दोहन कर, उसे यज्ञशाला में लाएँ । उस दुग्ध को तपाने के लिए पात्र में डालें । श्रेष्ठ सविता देवता उषाकाल के पश्चात् सुशोभित होते हुए सम्पूर्ण स्वर्गलोक को प्रकाशित कर रहे हैं ॥६ ॥

१९१८. उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥७ ॥

सुखपूर्वक दुहने योग्य गौ का हम आवाहन करते हैं ।इस गाय का दुग्ध स्वच्छ हाथों से दुहें ।इस 'सव' उपनाम वाले दुग्ध को सर्वप्रेरक सवितादेव हम सबके लिए प्रेरित करें ।प्रदीप्त तेजस्वी घर्म (यज्ञ) हमें उपदेश दें ।

१९१९. हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥८ ॥

हिंकार शब्द करती हुई, मन से बछड़े को चाहने वाली गौ (दिव्यवाणी) आ गई है । यह अबध्य (न मारने योग्य) गौ दोनों अश्विनीकुमारों सहित अन्य देवों के लिए दुग्ध प्रदान करे ।यह सौभाग्य को बढ़ाने वाली हो ॥८ ॥

१९२०. जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान् ।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥९ ॥

हे सबके द्वारा सेवित दानेच्छु अग्निदेव ! आप हमारी भक्ति से प्रसन्न होकर, हमारे यज्ञ में पधारें और हमारे शत्रुओं को सेनासहित नष्टकरके , उनके द्वारा भोगे जाने वाला धन हमें प्रदान करें ॥९ ॥

१९२१. अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१० ॥

हे देव अग्ने ! आपका प्रदीप्त तेज ऊर्ध्वगामी एवं सौभाग्यशाली हो । आप उदार हृदय से हमें धन प्रदान करें । आपकी कृपा से हम दोनों पति-पत्नी समान मन वाले होकर, आपकी सेवा करते रहें । आप हमारे शत्रुओं का नाश करें ॥१० ॥

१९२२. सूयवसाद् भगवती हि भूया अधावयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥११ ॥

हे घर्मदुधे ! आप उत्तम घास को खाएँ एवं सौभाग्यशाली बनें । हम भी भाग्यशाली हों । आप घास भक्षण करती हुई, शुद्ध जल का पान करें ॥११ ॥

[७८ - गण्डमालाचिकित्सा सूक्त (७४)]

[ऋषि- अथर्वाङ्गिरा । देवता- जातवेदा । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९२३. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥१ ॥

काले रंग की पिशाचिनी गण्डमाला रोग की माता है, ऐसा सुना जाता है; उन सब प्रकार की गण्डमालाओं को 'मुनि' नाम वाली दिव्य ओषधि के द्वारा मैं नष्ट करता हूँ ॥१ ॥

[मुनि नाम से अनेक ओषधियाँ जानी जाती हैं, यथा मदन, दमनक, बक, पलाश आदि ।]

१९२४. विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।
इदं जघन्या मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥२ ॥

गण्डमाला रोग चाहे प्रारम्भिक अवस्था, मध्यम अवस्था एवं अन्तिम अवस्था का (जो भी) हो, हम इन तीनों अवस्था वाली गण्डमाला का नाश करते हैं ॥२ ॥

१९२५.त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् ।अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥

हे क्रोधी और ईर्ष्यालु पुरुष ! हम तुम्हारी ईर्ष्यालु अथवा क्रोधी प्रवृत्ति को सूक्ष्म विवेचनात्मक वाणी द्वारा शान्त करते हैं ॥३ ॥

१९२६. व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥४ ॥

हे व्रतशील, जातवेदा अग्निदेव ! आप व्रतयुक्त होकर हर्षित मन से हमारे घर में प्रदीप्त रहें । हम सब पुत्र-पौत्रों सहित आपकी उपासना करें ॥४ ॥

[७९ - अघ्न्या सूक्त (७५)]

[**ऋषि-** उपरिबभ्रव । **देवता-** अघ्न्या । **छन्द-** १ त्रिष्टुप्, २ त्र्यवसाना भुरिक् पथ्यापंक्ति ।]

१९२७. प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥१ ॥

हे गौ माता ! रुद्रदेव आपको कष्ट न दें । व्याघ्र आदि हिंसक पशु आपसे दूर रहें, चोर आपका अपहरण न कर सकें । आप उत्तम प्रकार के बछड़ों सहित, तृण और निर्मल जल वाले क्षेत्र में विचरती हुई, उन्हें ग्रहण करें ॥१ ॥

१९२८. पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।
उप मा देवीर्देवेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥२ ॥

हे आनन्द देने वाली गौओ ! आप अपने निवास को भली प्रकार जानने वाली हैं । अनेक दिव्य नाम एवं बछड़ों वाली, आप हमारे निकट आएँ । आप हमारी गोशाला एवं घर को दुग्ध, घृत आदि गव्य पदार्थों से समृद्धशाली बनाएँ ॥२ ॥

[८०- गण्डमालाचिकित्सा सूक्त (७६)]

[**ऋषि-** अथर्वा । **देवता-** अपचिद् भैषज्य । **छन्द-** १ विराट् अनुष्टुप्, २ परोष्णिक्, ३-४ अनुष्टुप् ।]

१९२९.आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः । सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥

गण्डमाला रोग (बहने वाला) तथा बुरी से भी बुरी पीड़ा देने वाला होता है । यह मंत्र और ओषधि द्वारा नष्ट हो । गण्डमाला रोग से ग्रसित जन, 'सेहु' से अधिक निर्वीर्य होते हैं । यह गण्डमाला नमक की अपेक्षा अधिक स्रवणशील है ॥१ ॥

१९३०. या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः । विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥२॥

गले में होने वाली गण्डमाला बगल में (काँख में) होने वाली गण्डमाला एवं गुह्य स्थानों में होने वाली गण्डमाला स्वयं स्रवणशील होती है ॥२ ॥

१९३१. यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३ ॥

जो क्षय रोग अस्थियों में व्याप्त होता है, जो मांस का क्षय कर देता है, जो रोग ककुदि (गर्दन के नीचे पृष्ठ भाग) में जम जाता है, यह रोग अधिक स्त्री के साथ अधिक असंयमित जीवनयापन करने से होता है । ओषधि एवं अग्निदेव उसे नष्ट करें ॥३ ॥

१९३२. पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥४ ॥

इस क्षय रोग के उत्पन्न करने वाले विषाणु हवा में उड़ते हुए पुरुष देह तक पहुँचकर, उसे प्रभावित कर लेते हैं । कम या पुराने समय से पीड़ित क्षय रोगी को मंत्राभिमंत्रित वीणा तंत्री खण्ड आदि ओषधि स्वस्थ करती है ॥४॥

[८१ - गण्डमालाचिकित्सा सूक्त (७६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- जायान्य और इन्द्र । छन्द- भुरिक् अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

१९३३. विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥१ ॥

असंयमित जीवन जीने से उत्पन्न हे क्षयरोग ! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं । जिस घर में हवन होता है, उस घर में तू कैसे पहुँच सकता है ?

[ओषधियुक्त यज्ञ- धूम्र का प्रभाव क्षय रोग को ठीक करने में प्रभावी है, यह अनेक बार अनुभव किया जा चुका है । यज्ञ उससे बचाव करता है ।]

१९३४. धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥२ ॥

हे शत्रुओं को दबाने वाले शूर इन्द्रदेव ! आप पात्र में रखे सोमरस का पान करें । आप वृत्रासुर का संहार करने वाले हैं । मध्य दिन के समय आप सोम का पान कर प्रसन्न होकर हमें धन से युक्त करें ॥२ ॥

[८२ - शत्रुनाशन सूक्त (७७)]

[ऋषि- अङ्गिरा । देवता- मरुद्गण । छन्द- त्रिपदा गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ जगती ।]

१९३५. सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥१ ॥

हे सूर्य से सम्बन्धित मरुद् देवगणो ! आपके निमित्त तैयार की गई इस हवि का आप सेवन करें और शत्रुओं से हमारी रक्षा करें ॥१ ॥

१९३६. यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥२ ॥

हे धन देने वाले मरुद्गणो ! यदि कोई मनुष्य परोक्षरूप से हमारे चित्त को क्षुब्ध करना चाहे, उसे वरुणदेव के पाश बाँध लें और आप उस प्रहार की इच्छा वाले पुरुष का संहार करें ॥२ ॥

१९३७. संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥३ ॥

प्रत्येक संवत्सर में प्रकाशित होने वाले, उत्तम मन्त्रों द्वारा स्तुत्य, विशाल अन्तरिक्ष में निवास करने वाले, वर्षा करने वाले, मानवों का कल्याण करने वाले, शत्रुओं को पीड़ित करने वाले मरुद्देव हमें पाप- बन्धनों से मुक्त करें ॥

[८३- बन्धमोचन सूक्त (७८)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- अग्नि । छन्द- परोष्णिक्, २ त्रिष्टुप् ।]

१९३८. वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् । इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥१ ॥

मैं (प्रयोक्ता) तुम्हारी रोग बन्धनरूप रस्सियों को खोलता हूँ। कण्ठ प्रदेश, बगल की, मध्यदेश की एवं निम्नदेशीय (रोगजनित) गाठों से तुम्हें मुक्त करता हूँ। हे अग्निदेव ! आप इस रोगार्त के अनुकूल होकर बढ़ें ॥१ ॥

१९३९. अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! हम आपको इस यजमान का बल बढ़ाने एवं हवि वहन करने के लिए बुलाते हैं। आप कृपा करके इस रोगी के स्वास्थ्य लाभ हेतु इन्द्रादि देवों से प्रार्थना करें। हमें पुत्र, धन आदि से समृद्ध करें ॥२ ॥

[८४ - अमावास्या सूक्त (७९)]

[ऋषि--अथर्वा। देवता-- अमावास्या। छन्द--१ जगती, २-४ त्रिष्टुप्]

अमावास्या का अर्थ होता है- "एकत्र वास करने वाली"। इस समय सूर्य (उग्रदेव) तथा चन्द्र (शान्तदेव) एक साथ रहते हैं। दिव्यशक्तियाँ या श्रेष्ठ संकल्प युक्त मानव जब एक साथ होकर पुरुषार्थ करते हैं, तब ऐसा योग बनता है -

१९४०. यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१ ॥

हे अमावास्ये ! आपके महत्त्व को स्वीकार करके देवगणों ने आपको हवि का जो भाग अर्पित किया है, उसे ग्रहण कर हमारे इस यज्ञ को पूर्ण करें। आप हमें कार्यकुशल, सुन्दर पुत्रादि सहित धन प्रदान करें ॥१ ॥

१९४१. अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥२ ॥

मैं अमावास्या का अधिष्ठाता देव हूँ। श्रेष्ठ कर्म करने वाले देवता मेरे में वास करते हैं और साध्यसहित इन्द्रादि दोनों प्रकार के देवता मुझ में आकर समभाव से रहते हैं ॥२ ॥

१९४२. आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥३ ॥

समस्त वसुओं को मिलाने वाली पुष्टिकारक और बल-वर्द्धक धन देने वाली प्रतिक्षित अमावास्या वाली रात्रि आ गई है। इसके निमित्त हम हवि अर्पित करते हैं। वे हमें अन्न, दुग्ध, अन्य रस एवं धन आदि से पुष्ट करें ॥३॥

१९४३. अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥४ ॥

हे अमावास्ये ! आपके अतिरिक्त कोई अन्य देवता समस्त जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है। हम आपको हवि अर्पित करते हुए मनोकामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना करते हैं। हवि ग्रहण करके आप हमारी मनोकामनाओं को पूर्ण करते हुए हमें धन प्रदान करें ॥४ ॥

[८५- पूर्णिमा सूक्त (८०)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- १-२,४ पौर्णमासी, ३ प्रजापति । छन्द- त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप् ।]

१९४४. पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥१ ॥

पूर्ण चन्द्र वाली तिथि को पूर्णमासी कहते हैं। पूर्व में, पश्चिम में एवं मध्य में यह दमकती है।

उसमें देवताओं के साथ रहते हुए हम स्वर्ग से ऊपर अन्नरस प्राप्त कर आनन्दित हों ॥१ ॥

१९४५. वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे। स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥

अभिलषित फल के देने वाले हविरूप, अन्नरूप अन्न वाले पूर्णमास का हम यजन करते हैं। वे पूजित पूर्णमास प्रसन्न होकर अक्षय एवं अविनाशी धन प्रदान करें ॥२ ॥

१९४६. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३ ॥

हे प्रजापतिदेव ! आप सर्वत्र व्याप्त होकर समस्त रूपों के सृजेता हैं, अन्य कोई ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं। जिन कामनाओं से हम आहुति अर्पित करते हैं, उन्हें आप पूर्ण करें एवं हमें धन प्रदान करें ॥३ ॥

१९४७. पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥४ ॥

पूर्णिमा तिथि, दिन तथा रात्रि दोनों में प्रथम यज्ञ करने योग्य है। हे पूजनीय पूर्णिमा ! जो यज्ञों द्वारा आपकी पूजा करते हैं; उन श्रेष्ठ कर्म करने वालों को स्वर्गधाम में प्रवेश मिलता है ॥४ ॥

[८६-सूर्य-चन्द्र सूक्त (८१)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सावित्री, सूर्य और चन्द्रमा। छन्द- त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्, ४ आस्तारपंक्ति, ५ संम्राडास्तारपंक्ति।]

१९४८. पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥१ ॥

माया (कौशल) के द्वारा आगे-पीछे चलते हुए दो बालक (सूर्य और चन्द्र) क्रीडा करते हुए से एक दूसरे का पीछा करते हुए समुद्र तक पहुँचते हैं। उनमें से एक (सूर्य) समस्त भुवनों को प्रकाशित करता है और दूसरा (चन्द्र) ऋतुओं को बनाता हुआ स्वयं नवीन-नवीन (नई कलाओं वाले) रूपों में उत्पन्न होता है ॥१ ॥

१९४९. नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२ ॥

हे चन्द्रदेव ! आप कला बदलते रहने के कारण नित्य नवीन हैं। आप उसी तरह तिथियों के ज्ञापक हैं, जिस तरह केतु (ध्वजा) किसी स्थान विशेष का ज्ञापन करता है। हे सूर्यदेव ! आप दिनों का ज्ञापन करते हुए, उषाकाल के अन्तिम समय में प्रकट होते हैं। आप समस्त देवताओं को उनका उचित हविर्भाग अर्पित करते हैं और चन्द्रदेव दीर्घ आयु प्रदान करते हैं ॥२ ॥

१९५०. सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥३ ॥

हे सोम के अंश ! हे युद्धों के स्वामी ! आपका यश कभी क्षीण नहीं होता। हे दर्शनीयदेव ! आप प्रसन्न होकर हमें प्रजा एवं श्रेष्ठ धनादि से परिपूर्ण करें ॥३ ॥

१९५१. दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥४ ॥

हे दर्शनीय सोम !आप दर्शन करने योग्य हैं ।आप अनेक कलाओं द्वारा विकसित होकर (पूर्णिमा पर) समग्र हो जाते हैं । आप स्वयं पूर्ण हैं, अतएव हमको भी अश्व, गौ, सन्तान, घर एवं धनादि से अन्त तक परिपूर्ण रखें ॥४ ॥

१९५२. यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व ।
आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥५ ॥

हे सोमदेव ! जो शत्रु हमसे द्वेष करते हैं, उनसे हम भी द्वेष करते हैं । आप उन शत्रुओं के प्राणों (को खींचकर उन) से आगे बढ़ें । हमें भी अश्व, गौ आदि पशु एवं घर, धनादि द्वारा सम्पन्न करें ॥५ । ।

१९५३. यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६ ॥

जिन एक कलात्मक सोमदेव को देवता शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक कला से बढ़ाते हैं । जिस क्षयरहित सोम का अविनाशीदेव भक्षण करते हैं । देवाधिपति इन्द्रदेव, वरुणदेव एवं बृहस्पतिदेव उस सोम के द्वारा हमारा कल्याण करते हुए हमें आगे बढ़ाएँ ॥६ ॥

[८७ - अग्नि सूक्त (८२)]

[ऋषि- शौनक । देवता- अग्नि । छन्द- त्रिष्टुप्, २ ककुम्मती बृहती, ३ जगती ।]

१९५४. अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥१ ॥

हे गौ (वाणी) ! सुन्दर स्तुतियों द्वारा आप अग्नि की अर्चना करें एवं हमें कल्याणकारी धन प्रदान करें । हम इस यज्ञ में देवताओं को लाएँ और आपकी कृपा से यज्ञ में घृत की धाराएँ मधुर भाव से देवताओं की ओर चलें ॥१ ॥

१९५५. मय्यग्रे अग्निं गृहणामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥२ ॥

हम सर्वप्रथम आहुतियों के आधार अग्नि को धारण करते हैं, क्षात्र-शौर्य एवं ज्ञान के तेज के साथ अग्नि को धारण करते हैं । हमें प्रजा एवं आयुष्य प्राप्त हो, इस निमित्त हम अग्निदेव को समिधादि समर्पित करते हैं ॥२ ॥

१९५६. इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः ।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! हमसे वैर भाव रखने वालों पर आप प्रसन्न न हों । हम आपकी सेवा करते हैं, आप हम पर प्रसन्न होकर हमें ऐश्वर्यशाली बनाएँ । आप अपने रूप में बल सहित स्थिर हों । आपकी सेवा करने वाले का प्रभाव बढ़े और वह सब प्रकार समृद्ध हो ॥३ ॥

१९५७. अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीनन्नु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४ ॥

उषाकाल के साथ ही अग्निदेव प्रकाशित होते हैं । यह जातवेदा अग्नि प्रथम उषाकाल में सूर्यरूप में प्रकट होते हैं, पुनः दिन को प्रकाशित करते हुए अपनी प्रकाशित-किरणों द्वारा सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में प्रकाश फैलाते हैं ॥

१९५८. प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५ ॥

प्रत्येक उषाकाल में अग्निदेव प्रकाशित होते हैं। यह प्रतिदिन के साथ भी प्रकाशित होते हैं। जातवेदा सूर्यरूप अग्निदेव, सूर्य किरणों में भी स्वयं प्रकाशित होते हैं एवं समस्त द्यावा-पृथिवी में प्रकाश फैलाते हैं ॥५ ॥

१९५९. घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।

घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६ ॥

हे अग्ने !आपका घृत देवताओं के सह- निवास स्थान में है।आज भी मनुदेव आपको घृत द्वारा प्रदीप्त करते हैं। आपके नप्ता (नाती) जल-घृत को अभिमुख लाएँ और गौएँ आपके लिए घृतयुक्त दुग्ध प्रदान करें ॥६ ॥

[यज्ञ से बादल, बादल से जलवृष्टि, वृष्टि से उत्पन्न तृण खाकर गौएँ अधिक दुग्ध प्रदान करती हैं।]

[८८ - पाशमोचन सूक्त (८३)]

[ऋषि- शुनः शेप । देवता- वरुण। छन्द- अनुष्टुप्, २ पथ्यापंक्ति, ३ त्रिष्टुप्, ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् ।]

१९६०. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥१ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! आपका स्वर्णमय घर जल में है। वे व्रत धारणकर्त्ता वरुणदेव समस्त धामों को बन्धन मुक्त करें ॥१ ॥

१९६१. धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! आप हमारे शरीर में स्थित सभी रोगों से हमको मुक्त करें। आप रोग एवं पाप से हमारी रक्षा करें। हम वाणी के दुरुपयोगजनित पाप से मुक्त हों ॥२ ॥

१९६२. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।

अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥३ ॥

हे वरुणदेव ! आप हमारे शरीर के ऊर्ध्वभाग वाले पाश को ऊपर की ओर खींचकर नष्ट करें, मध्य पाश को खींचकर अलग करें एवं नीचे के भाग में स्थित पाश को निकालकर नष्ट करें, फिर हम समस्त पाशों से मुक्त होकर अखण्डित स्थिति में रहें ॥३ ॥

१९६३. प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।

दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥४ ॥

हे वरुणदेव ! आप हमें अपने उत्तम एवं अधम दोनों प्रकार के पाशों से मुक्त करें। दुःस्वप्न देखने से होने वाले पापों को दूर करें। पाश और पापों से मुक्त होकर हम पुण्यलोक प्राप्त करें ॥४ ॥

[८९ - क्षत्रभृदग्नि सूक्त (८४)]

[ऋषि- भृगु । देवता- १अग्नि, २-३ इन्द्र। छन्द-१ जगती, २-३ त्रिष्टुप्।]

१९६४. अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आप अमर, बलशाली एवं समस्त उत्पन्न हुए प्राणियों को जानने वाले हैं। आप हमारे इस कार्य में प्रदीप्त होकर समस्त रोगों का शमन करें एवं हमें कल्याणकारी साधनों से सुरक्षित रखें ॥१ ॥

१९६५. इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥२ ॥

हे इन्द्रदेव !आप श्रेष्ठ क्षात्रबल वाले हैं । हे कामनाओं की पूर्ति करने वाले अग्निदेव ! आप हमसे दुर्व्यवहार करने वाले हमारे शत्रुओं को विनष्ट करें एवं देवगण जहाँ निवास करते हैं, उस स्वर्गलोक को प्राप्त कराएँ ॥२ ॥

१९६६. मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३ ॥

पर्वत निवासी, खतरनाक पंजे वाले, भयंकर सिंह के समान बलशाली इन्द्रदेव दूर के लोक से आएँ । हे इन्द्रदेव ! आप अपने तीक्ष्ण किये गये वज्र के द्वारा संग्राम में शत्रुओं का तिरस्कार करते हुए उनका नाश करें ॥३ ॥

[९० - अरिष्टनेमि सूक्त (८५)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- तार्क्ष्य । छन्द- त्रिष्टुप् ।

१९६७. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१ ॥

जो सुपर्ण बलवान् हैं, देवगणों ने सोम आहरण के लिए जिन्हें प्रेरित किया था, जो मुझ अरिष्टनेमि के पिता एवं शत्रुओं को पराजित करने वाले तथा शीघ्र गमन करने वाले हैं, ऐसे प्रसिद्ध तृक्षपुत्र सुपर्ण (गरुड़) का हम आवाहन करते हैं ॥१ ॥

[९१ - त्राता इन्द्र सूक्त (८६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- इन्द्र । छन्द- त्रिष्टुप् ।

१९६८. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१ ॥

भय से रक्षा करने वाले, समस्त प्रकार के संघर्षों में बुलाने योग्य इन्द्रदेव का हम आवाहन करते हैं । हम शक्र पुरुहूत इन्द्रदेव का आवाहन करते हैं । वे धनवान् इन्द्रदेव हमारा सब प्रकार कल्याण करें ॥१ ॥

[९२- व्यापकदेव सूक्त (८७)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- रुद्र । छन्द- जगती ।]

१९६९. यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥१ ॥

उन अग्नि के समान तेजस्वी रुद्रदेव को हम नमस्कार करते हैं, जो अग्नि में, जल में. ओषधियों में समा गये हैं एवं जो समस्त सृष्टि के प्राणियों की रचना करने वाले हैं ॥१ ॥

[९३ - सर्पविषनाशन सूक्त (८८)]

[ऋषि- गरुत्मान् । देवता- तक्षक । छन्द- त्र्यवसाना बृहती ।]

१९७०. अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद्
वा अपृक्थाः । अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥१ ॥

हे विष ! तुम सबके शत्रु हो । तुम इस (दंशित) व्यक्ति से निकलकर उस सर्प में प्रवेश करो एवं उस सर्प के भी शत्रुरूप होकर उसे मार डालो ॥१ ॥

[९४ - दिव्यआपः सूक्त (८९)]

[ऋषि- सिन्धुद्वीप । देवता- अग्नि । छन्द- अनुष्टुप्, २ त्रिपदा निचृत् परोष्णिक् ।]

१९७१. अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥१ ॥

मैं दिव्य जल के रस से युक्त हो जाऊँ । हे अग्निदेव ! मैं आपके पास दुग्ध लेकर आया हूँ, कृपा कर आप मुझे तेजस्वी बनाएँ ॥१ ॥

१९७२. सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमें पवित्र बल से युक्त करें । आपकी इस कृपा से, हमें ऋषि एवं देवताओं सहित इन्द्रदेव भी पवित्र मानें । आप सब हमें पुत्र-पौत्र और दीर्घ आयु प्रदान करें ॥२ ॥

१९७३. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्

हे जल समूह ! हमने जो निन्दा, असत्य भाषण, ऋण न चुकाना, पिता से द्रोह करना जैसे पापकर्म किये हैं; आप इन पापों के समूह को हमसे दूर करें एवं हमारी रक्षा करें ॥३ ॥

१९७४. एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय । तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥४ ॥

हे अग्निदेव ! जिस प्रकार आप बल द्वारा तेजस्वी होकर शत्रुओं का नाश करते हैं, उसी प्रकार हमें तेजस्वी बनाएँ ॥४ ॥

[९५ - शत्रुबलनाशन सूक्त (९०)]

[ऋषि- अङ्गिरा । देवता- मन्त्रोक्त । छन्द- १ गायत्री, २ विराट् पुरस्ताद् बृहती,
३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिक् जगती ।]

१९७५. अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् । ओजो दासस्य दम्भय ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! आप इस हिंसक शत्रु के बल एवं ओज को उसी तरह नष्ट करें, जिस प्रकार पुराने शत्रुओं के बल- वीर्य को नष्ट किया है ॥१ ॥

१९७६. वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै ।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥२ ॥

हम शत्रु के एकत्रित किये गये धन को इन्द्रदेव की सहायता से प्राप्त करते हैं तथा वरुणदेव की सहायता से शत्रु के तेजस्वी घमंड को नष्ट करते हैं ॥२ ॥

१९७७. यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।अवस्थस्य क्नदीवतः
शाङ्कुरस्य नितोदिनः । यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥३ ॥

नीच स्तर की वाणी द्वारा, काँटे (शूल) के समान पीड़ा देने वाले मनुष्य का फैला हुआ आतंक नष्ट हो । इनकी शारीरिक सामर्थ्य का पतन हो जाए । ये शरीर के अवयव स्त्रियों को पीड़ित न कर सकें ॥३ ॥

[९६ - सुत्रामा इन्द्र सूक्त (९१)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- चन्द्रमा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१९७८. इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥१ ॥

श्रेष्ठ रक्षक इन्द्रदेव अपने सुखकारी रक्षा साधनों से हमारी रक्षा करें । समस्त धन से सम्पन्न इन्द्रदेव हमें धन प्रदान करें एवं शत्रुओं का संहार करके हमें निर्भयता प्रदान करें ॥१ ॥

[९७ - सुत्रामाइन्द्र सूक्त (९२)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- चन्द्रमा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१९७९. स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥१ ॥

वे इन्द्रदेव श्रेष्ठ रक्षक हैं, अतएव अपनी शक्ति से शत्रुओं को हमारे पास से कहीं दूर भगा देते हैं । ऐसे इन्द्रदेव की कल्याण करने वाली सद्बुद्धि का अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहे, जिससे हमारा कल्याण हो ॥१ ॥

[९८ - शत्रुनाशन सूक्त (९३)]

[ऋषि- भृग्वङ्गिरा । देवता- इन्द्र । छन्द- गायत्री ।]

१९८०. इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः । घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥१ ॥

हमसे युद्ध करने की जिनकी इच्छा है, ऐसे शत्रुओं को हम इन्द्रदेव के सहयोग से पराजित करें । वे इन्द्रदेव पराजित शत्रुओं को समूल नष्ट करें ॥१ ॥

[९९ - सांमनस्य सूक्त (९४)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- सोम । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९८१. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि । यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥

हम पुरोडाश आदि हवि सहित सुस्थिर सोम को सोम-शकट या पालकी आदि साधनों से इन्द्रदेव के निमित्त लाते हैं । इससे प्रसन्न होकर इन्द्रदेव हमारी सन्तानों को सुस्थिर मति प्रदान करें ॥१ ॥

[१०० - शत्रुनाशन सूक्त (९५)]

[ऋषि- कपिञ्जल । देवता- गृध्रद्रय । छन्द- १ अनुष्टुप्, २-३ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

१९८२.उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः । उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥

शत्रु के ओष्ठ चिर जाएँ या उसके प्राण और अपान शरीर से निकलकर आकाश में उसी तरह से उड़ जाएँ, जिस प्रकार गिद्ध उड़ते हैं ॥१ ॥

१९८३. अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥२ ॥

जिस प्रकार थके हुए बैलों को, भौंकते हुए कुत्तों एवं भेडियों को लोग बलपूर्वक भगा देते हैं, उसी प्रकार शत्रु के प्राणों को हम बलपूर्वक अलग करते हैं ॥२ ॥

१९८४. आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार ॥३॥

हम उस शत्रुरूप स्त्री अथवा पुरुष के मर्म स्थानों को पीड़ित करते हैं, जिनने हमारे धन का हरण कर लिया है, वे स्त्री या पुरुष इस पीड़ा से व्यथित हो, प्राण त्याग दें ॥३॥

[१०१ - शत्रुनाशन सूक्त (९६)]

[ऋषि- कपिञ्जल । देवता- वय । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९८५. असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥१॥

जिस प्रकार गौएँ गोशाला में, पक्षी अपने घोंसले में सुखपूर्वक रहते हैं और पर्वत अपने सुनिश्चित स्थान में स्थित रहते हैं, उसी प्रकार शरीर में दोनों वृक्कों (गुर्दों) को हम स्थापित करते हैं ॥१॥

[यहाँ शारीरिक स्वास्थ्य के लिए वृक्क (रक्त की सफाई करने वाले अंग) के महत्त्व को स्पष्ट किया है।]

[१०२ - यज्ञ सूक्त (९७)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- इन्द्राग्नी । छन्द- त्रिष्टुप्, ५ त्रिपदार्ची भुरिक् गायत्री, ६ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती, ७ त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती, ८ उपरिष्टाद् बृहती ।]

१९८६. यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम् ॥१॥

हे ज्ञानी होता अग्निदेव ! हम आपका वरण करते हैं। हे बलशाली ! आप शान्तिपूर्वक पधारें एवं सोम रूप हवि को ग्रहण करें ॥१॥

१९८७. समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥२॥

हे हरित वर्ण के अश्वों वाले इन्द्रदेव ! आप हमें श्रेष्ठ मन, उत्तम वाणी एवं कल्याणकारी विद्वानों से युक्त करें। हमें देवों का हित करने वाले ज्ञान तथा देवों की शुभ मति की ओर ले चलें ॥२॥

१९८८. यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥३॥

हे तेजस्वी अग्निदेव ! हवि की कामना वाले जिन देवताओं का आपने आवाहन किया है, कृपा करके उन्हें सुनिश्चित उत्तम स्थान में भेजें। हवि आदि का सेवन मधुर रसों (घृत, सोम आदि) का पान करने वाले हे वसुगणो ! आप याजक को धन- धान्यादि प्रदान करें ॥३॥

१९८९. सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥

हे देवताओ ! हमने आप सब के लिए उत्तम आवासों का निर्माण किया है। इस यज्ञ में अर्पित हवि को आपने ग्रहण किया है। अब आप प्रसन्न होकर अपने श्रेष्ठ धन हमें प्रदान करके स्वयं प्रकाशित द्युलोक पर आरोहण करें।

[यज्ञीय प्रक्रिया से देव-शक्तियों के लिए सूक्ष्म जगत् में रुचिकर वातावरण बनता है, उससे हर्षित होकर देव शक्तियाँ दिव्य अनुदान देती हैं।]

१९९०. यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५ ॥

हे यज्ञदेव !आप हमारे यज्ञ, यज्ञपति तथा अपने आश्रयस्थान को जाएँ, यह आहुति आपके लिए अर्पित है ।

१९९१. एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥६ ॥

(हे याजक) ! यह सूक्त एवं मंत्रों द्वारा विधिपूर्वक होने वाला यज्ञ आपको कल्याणकारी सामर्थ्य से युक्त करे । (इस भाव से) यह आहुति समर्पित है ॥६ ॥

१९९२. वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥७ ॥

जिन देवगणों का यजन किया गया एवं जिनका यजन नहीं किया गया, उन समस्त देवताओं के लिए यह आहुति अर्पित है । हे मार्गों को जानने वाले देवताओ ! जिस मार्ग से आप आये थे, इस सत्कर्म के समापन के पश्चात् आप उसी मार्ग से अपने-अपने स्थानों को वापस जाएँ ॥७ ॥

१९९३. मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् ।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥८ ॥

हे मन के स्वामी ! आप हमारे इस यज्ञ को द्युलोक में देवताओं तक पहुँचाएँ एवं पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं समस्त वायु मण्डल में इसे स्थापित करें । यह आहुति स्वाहुत (भली प्रकार समर्पित) हो ॥८ ॥

[मनः शक्ति के द्वारा यज्ञ से उत्पन्न सत्प्रभावों को विश्वमण्डल में स्थापित किया जा सकता है ।]

[१०३ - हवि सूक्त (९८)]

[**ऋषि**- अथर्वा । देवता- इन्द्र, विश्वेदेवा । छन्द- विराट् त्रिष्टुप् ।]

१९९४. सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः ।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥१ ॥

घृत एवं हवन सामग्री से आहुतियाँ भरपूर (पर्याप्त) मात्रा में प्रदान की गई हैं । इनसे इन्द्र, वसु, मरुत् सहित समस्त देवतागण तृप्त हों । यह उत्तम आहुति देवताओं में प्रमुख देव इन्द्र को प्राप्त हो ॥१ ॥

[१०४ - वेदी सूक्त (९९)]

[**ऋषि**- अथर्वा । देवता- वेदी । छन्द- भुरिक् त्रिष्टुप् ।]

१९९५. परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् ।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥१ ॥

(हे यज्ञदेव !) चारों ओर फैलकर वेदी को आच्छादित कर लें । याजक की बहिन (भावना-गति) को बाधित न करें । याजकों का घर हरीतिमायुक्त हो तथा यजमान को इस लोक में स्वर्ण-मुद्राएँ अथवा अलंकार प्राप्त हों ॥१ ।

[१०५ - दुःस्वप्ननाशन सूक्त (१००)]

[**ऋषि**- यम । देवता- दुःष्वप्न नाशन । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९९६. पर्यावर्तेदुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः !
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥१ ॥

हम दुःस्वप्न से होने वाले पाप से मुक्त होते हैं । हम ज्ञान की मध्यस्थता द्वारा स्वप्नों को एवं शोक आदि से उत्पन्न पाप को दूर करते हैं, इनसे मुक्त होते हैं ॥१ ॥

[१०६ - दुःस्वप्ननाशन सूक्त (१०१)]

[ऋषि- यम । देवता- दुःष्वप्ननाशन । छन्द- अनुष्टुप् ।]

१९९७. यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥१ ॥

हमने स्वप्न में जो अन्न खाया है, उसका प्रातः जागने पर कोई बोध नहीं होता और वे दिन में दिखाई नहीं देते फिर भी वे सब हमारे लिए कल्याणकारी हों ॥१ ॥

[स्वप्नों में मिले स्थूल पदार्थ निरर्थक होते हैं; क्योंकि उनका यथार्थ जीवन में कोई उपयोग नहीं होता, फिर भी स्वप्नों में प्राप्त सूक्ष्म प्रेरणाएँ एवं संस्कार आदि कल्याणप्रद हो सकते हैं ।]

[१०७ - आत्मन -अहिंसन सूक्त (१०२)]

[ऋषि- प्रजापति । देवता- द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, मृत्यु । छन्द- विराट् पुरस्तात् बृहती ।]

१९९८. नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥१ ॥

हम द्यावा-पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं मृत्यु को नमस्कार करते हैं । इनके स्वामी अग्नि, वायु और सूर्यदेव सहित मृत्यु हमारा वध न करे, हम दीर्घकाल तक इसी लोक में रहें ॥१ ॥

[१०८ - क्षत्रिय सूक्त (१०३)]

[ऋषि- प्रजापति । देवता- ब्रह्मात्मा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

१९९९. को अस्या नो द्रुहो ऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥१ ॥

परस्पर द्रोह वृत्ति रूपी, इस निंदनीय दुर्गति रूपी पिशाचिनी से हमें कौन बचाएगा ? इस यज्ञ-अनुष्ठान की पूर्णता की कामना करने वाला कौन है ? हमें धन-ऐश्वर्य कौन देगा ? हमें दीर्घायुष्य कौन देवता प्रदान करता है ? ॥१ ॥

[जीवन के सहज क्रम में सामने आने वाले विकारों-अवरोधों के निवारण की प्रबल इच्छा होनी चाहिए । उसी आधार पर उपजी इच्छाशक्ति उनके निवारण के स्रोत खोज लेती है ।]

[१०९ - गौ सूक्त (१०४)]

[ऋषि- प्रजापति । देवता- ब्रह्मात्मा । छन्द- त्रिष्टुप् ।]

२०००. कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥१ ॥

अथर्वा ने वरुणदेव को, विविध वर्णों की, सुखपूर्वक दुग्ध देने वाली, बछड़ेसहित गौएँ प्रदान कीं । बृहस्पति देव के मित्र प्रजापतिदेव इन गौओं को सब प्रकार से स्वस्थ रखें ॥१ ॥

[११० - दिव्यवचन सूक्त (१०५)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- मन्त्रोक्त । छन्द- अनुष्टुप् ।]

२००१. अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥१ ॥

(हे साधक !) आप अपने समस्त सहपाठियों के साथ दिव्य वचनों को सुनकर उसे धारण करें एवं सामान्य मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों से हटकर उच्च आचरण करते हुए देवत्व की ओर अग्रसर हों ॥१ ॥

[१११ - अमृतत्व सूक्त (१०६)]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- जातवेदा, वरुण । छन्द- बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् ।]

२००२. यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१ ॥

हे अग्ने ! स्मरण के अभाव में हमसे आचरण सम्बन्धी जो भूलें हो गई हैं, आप उन अपराधों को क्षमा करें । हे जातवेदा अग्निदेव ! आप इस प्रकार की भूलों से बचाएँ एवं हमारे मित्रों सहित हमें अमरता प्रदान करें ॥१ ॥

[११२ - संतरण सूक्त (१०७)]

[ऋषि- भृगु । देवता-सूर्य अथवा आपः । छन्द- अनुष्टुप् ।]

२००३. अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥१ ॥

सूर्यदेव अपनी सात-किरणों से समुद्र की जल-धाराओं को पहले द्युलोक तक ले जाते हैं, फिर वहाँ से वृष्टि करते हैं । हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! वे तुम्हारे शल्य के समान पीड़ादायक "कास" आदि रोग को नष्ट करें ॥१ ॥

[११३ - शत्रुनाशन सूक्त (१०८)]

[ऋषि- भृगुं । देवता-अग्नि । छन्द- बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।]

२००४. यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥१ ॥

हे अग्निदेव ! प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से जो हमें सताता है, वह चाहे हमारा अपना सम्बन्धी हो अथवा पराया, वह विद्वान् ही क्यों न हो, उसका निवास नष्ट हो जाए और वह सन्तानहीन हो जाए । उसे पीछे से दाँतों वाली रस्सी (चाबुक) पीड़ा पहुँचाए ॥१ ॥

२००५.यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥२ ॥

हे जातवेदा अग्निदेव ! जो दुष्ट मुझ सोते या जागते हुए को अथवा चलते या बैठे हुए को, मारने की इच्छा करें, उसे आप वैश्वानर अग्निदेव के सहयोग से नष्ट कर दें ॥२ ॥

[११४ - राष्ट्रभृत सूक्त (१०९)]

[ऋषि- बादरायणि । देवता- अग्नि । छन्द- त्रिष्टुप्, १ विराट् पुरस्ताद् बृहती; ४, ७ अनुष्टुप् ।]

२००६.इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥

उग्रवीर बभ्रुदेव को हम नमस्कार करते हैं एवं अभिमन्त्रित घृत द्वारा पाँसों को ताड़ित करते हैं । पाँसों को वश में रखने वाले ये देव हमें इस जीत-हार वाले (जीवन रूपी) खेल में जीत प्रदान कर सुखी करें ॥१ ॥

२००७. घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२ ॥

हे अग्निदेव ! आप अन्तरिक्ष में निवास करने वाली अप्सराओं के लिए हमारे द्वारा अर्पित घृत पहुँचाएँ । जीत-हार के इस खेल में जो हमारे प्रतिद्वन्द्वी हैं, उन्हें जल और धूल से त्रस्त करें । इन्द्रदेव सहित अन्य देवता अपना हविर्भाग ग्रहण कर तृप्त हों ॥२ ॥

२००८. अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३ ॥

सूर्यलोक में, भूलोक एवं दोनों के मध्य अन्तरिक्ष में अर्पित हवि से जो अप्सराएँ हर्षित हो रही हैं, वे प्रसन्न होकर, मेरे प्रतिद्वन्द्वी को मेरे वशीभूत करें । जैसे घृत सार है, वैसे ही खेल का सार विजय है, यह विजय रूपी घृत हमें हस्तगत कराएँ ॥३ ॥

२००९. आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥४ ॥

प्रतिद्वन्द्वियों के साथ इस खेल में हमें विजयरूप घृत से युक्त करें । हमारे प्रतिद्वन्द्वी को आप उसी तरह नष्ट करें, जिस प्रकार बिजली वृक्ष का नाश कर देती है ॥४ ॥

२०१०. यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥५ ॥

जिन देवताओं ने कृपा करके हमें इस खेल में विजयी बनाया है; जिन्होंने हमारे प्रतिपक्षी के अक्षों को कमजोर किया एवं हमें उसका धन दिलाया; वे देव हमारे द्वारा अर्पित हवि को ग्रहण करें । हम आनंदित गन्धर्वों के साथ आनंद पाएँ ॥५ ॥

२०११. संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६ ॥

हे गन्धर्वो !आप उग्र दृष्टि वाले, राष्ट्र के भरण-पोषण करने वाले एवं "संवसव" (भली प्रकार आवास देने) नाम वाले हैं । हम आपका यजन करते हैं, आप अर्पित हवि से प्रसन्न होकर हमें सम्पदाओं का स्वामी बनाएँ ॥६ ॥

२०१२. देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥७ ॥

हम धन प्राप्ति की इच्छा से अग्नि आदि देवताओं का आवाहन करते हैं । हम ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक बभ्रुदेव के पाँसों को स्पर्श करने का साहस करते हैं, वे देव हमें विजय-सुख प्रदान करें ॥७ ॥

[११५ - शत्रुनाशन सूक्त (११०)]

[ऋषि- भृगु । देवता- इन्द्राग्नी । छन्द- गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ।]

२०१३. अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१ ॥

हे अग्निदेव एवं इन्द्रदेव ! आप दोनों देव वृत्र का संहार करने वाले हैं । आप कृपा कर हम हविदाताओं को घेरने वाले पापों का भी क्षय करें । हम सब पाप-मुक्त हों ॥१ ॥

२०१४. याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥२ ॥

जिन अग्निदेव और इन्द्रदेव ने देवताओं का सहयोग करके, उन्हें स्वर्ग प्राप्त कराया और समस्त भूतों में व्याप्त हो गये हैं। जो देवकर्मों के साक्षी एवं कामनाओं की पूर्ति करने वाले हैं, ऐसे अग्निदेव एवं वज्रधारी इन्द्रदेव का हम आवाहन करते हैं ॥२ ॥

२०१५. उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥३ ॥

हे इन्द्रदेव ! देवताओं के हितैषी बृहस्पतिदेव चमस पात्र से (यज्ञाहुति द्वारा) आपको (आपका समर्थन) प्राप्त किया है। उसी प्रकार सोम तैयार करने वाले इन यजमानों से प्रसन्न होकर, आप इनकी स्तुति स्वीकार करें एवं इन्हें धन प्रदान करें ॥३ ॥

[११६ - आत्मा सूक्त (१११)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- वृषभ । छन्द- पराबृहती त्रिष्टुप् ।]

२०१६. इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥१ ॥

हे वृषभ ! आप सोमधारण करने वाले हैं। आप मानवों एवं देवताओं के आत्मारूप हैं। आप यहाँ प्रजा को उत्पन्न करें। यहाँ अथवा अन्यत्र जहाँ भी प्रजाएँ हों, वे सुखपूर्वक रहें ॥१ ॥

[११७ - पापनाशन सूक्त (११२)]

[ऋषि- वरुण । देवता- आपः, वरुण । छन्द- भुरिक् अनुष्टुप्, २ अनुष्टुप् ।]

२०१७. शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१ ॥

द्यावा-पृथिवी महान् व्रत धारण करते हैं। ये हमें समीप से सुख देने वाले हैं। यहाँ सात दिव्य धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं, ये हमें पाप से बचाएँ ॥१ ॥

२०१८. मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या दुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२ ॥

वरुणदेव हमें शाप, क्रोध एवं यम के बन्धनों से बचाएँ। देवगणों के प्रति हुए अनुचित कर्मजनित दोषों से भी वरुणदेव हमें मुक्त करें ॥२ ॥

[११८ - शत्रुनाशन सूक्त (११३)]

[ऋषि- भार्गव । देवता - तृष्टिका । छन्द- विराट् अनुष्टुप्, २ शंकुमती चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक् ।]

२०१९. तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके। यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥१ ॥

हे काम तृष्णा ! हे धन तृष्णा ! तुम अपने कुप्रभाव से स्त्री-पुरुष में द्वेष पैदा कर देती हो, उनके स्नेह सम्बन्धों को काट देती हो ॥१ ॥

२०२०. तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥२ ॥

हे तृष्णा ! तुम लोभमय हो । तुम विष लता जैसे विषैले प्रभाव वाली हो । जिस प्रकार वृषभ द्वारा त्याग देने से गाय बिना बछड़े वाली रहती है, उसी प्रकार तुम त्यागने योग्य हो ॥२ ॥

[तृष्णा आदि मनोविकार मन में आएँ , तो उन्हें अपने चिन्तन से पोषण नहीं देना चाहिए । ऐसा करने से वृषभहीन गाय की तरह उनका तेज विकसित नहीं हो पाता ।]

[११९ - शत्रुनाशन सूक्त (११४)]

[ऋषि- भार्गव । देवता-अग्नीषोमा । छन्द- अनुष्टुप् ।]

२०२१. आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद् ददे ।
आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥१ ॥

(हे द्वेषकारिणी अधम स्त्री !) हम तेरे मुख, वक्षस्थल आदि आकर्षक अंगों के तेज को नष्ट करते हैं । हृदय की कुत्सित भावनाओं को नष्ट करते हैं ॥१ ॥

[अपने सौन्दर्य से दूसरों को हीनता की ओर प्रेरित करने वाली नारी की तेजस्विता का हरण कर लेना लोकहित की दृष्टि से लाभप्रद माना गया है ।]

२०२२. प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥२ ॥

हे विकारों से बचने वाले स्त्री या पुरुष ! तुम्हारी शारीरिक व्याधियाँ एवं मानसिक दुःख दूर हों । तुम लोक-निन्दा से मुक्त हो । अग्निदेव राक्षसियों का नाश करें तथा सोमदेव अनिष्ट चिन्तन की प्रेरणा देने वाली पिशाचिनियों का संहार करें ॥२ ॥

[१२० - पापलक्षणनाशन सूक्त (११५)]

[ऋषि- अथर्वाङ्गिरा । देवता- सविता, जातवेदा । छन्द- अनुष्टुप्, २-३ त्रिष्टुप् ।]

२०२३. प्र पततेः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥१ ॥

हे पापलक्ष्मी ! तुम यहाँ से कहीं दूर चली जाओ । यहाँ-वहाँ से हटकर हमारे शत्रु के पास स्थिर हो जाओ । लौह शूल के द्वारा हम आपको अपने द्वेषी की ओर प्रेरित करते हैं ॥१ ॥

[पाप कर्मों से अर्जित सम्पदा आकर्षक तो लगती है, किन्तु वह व्यक्ति परिवार एवं समाज के पतन का कारण बनती है । ऐसी पापयुक्त लक्ष्मी का त्याग ही समझदारी है ।]

२०२४. या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥२ ॥

वन्दना नामक लता जिस प्रकार वृक्ष पर चढ़कर उसे सुखाती है, उसी प्रकार यह अलक्ष्मी हमारे ऊपर आरोपित होकर हमें सुखा रही है । हे सूर्यदेव ! आप इस अलक्ष्मी को हमसे दूर करें तथा हमें सुवर्ण प्रदान करें ॥

२०२५. एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥३ ॥

मानव के जन्म के साथ एक सौ एक लक्ष्मियों ने जन्म लिया है । इनमें जो पापमयी अलक्ष्मियाँ हैं, उन्हें हम सदा-सदा के लिए दूर हटाते हैं । हे जातवेदा अग्निदेव ! इनमें जो कल्याणकारी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हें आप हमारे पास लाएँ ॥३ ॥

२०२६. एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥४ ॥

जैसे गोशाला में रहने वाली गौओं को (गुण-अवगुण के आधार पर) दो भागों में बाँट लेते हैं, वैसे ही समस्त लक्ष्मियों में से पुण्यकारक लक्ष्मियाँ हमारे पास आनन्द से रहें तथा पापमयी अलक्ष्मियाँ हम से दूर हो जाएँ ॥४ ॥

[१२१ - ज्वरनाशन सूक्त (११६)]

[**ऋषि-** अथर्वाङ्गिरा । **देवता-** चन्द्रमा । **छन्द-** परोष्णिक्, २ एकावसाना द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त में मलेरिया जैसे ज्वर के निवारण की प्रार्थना की गई है। इस ज्वर के अनेक रूप कहे गये हैं, जो वैद्यक शास्त्र के अनुरूप है-.

२०२७. नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे । नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥१ ॥

तपाने वाले, हिलाने वाले, भड़काने वाले, डराने वाले, शीत लगकर आने वाले एवं शरीर को तोड़ने (कृश करने) वाले ज्वर को नमस्कार है ॥१ ॥

२०२८. यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्ये त्वव्रतः ॥२ ॥

जो ज्वर एक दिन छोड़कर आते हैं, जो दो दिन छोड़कर आते हैं तथा जो बिना किसी निश्चित समय के आते हैं, वे इस मेढक (संकीर्ण या आलसी व्यक्ति) के पास जाएँ ॥२ ॥

[१२२ - शत्रुनिवारण सूक्त (११७)]

[**ऋषि-** अथर्वाङ्गिरा । **देवता-** इन्द्र । **छन्द-** पथ्याबृहती ।]

२०२९. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिद् वि यमन् विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥१ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप अपने मोरपंखी वर्ण वाले अश्वों (सतरंगी किरणों) के साथ यहाँ आएँ । बहेलिया जैसे पक्षी को जाल में फँसा लेता है, वैसे आपको कोई (वाग् जाल में) न फँसा सके । ऐसे (कुटिलो) को आप रेतीले क्षेत्र की तरह लाँघकर यहाँ पधारें ॥१ ॥

[१२३ - वर्मधारण सूक्त (११८)]

[**ऋषि**--अथर्वाङ्गिरा । **देवता**-- चन्द्रमा, वरुण, देवगण । **छन्द**-- त्रिष्टुप्]

२०३०. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥१ ॥

हे वीर ! आप जैसे विजयाभिलाषी के मर्म स्थानों को हम कवच से सुरक्षित करते हैं । सोमदेव के अमृतमयी आच्छादन के द्वारा आप सुरक्षित रहें । वरुणदेव आपको महान् सुख दें । विजय प्राप्त कराने के लिए इन्द्रादि सभी देवता आपको प्रोत्साहित करते रहें ॥१ ॥

॥इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथाष्टमं काण्डम् ॥

[१- दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- आयु । छन्द- १ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, २-३, १७-२१ अनुष्टुप्, ४, ९, १५-१६ प्रस्तार पंक्ति, ५-६, १०-११ त्रिष्टुप्, ७ त्रिपदा विराट् गायत्री, ८ विराट् पथ्याबृहती, १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती, १३ त्रिपदा भुरिक् महाबृहती, १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिक् बृहती ।]

२०३१. अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुष सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥१ ॥

मृत्यु के द्वारा सबका अन्त करने वाले अन्तकदेव को नमस्कार है । इन देव की कृपा से इस मनुष्य के शरीर में 'प्राण' एवं 'अपान' सुखपूर्वक संचरित हों । यह पुरुष दीर्घ जीवनयापन करता हुआ, सूर्य के इस भाग(पृथ्वी) में आनन्दपूर्वक रहे ॥१ ॥

२०३२. उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् । उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ।

'भग' देवता ने इस मनुष्य की जीवनी-शक्ति को उठाया, तेजस्वी सोमदेव ने इसे उठाया एवं इन्द्रदेव तथा अग्निदेव ने भी इसे ऊँचा उठाया ॥२ ॥

२०३३. इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥३ ॥

(हे आयु की इच्छा करने वाले पुरुष !) इसी (शरीर) में तेरे प्राण, आयु, मन तथा जीवन स्थिर रहे । जिन रोगरूपी पाशों (बन्धनों) से तुम्हारी अधोगति हो रही थी , हम मंत्रों द्वारा उनसे तुम्हें मुक्त करते हैं ॥३ ॥

२०३४. उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥४ ॥

हे पुरुष ! तुम रोगरूप बन्धनों को काटकर मृत्यु के पाशजाल से मुक्त हो । अग्निदेव एवं सूर्यदेव के दर्शन करते हुए , इस पृथ्वी का त्याग न करो ॥४ ॥

२०३५. तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥५ ॥

हे पुरुष ! अन्तरिक्ष में रहने वाली वायु तुम्हारे लिए सुखदायक हो, जल अमृत के समान हो, सूर्यदेव सुखदायक ताप प्रदान करें एवं मृत्युदेव की दया से दीर्घ जीवनयापन करो ॥५ ॥

२०३६. उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥६ ॥

हे पुरुष !तुम्हारी ऊर्ध्वगति हो, अधोगति न हो ।मैं तुम्हें जीवनीशक्ति एवं बलवर्द्धक ओषधियाँ देता हूँ, इससे तुम इस रथरूप शरीर पर आरूढ़ होकर , जरारहित रहते हुए, इस (जीवन की) विधा को बतलाना ॥६ ॥

२०३७. मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन् ।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥७ ॥

तुम्हारा मन मृत्यु की ओर न जाए और वहाँ विलीन न हो जाए । तुम पितरों के पास न जाओ,वरन् जीने की इच्छा करो । समस्त देवता तुम्हारी रक्षा करें ॥७ ॥

२०३८. मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥८ ॥

जो (पित्तरगण) चले गये हैं, उनका ध्यान न करो । वे तुम्हें भी परलोक (पितरलोक) ले जा सकते हैं । हम तुम्हारा हाथ पकड़ते हैं । तुम इस अज्ञान अन्धकार से निकलकर ज्ञान के आलोक की ओर बढ़ो ॥८ ॥

२०३९. श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥९ ॥

हे मनुष्य !प्राणियों के प्राणों के हरण कर्ता यमदेवता के दो मार्गरक्षक कुत्ते श्वेत (दिन) और काले (रात) हैं । तुम इन कुत्तों का ग्रास न बनो, मेरी ओर ध्यान लगाओ एवं अपने मन को सांसारिकता से विमुख न करो ॥९॥

२०४०. मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥१० ॥

तुम उस भयानक मार्ग का अनुसरण न करो, मृत्यु के पूर्व मन को उस मार्ग पर न ले जाओ । मैं जो कह रहा हूँ, उस पर ध्यान दो । तुम उस मार्ग पर न जाओ, वहाँ तुम्हारे लिए भय है, यहाँ तुम अभय हो ॥१० ॥

२०४१. रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥११ ॥

हे रक्षा की कामना करने वाले पुरुष ! आवाहन करने योग्य अग्निदेव , वैश्वानर अग्निदेव, विद्युत्‌रूप अग्निदेव एवं जल में निवास करने वाले अग्निदेव तुम्हारी रक्षा करें ॥११ ॥

२०४२. मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर । रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी
सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च । अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥१२ ॥

शारीरिक मांसपेशियों को आहार बनाने वाली क्रव्याद अग्नि तुम्हें आहार न माने । शव को भस्म करने वाले संकुसुक नामक अग्निदेव आपके निकट न आएँ । सूर्य, चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी एवं अन्तरिक्ष भी अपनी दिव्य शक्तियों से तुम्हारी रक्षा करें ॥१२ ॥

२०४३. बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥१३ ॥

हे रक्षाभिलाषी पुरुष ! बोध (विद्या, ज्ञान) तथा प्रतिबोध (अविद्या, अज्ञान) तुम्हारी रक्षा करें । 'गोपायन' एवं 'जागृवि' ऋषि तुम्हारी रक्षा करें ॥१३ ॥

२०४४. ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥१४ ॥

वे सब तुम्हारी रक्षा करें एवं पालन करें । उन समस्त दिव्य शक्तियों को नमस्कारपूर्वक यह उत्तम आहुति अर्पित है । वे इस समर्पण से प्रसन्न हों ॥१४ ॥

२०४५. जीवेभ्यस्त्वा समुद्रे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ॥१५ ॥

रक्षक - पोषक सवितादेव एवं वायुदेव तथा इन्द्रदेव तुम्हारे प्राणों की रक्षा करें । तुम अपने पुत्र-पौत्रादि एवं भार्या के साथ रहो, इसलिए हम तुम्हें मृत्यु से ऊपर उठाते हैं । हम तुम्हारे प्राणों को तुम्हारे अनुकूल करते हैं, वे प्राण तथा बल तुम्हारा त्याग न करें ॥१५ ॥

२०४६. मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥१६ ॥

जम्भ राक्षस तुम तक न पहुँचे, अज्ञानान्धकार तुम्हारे निकट न रहे । राक्षस की जीभ भी तुम तक न पहुँचे । तुम यज्ञ करने वाले हो, इसलिए आदित्य , वसु , इन्द्र एवं अग्नि आदि देवता तुम्हारा कल्याणकारी उत्थान करें ॥१६॥

२०४७. उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥१७ ॥

द्यावा-पृथिवी एवं प्रजापति तुम्हें मृत्यु से बचाएँ । सोम जिनके राजा हैं, ऐसी ओषधियाँ मृत्यु से रक्षा करें ॥१७॥

२०४८. अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः । इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥

हे देवताओ ! यह पुरुष (हमारे उपचार के प्रभाव से) मृत्यु के मुख से बचा रहे । हम हजारों उपायों से इसकी रक्षा करते हैं ॥१८ ॥

२०४९. उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥१९ ॥

हे प्राण रक्षा की कामना करने वाले पुरुष ! हम मृत्यु से तुम्हें पार करते हैं । आयु के अधिष्ठाता देव तुम्हें न मरने दें । स्त्रियाँ बाल खोलकर तुम्हारे लिए विलाप न करें ॥१९ ॥

२०५०. आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः । सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥

हे पुरुष ! यह तुम्हारा पुनः नया जन्म- सा हुआ है; क्योंकि हम तुम्हें मृत्यु के मुख से खींचकर लाए हैं । अब तुम्हारे समस्त अंग आदि पूर्ण स्वस्थ रहें एवं तुम्हें पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥२० ॥

२०५१. व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१ ॥

हे पुरुष ! तुम्हारे पास जो अन्धकार था, उसे हटा दिया है एवं तुम्हें नई जीवन-ज्योति मिल गई है । पाप देवता निर्ऋति एवं मृत्यु को तुमसे दूर हटा दिया है । अब तुम्हारे क्षयकारी रोग को हमने नष्ट कर दिया । तुम्हें दीर्घ आयु एवं नीरोगता प्राप्त हो ॥२१ ॥

[२-दीर्घायुप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि-** ब्रह्मा । **देवता-** आयु । छन्द-१-२, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्, ३, २६ आस्तार पंक्ति, ४ प्रस्तार पंक्ति, ५, १०, १६, १८, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुप्, ६, १५ पथ्यापंक्ति, ८ पुरस्ताद् ज्योतिष्मती जगती, ९ पञ्चपदा जगती, ११ विष्टार पंक्ति, १२, २२, २८ पुरस्तात् बृहती, १३ त्रिष्टुप्, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १७ त्रिपदा अनुष्टुप्, १९ उपरिष्टाद् बृहती, २१ सतः पंक्ति ।]

२०५२. आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥१ ॥

हे रोगी !इस अमृत का पान प्रारम्भ करो ।तुम वृद्धावस्था तक निर्विघ्न जीवनयापन करो ।हमने तुम्हारे प्राणों एवं आयु की रक्षा हेतु व्यवस्था बना दी है ।तुम भोगमय जीवन एवं अज्ञान से दूर रहो, अभी मृत्यु को प्राप्त न हो ।।

२०५३. जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ त्वा हरामि शतशारदाय ।

अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥२ ॥

हे पुरुष ! तुम जीवित मनुष्य के समान सचेतन हो । हम तुम्हारे अपयश का नाश करते हुए तुम्हें मृत्यु-पाश (रोगों) से बचाते हैं । तुम्हें दीर्घ आयु प्राप्त हो ॥२ ॥

२०५४. वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।

यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ॥३ ॥

हे पुरुष ! हमने वायुदेवता से तुम्हारे प्राणों को, सूर्य देवता से नेत्र-ज्योति को प्राप्त करके, तुम्हारे मन को तुम्हारे अन्दर धारण कराया है । अब तुम अपने समस्त अंग-अवयव प्राप्त कर लिए हो । अत: सचेष्ट होकर जिह्वा से स्पष्ट उच्चारण करो ॥३ ॥

२०५५. प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।

नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ॥४ ॥

जिस प्रकार अभी उत्पन्न अग्नि को, प्राणी अपने प्राण वायु द्वारा प्रदीप्त करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे क्षीण-प्राणों को अनेक उपायों द्वारा तेजस्वी बनाते हैं । हे मृत्यो ! तेरे प्राण-बल एवं क्रूर नेत्रों को हम नमस्कार करते हैं ॥४ ॥

२०५६. अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि । कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥

यह पुरुष अभी न मरे, बहुत समय तक जीवित रहे । ओषधि प्रयोग द्वारा हम इसको सचेतन करते हैं । हे मृत्यो ! तुम इस पुरुष को न मारो ॥५ ॥

२०५७. जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥६ ॥

सदैव हरी रहने वाली, जीवनदायनी, रक्षा करने वाली, रोग दूर करने वाली इस "पाठा" नामक ओषधि का, इस पुरुष को मृत्यु से बचाने के लिए हम आवाहन करते हैं अर्थात् प्रयोग करते हैं ॥६ ॥

२०५८. अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।

भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥७ ॥

हे मृत्यो ! यह पुरुष आपका ही है, ऐसा जानते हुए इसे मत मारो । यह इस पृथ्वी पर अपनी पूर्ण आयु तक सब प्रकार से सक्रिय रहे । हे भव और शर्व !आप इसके रोगों का नाश करके, इसे सुखमय दीर्घायुष्य प्रदान करें ।

२०५९. अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३यमेतु ।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८ ॥

हे मृत्यो ! आप इस मनुष्य को समझाएँ, इस पर दया करें । यह पुरुष नेत्र-कान आदि अंगों से स्वस्थ रहे एवं सौ वर्ष तक सुखपूर्वक रहे । अन्य किसी की सेवा के आश्रय के बिना अपने कार्य स्वयं करने में समर्थ रहे ॥८ ।

२०६०. देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।

आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥९ ॥

हे पुरुष ! दैविक आपत्तियों से तुम्हारी रक्षा हो । हम रजस् (भोगवृत्ति) से पार ले जाते हैं । मांसभक्षक (क्रव्याद) अग्नि को तुमसे दूर करते हैं एवं तुम्हारे दीर्घजीवन के लिए देव यजन-अग्नि की स्थापना करते हैं ॥९ ॥

२०६१. यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥१० ॥

हे मृत्यो ! तेरे रजोमय मार्ग का कोई नाश नहीं कर सकता । इस पुरुष को इस मार्ग से बचे रहने का, मन्त्रणारूप कवच धारण कराते हैं ॥१० ॥

[रजोमय -भोगमय जीवन, मृत्यु का उपकरण है । ज्ञान- बोध द्वारा संयमित जीवन की प्रेरणा देना, व्यक्ति को मृत्यु के प्रहार से बचाने के लिए कवच धारण कराने जैसा है ।]

२०६२. कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥११ ॥

हे जीवनाभिलाषी पुरुष ! हम तुम्हारे प्राण, अपान को सुव्यवस्थित कर दीर्घआयु प्रदान करते हैं । वृद्धावस्था एवं मृत्यु- ये सब तुम्हारा कल्याण करने वाले हों । विवस्वान् सूर्य से उत्पन्न-काल के दूतों से हम तुम्हें बचाते हैं ॥

२०६३. आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥१२ ॥

आतंकित करने वाले निर्ऋति की दुर्गति करते हैं, मारते हैं । मांस-भक्षी पिशाचों (क्षयकारक विषाणुओं) को नष्ट करते हैं, अन्य भी जो अहित करने वाले हैं, उन सब तमस् गुण वालों का हम नाश करते हैं ॥१२ ॥

२०६४. अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥१३ ॥

हे पुरुष ! हम अमरता और आयु को धारण करने वाले जातवेदा अग्निदेव से तुम्हारे प्राणों को सतेज करने की याचना करते हैं । हमारे द्वारा किये गये शान्तिकर्म तुम्हें समृद्धिशाली बनाएँ । उनके प्रभाव से तुम पीड़ारहित, अमर और सुखी जीवनयापन करो ॥१३ ॥

२०६५. शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥१४ ॥

द्यावा-पृथिवी तुम्हें सन्ताप देने वाली न हों । वे तुम्हें धन-ऐश्वर्य देने वाली एवं कल्याण करने वाली हों । सूर्यदेव की कृपा से तुम्हें सुखद ताप मिले । हृदय को वायुदेवता सुख दें । द्युलोक में रहने वाला जल (सूक्ष्म रस) एवं बहने वाला जल तुम्हें दिव्य सुख प्रदान करे ॥१४ ॥

२०६६. शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥१५ ॥

ओषधियाँ तुम्हारे लिए कल्याणकारी गुणों से युक्त हों । हम तुम्हें पृथ्वी के निचले भूभाग से उच्च भूभाग पर लाए हैं । यहाँ अदितिमाता के दोनों पुत्र सूर्यदेवता एवं चन्द्रमादेवता तुम्हारी रक्षा करें ॥१५ ॥

२०६७. यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६ ॥

हे बालक ! तुम्हारी नाभि पर बँधने वाला अधोवस्त्र एवं ऊपर ओढ़ने वाला परिधान-वस्त्र तुम्हें सुख पहुँचाने वाला हो । वह खुरदुरा न होकर सुखद, स्पर्शकारक एवं सुकोमल हो ॥१६ ॥

२०६८. यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता त्रपसि केशश्मश्रु ।

शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥१७ ॥

हे क्षौरकर्म करने वाले भद्र पुरुष !आप जिस छुरे के द्वारा सिर एवं मुख-मण्डल के बालों का मुण्डन करना चाहते हैं, वह स्वच्छ और तीक्ष्णधारयुक्त हो ।क्षौरकर्म द्वारा मुख की शोभा बढ़ांओ, हमारी आयु क्षीण मत करो ॥

२०६९. शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।

एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥१८ ॥

हे अन्नप्राशन संस्कार से संस्कारित होने वाले बालक ! ये धान और जौ तुम्हारे लिए कल्याणकारी एवं बलवर्धक हों । ये दोनों रोगनाश करने वाले तुम्हें पापों से मुक्त करें ॥१८ ॥

२०७०. यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।

यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥१९ ॥

हे बालक ! हम तुम्हारे लिए कृषि द्वारा उत्पन्न धान्य एवं दुग्ध, जो तुम खीर रूप में भी पीते हो, खाने में कष्ट देने वाले जिन पदार्थों को तुम खाते हो , उन सब को हम तुम्हारे लिए विषरहित करते हैं अर्थात् वे तुम्हें हानि न पहुँचाएँ ॥१९ ॥

२०७१. अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।

अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥२० ॥

हे कुमार ! हम तुम्हें दिन और रात्रि के अभिमानी देवताओं को सौंपते हैं । वे तुम्हारी, दिन के समय और रात्रि के समय धन के लुटेरों से एवं भक्षण- कामना वालों से रक्षा करें ॥२० ॥

२०७२. शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥२१ ॥

हे बालक ! इन्द्र, अग्निसहित समस्त देवताओं की कृपा-अनुग्रह से तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्राप्त हो ।इस सौ वर्ष की आयु के दोनों सन्धिकाल (किशोर व प्रौढ़) सहित तीनों अवस्थाएँ (बाल्य, युवा व वृद्धावस्था) एवं चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) में कोई व्यवधान न आए ।तुम्हारा सब प्रकार कल्याण हो ॥२१ ॥

२०७३. शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।

वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥२२ ॥

हे बालक ! हम तुमको शरद् , हेमन्त, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं के लिए अर्पित करते हैं । ये सभी तुम्हारा कल्याण करें । जिस ऋतु में ओषधि बढ़ती है, वह वर्षा ऋतु भी तुम्हें सुख प्रदान करे ॥२२ ॥

२०७४. मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।

तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥२३ ॥

मृत्यु दो पैर वालों की स्वामिनी है एवं चार पैर वालों की भी स्वामिनी है । हम तुम्हें अमर-आत्मज्ञान द्वारा मृत्यु से ऊपर उठाते हैं, जिससे तुम मृत्यु-भय से मुक्त हो जाओ ॥२३ ॥

२०७५. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः । न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥

तुम मृत्यु-भ्‌य से मुक्त हो जाओ । तुम नहीं मरोगे, नहीं मरोगे, क्योंकि तुम अधम-अज्ञानरूपी अन्धकार की ओर न जाकर ज्ञान के आलोक में (आत्म-ज्ञान में) निवास करते हो । तुम वहाँ नहीं मरोगे ॥२४ ॥

२०७६.सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः । यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥

जहाँ इस ज्ञान और विद्या के आधार पर जीवन को सुखमय बनाने के लिए चारों ओर कार्य किए जाते हैं । वहाँ गौ, घोड़ा एवं अन्य पशुओं सहित मनुष्य आदि सभी प्राणी दीर्घ जीवन पाते हैं ॥२५ ॥

२०७७. परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥२६ ॥

इन श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा तुम्हारी रक्षा हो । अपने समान अन्य पुरुषों या समान बन्धुओं द्वारा तुम पर किये गये अभिचार कर्मों से तुम्हारी रक्षा हो । तुम अजर- अमर-दीर्घजीवन प्राप्त करो एवं तुम्हारे प्राण शरीर न छोड़ें ॥२६ ॥

२०७८. ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥२७ ॥

जो मृत्युकारक सैकड़ों मुख्य रोग हैं एवं जो नाशकारक ऐसी शक्तियाँ हैं कि जिनमें फँस जाने पर पार होना मुश्किल है, उन समस्त मृत्यु एवं नाशक शक्तियों से इन्द्र और अग्निदेव सहित समस्त देवता तुम्हारी रक्षा करें ॥२७

२०७९. अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥२८ ॥

हे पूतद्रु (पवित्रता देने वाली) ओषधे ! आप अग्नि ऊर्जा के पार करने वाले शरीर हैं । आप राक्षसों और शत्रुओं का संहार करने वाले तथा रोगों को हटाने वाले हैं । ऐसे आप हमारी अभिलाषा को पूर्ण करें ॥२८ ॥

[३- शत्रुनाशन सूक्त]

[ऋषि- चातन । देवता- अग्नि । छन्द- त्रिष्टुप्, ७, १२, १४-१५, १७, २१ भुरिक् त्रिष्टुप्, २२-२३ अनुष्टुप्, २५ पञ्चपदा बृहतीगर्भा जगती, २६ गायत्री ।]

२०८०. रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥१ ॥

राक्षस-विध्वंसक, बलवान् , याजकों के मित्र और प्रतिष्ठित अग्निदेव को घृत से प्रज्वलित करते हुए हम अत्यन्त सुख का अनुभव करते हैं । ये अग्निदेव अपनी ज्वालाओं को तेज करते हुए यज्ञकर्म-सम्पादक यजमानों द्वारा प्रदीप्त होते हैं । हिंसक राक्षसों से ये अग्निदेव हमारी अहोरात्र रक्षा करें ॥१ ॥

२०८१. अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२ ॥

हे ज्ञानस्वरूप अग्निदेव !आप अतितेजस्वी और लौहदन्त (बेधक सामर्थ्य वाले) होकर अपनी जिह्वा (ज्वालाओं) से हिंसक राक्षसों को नष्ट करें । मांसभक्षी राक्षसों को काटकर अपने ज्वालामुखी मुख में धारण करें ।

२०८२. उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥३ ॥

हे अग्निदेव ! आप अपने दोनों दाँतों (बेधक ज्वालाओं) को तीक्ष्ण करें, उन्हें असुरों में प्रविष्ट करा दें । दोनों प्रकार से आप उनका संहार करें तथा निकट एवं दूर की प्रजाओं की रक्षा करें । हे दीप्तिमान् बलशाली अग्निदेव !आप अन्तरिक्षस्थ असुरों के समीप जाएँ और उन दुष्ट-असुरों को अपनी दाढ़ों (शक्ति) से पीस डालें ॥

२०८३. अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥४ ॥

हे सर्वज्ञ अग्निदेव ! आप असुरों की त्वचा को छिन्न-भिन्न कर डालें । इन्हें आपका हिंसक वज्रास्त्र अपनी तेजस्विता से नष्ट करे, असुरों के अङ्गों को भग्न करे । खण्ड-खण्ड पड़े असुरों के अंग-अवयवों को मांसभक्षी 'वृक' आदि हिंसक पशु भक्षण करें ॥४ ॥

२०८४. यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥५ ॥

हे ज्ञानवान् बलशाली अग्निदेव ! आप राक्षसों को स्थिर स्थिति में, इधर-उधर विचरण की स्थिति में, आकाश में अथवा मार्ग में जहाँ भी उन्हें देखें, वहीं शर-संधान करके - तेज बाण फेंककर, उनका संहार करें ॥५ ॥

२०८५. यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥६ ॥

हे अग्निदेव ! आप शक्तिवर्द्धक यज्ञों और हमारी प्रार्थना से संतुष्ट होकर अपने बाणों का संधान करते हुए, उनके अग्रभागों को वज्र से युक्त करते हुए , असुरों के हृदयों को भेद डालें । इसके पश्चात् युद्ध के लिए प्रेरित उनके सहयोगियों की भुजाओं को तोड़ डालें ॥६ ॥

२०८६. उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७ ॥

हे ज्ञानी अग्निदेव ! आप आक्रान्ता असुर के हाथों से आक्रान्त यजमान व्यक्ति को ऋष्टि (दो धारों वाले खड्ग) से सुरक्षित करें । आप प्रदीप्त होकर, कच्चे मांस का भक्षण करने वाले असुरों का संहार करें । शब्द करते हुए वेग से उड़ने वाले पक्षी इस राक्षस को खाएँ ॥७ ॥

२०८७. इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥८ ॥

हे युवा अग्निदेव ! कौन राक्षस इस यज्ञ के विध्वंसक हैं, यह हमें बताएँ ? समिधाओं द्वारा प्रज्वलित होकर आप उन असुरों का संहार करें । मनुष्यों के ऊपर आपकी कृपामयी दृष्टि रहती है, उसी कल्याणकारी दृष्टि के अन्तर्गत अपने तेज से असुरों का विनाश करें ॥८ ॥

२०८८. तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥९ ॥

हे अग्निदेव ! आप अपने तीक्ष्ण तेज से हमारे यज्ञ का संरक्षण करें । हमें श्रेष्ठ ज्ञान-सम्पन्न बनाएँ । हे मनुष्यों के द्रष्टा अग्निदेव !आप असुरों के संहारक हैं ।आपके प्रज्वलित स्वरूप का दमन राक्षसगण न कर सकें ॥

२०८९. नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥१० ॥

हे मनुष्य के निरीक्षक अग्निदेव ! आप मनुष्यों के घातक असुरों को भी देखें । उस राक्षस के आगे के तीन मस्तकों का उच्छेदन करें । उसके समीपस्थ राक्षसों को भी शीघ्रता से समाप्त करें । इस प्रकार तीनों ओर से राक्षस के मूल को काट डालें ॥१० ॥

२०९०. त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११ ॥

हे ज्ञानसम्पन्न अग्निदेव ! आपकी ज्वालाओं की चपेट में राक्षस तीन बार आएँ । जो राक्षस सत्य को असत्य वाणी से विनष्ट करते हैं, उन्हें अपनी तेजस्विता से भस्मीभूत कर डालें । स्तोता के समक्ष ही इन्हें विनष्ट कर दें ॥११॥

२०९१. यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२ ॥

हे अग्निदेव ! आज जो जोड़े (स्त्री-पुरुष) आपसी झगड़ा करते हैं तथा जो व्यक्ति परस्पर कटु-वाणी का प्रयोग करते हैं, मन्युयुक्त मनः शक्ति से छोड़े गये बाणों के द्वारा (सूक्ष्म प्रहार द्वारा) आप उन राक्षसों (झगड़े एवं कटु वाणी के प्रेरक) के हृदय को वेध डालें ॥१२ ॥

२०९२. परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥१३ ॥

हे अग्निदेव ! आप असुरों को अपनी तेजस्विता से भस्म करें, उन्हें अपनी तपःशक्ति से विनष्ट करें । हिंसक असुरों को अपनी तीक्ष्ण ज्वाला से विनष्ट करें । मनुष्यों के प्राणों का हरण करने वाले असुरों को अपनी ज्वालाओं से भस्मीभूत कर दें ॥१३ ॥

२०९३. पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः ।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥१४ ॥

अग्नि आदि देवगण, प्राणघाती असुरों का संहार करें, उनके समीप हमारे शापयुक्त वचन जाएँ ।असत्यवादी असुरों के मर्मस्थल के पास बाण जाएँ । सर्वव्यापक अग्निदेव के बन्धन में असुरों का पतन हो ॥१४ ॥

२०९४. यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥१५ ॥

हे अग्निदेव ! जो राक्षस मनुष्य के मांस से (मनुष्य को मारकर) स्वयं को संतुष्ट करते हैं, जो अश्वादि पशुओं से मांस को एकत्र करते हैं तथा जो हिंसारहित गौ के दूध को चुराते हैं, ऐसे दुष्टों के मस्तकों को आप अपनी सामर्थ्य से छिन्न-भिन्न कर डालें ॥१५ ॥

२०९५. विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः ।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६ ॥

राक्षसी शक्तियाँ गौओं के जिस दूध का पान करें, वह उनके निमित्त विष के समान हो जाए । देवमाता अदिति की संतुष्टि के लिए इन राक्षसों को आप अपने ज्वालारूपी शस्त्रों से काट डालें । सवितादेव इन राक्षसों को, हिंसक पशुओं को प्रदान करें । ओषधियों के सेवन योग्य अंश इन्हें प्राप्त न हों ॥१६ ॥

२०९६. संवत्सरीणं पय उस्त्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः ।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥१७ ॥

हे मनुष्यों के निरीक्षक अग्निदेव ! वर्ष भर में संगृहीत होने वाले गाय के दूध को दुष्ट राक्षस पान न करने पाएँ । जो राक्षस इस अमृतवत् दूध को पीने की अभिलाषा करते हैं, आपके समक्ष आने पर आप इन्हें ज्वालारूपी तेजस् से छिन्न-भिन्न करें ॥१७ ॥

२०९७. सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥१८ ॥

हे ज्ञानवान् , बलशाली अग्निदेव ! आपने सदा से राक्षसों का दलन किया है, उन्हें युद्ध में पराभूत किया है । आप क्रूर प्रकृति वाले, अभक्ष्य आहार करने वाले दुष्टों को नष्ट करें ।वे आपकी तेजस्विता से बच न सकें ॥१८ ।

२०९८. त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥१९ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों ओर से संरक्षित करें । आपकी अति उज्ज्वल, अविनाशी और अति तापयुक्त ज्वालाएँ दुष्कर्मी राक्षसों को शीघ्र भस्म करें ॥१९ ॥

२०९९. पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्तां अमर्त्यस्त्वं नः ॥२० ॥

हे दीप्तिमान् अग्निदेव ! आप कवि (क्रान्तदर्शी) हैं, अपने कौशल से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम से हमारी भली प्रकार रक्षा करें । हे मित्र और अग्निदेव ! आप जीर्णतारहित हैं, हम आपके मित्र आपकी कृपा दृष्टि से दीर्घजीवी हों । आप अविनाशी हैं, हम मरणधर्मा मनुष्यों को चिरंजीवी बनाएँ ॥२० ॥

२१००. तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥२१ ॥

हे ज्ञानसम्पन्न, बलशाली अग्निदेव ! गर्जना करने वाले अहंकारी असुरों पर वही दृष्टि रखें , जिससे आप ऋषियों के उत्पीड़क नाखूनों या खुरों वाले असुरों को देखते हैं । सत्य को असत्य से विनष्ट करने वाले अज्ञानी असुर को आप अपनी दिव्य तेजस्विता से अथर्वा ऋषि के सम्मान में भस्मीभूत कर डालें ॥२१ ॥

२१०१. परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि । धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ।

हे शक्तिशाली अग्निदेव ! आप पूर्णता प्रदान करने वाले विज्ञ, संघर्षशील असुरों का नित्यप्रति संहार करने वाले हैं । हम आपका ध्यान करते हैं ॥२२ ॥

२१०२. विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः ॥२३ ॥

हे अग्निदेव ! आप विध्वंसक कर्मों में संलग्न राक्षसों को अपनी विस्तृत, तीक्ष्ण तेजस्विता से जलाएँ तथा तपते हुए ऋष्टि (दुधारे) अस्त्रों से भी उन्हें नष्ट करें ॥२३ ॥

२१०३. वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥२४ ॥

अपनी अत्यन्त तेजस्वी ज्वालाओं के साथ अग्निदेव प्रकाशित होकर स्व-सामर्थ्य से सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों को प्रकाशित करते हैं । असुरता द्वारा फैलाये गये कपटपूर्ण छल-छद्मों के संहार में सक्षम होने के कारण अग्निदेव उनके संहार हेतु अपने ज्वालारूपी सींगों को तीक्ष्ण करते हैं ॥२४ ॥

२१०४. ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व ॥२५ ॥

हे सर्वज्ञ अग्निदेव ! आपके प्रख्यात ज्वालारूपी सींग जीर्णतारहित और तीक्ष्ण होने से हथियाररूप हैं। हमारे द्वारा प्रयुक्त मन्त्र-सामर्थ्य से तीक्ष्णतायुक्त सींगों से दुष्ट प्रकृति के राक्षसों का सभी ओर से विनाश करें। "यह क्या हो रहा है ?" ऐसा कहते हुए छिद्रान्वेषी राक्षसों का पूर्ण संहार करें ॥२५ ॥

२१०५. अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः। शुचिः पावक ईड्यः ॥२६ ॥

धवल, आभायुक्त, अमर, पावन और शुद्ध करने वाले अग्निदेव असुरों का नाश करते हैं, वे देव स्तुति करने योग्य हैं ॥२६ ॥

[४- शत्रुदमन सूक्त]

[ऋषि- चातन । देवता- इन्द्रासोम, अर्यमा। छन्द-जगती, ८-१४, १६-१७, १९, २२, २४त्रिष्टुप्, २०, २३ भुरिक् त्रिष्टुप्, २५ अनुष्टुप्।]

२१०६. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः ॥१ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! आप राक्षसों को जलाकर मारें। हे अभीष्टवर्षक ! आप अज्ञान-रूपी अंधकार में विकसित हुए राक्षसों का विनाश करें। ज्ञानहीन राक्षसों को तप्त करके, मारकर फेंक दें, हमसे दूर कर दें। दूसरों का भक्षण करने वालों को जर्जरित करें ॥१ ॥

२१०७. इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥२ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! आप महापापी, प्रसिद्ध दुष्टों को नष्ट करें। वे आपके तेज से आग में डाले गये चरु के समान जलकर विनष्ट हो जाएँ। ज्ञान से द्वेष रखने वाले, कच्चा मांस भक्षण करने वाले, भयानक रूपधारी, सर्वभक्षी (दुष्टों) के लिए निरन्तर द्वेष (वैर) भाव रखें ॥२ ॥

२१०८. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! दुष्कर्मा राक्षसों को गहन अन्धकार में दबा दें, जिससे वे पुनः निकल न सकें। आप दोनों का शत्रु-भंजक बल, शत्रुओं को जीतने में समर्थ हो ॥३ ॥

२१०९. इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत् तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥४ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! आप अन्तरिक्ष से मारक हथियार उत्पन्न करें। राक्षसों के विनाश के लिए पृथ्वी से आयुध प्रकट करें। मेघ से राक्षसों का विध्वंसक वज्र उत्पन्न करके, बढ़ने वाले राक्षसों को मारें ॥४ ॥

२११०. इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! आप अन्तरिक्ष से चारों ओर आयुध फेंकें । आप दोनों अग्नि की तरह तप्त करने वाले, पत्थरों जैसे मारक, तापक प्रहार वाले, अजर आयुधों से लूट-लूटकर खाने वाले राक्षसों को फाड़ डालें, जिससे वे चुप-चाप पलायन कर जाएँ ॥५ ॥

२१११. इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥६ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! रस्सी जिस प्रकार से बगल में होकर घोड़े को चारों तरफ से बाँधती है, उसी तरह यह स्तुति आपको परिव्याप्त करे । आप बली हैं, अपनी मेधाशक्ति के बल से यह प्रार्थना हम आपके पास प्रेषित करते हैं । राजाओं की भाँति आप इन स्तुतियों को फलीभूत करें ॥६ ॥

२११२. प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।

इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः ॥७ ॥

हे इन्द्र और सोमदेव ! आप शीघ्रगामी अश्वों शत्रुओं पर आक्रमण करें, द्रोह करने वाले, विनाशकारी राक्षसों का विनाश करें । उस दुष्कर्मी को (अपने कुकृत्य करने की) सुगमता न मिले , ज़ो कभी भी हमें कष्ट देना चाहें ॥७ ॥

२११३. यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।

आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥८ ॥

पवित्र मन से आचरण करने वाले मुझको, जो राक्षस असत्य वचनों द्वारा दोषी सिद्ध करता है, हे इन्द्रदेव ! वह असत्य भाषी (राक्षस) मुट्ठी में बँधे हुए जल के सदृश पूर्णरूपेण नष्ट हो जाए ॥८ ॥

२११४. ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।

अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥९ ॥

जो मुझ (वसिष्ठ) विशुद्ध मन से रहने वाले को, अपने स्वार्थ के लिए कष्ट देते हैं या अपने धन-साधनों से मुझ जैसे कल्याणवृत्ति वाले को दोषपूर्ण बनाते हैं, हे सोम ! आप उन्हें सर्प (विषैले जीव) के ऊपर फेंक दें ॥

२११५. यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।

रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥१० ॥

हे अग्निदेव ! जो हमारे अन्न के सार तत्त्व को नष्ट करने की इच्छा करता है, जो गौओं, अश्वों और सन्ततियों का विनाश करता है; वह चोर- समाज का शत्रु विनष्ट हो । वह अपने शरीर और संततियों के साथ समाप्त हो जाए ॥

२११६. परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।

प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११ ॥

वह दुष्ट-पातकी शरीर और सन्तानों के साथ विनष्ट हो ।पृथ्वी आदि तीनों लोकों से उसका पतन हो जाए । हे देवो !उसकी कीर्ति शुष्क होकर विनष्ट हो जाए ।ज़ो दुष्टराक्षस हमें दिन-रात सताता है, उसका विनाश हो जाए ॥

२११७. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥१२ ॥

विद्वान् मनुष्य यह जानता है कि सत्य और असत्य वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । उसमें जो सत्य और सरल होता है, सोमदेव उसकी सुरक्षा करते हैं तथा जो असत् होता है, उसका हनन करते हैं ॥१२ ॥

२११८. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

सोमदेवता पाप करने वाले, मिथ्याचारी और बलवान् को भी मारते हैं । वे राक्षसों का हनन करते और असत्य बोलने वाले को भी मारते हैं । वे (राक्षस) मारे जाकर इन्द्रदेव के द्वारा बाँधे जाते हैं ॥१३॥

२११९. यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥१४॥

यदि हम (भूलवश) अनृतदेव के उपासक हैं, (अथवा) यदि हम बेकार में ही देवताओं के पास जाते हैं, तो भी हे अग्निदेव ! आप हम पर क्रोध न करें । द्रोही, मिथ्याभाषी ही आपके द्वारा हिंसित हो ॥१४॥

२१२०. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥१५॥

यदि हम (वसिष्ठ) राक्षस हैं, यदि हम किसी सज्जन पुरुष को हिंसित करें, तो आज ही मर जाएँ; (अन्यथा) हमें जो व्यर्थ ही राक्षस कहकर सम्बोधित करते हैं, वे अपने दस वीरों (परिजनों या इन्द्रियों) के सहित नष्ट हो जाएँ॥

२१२१. यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥१६॥

जो राक्षस मुझ दैवी स्वभाव वाले (वसिष्ठ) को राक्षस कहता है तथा जो राक्षस अपने को "शुद्ध" कहता है, उसे इन्द्रदेव महान् आयुधों से नष्ट करें । वह सभी से पतित होकर गिरे ॥१६॥

२१२२. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं१ गूहमाना।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥

जो राक्षसी निशाकाल में अपने शरीर को उल्लू की तरह छिपाकर चलती है, वह अधोमुखी होकर अनन्तगर्त में गिरे । पाषाण-खण्ड घोर शब्द करते हुए उन राक्षसों को विनष्ट करें ॥१७॥

२१२३. वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी३च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥१८॥

हे मरुद् वीरो ! आप प्रजाओं के बीच रहकर राक्षसों को ढूँढ़ने की इच्छा करें । जो राक्षस रात्रि समय में पक्षी बनकर आते हैं, जो यज्ञ में हिंसा करते हैं, उन्हें पकड़कर विनष्ट करें ॥१८॥

२१२४. प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३भि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥१९॥

हे इन्द्रदेव ! आप अन्तरिक्ष मार्ग से वज्र प्रहार करें ।हे धनवान् इन्द्रदेव !आप अपने यजमान को सोम द्वारा संस्कारित करें ।आप पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण चारों ओर से पर्ववान् शस्त्र (वज्र) द्वारा राक्षसों का विनाश करें ॥१९॥

२१२५. एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥२०॥

जो राक्षस कुत्तों की तरह काटने दौड़ते हैं, जो राक्षस अहिंसनीय इन्द्रदेव की हिंसा करना चाहते हैं; इन्द्रदेव कपटियों को मारने के लिए वज्र को तेज करते हैं । इन्द्रदेव दुष्ट राक्षसों का वज्र से शीघ्र विनाश करें ॥२०॥

२१२६. इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥२१ ॥

इन्द्रदेव राक्षसों का दमन करने वाले हैं । हविष्य के विनाशकों का इन्द्रदेव पराभव करते हैं । परशु जैसे वन काटता है, मुग्दर जैसे मिट्टी के बर्तन तोड़ता है, उसी तरह इन्द्रदेव सामने आये हुए राक्षसों का संहार करते हैं ।।

२१२७. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥२२ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप उल्लू के समान (मोहवाले) को मारें । भेड़िये के समान (हिंसक), कुत्ते की भाँति (मत्सरग्रस्त) चक्रवाक पक्षी की तरह (कामी), बाज-गृध्र की तरह (मांस भक्षी) राक्षसों को प्रस्तर (वज्र) से मारें तथा इन सबसे हमारी रक्षा करें ॥२२ ॥

२१२८. मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः ।
पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३ ॥

राक्षस हमारे लिए घातक न हों, कष्ट देने वाले स्त्री-पुरुष के युग्मों से (देवगण) हमें बचाएँ । आपस में विघटन कराने वाले घातक राक्षसों से भी हमें बचाएँ । पृथ्वी हमें भूलोक के पापों से बचाए , अन्तरिक्ष हमें आकाश के पापों से बचाए ॥२३ ॥

२१२९. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥२४ ॥

इन्द्रदेव पुरुष राक्षस को विनष्ट करें और कपटी हिंसक स्त्री का भी विनाश करें । हिंसा करना जिनका खेल है, उन्हें छिन्न-मस्तक करें । वे सूर्योदय से पहले ही समाप्त हो जाएँ ॥२४ ॥

२१३०. प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥२५ ॥

हे सोमदेव ! आप और इन्द्रदेव जाग्रत् रहकर सभी राक्षसों को देखते हैं । राक्षसों को मारने वाले अस्त्र उन पर फेंकें और कष्ट देने वालों का वज्र से संहार करें ॥२५ ॥

[५- प्रतिसरमणि सूक्त]

[**ऋषि**- शुक्र ।**देवता**-कृत्यादूषण अथवा मन्त्रोक्त देवता ।**छन्द**-१,६ उपरिष्टाद्बृहती, २ त्रिपदा विराट् गायत्री, ३ चतुष्पदा भुरिक् जगती, ४, १२-१३, १६-१८ अनुष्टुप्, ५ भुरिक् संस्तार पंक्ति, ७-८ ककुम्मती अनुष्टुप्, ९ चतुष्पदा पुरस्कृति जगती, १० त्रिष्टुप्, ११ पथ्या पंक्ति, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १५ पुरस्ताद् बृहती, १९ जगती गर्भा त्रिष्टुप्, २० विराट् गर्भास्तारपंक्ति, २१ पराविराट् त्रिष्टुप्, २२ त्र्यवसाना सप्तपदाविराट् गर्भा भुरिक् शक्वरी ।]

२१३१. अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१ ॥

यह विद्या अथवा मणि दुष्कृत्य करने वाले (शत्रु) का प्रतिकार करने वाली है । वीरोचित गुण से सम्पन्न यह ओषधि पराक्रमी पुरुष के ही बाँधी जाती है । वीर्ययुक्त यह मणि शत्रुओं की घातक, वीरों में वीरता लाने वाली, सभी प्रकार के रोगों की संरक्षक और सुन्दर तथा मंगलप्रद है ॥१ ॥

२१३२. अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।

प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥२ ॥

यह मणि शत्रुनाशक, वीरतायुक्त, सहनशील, बलवती, अन्नप्रदाता, शत्रुओं को पराजित करने वाली तथा प्रचण्ड पराक्रमी है । यह प्रयोग कर्त्ता के दुष्कृत्य को पुनः उसी ओर प्रेरित करती हुई आ रही है ॥२ ॥

२१३३. अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।

अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत् प्रदिशश्चतस्रः ॥३ ॥

इस 'प्रतिसर' मणि की सामर्थ्य से इन्द्रदेव ने वृत्रासुर का संहार किया । इस मणि की ज्ञान-क्षमता के प्रभाव से मनीषी इन्द्रदेव ने असुरों को पराजित किया तथा द्युलोक और पृथ्वी पर स्वामित्व ग्रहण करने के साथ चतुर्दिक् विजय पताका भी फहराई ॥३ ॥

२१३४. अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।

ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥४ ॥

यह 'स्राक्त्य' (प्रगतिशील) मणि (दुष्प्रयोगों को) उलट देने तथा प्रतिकार करने की क्षमता से युक्त है । यह ओजस्वी है, आक्रामक है तथा वशीकरण की सामर्थ्य से युक्त है । यह मणि हमें सभी प्रकार से संरक्षण प्रदान करे ॥४ ॥

२१३५. तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥५ ॥

इस मणि के प्रभाव के सम्बन्ध में अग्निदेव, सोमदेव, बृहस्पतिदेव, सर्वप्रेरक सवितादेव तथा इन्द्रादि देवों ने भी कहा है । ये सभी अग्रगामी देवगण हमारे निमित्त भेजी गई कृत्या को अभिचारकर्त्ता के पास ही अपने प्रभाव से वापस लौटा दें ॥५ ॥

२१३६. अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥६ ॥

हम अपने और पाप देवी के बीच द्यावा-पृथिवी, दिन तथा सूर्यदेव को अवरोधक के रूप में स्थापित करते हैं । अभीष्ट फल साधक, सामने प्रतिष्ठित किये गये, ये देव प्रतिसर मंत्रों की सामर्थ्य से घातक प्रयोग को प्रयोक्ता की ओर ही पुनः भेज दें ॥६ ॥

२१३७. ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।

सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥७ ॥

इस स्राक्त्य (प्रगतिशील) मणि को जो मनुष्य रक्षा कवच के रूप में धारण करते हैं, वे सूर्य की तरह द्युलोक में आरोहण करके कृत्या (अभिचारों) को बाधित कर लेते हैं- वश में कर लेते हैं ॥७ ॥

२१३८. स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा ।

अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥८ ॥

अतीन्द्रिय ज्ञानसम्पन्न महामनीषी अथर्वा के समान, इस स्राक्त्य मणि की सामर्थ्य से हम सम्पूर्ण शत्रु सेनाओं को जीत पाने में समर्थ हुए हैं और घातक राक्षसों को इसके द्वारा विनष्ट कर रहे हैं ॥८ ॥

२१३९. याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या
उचान्येभिराभृताः । उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥९ ॥

आंगिरसी घातक प्रयोग, असुरों द्वारा अपनाये गये घातक प्रयोग, स्वयं द्वारा किये गये घातक प्रयोग, अपने लिए संहारक सिद्ध होने वाले तथा अन्य शत्रुओं द्वारा किये गये घातक प्रयोग, ये दोनों प्रकार के प्रयोग नब्बे नदियों से दूर (अर्थात् अत्यन्त दूर) चले जाएँ ॥९ ॥

२१४०. अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥१० ॥

इस घातक प्रयोग के निवारक फल के आकांक्षी यजमान के निमित्त इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानर, ये सभी देवगण तथा समस्त ऋषिगण दूसरों के द्वारा प्रेषित घातक प्रयोग के निवारणार्थ मणिरूप कवच को बाँधें ॥१० ॥

२१४१. उत्तमो अस्योषधीनामनड्वाञ्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥११ ॥

हे मणि के उत्पादक ओषधे ! जिस प्रकार वन्यपशुओं में बाघ और भारवाहक पशुओं में बैल उत्तम है, उसी प्रकार आप ओषधियों में श्रेष्ठ हैं । हम जिस (शत्रु या विकार) के बारे में इच्छा करें, उसे नष्ट हुआ ही पाएँ ॥११ ॥

२१४२. स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥१२ ॥

जो इस स्राक्त्य महिमायुक्त मणि को धारण करते हैं, वे निश्चित रूप से बाघ और शेर के समान दूसरों का पराभव करने वाले तथा गौओं में स्वच्छन्द विचरने वाले वृषभ के समान शत्रुओं को दबाने में सक्षम होते हैं ॥१२ ॥

२१४३. नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥१३ ॥

इस स्राक्त्य मणि के धारण-कर्त्ताओं पर न तो अप्सराएँ ; न गन्धर्व और न हीं कोई अन्य मनुष्य प्रहार करने में सक्षम हैं, वे सभी दिशाओं में विशिष्टतापूर्वक शोभायमान होते हैं ॥१३ ॥

२१४४. कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् । अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे
बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत् । मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥१४ ॥

(हे मणे !) प्रजापति कश्यप ने आपको बनाया और प्रेरित किया । देवराज इन्द्रदेव ने मानवी संग्राम में आपको धारण किया और विजय पाई । असीम सामर्थ्ययुक्त स्राक्त्य मणि को ही पहले देवों ने कवचरूप में प्रयुक्त किया ॥

२१४५. यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥१५ ॥

जो पुरुष आपको मारक प्रयोगों, दीक्षाजनित घातक कृत्यों तथा घातक यज्ञों से मारने के इच्छुक हैं, हे इन्द्रदेव ! आप उन्हें सैकड़ों पर्वों से युक्त वज्रास्त्र से अपने सम्मुख मार डालें ॥१५ ॥

२१४६. अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान्त्संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥१६ ॥

यह मणि घातक प्रयोग के निवारण में सुनिश्चित रूप से सहायिका, परम बलप्रदा, विजयात्मक गुणों से युक्त है। यह हमारी सन्तान और वैभव का संरक्षण करे। यह मणि हमारे लिए सभी ओर से संरक्षक रूप और उत्तम-मंगलकारी कृत्यों की साधनभूत है ॥१६ ॥

२१४७. असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥१७ ॥

हे पराक्रमी इन्द्रदेव ! हमारे उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशा की ओर शत्रुओं की संहारक ज्योति विद्यमान रहे तथा हमारे समक्ष अर्थात् पूर्व दिशा की ओर भी आप इस ज्योति को स्थापित करें ॥१७ ॥

२१४८. वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः। वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥

द्यावापृथिवी, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और धाता, ये देवगण हमारे संरक्षण कवच को धारण करने में सहायक हों ॥

२१४९. ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासानि ॥१९ ॥

इन्द्राग्नि देवों का जो विस्तृत और प्रचण्ड मणिरूप कवच है, जिसे भेदने में कोई देव समर्थ नहीं। वही कवच हमारे शरीर का सभी ओर से संरक्षण करे। जिससे हम दीर्घायु के लाभ से युक्त और वृद्धावस्था तक स्वस्थ रहें ॥

२१५०. आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥२० ॥

इन्द्राग्नि देवों द्वारा धारण करने के लिए प्रेरित की गई यह देवमणि (हमारे अंगों पर) आरूढ़ हो। हे मनुष्यो ! आप शत्रुनाशक, शरीर रक्षक और तीन आवरणों से युक्त इस मणि को बल-सामर्थ्य के लिए धारण करें ॥२० ॥

२१५१. अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥२१ ॥

इन्द्रदेव इस स्राक्त्य मणि में हमारे अभिलषित सुखों को प्रतिष्ठित करें। हे देवगण ! आप इस मणि में संव्याप्त हों। इसकी कल्याण-क्षमता को ऐसा बढ़ाएँ, जिसके प्रभाव से धारणकर्त्ता सौ वर्ष की आयु पाने वाले और बुढ़ापे तक आरोग्य लाभ से लाभान्वित रहें ॥२१ ॥

२१५२. स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ
अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा। स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः

कल्याणकारी, प्रजाओं के पालक, वृत्रासुर के नाशक, विभिन्न युद्धों के संचालक सभी शत्रुओं के नियन्त्रणकर्त्ता, विजयी, अपराजेय, सोमपान कर्त्ता, भयरहित और अभीष्ट फल वर्षक इन्द्रदेव आपके शरीर पर मणि को बाँधें। वह (मणि) सभी ओर से रात- दिन संरक्षण करे ॥२२ ॥

[६- गर्भदोषनिवारण सूक्त]

[**ऋषि-** मातृनामा। **देवता-** मातृनामा अथवा मन्त्रोक्त, १५ ब्रह्मणस्पति। **छन्द-** अनुष्टुप्, २ पुरस्ताद् बृहती, १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ११-१२, १४,१६ पथ्या पंक्ति, १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ।]

सूक्त के ऋषि 'मातृनामा' हैं (मातृ नाम वाली या मातृ गुणवाली नारी) । इस सूक्त में गर्भ की सुरक्षा एवं पोषण के सूत्र दिये गये हैं। अनेक प्रकार के रोग कृमियों-विषाणुओं एवं उनके निवारक ओषधिप्रयोगों का वर्णन इस सूक्त में किया गया है-

२१५३. यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ । दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥

तुम्हारी माता ने तुम्हारे उत्पन्न होते ही पति को सौंपे जाने वाले जिन अंगों को स्वच्छ किया था, उनमें 'दुर्णामा' (दुष्ट नाम वाले), 'आलिंश' (शक्ति क्षय करने वाले) तथा 'वत्सप' (बच्चे को हानि पहुँचाने वाले) न पहुँचें ॥१ ॥

२१५४. पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥२ ॥

(गर्भिणी पीड़क) "पलाल" (अति सूक्ष्म रूप) और अनुपलाल (मांस से सम्बन्धित) रोगों को हम दूर करते हैं । (शरशर शब्दायमान) , 'शर्कु', कोक (कामुक), मलिम्लुच (अति मलिनरूपयुक्त), पलीजक (झुर्रियाँ पैदा करने वाले), आश्रेष (चिपककर पीड़ित करने वाले), वव्रिवास (रूप हीन करने वाले), ऋक्ष ग्रीवा (रीछ के समान गर्दन बनाने वाले), प्रमीलिन (आँखों में आलस्य पैदा करने वाले) -इन सभी गर्भनाशक राक्षसों को हम दूर हटाते हैं ॥२ ॥

२१५५. मा सं वृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा ।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥३ ॥

(हे रोगों के कारण !) तुम इस गर्भिणी के जंघाओं के बीच तथा अन्दर की ओर प्रवेश न करो तथा न नीचे सरको । हम इसके लिए 'दुर्नाम' नामक रोग की निवारक 'पिंगवज' ओषधि को प्रयुक्त कर रहे हैं ॥३ ॥

[पिंगवज नाम की ओषधि वैद्यक ग्रंथों में मिलती नहीं है । आचार्य सायण ने इसे सफेद सरसों कहा है । इसके ओषधि-परक गुण वैद्यक ग्रंथों में मिलते हैं । विशिष्ट सन्दर्भ में इसका प्रयोग शोध का विषय है ।]

२१५६.दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः । अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम्

दुर्नाम और सुनाम ये दोनों एक साथ रहने के इच्छुक हैं । इनमें निकृष्ट दुर्नाम को हम विनष्ट करते हैं तथा सुनाम स्त्रीजाति में विद्यमान रहे ॥४ ॥

[सूक्ष्म जीवाणुओं में हानिकारक 'दुर्नाम' तथा लाभप्रद 'सुनाम' दोनों प्रकार के जीव होते हैं । हानिकारक हटें तथा लाभप्रद रहें- यह वाञ्छनीय है । प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) के अनुसार भी 'स्पर्म्स' (शुक्राणुओं-डिम्बाणुओं) में विकारग्रस्त इकाइयों के कारण वंशानुगत रोग होते हैं । विकारग्रस्त स्पर्म्स का निवारण हो तथा केवल स्वस्थ ही फलित (फर्टाइल) हों, ऐसा भाव भी मन्त्र से प्रकट होता है । इस भाव की पुष्टि आगे के मन्त्रों से और भी स्पष्टता से हो जाती है ।]

२१५७. यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥५ ॥

जो काले रंग का केशी नामक राक्षस रोग, स्तम्ब भाग में 'स्तम्बज' नामक रोग और खराब मुखवाले 'तुण्डिक' नामक रोग हैं, ये सभी दुर्भाग्यशाली हैं । इन्हें हम गर्भिणी स्त्री के दोनों मुठकों (डिम्ब ग्रंथियों) और कटिभाग से दूर करते हैं ॥५ ॥

२१५८. अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायाञ्छ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥६ ॥

गंध द्वारा नाश करने वाले 'अनुजिघ्र' , स्पर्श द्वारा हनन करने वाले 'प्रमृश', मांस-भक्षक क्रव्याद, चाटकर हनन करने वाले 'रेरिह', किष्-किष् करने वाले किष्किण, नित्य हिंसक तथा धनरहित करने वाले राक्षस रोग-बीजों को 'पिंगवज' ओषधि विनष्ट करे ॥६ ॥

२१५९. यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥७ ॥

(हे नारी !) सुप्तावस्था में तुम्हारे पास जो (जीवाणु) भाई या पिता बनकर आते हैं, उन क्लीबों (नपुंसकों) को यह 'बज' ओषधि हटा दे ॥७ ॥

[प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइंस) के अन्तर्गत हुई शोधों के अनुसार स्त्री के भाई या पिता के अनुरूप पुरुष बीज (स्पर्म्स), स्त्री बीजों के साथ मिलकर फलित (फर्टाइल) नहीं होते । ओषधि या मंत्र शक्ति से उस कोटि के नपुंसक (न फलने वाले) स्पर्म्स का निवारण करना वाञ्छनीय है ।]

२१६०. यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।

छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥८ ॥

हे गर्भिणी स्त्री ! स्वप्नावस्था में जो आपको बोधरहित जानकर और जाग्रत् अवस्था में आपके समीप आकर कष्ट पहुँचाते हैं, आप उन सभी रोग-बीजों को उसी प्रकार विनष्ट कर दें, जिस प्रकार अन्तरिक्ष में विचरण करता हुआ सूर्य अन्धकार को विनष्ट करता है ॥८ ॥

२१६१. यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।

तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥९ ॥

हे ओषधे ! जो इस स्त्री को मृत बच्चे वाली अथवा गर्भपात होने वाली करता है, ऐसे रोग-बीज को आप विनष्ट करें तथा गर्भ द्वार रूपी कमल को रोगरहित करें ॥९ ॥

२१६२. ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः । कुसूला ये च कुक्षिलाः

ककुभाः करुमाः स्रिमाः । तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥१० ॥

गर्दभ की तरह स्वर वाले, कुठिया की आकृति युक्त या सुई के अगले भाग वाले कुसूल नामक बड़ी कोख वाले-कुक्षिल नामक रोग, भयानक आकृतियुक्त-ककुभ, बुरी ध्वनि करने वाले 'करुम' आदि रोगाणु जो सायंकाल घरों के चारों ओर नाचते हैं, हे ओषधे !आप अपनी गंध द्वारा उन फैले हुए घातक जीवों को विनष्ट कर डालें ॥१० ।

[सायंकाल के समय घरों के आस-पास नाचने वाले, गधे जैसी या बुरी ध्वनि करने वाले कीट, मच्छर आदि की तरह के कीट प्रतीत होते हैं । मच्छर आदि सरसों के तेल की गंध से भाग भी जाते हैं ।]

२१६३. ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।

क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥११ ॥

जो कुकुध नामक राक्षस रोग, कुत्ते की तरह कुकू शब्द करते हुए हिंसक कृत्यों से दुष्कर्मों को ग्रहण करते हैं और जो पागलों की तरह हाथ-पैर मारते हुए जंगल में शब्द करते घूमते हैं, उन दोनों प्रकार के रोग-उत्पादक कृमियों को हम गर्भिणी से दूर हटाते हैं ॥११ ॥

२१६४. ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।

अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥१२ ॥

जो आकाश में चमकने वाले सूर्य को सहन करने में असमर्थ हैं, ऐसे अलक्ष्मीक (अशुभ), बकरी के चर्म की तरह दुर्गन्धयुक्त, रक्तयुक्त मुख वाले, टेढ़ी गति वाले, ऐसे सभी प्रकार के रोगाणुओं को हम विनष्ट करते हैं ॥१२ ॥

२१६५. य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥१३ ॥

जो (सूर्य या इन्द्र) आत्मतत्त्व को कंधे पर धारण करके विचरते हैं, वे स्त्रियों के कटिभाग को पीड़ित करने वाले रोग-कृमियों को विनष्ट कर डालें ॥१३ ॥

२१६६. ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः ।

आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥१४ ॥

जो पैशाचिक कृमि आगे-आगे हाथ में सींग (डंकों) को लेकर विचरते हैं और जो भोजनालयों में रहते हुए हँसी-विनोद करते हैं, जो गृह, स्तम्भ आदि में प्रकाश उत्पन्न करते हैं, ऐसे सभी रोग कृमियों को हम गर्भिणी के आवास स्थल से दूर हटाते हैं ॥१४ ॥

२१६७. येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा । खलजाः शकधूमजा उरुण्डा

ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः । तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥

जिनके पैर पीछे, एड़ियाँ और मुख आगे हैं, ऐसे राक्षस रोगों, धान्य शोधन स्थल (खल) में उत्पन्न कृमियों, गौ के गोबर और घोड़े की लीद आदि में उत्पन्न होने वाले, बड़े मुख वाले अथवा मुखरहित, मुट्-मुट् कष्टमय शब्द करने वाले, बड़े अण्डकोशों वाले और वायु के समान गतिमान् रहते हैं, ऐसे सभी प्रकार के राक्षसरूप रोगाणुओं को, हे ज्ञान के स्वामी ब्रह्मणस्पते ! आप अपने ज्ञान से नष्ट कर दें ॥१५ ॥

२१६८. पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः ।

अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६ ॥

विस्फारित नेत्रों से युक्त और पतले जंघा भाग वाले जो राक्षस हैं, वे स्त्रियों के पीड़क होने से, उनके विरोध स्वरूप वे स्त्रियों से विहीन अथवा सर्प हो जाएँ । जो असंयमी (कामासक्त) राक्षस प्रवृत्ति के मनुष्य स्वप्न अवस्था में इस स्त्री को पाने की कामना करते हैं, हे ओषधे ! आप उन्हें विनष्ट करें ॥६ । ।

२१६९. उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् । उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत

शालुडम् । पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥१७ ॥

प्रखररूप में दबाने वाले, मुनि के समान जटाधारी 'मुनिकेश', हिंसक प्रवृत्ति के 'मरीमृश' गर्भिणी स्त्री को ढूँढ़ते फिरने वाले 'उदुम्बल' और भयानक तुण्ड (तौंद) वाले 'शालड', ऐसे सभी दुष्ट राक्षसों को हे ओषधे ! आप उसी प्रकार एड़ी और पैर से रौंद डालें, जिस प्रकार दूध दुहाने के पश्चात् कूदने वाली अथवा दुष्ट प्रकृति की गौ दूध के बर्तन में लात मार देती है ॥१७ ॥

२१७०. यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।

पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥१८ ॥

हे गर्भिणी !आपके गर्भ को खण्डित करने या जन्मे हुए शिशु को मारने के इच्छुक राक्षस को यह ओषधि पैर से कुचल डाले । हे श्वेत ओषधे ! आप प्रचण्ड गतिमान् होकर गर्भ घातक राक्षस के हृदय को पीड़ित करें ॥१८

२१७१. ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।

स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९ ॥

जो राक्षस (रोग) आधे उत्पन्न हुए गर्भों को विनष्ट करते हैं और जो नारी का छद्मरूप बनाकर सूतिका गृह में सोते हैं, उन गर्भधारिणी स्त्रियों को अपना हिस्सा समझने वाले गन्धर्व राक्षसों को 'पिंग बज' ओषधि (श्वेत सर्षप) उसी प्रकार दूर करे, जैसे जलविहीन मेघ को वायु हटाते हैं ॥१९ ॥

२१७२. परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।

गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥२० ॥

विकसित तथा स्थिर गर्भ को गिरने न दें ।वस्त्र या नियम में रखने वाली उग्र ओषधि गर्भ की रक्षा करे ॥२० ॥

२१७३. पवीनसात् तङ्गल्वाऽच्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥२१ ॥

वज्र के समान नाक वाले, बड़े गाल वाले तङ्गल्व, सायक (काले) और नग्नक (नंगे), इन राक्षस रोग कृमियों से सन्तान और पति सुख के निमित्त, यह पिंग ओषधि तुम्हारी रक्षा करे ॥२१ ॥

२१७४. द्व्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः । वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ।।

हे ओषधे ! आप दो मुख वाले, चार आँख वाले, पाँच पैर वाले, अंगुलिरहित, लतापुञ्ज के समान पैर वाले, मुख को नीचे की ओर करके चलने वाले और सभी अंगों में व्यापनशील रोग कृमियों से रक्षा करें ॥२२ ॥

२१७५. य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥२३ ॥

जो राक्षस (रोग कृमि) कच्चे मांस को खाते हैं, जो पुरुषों के भी मांस को खाते हैं, जो बड़े-बड़े केश वाले राक्षस छद्मरूप में प्रविष्ट होकर गर्भों का भक्षण करते हैं, ऐसे तीनों प्रकार के राक्षस-रोगों को हम गर्भिणी स्त्री के समीप से दूर करते हैं ॥२३ ॥

२१७६. ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥२४ ॥

श्वसुर को देखकर जैसे बहू हट जाती है, उसी प्रकार जो सूर्य को देखकर पलायन कर जाते हैं, उन (कृमियों) के हृदयों को यह पिंग बज वेध डाले ॥२४ ॥

२१७७. पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥२५ ॥

हे पिंग ओषधे ! आप उत्पन्न हुई सन्तान का संरक्षण करें, उत्पन्न हुए पुरुष गर्भ अथवा स्त्री गर्भ को भूतबाधा से संरक्षित करें । अण्ड प्रदेश को खाने वाले कृमि, गर्भ को विनष्ट न कर सकें । हे ओषधे ! आप इन कृमियों को गर्भिणी के समीप से दूर भगाएँ ॥२५ ॥

२१७८. अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥२६ ॥

(हे ओषधे अथवा देव शक्तियो !) आप संतानहीनता, बाल मृत्यु , हृदय के रुदन और पापों के भोगादि को शत्रुओं के ऊपर इस प्रकार डालें, जिस प्रकार वृक्ष से उत्पन्न फूलों की माला किसी को पहना दी जाती है ॥२६ ॥

[७- ओषधि समूह सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- भैषज्य, आयुष्य, ओषधि समूह । छन्द- अनुष्टुप्, २ उपरिष्टाद् भुरिक् बृहती, ३ पुरउष्णिक्, ४ पञ्चपदा परानुष्टुप् अतिजगती, ५-६, १०, २५ पथ्यापंक्ति, ९ द्विपदार्ची भुरिक् अनुष्टुप्, १२ पञ्चपदा विराट् अतिशक्वरी, १४ उपरिष्टात् निचृत् बृहती, २६ निचृत् अनुष्टुप्, २८ भुरिक् अनुष्टुप् ।]

२१७९. या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥१ ॥

भूरे, सफेद, लाल, नीले और काले, ऐसे विभिन्न वर्णों तथा छोटे शरीर वाली ओषधियों के सम्मुख जाकर, रोग निवारण के लिए हम उन्हें पुकारते हैं ॥१ ॥

[वैद्यक शास्त्र में विशिष्ट प्रयोगों के लिए ओषधियों को पहले मंत्रादि उपचारपूर्वक आमंत्रित करने का विधान है । ओषधियों को विचार तरंगें भी प्रभावित करती हैं, यह प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हो चुका है ।]

२१८०. त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२ ॥

जिनकी माता पृथ्वी, पिता द्युलोक तथा मूल समुद्र (जल) है, ऐसी ओषधियाँ दैवी प्रकोप से अभिप्रेरित रोग के प्रभाव से इस मनुष्य को बचाएँ ॥२ ॥

२१८१. आपो अग्रं दिव्या ओषधयः । तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥३ ॥

हे रोगी पुरुष ! सामने उपस्थित जल और दिव्य ओषधियाँ, आपके दुष्कर्मों के पाप से उत्पन्न यक्ष्मा (रोग) को अंग-प्रत्यंगों से निष्कासित करें ॥३ ॥

२१८२. प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥

विशेष विस्तारवाली, गुच्छकवाली, एक कोपल वाली और अति प्रशाखाओं वाली ओषधियों को हम आवाहित करते हैं। अंशुमती (अनेक अंशों से युक्त) काण्डों (गाँठों) वाली, अनेक प्रकार की शाखाओं से युक्त, सभी देवशक्तियों से सम्बन्धित, प्रभावमयी, जीवनदायिनी ओषधियों को आप (रोगी) के निमित्त हम आवाहित करते हैं ॥४ ॥

२१८३. यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥५ ॥

हे रोगनिवारक ओषधियो ! आपमें रोग को दूर करने की जो सामर्थ्य और बलिष्ठता है, उससे आप इस रोगी को यक्ष्मा रोग से बचाएँ, इसी उद्देश्य से हम ओषधि को तैयार कर रहे हैं ॥५ ॥

२१८४. जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥६ ॥

हम जीवनदायिनी, हानिरहित, रोपणवाली अथवा रुकावटरहित, उठाने वाली (ऊपर की ओर जाने वाली) मीठी और फूलों वाली ओषधियों को यहाँ लोकहित के उद्देश्य से आरोग्यलाभ हेतु आवाहित करते हैं ॥६ ॥

२१८५. इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥७ ॥

विशिष्ट ज्ञानयुक्त वैद्य के मन्त्ररूप वचनों से पुष्टिकारक ओषधियाँ यहाँ आगमन करें । जिससे हम इस रोगी मनुष्य को रोगरूप पापों से पार उतार सकें ॥७ ॥

२१८६. अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥८ ॥

जो ओषधियाँ जल की गर्भरूप और अग्नि का खाद्य होने पर बार-बार नवीन जैसी उत्पन्न होती हैं, वे सहस्र नाम वाली, स्थिरता सम्पन्न ओषधियाँ यहाँ लाई जाएँ ॥८ ॥

२१८७. अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्गच्यः ।।९ ।।

जल ही जिनकी प्राण चेतना है, ऐसी शैवाल में पैदा होने वाली तीक्ष्ण गन्धयुक्त, तीखे सींगों के आकार वाली जो ओषधियाँ हैं, वे पापरूपी रोग को विनष्ट करें ।।९ ।।

[यहाँ ऋषि रोगों की उत्पत्ति का कारण पापों को मानते हैं । प्रकृति के नियमों का उल्लंघन ऐसे पाप हैं, जो अनेक प्रत्यक्ष रोगों को पैदा करते हैं । मानवीय चेतना के प्रतिकूल स्वार्थपूर्ण कर्मों से मानसिक ग्रन्थियाँ बनती हैं तथा मनोकायिक (साइको सोमेटिक) रोग उत्पन्न होने लगते हैं । अतः आरोग्य के लिए पापों से निवृत्ति आवश्यक है ।]

२१८८. उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।

अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ।।१० ।।

रोग निवारण करने वाली, जलोदर आदि रोगों की निवारक, रोग निवारण की प्रचण्ड क्षमता से सम्पन्न विषनाशक, कफनाशक और मारक प्रयोगों की नाशक, ऐसी जो भी ओषधियाँ हैं, वे यहाँ आगमन करें ।।१० ।।

२१८९. अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ।।११ ।।

क्रय से रहित बल्कि स्वयं जाकर प्राप्त की गई, रोगों को अपनी प्रभाव क्षमता द्वारा दूर करने वाली जो मन्त्रों से प्रशंसित (अभिमन्त्रित) ओषधियाँ हैं, वे इस ग्राम में गाय, अश्वादि पशुओं और मनुष्यों का संरक्षण करें ।।११ ।।

२१९०. मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव । मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ।।१२ ।।

इन ओषधियों के मूल, मध्य, अग्रभाग , उनके पत्ते और फूल सभी मीठे होते हैं ।ये ओषधियाँ मधुर रस से सिञ्चित तथा अमृत का सेवन करने वाली हैं । ये गौओं को प्रधान स्थान तथा घृतादि अन्न देने वाली बनाएँ ।।१२ ।।

२१९१. यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।

ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ।।१३ ।।

पृथ्वी में पैदा हुई असंख्य पत्तों वाली जो ओषधियाँ हैं, वे हमें पापरूपी मृत्यु से बचाएँ ।।१३ ।।

२१९२. वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।

अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ।।१४ ।।

ओषधियों द्वारा बनायी गई, व्याघ्र जैसी पराक्रमी 'मणि' रोगरूप पापों से संरक्षण करने वाली है, वह मणि सभी रोगों और रोग कृमियों को अन्यत्र ले जाकर विनष्ट करे ।।१४ ।।

२१९३. सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।

गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ।।१५ ।।

जिस प्रकार सिंह की गर्जना और अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला से प्राणी घबरा जाते हैं, उसी प्रकार इन प्राप्त की गई ओषधियों से भगाए गए गौ आदि पशुओं और मनुष्यों के रोग, नौकाओं से गमन करने योग्य नदियों को लाँघकर सुदूर प्रस्थान करें ।।१५ ।।

२१९४. मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि । भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ।।

जिन ओषधियों के अधिपति वनस्पति देव हैं, जो भूमि को आच्छादित कर लेती हैं, ऐसे रोगों की निवारक ओषधियाँ वैश्वानर अग्नि पर आधारित होती हैं ।।१६ ।।

२१९५. या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥

महर्षि अंगिरा द्वारा विवेचित जो मंगलकारिणी ओषधियाँ पर्वतीय क्षेत्रों और समतल स्थानों में पैदा होती हैं, वे दूध की तरह सारयुक्त होकर हमारे हृदय स्थल को सुख-शान्ति देने वाली हों ॥१७॥

२१९६. याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥

जिन ओषधियों के सम्बन्ध में हम जानते हैं और जिन्हें आँखों से देखते हैं। जिन अज्ञात ओषधियों को हम जानें, उन सबमें रोगों को दूर करने के तत्त्व विद्यमान हैं, इस तथ्य को हम जानते हैं ॥१८॥

२१९७. सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम। यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥

वे समस्त परिचित-अपरिचित ओषधियाँ हमारे अभिप्राय को समझें; ताकि इस रोगी को हम पापरूपी रोग से मुक्त करने में सफल हों ॥१९॥

२१९८. अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः। व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥

पीपल, कुशा, ओषधियों का राजा सोम, अमृत हवियाँ, धान और जौ आदि यह सब अमर ओषधियाँ हैं। ये सब द्युलोक की संतानें हैं ॥२०॥

[हवि नष्ट नहीं होती, वह अमर ओषधि बन जाती हैं। ओषधियाँ द्युलोक की सन्तानें हैं, द्युलोक से उत्पन्न दिव्य प्रवाह तथा वर्षा से उनमें दिव्य गुण आते हैं।]

२१९९. उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः। यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति।

पृथ्वी जिनकी माता है, ऐसी हे ओषधियो! जब पर्जन्य गर्जनयुक्त शब्द करता है, तब ऊपर उठो (बढ़ो), इस प्रक्रिया द्वारा पर्जन्य अपने रेतस् (उर्वर रस-जल) द्वारा तुम्हारा संरक्षण करता है ॥२१॥

[जब बिजली कड़कती है, मेघ गर्जन होता है, तो नाइट्रोजन के उर्वरक संयोग बनते हैं। इस वैज्ञानिक तथ्य के साथ यज्ञादि एवं मंत्रों के सूक्ष्म प्रवाह भी उनके साथ संयुक्त होते हैं, जिससे वनस्पतियों के गुण बढ़ते हैं।]

२२००. तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि। अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः॥

उस ओषधि समूह की अमृतरूप सामर्थ्य को हम इस पुरुष को पिलाते हैं, इस प्रकार हम इसे ओषधि सेवन कराते हैं, जिससे यह शतायु लाभ प्राप्त करें ॥२२॥

२२०१. वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२३॥

जिन ओषधियों को सुअर, नेवला, सर्प और गन्धर्व जानते हैं, उन्हें हम इस रोगी मनुष्य के संरक्षण हेतु आवाहित करते हैं ॥२३॥

[सुअर पुष्टिकारक ओषधियों को अपने थूथन से खोद-खोद कर खाता है। नेवला सर्प-विष की तथा सर्प - नेवले द्वारा किये गये क्षतों-घावों को ठीक करने की ओषधियाँ जानते हैं।]

२२०२. याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः। वयांसि हंसा या
विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः। मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२४॥

अंगिरा ने जिन सुन्दर पत्तों वाली ओषधियों का प्रयोग किया, जिन दिव्य ओषधियों की ज्ञाता पशु-पक्षी और हंस हैं, उन सभी प्रकार की ओषधियों को हम इस रोगी पुरुष के संरक्षण हेतु बुलाते हैं ॥२४॥

२२०३. यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।

तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥२५ ॥

जिन ओषधियों को अहिंसति गौएँ रोग-निवारण के लिए भक्षण करती हैं और जिन्हें भेड़-बकरियाँ खाती हैं, वे सभी लाई गई ओषधियाँ आपके निमित्त कल्याणकारी हों ॥२५ ॥

२२०४. यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः । तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥

ओषधि-विशेषज्ञ चिकित्सक जितनी ओषधियों (ओषधि प्रयोग) के ज्ञाता हैं, उन सभी ओषधियों को हम आपके कल्याण के निमित्त यहाँ लेकर आ चुके हैं ॥२६ ॥

२२०५. पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत । संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥

पुष्पवती, पल्लवों वाली, फलोंवाली और फलरहित ये सभी ओषधियाँ इस पुरुष के सुख-शान्ति के विस्तार हेतु श्रेष्ठ माताओं के समान दुही जाएँ ॥२७ ॥

२२०६. उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।

अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२८ ॥

पाँच प्रकार के (पाँच कर्मेन्द्रियों) तथा दस प्रकार के (दसों इन्द्रियों के) कष्टों से, यम के बन्धनों से तथा सभी देवों के प्रति किये गये पापों से, तुम (आरोग्य की इच्छा वाले) को ऊपर उठाया गया (मुक्त किया गया) है ॥२८ ॥

[८- शत्रुपराजय सूक्त]

[ऋषि- भृग्वङ्गिरा । देवता- परसेनाहनन, इन्द्र वनस्पति । छन्द- अनुष्टुप्, २,८-१०, २३ उपरिष्टाद् बृहती, ३ विराट् बृहती, ४ बृहती पुरस्तात् प्रस्तार पंक्ति, ६ आस्तार पंक्ति, ७ विपरीत पादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती, ११ पथ्या बृहती, १२ भुरिक् अनुष्टुप्, १९ विराट् पुरस्ताद् बृहती, २० निचृत् पुरस्ताद् बृहती, २१ त्रिष्टुप्, २२ चतुष्पदा शक्वरी, २४ त्र्यवसाना त्रिष्टुप् उष्णिक् गर्भा पराशक्वरी पञ्चपदा जगती ।]

२२०७. इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।

यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥१ ॥

शत्रुओं की नगरियों को ध्वस्त करने वाले इन्द्रदेव शूरवीर और समर्थ हैं तथा शत्रु के सैन्य दल को मथने वाले हैं । वे मंथन प्रारम्भ करें, जिससे हम शत्रु सेना को विभिन्न ढंग से मार सकें ॥१ ॥

२२०८. पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।

धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥२ ॥

शत्रु सेना पर प्रहार हेतु जलाई गई दुर्गन्धयुक्त रस्सी, इस शत्रु सेना में दुर्गन्धित धुआँ पैदा करे । धुएँ और अग्नि को देखकर हमारे अमित्रों के हृदय में भय स्थापित हो ॥२ ॥

२२०९. अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।

ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥३ ॥

हे अश्वत्थ (पीपल अथवा अश्वारोही) ! आप इन शत्रुओं का संहार करें । हे खदिर ! (खैर वृक्ष अथवा शत्रु भक्षक) आप इन शत्रुओं का भक्षण करें । ये एरण्ड की तरह टूट जाएँ , वध करने वाले उपकरणों से इनका हनन करें ॥३ ॥

२२१०. परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥४ ॥

परुष (कठोर) आवाहन उक्तियाँ इन्हें (सैनिकों को) उत्तेजित करें और वध करने वाले शस्त्र हिंसक विधियों से इनका वध करें ।बड़े जाल (व्यूह) से बँधे हुए, ये शत्रुगण शर (सरकण्डे) की तरह सहज ही टूट जाएँ ॥४ ॥

२२११. अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥५ ॥

अन्तरिक्ष जालरूप है और विस्तृत दिशाएँ जाल के दण्ड (सीमा) रूप में प्रयुक्त हुई हैं । उस जाल ने दस्युओं की सेना को बाँधकर, उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया है । ॥५ ॥

२२१२. बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६ ॥

सैन्यदल के साथ रहने वाले महिमामय इन्द्रदेव का जाल बड़े आकार का है । हे इन्द्रदेव ! उससे आप सभी शत्रुओं को, सभी ओर से अपने अधीन करें, जिससे इनमें से कोई भी छूटने न पाएँ ॥६ ॥

२२१३. बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥७ ॥

हे शूरवीर इन्द्रदेव ! यज्ञों में असंख्य धन-सम्पदा (अर्थ) प्राप्त करने वाले अथवा हजारों द्वारा पूजनीय और सैकड़ों पराक्रमी कार्य करने वाले महिमामय आपका जाल विशाल है । इन्द्रदेव ने सैन्य-शक्ति से, इसी जाल से, शत्रुओं को पकड़कर सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों दस्युओं का संहार किया था ॥७ ॥

२२१४. अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥८ ॥

यह लोक ही महान् इन्द्रदेव का महिमामय बड़ा जाल है, उस इन्द्रजाल से सभी शत्रुओं को हम अन्धकार से घेरते हैं ॥८ ॥

[ऊपर के मन्त्रों में इन्द्र के जाल का वर्णन है । इन्द्र संगठक, संरक्षक देव है । उनकी आकर्षण-विकर्षण शक्तियों का विशाल जाल अन्तरिक्ष में फैला हुआ है । देव शक्तियों के सहयोग से वे अनियंत्रित कणों एवं शक्ति-प्रवाहों को अपने सूक्ष्म जाल में फँसाकर व्यवस्था बनाए रखते हैं ।]

२२१५. सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना । श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान्

बड़ी थकान (पाप देवी पिशाचिनी) , भयंकर निर्धनता, अकथनीय व्यथा, कष्टमय परिश्रम, तन्द्रा (आलस्य) और मोहादि से, इन सभी शत्रुओं को हम विनष्ट करते हैं ॥९ ॥

२२१६. मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१० ॥

हम इन शत्रुओं को मृत्यु की भेंट करते हैं । ये शत्रु मृत्युपाश से बँध चुके हैं, इन्हें बाँधकर हम मृत्यु दूतों की ओर ले जाते हैं ॥१० ॥

२२१७. नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥११ ॥

हे मृत्यु दूतो ! इन शत्रुओं को ले जाओ । हे यमदूतो ! इनसे नरक को पूर्ण करते हुए, हजारों सैनिकों को मृत्यु की भेंट करो । रुद्रदेव का आयुध इनका संहार करे ॥११ ॥

२२१८.साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा । रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः॥

साध्यदेव एक 'जाल-दण्ड' को उठाकर बलपूर्वक शत्रुओं की ओर जाते हैं, इसके साथ एक 'जाल-दण्ड' को रुद्रदेव, एक को वसुदेव और आदित्य देवों ने एक-एक जाल-दण्ड को उठाया है ॥१२ ॥

२२१९. विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा । मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम्॥

विश्वेदेवा (समस्त देवगण) ऊपरी भाग से दुष्ट शत्रुओं को दबाते हुए बलपूर्वक गमन करें और आंगिरस बीच में सेना का संहार करके भूमि पर फेंक दें ॥१३ ॥

२२२०. वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१४ ॥

हम वनस्पतियों, वनस्पतियों द्वारा बनी हुई ओषधियों, लताओं और दो पैर वाले मनुष्यादि तथा चार पैर वाले हिंसक पशुओं को मंत्र-सामर्थ्य से प्रेरित करते हैं, जिससे वे शत्रु की सैन्य शक्ति के संहार में सक्षम हों ॥१४ ॥

२२२१. गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१५ ॥

गन्धर्व, अप्सरा, सर्प, देवगण, पुण्यजनों , देखे गए तथा न देखे गए पितरजनों को हम इस ढंग से प्रेरित करते हैं, जिससे वे शत्रु सेना के विनाश में सक्षम हों ॥१५ ॥

२२२२. इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६ ॥

हे शत्रुओ ! ऐसे हजारों मृत्यु के पाश रख दिये गये हैं, जिनको पार करते समय तुम्हारा सुरक्षित रहना कठिन है । यह कूट इस शत्रु सेना का हजारों विधियों से संहार करे ॥१६ ॥

२२२३. घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः । भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ।

यह प्रज्वलित हवि अग्नि द्वारा अच्छे ढंग से प्रज्वलित हुई है । यह होम हजारों शत्रुओं की संहारक क्षमता से युक्त है । हे सफेद बाहुवाले भव और शर्व देवो ! आप इस सेना का विनाश करें ॥१७ ॥

२२२४. मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥१८ ॥

ये शत्रु मृत्यु भूख, निर्धनता और भय को प्राप्त हों । हे इन्द्र और शर्व !आप दोनों शत्रुसेना का संहार करें ॥१८॥

२२२५. पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥१९ ॥

हे दुष्ट शत्रुओ ! तुम मन्त्र सामर्थ्य से पराजित होकर और संत्रस्त होकर मन्त्र प्रयोग द्वारा खदेड़े जाने पर भाग जाओ । मन्त्रों के अधिष्ठाता बृहस्पतिदेव द्वारा भगाए गए शत्रुओं में से कोई भी सुरक्षित न बच सकें ॥१९ ॥

२२२६. अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि ॥२० ॥

इन शत्रुओं के अस्त्र-शस्त्र नीचे गिर जाएँ, पुनः ये बाण को धनुष पर चढ़ाने में सफल न होने पाएँ। भयभीत स्थिति में इनके मर्म स्थल बाणों से बींधे जाएँ ॥२० ॥

२२२७. सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥२१ ॥

द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और देवगण इन्हें शाप दें, इससे ये शत्रु प्रतिष्ठारहित होकर अथर्ववेदीय ज्ञान-विज्ञान से वञ्चित रहें तथा आपस में ही वैर-विरोध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हों ॥२१ ॥

२२२८. दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥२२ ॥

चार दिशाएँ ही देवरथ की घोड़ियाँ, पुरोडाश ही खुर, अन्तरिक्ष ऊपर का भाग, द्युलोक और पृथ्वी ये दोनों पक्ष हैं, ऋतुएँ ही लगामें, अन्तर्देश (उप दिशाएँ) संरक्षकरूप और वाणी रथ की परिधि है ॥२२ ॥

२२२९. संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥२३ ॥

'संवत्सर' ही रथरूप, 'परिवत्सर' रथ में बैठने का स्थल, 'विराट्' जोतने का दण्ड, 'अग्नि' इस रथ के मुख्य रूप, इन्द्रदेव बाईं तरफ विराजने वाले और चन्द्रमा सारथि रूप हैं ॥२३ ॥

२२३०. इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा। इमे जयन्तु परामी जयन्तां
स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥२४ ॥

इधर से 'जय' और उधर से 'विजय' प्राप्त हो। हम भली प्रकार जय प्राप्त करें, इसके लिए यह आहुति समर्पित हो। हमारे ये मित्र वीर विजयशील हों, शत्रु सैनिक पराजित हो जाएँ, इसके लिए आहुति समर्पित हो। नील एवं लोहित (ज्वालाओं) से हम सभी शत्रुओं को दमित करते हैं ॥२४ ॥

[९- विराट् सूक्त]

[**ऋषि-** अथर्वा । **देवता-** कश्यप, समस्त आर्ष छन्द, समस्त ऋषिगण । **छन्द-** त्रिष्टुप्, २ पंक्ति, ३ आस्तार पंक्ति, ४-५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्, ८, ११-१२, २२ जगती, ९ भुरिक् त्रिष्टुप्, १४ चतुष्पदा अतिजगती ।]

इस सूक्त के ऋषि अथर्वा, कश्यप आदि अनेक ऋषि हैं तथा देवता 'विराट्' हैं। इस सूक्त में सृष्टि के उद्‌भव आदि रहस्यों पर चर्चा की गई है। आलंकारिक उदाहरणों, उपाख्यानों के माध्यम से गूढ़ सिद्धान्तों को प्रकट किया गया है। विषय गंभीर है। विस्तृत व्याख्याएँ न करके, मन्त्रार्थों के साथ सांकेतिक सूत्र शैली का प्रयोग किया गया है-

२२३१. कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥१ ॥

वे दोनों (चेतन और जड़ तत्त्व) कहाँ से पैदा हुए? वह कौन सा अर्धभाग है (जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई)? किस लोक से तथा भूमि के किस भाग के सलिल (जल या मूल द्रव्य) से 'विराट्' के दोनों बच्चे उत्पन्न हुए? मैं उन दोनों के बारे में आपसे पूछता हूँ कि उनमें से यह (प्रकृतिरूप गाय) किसके द्वारा दुही जाती है? ॥१ ॥

[परम व्योम में अभी भी अविभक्त विराट् है, उसके एक अंश के उद्वेलित होने से ही सृष्टि बनी है। चेतन तत्त्व और जड़ पदार्थ, 'विराट्' के इन दो पुत्रों में से गाय (प्रकृति) किसके द्वारा दुही गई। स्पष्ट है कि चेतन तो स्वतः पूर्ण है, जड़ पदार्थयुक्त काया के पोषण के लिए ही प्रकृति का दोहन किया जाता है ।]

२२३२. यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥२ ॥

जो त्रिभुज (त्रि-आयाम) उत्पत्ति स्थल में शयन करने वाला है, जो अपनी महत्ता से महत् सलिल (मूल प्रवाह) को उत्तेजित करता है, वह (आत्मतत्त्व) दूरस्थ गुहाओं में अपने लिए शरीरों की रचना करता है ॥२ ॥

[चेतन आत्मतत्त्व जब सृष्टि बनाना चाहता है, तो अपने तप: से बृहत् अप् या सलिल (क्रियाशील कणों) में हलचल उत्पन्न करता है, ऐसा भाव वेद ने अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है । वह चेतन दूरस्थ गर्भों में अपने लिए शरीरों की रचना करता है ।]

२२३३. यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३ ॥

जो तीन बड़े महिमायुक्त (ब्रह्म, प्रकृति एवं जीव) हैं, इनमें (इनके संयोग से उत्पन्न) चौथा (शरीर) ही वाणी को प्रकट करता है । ज्ञानीजन तपश्चर्या द्वारा इस 'ब्रह्म' (परमात्मतत्त्व) को समझें । इनमें से एक (जीव), एक (परब्रह्म) से जुड़ता है ॥३ ॥

२२३४. बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥४ ॥

बृहत् तत्त्व से उत्तम पाँच सामों (पंच प्राणों) की रचना हुई है, उनसे छठे (शरीर) का निर्माण हुआ है । उस बृहत्तत्त्व से बृहत्सृष्टि की उत्पत्ति हुई है,(जानने योग्य यही है कि) इस बृहत् तत्त्व की उत्पत्ति कहाँ से हुई है ? ॥४ ॥

२२३५. बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥५ ॥

बृहती (प्रकृति) की मात्रा से, माता की मात्रा (तन्मात्राएँ) निर्मित हुई हैं । माया (माता) से निश्चितरूप से प्रकृति रूप माया उत्पन्न हुई और माया के ऊपर माया (प्रकृति) का मातली (निरीक्षक) नियुक्त है ॥५ ॥

२२३६. वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥६ ॥

वैश्वानर (अग्निदेव) की प्रतिमा (आभा - ऊर्जा) के ऊपर ही स्वर्गलोक स्थित है । जहाँ तक अग्निदेव, द्युलोक और भूलोक को बाध्य करते हैं (प्रेरित करते हैं) , तब वह छठवाँ (मं०क्र० ४ में वर्णित शरीर) स्तोमों (वाणी से मंत्रों) को प्रकट करता है ।दिन के उदय होने पर वही छठे (पंचाग्नियों से भिन्न यज्ञाग्नि) की ओर उन्मुख होता है॥

२२३७. षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥७ ॥

हे कश्यप ! आप युक्त और योग्य का श्रेष्ठ विधि से योग करने में कुशल हैं, इसलिए हम छह तत्त्वज्ञ ऋषि आपसे प्रश्न पूछते हैं कि विराट् (पुरुष) को सृष्टि निर्माता ब्रह्मा का पिता कहते हैं, इस सम्बन्ध में हम ऋषि मित्रों को जितनी रीतियों से सम्भव हो, उतने ढंग से समझाएँ ।

[इस गूढ़ तत्त्व की जिज्ञासा भी ऋषि स्तर के साधक कर रहे हैं और पूछ रहे हैं, कश्यप-पश्यक अर्थात् द्रष्टा से । जिसने चेतना स्तर पर सृष्टि रहस्यों का अनुभव किया है, वे ही जिज्ञासा का समाधान कर सकते हैं ।]

२२३८. यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥८ ॥

हे ऋषिगण ! जिस विराट् पुरुष के गतिमान् होने पर यज्ञीय प्रक्रियाएँ गतिशील होती हैं तथा विराट् के स्थिर होने (प्रलयकाल) पर, सृष्टि की धुरी यज्ञ प्रक्रिया भी स्थिर हो जाती है । जिसके (स्तुति रूप से) कर्म में प्रकट होने पर यजन करने योग्य दैवी भावनाएँ हिलोरें लेने लगती हैं, ऐसे विराट् पुरुष परम (श्रेष्ठ) व्योम में विद्यमान हैं ॥८ ॥

२२३९. अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥९ ॥

हे ऋषियो ! प्राणरहित विराट् , प्राणधारी प्रजाओं के प्राणरूप में आगमन करते हैं, तत्पश्चात् विराट् स्वयं प्रकाशमानं के समीप जाते हैं । सबको स्पर्श करते हुए इस विराट् को कुछ सूक्ष्मदर्शी देखने में समर्थ हैं; परन्तु मोह-माया से भ्रमित (अज्ञानग्रस्त) इसे देख नहीं पाते ॥९ ॥

२२४०. को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥१० ॥

इस विराट् के प्रकृति और पुरुष के जोड़े को कौन जानते हैं ? कौन ऋतुओं और कौन इसके कल्पों को जानते हैं ? इसके क्रमों को कौन जानते हैं ? कितनी बार इसका दोहन किया गया, इस सम्बन्ध में कौन जानते हैं ? इसके धाम के ज्ञाता कौन हैं और इसके प्रभातकाल कितने प्रकार के होते हैं, इन सबके ज्ञाता कौन हैं ? ॥१० ॥

२२४१. इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥११ ॥

यह (उषा) वही है, जो पहली बार (सृष्टिकाल में) प्रकाशित हुई । यही इस (प्रकृति) और अन्य (भूतों) में प्रविष्ट होकर चलती है ।इस उषा में बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं ।यह नूतन जन्मदात्री वधू के समान सबको जीत लेती है ॥११ ॥

२२४२. छन्दः पक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥१२ ॥

छन्दों (वेद मन्त्रों) के विभिन्न पक्ष भी उषा से ही सुन्दर बनते हैं (दिव्यज्ञानप्रकाश के उषाकाल- दिव्यबोध के समय ही वेद मन्त्र प्रकट होते है) । और एक ही लक्ष्य की ओर गमन करते है । सूर्यपत्नी, प्रकाशयुक्त उषा अपने ज्योतिरूप अत्यन्त महान् रेतस् (उत्पादक तेज) के द्वारा संचरित होती है ॥१२ । ।

२२४३. ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥१३ ॥

सत्यमार्ग में अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा, ये तीनों अपने तेजस्वितायुक्त वीर्य के साथ जाते हैं । इनमें प्रथम की सामर्थ्य ऋत्विजों की संतुष्टि, दूसरे की शक्ति-बल के पोषण और तीसरे की शक्ति देवत्व के उपासक ऋत्विजों के राष्ट्र (प्रकाशमान क्षेत्र या यज्ञ) का संरक्षण करती है ॥१३ ॥

२२४४. अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥१४ ॥

अग्नि और सोम, यह दो यज्ञ के पक्ष हैं, ऐसा ऋषियों ने माना है । चौथा (मन्त्र क्र. २ के अनुसार शरीर वाणी द्वारा) गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती, अनुष्टुभ् आदि छन्दों के द्वारा यजमान में स्व को प्रकाशित करने वाली बृहत् (ज्ञान एवं यज्ञ की) उपासना पद्धति को धारण कराता है ॥१४ ॥

[प्रकट अर्थों में अग्नि एवं सोम रूप आहुतियों के संयोग से ही यज्ञ होता है। गूढ़ अर्थों में एक यज्ञ अग्नि द्वारा संचालित है, जिसमें पदार्थ से ऊर्जा उत्पन्न होती है। दूसरा यज्ञ सोम प्रवाह के द्वारा चलता रहता है, जिसके अन्तर्गत ऊर्जा की स्थापना पदार्थ में होती है।]

२२४५. पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥१५॥

पाँच उषा शक्तियों के अनुकूल पाँच दोहन समय हैं, पाँच नामवाली गाय के अनुकूल पाँच ऋतुएँ हैं। पाँच दिशाएँ, पन्द्रहवें (चौदह भुवनों से परे पन्द्रहवें महत् तत्त्व) से समर्थ होकर, किसी योगी के लिए एक लोक जैसी हो जाती हैं ॥१५॥

[जहाँ तक सृष्टि है, वहाँ तक पदार्थ है। जहाँ तक पदार्थ है, वहीं तक दिशाएँ हैं। उसके परे दिशाएँ नहीं है।]

२२४६. षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१६॥

प्रारम्भ में ऋत से छह भूत (पाँच तत्त्व और छठवाँ मन), छह साम (उनकी तन्मात्राएँ) तथा उनके संयोग से छह प्रकार के 'अहं' उत्पन्न हुए। यह छह युग्मों से जुड़े बन्धनों के साथ छह साम (प्रवृत्तियाँ) जुड़ी हैं। द्युलोक से पृथ्वी तक छह लोक है। भूमि भी छह (अन्दर छह पर्तवाली) हैं ॥१६॥

[सात लोक हैं, पृथ्वी या द्यु के अतिरिक्त छह हैं। भूवैज्ञानिकों के अनुसार भूमि की ऊपरी सतह के अतिरिक्त अन्दर छह पर्तें और हैं।]

२२४७. षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥१७॥

छह मास शीत ऋतु और छह मास ग्रीष्म ऋतु के कहे गये हैं, इनके अतिरिक्त शेष जो हैं, उनके सम्बन्ध में हमें बताएँ। ज्ञानीजन सात सुपर्ण, सात छन्द और सात दीक्षाओं से सम्बन्धित ज्ञान रखते हैं ॥१७॥

२२४८. सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥१८॥

सात यज्ञ, सात समिधाएँ, सात ऋतुएँ और सात प्रकार के मधु हैं। सात प्रकार के घृत (तेजस्) इस जगत् में मनुष्य को उपलब्ध होते हैं। इनके साथ सात गृध्र (गीध) भी हैं, ऐसा हम सुनते हैं ॥१८॥

[विद्वानों का मत है कि सात प्रकार के तेजस् जब उपयुक्त दिशा में प्रयुक्त होते हैं, तो ऋषि कहलाते हैं, वही जब अनुपयुक्त-विकृत प्रयोगों में लग जाते हैं, तो 'गीध' कहलाते हैं।]

२२४९. सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥१९॥

सात छन्द और चार श्रेष्ठ (वेद विभाग) हैं, ये सभी परस्पर एक-दूसरे में समाहित हैं। उनमें स्तोम कैसे विराजमान हैं और वे स्तोमों में कैसे समर्पित हैं? ॥१९॥

२२५०. कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः ॥२०॥

गायत्री त्रिवृत् को कैसे संव्याप्त करती है, त्रिष्टुप् पन्द्रह से किस प्रकार निर्मित है, तैंतीस से जगती और इक्कीस से अनुष्टुप् कैसे सम्बन्ध रखते हैं? ॥२०॥

२२५१. अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।

अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१ ॥

सत्य से सर्वप्रथम आठ प्राणियों की उत्पत्ति हुई । हे इन्द्रदेव ! जो दिव्य ऋत्विज् हैं, वे भी आठ हैं । आठ पुत्रों को उत्पन्न करने वाली अदिति अष्टमी की रात्रि में हविष्यान्न को ग्रहण करती है ॥२१ ॥

[वैज्ञानिकों के अनुसार आठवें क्रम पर प्रकृति चक्र पूरा होता है । 'पीरियाडिक टेबिल', तत्त्व तालिका में, संगीत के स्वरों में, सूर्य के स्पैक्ट्रम में आठवें से नयाचक्र प्रारम्भ हो जाता है । यह प्रकृति का अदिति का अंक माना जाता है ।]

२२५२. इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।

समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥२२ ॥

इसप्रकार कल्याणकारी भावना को स्वीकार करते हुए आपके समान जन्म लेने वाले, आपके सख्यभाव में हम सुखी हैं ।यज्ञ आपका मंगल करने वाला है ।वह आप सबकी जानकारी रखता हुआ आपमें संचरित रहता है

२२५३. अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।

अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३ ॥

इन्द्रदेव की आठ, यमराज की छह और ऋषियों की सात प्रकार की, सात ओषधियाँ हैं । उन ओषधियों और मनुष्यों को पाँच प्रकार के अप् (जल या तेजस्) अनुकूल रीति से सींचते हैं ॥२३ ॥

२२५४. केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।

अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥२४ ॥

प्रथम दोहन कराती हुई, विलक्षण, प्रथम प्रसूता गौ (प्रकृति) ने अमृतमय दूध को इन्द्र के लिए अनुकूल रीति से दिया । तत्पश्चात् देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन चारों को चार प्रकार से संतुष्ट करती है ॥२४ ॥

२२५५. को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।

यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥२५ ॥

वह गौ कौन सी है ? वह एक ऋषि कौन से हैं ? धाम और आशीर्वाद कौन से हैं ? पृथ्वी में एक ही सर्वव्यापक देव पूजनीय हैं और वह एक प्रमुख ऋतु कौन सी है ? ॥२५ ॥

२२५६.एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते

वह गौ अकेली (एक मात्र) है, वह एक (प्रमुख) ही ऋषि है; एक ही स्थान और एक ही प्रकार का आशीर्वाद है । पृथ्वी में एक ही पूजनीय देव हैं तथा एक ही ऋतु भी है, जिससे बढ़कर अन्य कोई नहीं है ॥२६ ॥

[१०- विराट् सूक्त (१०-क)]

[**ऋषि-** अथर्वाचार्य । देवता- विराट् । छन्द- १ त्रिपदा आर्ची पंक्ति, २, ४, ६, ८, १०, १२ याजुषी जगती, ३, ९ साम्नी अनुष्टुप्, ५ आर्ची अनुष्टुप्, ७, १३ विराट् गायत्री, ११ साम्नी बृहती ।]

इस सूक्त के देवता भी विराट् हैं । इसमें प्रथम उत्पन्न विराट् शक्ति की लीला-प्रक्रिया का वर्णन है कि किस प्रकार वही विभिन्न कल्याणप्रद प्रक्रियाओं में अवतरित हुई-

२२५७. विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥

वह शक्ति पहले से ही विराट् थी ।उस शक्ति से सभी भयभीत हो गए कि यही वह सृष्टिरूप हो जाएगी ॥१ ॥

२२५८. सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥२ ॥

उस विराट् शक्ति ने ऊपर की ओर गमन किया और वह गार्हपत्य के रूप में अवतरित हुई ॥२ ॥

२२५९. गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३ ॥

गृह यज्ञ करने वाले जो इस तथ्य को जानते हैं, वे गृह- पालक होते हैं ॥३ ॥

२२६०. सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥४ ॥

पुन: वह (विराट् शक्ति) ऊपर की ओर उठकर आहवनीय अग्नि संस्था में प्रविष्ट हो गई ॥४ ॥

२२६१. यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥५ ॥

जो इस प्रकार जानते हैं, वे देवों के स्नेहपात्र बनते हैं, सभी देवशक्तियाँ उनके आवाहन-स्थल पर जाती हैं ॥

२२६२. सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥६ ॥

पुन: उस विराट् ने ऊपर की ओर उत्थान किया और दक्षिणाग्नि संस्था में प्रवेश किया ॥६ ॥

२२६३. यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७ ॥

जो इस प्रकार जानते हैं, वे यज्ञ करने में पारंगत और दूसरों को निवास स्थल प्रदान करने वाले होते हैं ॥७ ॥

२२६४. सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८ ॥

इसके बाद वह विराट् शक्ति ऊपर की ओर उठकर सभा में प्रविष्ट हो गई ॥८ ॥

२२६५. यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥९ ॥

जो इस विषय के ज्ञाता हैं, वे सभा के योग्य हैं और जनसाधारण उनकी सभा में जाते हैं ॥९ ॥

२२६६. सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१० ॥

तत्पश्चात् वह विराट् शक्ति ऊपर उत्थान करके समिति में परिणत हो गई ॥१० ॥

२२६७. यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥११ ॥

जो इसके ज्ञाता हैं, वे समित्य (समिति या सम्मानयोग्य) होते हैं और उसकी समिति में सैनिक आते हैं ॥११ ॥

२२६८. सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२ ॥

पुन: विराट् शक्ति उत्थान करके आमन्त्रण (मन्त्रिमण्डल) में प्रविष्ट हो गई ॥१२ ॥

२२६९. यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥१३ ॥

जो इसके ज्ञाता हैं, वे आमन्त्रणीय हो जाते हैं और जन-साधारण उनकी मन्त्रणा में भाग लेते हैं ॥१३ ॥

[११- विराट् सूक्त (१०-ख)]

[**ऋषि-** अथर्वाचार्य । **देवता-**विराट् । **छन्द -**१ त्रिपदा साम्नी अनुष्टुप्, २ उष्णिक् गर्भा चतुष्पदा उपरिष्टात् विराट् बृहती, ३ एकपदा याजुषी गायत्री, ४ एकपदा साम्नी पंक्ति, ५ विराट् गायत्री, ६ आर्ची अनुष्टुप्, ७ साम्नी पंक्ति, ८ आसुरी गायत्री, ९ साम्नी अनुष्टुप्, १० साम्नी बृहती ।]

इस सूक्त में उस विराट् शक्ति द्वारा सर्व-पोषक कामधेनु रूप विराट् प्रकृति के रूप में प्रकट होने का उल्लेख है । वह दिव्य शक्ति किस प्रकार पात्र भेद से विभिन्न गुणवाली हो जाती है, यह उल्लेख क्र. ११ से क्र. १४ तक के सूक्तों में है । वह तो कामधेनु है, उसका आवाहन जिस प्रकार की कामना से किया जाए, वह उसी रूप में प्रकट होती है । गाय को दुहने के लिए वत्स (बछड़ा) तथा दोग्धा-दुहने वाले की आवश्यकता होती है । बछड़े के स्नेह से प्रेरित होकर, उसके थनों में दूध भर आता है, तब दोग्धा उसे स्नेहपूर्वक दुहता है । प्रकृतिरूपी कामधेनु को विभिन्न प्रकार के 'पय-दोहन' क्रम में भी यही अनुशासन बरता जाता है-

२२७०. सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१ ॥

उस विराट् शक्ति ने पुनः उत्थान किया और वह अन्तरिक्ष में चार प्रकार से विभाजित होकर स्थित हुई ॥१ ॥

२२७१. तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥

देवों और मनुष्यों ने उसके सम्बन्ध में कहा कि वे इसे जानते हैं, जिससे हम दोनों जीवन- निर्वाह को प्राप्त करते हैं, अतएव हम इसे बुलाते हैं ॥२ ॥

२२७२. तामुपाह्वयन्त ॥३ ॥

तब उन्होंने उसे आवाहित किया ॥३ ॥

२२७३. ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥४ ॥

हे ऊर्जा देवि ! हे पितरजनों की तृप्तिप्रदा स्वधे ! हे प्रिय वाणीरूप ! हे अन्नवाली ! आप यहाँ आएँ ॥४ ॥

२२७४. तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥५ ॥

इन्द्रदेव उसके वत्स बने, गायत्री रस्सी थी और मेघ दुग्ध स्थल रूप हुए ॥५ ॥

२२७५. बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥६ ॥

बृहत्साम और रथन्तरसाम दोनों स्तनरूप हुए तथा यज्ञायज्ञिय और वामदेव्यसाम भी दोनों स्तनरूप ही हुए ।

२२७६. ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥७ ॥

देव शक्तियों ने रथन्तरसाम से ओषधियों का और बृहत्साम से व्यापक आकाश के रस का दोहन किया ॥७ ॥

२२७७. अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥८ ॥

वामदेव्य साम से जल और यज्ञायज्ञिय साम से यज्ञ विज्ञान को निकाला ॥८ ॥

२२७८. ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥९ ॥

जो इसके ज्ञाता हैं, रथन्तरसाम उनके लिए ओषधियाँ देते हैं औरबृहत्साम अन्तरिक्ष का दोहन करते हैं ॥९ ॥

२२७९. अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥१० ॥

जो इस के ज्ञाता हैं, उनके लिए वामदेव्यसाम जल और यज्ञायज्ञियसाम यज्ञ-विज्ञान को दुहते हैं ॥१० ॥

[१२-विराट् सूक्त (१०-ग)]

[**ऋषि-** अथर्वाचार्य । **देवता**-विराट् । **छन्द** -१-चतुष्पदा विराट् अनुष्टुप्, २ आर्ची त्रिष्टुप्, ३, ५, ७ चतुष्पदा प्राजापत्या पंक्ति, ४, ६, ८ आर्ची बृहती ।]

२२८०. सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥

विराट् शक्ति पुनः उत्थान करके वनस्पतियों के समीप पहुँची, उसे वनस्पतियों ने भोगा । वह संवत्सर में उनके साथ एक रूप हुई ॥१ ॥

२२८१. तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति
वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥२ ॥

अतएव वनस्पतियों के कटे हुए भाग भी एक संवत्सर में पुनः उग आते हैं । जो इसके ज्ञाता हैं, उनके दुष्ट (अप्रिय) शत्रु विनष्ट हो जाते हैं ॥२ ॥

२२८२. सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥३ ॥

पुनः विराट् शक्ति पितरजनों के समीप पहुँची ।उसे पितरों ने भोगा ।उनसे वहमास में आत्मसात् हो गई ॥३ ।

२२८३. तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥४ ॥

अतएव मनुष्य पितरों के निमित्त प्रत्येक माह मुख की समीपस्थ वस्तु (भोजन) दान-स्वरूप देते हैं, जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे पितृयान मार्ग के ज्ञान को प्राप्त करते हैं ॥४ ॥

२२८४. सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत् ॥५ ॥

विराट् शक्ति पुनः देवों के समीप पहुँची ।देवों ने भोग किया ।वहआधे मास तक उनके साथ एकरूप हो गई ॥

२२८५. तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥६ ॥

इसलिए देव शक्तियों के निमित्त अर्धमास में वषट्कर्म करने का विधान है । जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे देवयान मार्ग को जानने में सक्षम होते हैं ॥६ ॥

२२८६. सोदक्रामत् सा मनुष्या३नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥७ ॥

विराट् शक्ति ने फिर उत्थान किया और वह मनुष्यों के समीप पहुँची । मनुष्यों ने उसका भोग किया । वह तत्काल उनके साथ संयुक्त हो गई ॥७ ॥

२२८७. तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥८ ॥

अतएव मनुष्यों के निमित्त हर दिन अन्नादि देते हैं; जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, देवगण उनके घर में प्रतिदिन (अन्न) लेकर आते हैं ॥८ ॥

[१३ - विराट् सूक्त (१०-घ)]

[**ऋषि**- अथर्वाचार्य । देवता- विराट् । छन्द -१, ५ चतुष्पदा साम्नी जगती, २, ६, १० साम्नी बृहती, ३, १४ साम्नी उष्णिक् ४, ८ आर्ची अनुष्टुप्, ७ आसुरी गायत्री, ९, १३ चतुष्पदा उष्णिक्, ११ प्राजापत्या अनुष्टुप्, १२, १६ आर्ची त्रिष्टुप्, १५ विराट् गायत्री ।]

२२८८. सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥१ ॥

पुनः विराट् शक्ति के उत्क्रमण करने पर उसका असुरों के समीप पहुँचना हुआ, उसे असुर शक्तियों ने समीप बुलाया कि हे माया स्वरूपे ! आप यहाँ आएँ ॥१ ॥

२२८९. तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥२ ॥

प्रह्लाद के पुत्र विरोचन उनके वत्स थे और उनका लोहे का पात्र था ॥२ ॥

२२९०. तां द्विमूर्धार्त्व्यो ऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥३ ॥

उसका ऋतुपुत्र द्विमूर्धा ने दोहन किया और उससे माया का भी दोहन किया गया ॥३ ॥

२२९१. तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥४ ॥

उस माया से असुर शक्तियाँ जीवनयापन करती हैं, जो इसके ज्ञाता हैं, वे जीविकानिर्वाह करने वाले होते हैं ।

२२९२. सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥५ ॥

उसके बाद विराट् शक्ति ने पुनः उत्क्रमण किया और पितरों के समीप पहुँची । पितरों ने हे स्वधे ! आगमन करें, ऐसा कहते हुए उसका आह्वान किया ॥५ ॥

२२९३. तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रम् पात्रम् ॥६ ॥

उसके वत्स राजा यम हुए और चाँदी का उसका पात्र था ॥६ ॥

२२९४. तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥७ ॥

उसका मृत्यु के अधिष्ठाता देव अन्तक ने दोहन किया तथा उससे स्वधा का भी दोहन किया ॥७ ॥

२२९५. तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥८ ॥

स्वधा से पितरगण जीवनयापन करते हैं, जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे जीविकानिर्वाह करने वाले होते हैं ॥८ ।

**२२९६. सोदक्रामत् सा मनुष्या३नागच्छत् तां
मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥९ ॥**

उस विराट् शक्ति ने पुनः उत्थान किया, तो मनुष्यों के समीप गयी । मनुष्यों ने "हे इरावती !(हे अन्नवाली !) पधारें," ऐसा कहते हुए उसे समीप बुलाया ॥९ ॥

२२९७. तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥१० ॥

विवस्वान् के पुत्र मनु उसके वत्सरूप हुए और पृथ्वी पात्ररूप हुई ॥१० ॥

२२९८. तां पृथी वैन्यो ऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥११ ॥

उसे राजावेन के पुत्र पृथु ने दुहा, उससे कृषि और धान्य दोहन में प्राप्त हुए ॥११ ॥

**२२९९. ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति
कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१२ ॥**

उस कृषि और धान्य से ही मनुष्य जीवन यापन करते हैं । जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे कृषि कार्यों में सिद्धहस्त होकर दूसरे प्राणियों की आजीविका के निर्वाहक होते हैं ॥१२ ॥

**२३००. सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां
सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥**

विराट् शक्ति ने पुनः उत्क्रमण किया और वह सप्तर्षियों के समीप पहुँची । हे ब्रह्मज्ञानवाली ! आप पदार्पण करें, उसे सप्तर्षियों ने इस प्रकार कहते हुए निकट बुलाया ॥१३ ॥

२३०१. तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥१४ ॥

राजा सोम उस समय उसके वत्सरूप हुए और छन्द पात्ररूप बने ॥१४ ॥

२३०२. तां बृहस्पतिराङ्गिरसो ऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥१५ ॥

उसका अंगिरस् कुल में उत्पन्न बृहस्पति ने दोहन किया, उससे ब्रह्म (ज्ञान) और तपः की प्राप्ति हुई ॥१५ ॥

**२३०३. तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति
ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१६ ॥**

तपः और ज्ञान (वेद) से सप्तर्षि जीवनयापन करते हैं, जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे ब्रह्मवर्चस सम्पन्न होकर दूसरे प्राणियों की आजीविका का भी निर्वाह करते हैं ॥१७ ॥

[१४-विराट् सूक्त (१०-ङ)]

[ऋषि- अथर्वाचार्य । देवता- विराट् । छन्द- १, १३ चतुष्पदा साम्नी जगती, २, ३ साम्नी उष्णिक्, ४, १६ आर्ची अनुष्टुप्, ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती, ६ साम्नी त्रिष्टुप्, ७, ११ विराट् गायत्री, ८ आर्ची त्रिष्टुप्, ९ चतुष्पदा उष्णिक्, १०, १४ साम्नी बृहती, १२ त्रिपदा ब्राह्मी भुरिक् गायत्री, १५ साम्नी अनुष्टुप् ।]

२३०४. सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१ ॥

वह शक्ति पुन: देवताओं के समीप पहुँची । हे ऊर्जे !आप पधारें, ऐसा कहते हुए देवों ने उसे समीप बुलाया ॥

२३०५. तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥२ ॥

तब इन्द्रदेव उनके वत्सरूप और चमस-पात्ररूप बने ॥२ ॥

२३०६. तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥३ ॥

सर्वप्रेरक सवितादेव उनके दोहनकर्त्ता बने और उससे बल की प्रप्ति हुई ॥३ ॥

२३०७. तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥४ ॥

उसी बल से देवगण अपना जीवनयापन करते हैं, जो इस के ज्ञाता हैं, वे आजीविका निर्वाह वाले बनते हैं ॥४॥

२३०८. सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥५ ॥

उस विराट् शक्ति द्वारा पुन: उत्थान किये जाने पर वह गन्धर्व तथा अप्सराओं के समीप पहुँची । गन्धर्व और अप्सराओं ने ऐसा कहते हुए उन्हें समीप आमन्त्रित किया कि "हे उत्तम सुगन्धवाली !(पुण्यगन्धे) आप पधारें" ॥५॥

२३०९. तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥६ ॥

सूर्यवर्चस के पुत्र चित्ररथ उसके वत्सरूप हुए और पुष्कर पर्ण (कमल पत्र) पात्र रूप बने ॥६ ॥

२३१०. तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥७ ॥

उसका सूर्यवर्चस के पुत्र वसुरुचि ने दोहन किया और उससे पवित्र सुगन्ध की प्राप्ति हुई ॥७ ॥

२३११. तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥८ ॥

उस पवित्र सुगन्ध से अप्सरा और गन्धर्व जीवन- निर्वाह करते हैं । जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे पवित्र सुगन्धिमय होकर दूसरे प्राणियों के आजीविका के निर्वाहक होते हैं ॥८ ॥

२३१२. सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥९ ॥

विराट् शक्ति पुन: उत्थान के साथ इतरजनों के समीप पहुँची । इतरजनों ने उन्हें समीप बुलाया कि "हे तिरोधे ! (अन्तर्धान शक्ति) आप यहाँ पदार्पण करें" ॥९ ॥

२३१३. तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥१० ॥

विश्रवा के पुत्र कुबेर वत्सरूप बने और पात्ररूप में आमपात्र प्रयुक्त हुआ ॥१० ॥

२३१४. तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥११ ॥

काबेरक के पुत्र रजतनाभि ने दोहन किया और उससे तिरोधा (अन्तर्धान) शक्ति की प्राप्ति की ॥११ ॥

२३१५. तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१२ ॥

अन्तर्धान शक्ति (तिरोधा) से अन्य मनुष्य जीवन- निर्वाह चलाते हैं। जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे अपने सभी पापों को दूर करते हैं और मनुष्य उससे जीविकोपार्जन (जीवन-निर्वाह) करते हैं ॥१२ ॥

२३१६. सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥१३ ॥

वह विराट् शक्ति पुनः ऊपर की ओर जाकर सर्पों के समीप पहुँची। सर्पों द्वारा उनका अपने समीप आह्वान किया गया कि 'हे विषवती ! आप यहाँ पधारें' ॥१३ ॥

२३१७. तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥१४ ॥

विशाला के पुत्र तक्षक उसके वत्सरूप थे और अलाबु उसके पात्ररूप बने ॥१४ ॥

२३१८. तां धृतराष्ट्र ऐरावतो ऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥१५ ॥

उसका ऐलावतवंशी धृतराष्ट्र ने दोहन किया और उससे विष की प्राप्ति हुई ॥१५ ।।

२३१९. तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१६ ॥

उस विष द्वारा सर्प अपना जीवनयापन करते हैं। जो इस रहस्य के वास्तविक विशेषज्ञ हैं, उनसे सभी प्राणी आजीविका का निर्वाह करते हैं ॥१६ ॥

[१५-विराट् सूक्त (१०-च)]

[**ऋषि-** अथर्वाचार्य। **देवता**-विराट्। **छन्द**- १ द्विपदा विराट् गायत्री, २ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्, ३ द्विपदा प्राजापत्या अनुष्टुप्, ४ द्विपदा आर्ची उष्णिक्।]

पिछले सूक्त के अन्तिम मंत्र में दिव्य कामधेनु से विष दोहन का वर्णन है। आजीविका के लिए जो विष का प्रयोग करते हैं, उन्हें विष से बचाने के लिए विष के प्रीतकारार्थ यह सूक्त है-

२३२०. तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥१ ॥

अतएव ऐसे (विष विद्या को) जानने वाले को यदि अलाबु (राम तोरई) से अभिषिञ्चित किया जाए, तो वह उसे (विष के दुष्प्रभाव को) विनष्ट करता है ॥१ ॥

२३२१. न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥२ ॥

यदि (वह ओषधि) विनष्ट न करे तो "तेरा हनन करता हूँ", ऐसी मनः संकल्पशक्ति से उसका प्रतिकार करे ॥

२३२२. यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥३ ॥

ऐसे प्रतिकारपरक प्रयोग किये जाते हैं, तो वे विष की प्रभावशीलता को ही विनष्ट करते हैं ॥३ ॥

२३२३. विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४ ॥

जो इस विद्या के ज्ञाता हैं, विष उनके दुष्ट शत्रु पर जाकर गिरता है अर्थात् शत्रु ही उससे प्रभावित होते हैं ॥४ ।

॥ इति अष्टमं काण्डम् समाप्तम् ॥

॥अथ नवमं काण्डम्॥

[१ - मधुविद्या सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-मधु, अश्विनीकुमार । छन्द- १, ४-५ त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्ति, ३ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, ६ अतिशाक्वरगर्भा यवमध्या महाबृहती, ७ अतिजागतगर्भा यवमध्या महाबृहती, ८ बृहतीगर्भा संस्तार पंक्ति, ९ पराबृहती प्रस्तार पंक्ति, १० परोष्णिक् पंक्ति, ११-१३, १५-१६, १८-१९ अनुष्टुप्, १४ पुर उष्णिक्, १७ उपरिष्टात् विराट् बृहती, २० भुरिक् विष्टार पंक्ति, २१ एकावसाना द्विपदार्ची अनुष्टुप्, २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुर उष्णिक्, २३ द्विपदार्ची पंक्ति, २४ त्र्यवसाना षट्पदाष्टि ।]

इस सूक्त में मधुकशा का वर्णन है । अनेक आचार्यों ने इस सम्बोधन को 'गौ' के निमित्त माना है । इसमें कही गयी बातें गौ की महिमा के अनुरूप होते हुए भी इस सम्बोधन को गौ तक ही सीमित करना उचित प्रतीत नहीं होता । विश्वरूप गर्भ जो उत्पन्न होते ही सभी भुवनों को प्रकाशित कर दे, ऐसा वत्स किसी लौकिक 'गाय' का तो हो नहीं सकता । इसलिए उसे पयस्विनी मधु विद्या ही कहना उचित प्रतीत होता है । 'कशा' का अर्थ रस्सी या चाबुक होता है, चाबुक शब्द करता हुआ प्रहार करके प्रेरित करता है । इस दृष्टि से भी सृजन-पोषण की मधुर प्रेरणा देने वाली मधुविद्या को मधुकशा कहना उचित लगता है-

२३२४. दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे ।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥१ ॥

मधुकशा (मधुरप्रवाह पैदा करने वाली मधुविद्या या गौ), स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, समुद्र और अग्नि से उत्पन्न हुई है ।उस अमृतरूपी रस देने वाली मधुकशा की अर्चना करने से सम्पूर्ण प्रजाएँ हृदय में आनन्दित होती हैं ॥१ ॥

[मधुविद्या प्रकृति के तमाम घटकों में मधुर रसों का संचार करती है तथा मधुर प्रवाहों को पैदा करती है, इस आधार पर उसकी उपमा गौ से दी जा सकती है ।]

२३२५. महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः ।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥२ ॥

मधुकशा का पय (दूध या रस) विश्वरूप (अनेक रूपों वाला) है । वही समुद्र का रेतस् भी है । यह मधुविद्या शब्द करती हुई जहाँ से जाती है, वही प्राण है (प्राणों से उसकी उत्पत्ति होती है) । वह सर्वत्र संचरित अमृत- प्रवाह की तरह है ॥२ ॥

२३२६. पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥३ ॥

विभिन्न प्रकार से अलग-अलग विचार करने वाले मीमांसक, इस मधुकशा के चरित्र को पृथ्वी पर अनेक प्रकार से देखते हैं । मरुद्गणों की प्रचण्ड तेजस्विनी पुत्री, इस मधुकशा को अग्नि और वायुदेव के संयोग से उत्पन्न हुई बताया गया है ॥३ ॥

[पदार्थ विज्ञान के अनुसार भी वायु के विभिन्न घटकों आक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि कणों के यौगिक (कम्पाउन्ड) अग्नि (ऊर्जा) के संयोग से बनते हैं, जो दूध, ओषधियों, वनस्पतियों आदि के रसों में मधुरता उत्पन्न करते हैं ।]

२३२७. मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥४ ॥

यह मधुकशा आदित्यों की जननी, वसुगणों की कन्या, प्रजाजनों की प्राण और अमृत की नाभिक कही गयी है । हिरण्य (सृष्टिउत्पादक मूल तत्त्व) के वर्ण (स्वभाव या प्रकृति) वाली घृत (सार तत्त्व) की सिंचनकर्त्री, यह मधुकशा सभी मनुष्यों में महान् तेजस्विता के साथ विचरण करती है ॥४ ॥

२३२८. मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥५ ॥

इस मधुकशा को देवशक्तियों ने निर्मित किया है, उसका गर्भ विश्वरूप होता है (यह विश्व में कोई भी रूप गढ़ सकती है) । उत्पन्न हुए उस तरुण (नये मधुरतायुक्त पदार्थ) को वही माता पालती है । उस (मधुर- प्रवाह) ने पैदा हुए भुवनों (लोकों) को आलोकित (प्रभावित) किया है ॥५ ॥

२३२९. कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः ।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥६ ॥

इस (मधुकशा) के हृदय के समीप सोमरस से भरपूर कलश अक्षयरूप से विद्यमान है । इस कलश को कौन जानते हैं और कौन वास्तविक रूप में इसका विचार करते हैं ? उसी (मधुर रस) से ब्रह्मा (सृजनकर्त्ता) देव (अपना कार्य सम्पन्न करते हुए) आनन्दित हों ॥६ ॥

२३३०. स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥७ ॥

जो इस (मधुकशा) के हजारों धाराओं से युक्त अक्षय स्तन हैं, वे बिना रुके निरन्तर बलप्रद रस को देते रहते हैं । वे (ब्रह्मा) उसके ज्ञाता और (प्रयोगों के) चिन्तनकर्त्ता हैं ॥७ ॥

२३३१. हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥८ ॥

हिंकार करती हुई, हवि की धारणकर्त्री, उच्च स्वर का उद्घोष करने वाली, जो शक्ति यज्ञभूमि में विचरती है, वह इन तीनों तेजों को नियंत्रित करती हुई काल का मापन करती है और (उनके लिए) दूध की धाराओं को स्रवित करती है ॥८ ॥

२३३२. यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥९ ॥

जो वर्षणशील, स्वप्रकाशित अप् (उत्पादक-प्रवाह), उस पान करने योग्य शक्तिमती (मधुकशा) के पास पहुँचते हैं, वे इस विद्या की जानकारी के लिए अभीष्ट बलदायी अन्न की वर्षा करते हैं, वे ही (सार्थक) बरसते हैं ॥९॥

[उत्पादक सूक्ष्म प्रवाह हो या वर्षकमेघ, वे जब मधुरता उत्पन्न करने वाले, सूक्ष्म पर्जन्य प्रवाहों से संयुक्त होते हैं, तभी सार्थक वर्षा होती है । इस विद्या के जानकार इस प्रक्रिया का लाभ (यज्ञादि द्वारा) उठाते हैं ।]

२३३३. स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥१० ॥

हे प्रजापते ! मेघ गर्जना आपकी वाणी है । हे जलवर्षक ! आप ही भूमि पर अपने बल को फेंकते हैं । अग्नि और वायु से मरुद्गणों की प्रचण्ड पुत्री मधुकशा पैदा हुई है ॥१० ॥

[मेघों में विद्युत् रूप अग्नि तथा वायु के संघात से पोषक-उर्वर सूक्ष्म कण बनते हैं । वे वर्षा के साथ भूमि पर बरसते हैं । यह प्रक्रिया मधुविद्या के अन्तर्गत सम्पन्न होती है ।]

२३३४. यथा सोमः प्रातः सवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥११॥

प्रातः सवन (यज्ञ) में सोमरस, जिस प्रकार अश्विनीदेवों को प्रिय होता है। उसी प्रकार हे देवो ! आप हमारे अन्दर तेजस्विता स्थापित करें ॥११॥

२३३५. यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१२॥

द्वितीय सवन (यज्ञ) में सोमरस, जिस प्रकार इन्द्राग्नि देवों को प्रिय होता है, उसी प्रकार हे देवो ! आप हमारे अन्दर तेजस्विता की स्थापना करें ॥१२॥

२३३६. यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१३॥

तृतीय सवन में जिस प्रकार सोमरस ऋभु देवों को प्रिय होता है, उसी प्रकार हे देवो ! आप हमारे अन्दर वर्चस् की स्थापना करें ॥१३॥

२३३७. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय। पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥१४॥

हम मधुरता को उत्पन्न करें और मधुरता का सम्पादन करें। हे अग्निदेव ! हम पयोरसों को समर्पित करने के निमित्त आ गए हैं। अतएव आप हमें तेजस्विता सम्पन्न बनाएँ ॥१४॥

२३३८. सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥१५॥

हे अग्निदेव ! आप हमें तेजस्, प्रजा और आयु से सम्पन्न करें। देवगण और ऋषि ये सभी हमें इस रूप में जानें कि हम अग्नि के सेवक हैं ॥१५॥

२३३९. यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥१६॥

जिस प्रकार मधु संचयनकर्त्ता (या मधुमक्खियाँ) मधुकणों का अधिग्रहण करके मधु को एकत्र करती हैं, उसी प्रकार अश्विनीकुमार मुझ में तेजस्विता स्थापित करें ॥१६॥

२३४०. यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥१७॥

जिस प्रकार मधुमक्खियाँ नये शहद को पूर्व संचित शहद में संगृहीत करती हैं, उसी प्रकार वे दोनों अश्विनीकुमार हमारे अन्दर वर्चस्, तेजस्, बल और ओजस् को स्थापित करें ॥१७॥

२३४१. यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥१८॥

गिरि-पर्वतों और गौ, अश्वादि पशुओं में जो मधुरता है तथा जो सिंचित होने वाले तीक्ष्ण ओषधि रस में मधुरता है, वही मधुरता हमारे अन्दर भी स्थापित हो ॥१८॥

२३४२. अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥१९ ॥

हे शुभ के पालक अश्विनीदेवो ! आप हमें सार- संग्रह करने वालों के संगृहीत मधु से सम्पन्न करें, जिससे हम तेजस्विनी मधुर वाणी जन साधारण के बीच कह पाएँ ॥१९ ॥

२३४३. स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥२० ॥

हे प्रजापालक देव ! आप अभीष्टवर्षक हैं और मेघ गर्जना ही आपकी वाणी है । आप ही द्युलोक से भूमि तक बल की वृष्टि करते हैं । सभी जीव-जन्तु उसी पर जीवनयापन करते हैं । उसी के द्वारा वे (पृथ्वी या मधुकशा) अन्न और बलवर्द्धक रस को परिपुष्ट करते हैं ॥२० ॥

२३४४. पृथिवी दण्डो३न्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥२१ ॥

(उन प्रजापति के लिए) भूमि दण्डरूपा, अन्तरिक्ष मध्यभाग, द्युलोक कशारूप, विद्युत् प्रकाशस्वरूप और हिरण्य (तेज) बिन्दु (लक्ष्य) रूप है ॥२१ ॥

२३४५. यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥२२ ॥

ब्राह्मण, राजा, धेनु, वृषभ, चावल, जौ और मधु, ये सात मधुरतायुक्त हैं । जो मधुकशा गौ के इन सात प्रकार के मधुर रसों के ज्ञाता हैं, वे माधुर्ययुक्त होते हैं ॥२२ ॥

[मधुविद्या विभिन्न रूपों में अपना प्रभाव दिखाती है । उसकी प्रतीकात्मक सात धाराएँ हैं, जो समाज व्यवस्था को सन्तुलित रखती हैं । ब्राह्मण- यह सद्भाव- सद्विवेक, सत्प्रवृत्तियों की मधुर धारा हैं । राजा- सुरक्षा- सुव्यवस्था की धारा के प्रतीक हैं । धेनु- धारण करके स्नेहपूर्वक पोषण प्रदान करने की प्रवृत्ति, बैल- अपने श्रम से जन कार्यों को सिद्ध करने वाले, चावल और जौ खाद्यान्नों की पोषक-सामर्थ्य तथा मधु स्वाद की मधुरता की परिचायक है । मधुरता की (प्रिय लगने वाली) , इन धाराओं के मर्मज्ञ लोग उसका लाभ उठाते हैं ।]

२३४६. मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।
मधुमतो लोकाञ्जयति य एवं वेद ॥२३ ॥

जो इस रहस्य के ज्ञाता हैं, वे माधुर्य - सम्पन्न हो जाते हैं । वे मधुमय भोजन करते हुए, मधुरतायुक्त लोकों पर विजय- श्री प्राप्त करते हैं ॥२३ ॥

२३४७. यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥२४ ॥

अन्तरिक्ष में जो गर्जना होती है, मानो प्रजापति ही प्रजाओं के निमित्त प्रकट होते हैं, इसलिए पूर्व में (पहले) ही उपवीत (यज्ञोपवीत अथवा यज्ञीय श्रेष्ठ सूत्रों) से युक्त होकर तैयार रहें । जो ऐसा करते हैं, उन्हें प्रजापालक देव स्नेहपूर्वक स्मरण रखते हैं तथा प्रजाएँ उनके अनुकूल रहती हैं ॥२४ ॥

[प्रकृति के यज्ञीय अनुशासन के सूत्रों को धारण करने तथा क्रियान्वित करने वालों को पहले से ही तत्पर रहना चाहिए, तभी वे प्रकृतिगत (वर्षा आदि) अनुदानों का पूरा लाभ उठा पाते हैं । ऐसे व्यक्तियों को प्रजा की अनुकूलता (लोकसम्मान) तथा प्रजापति की अनुकूलता (दैवी अनुग्रह) दोनों की प्राप्ति होती है ।]

[२ - काम सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता-काम । छन्द- त्रिष्टुप्, ५ अतिजगती, ७, १४-१५, १७-१८, २१-२२ जगती, ८ त्रिपदार्ची पंक्ति, ११, २०, २३ भुरिक् त्रिष्टुप्, १२ अनुष्टुप्, १३ द्विपदार्ची अनुष्टुप्, १६ चतुष्पदा शक्वरीगर्भा परा जगती ।]

२३४८. सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन ।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥१ ॥

शत्रुनाश की बलशाली कामनाओं को हम घृतादि की हवियों से शिक्षित (संस्कारित एवं प्रेरित) करते हैं । हे ऋषभ ! आप हमारी प्रार्थनाओं से हर्षित होकर बड़े पराक्रम से हमारे अनिष्टकारी शत्रुओं को पतित करें ॥१ ॥

२३४९. यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२ ॥

जो दुःस्वप्न हमारे मनःक्षेत्र और नेत्र (दर्शनेन्द्रिय) के लिए श्रेयस्कर नहीं तथा न ही हमें प्रफुल्लित करने वाले हैं, अपितु जो हमें तिरस्कृत करने वाले हैं, उन्हें हम अनिष्टकारी शत्रुओं की ओर भेजते हैं । इच्छाशक्ति द्वारा हम उनका भेदन करते हैं ॥२ ॥

२३५०. दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥३ ॥

हे सबके स्वामी, पराक्रमी कामदेव ! आप अनिष्टकर स्वप्न, पापकर्म, निःसन्तानरूप दुर्भाग्य, दारिद्र्य, आपदा आदि सभी अनिष्टों को उसकी ओर भेजें, जो शत्रु अपनी कुटिलताओं द्वारा पापमूलक विपत्ति में धकेलने की, हमारे प्रति दुर्भावनाएँ रखते हैं ॥३ ॥

२३५१. नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥४ ॥

हे काम ! आप हमारी अभावजन्य दरिद्रता को हटाकर हमारे शत्रुओं के प्रति उस अभावग्रस्तता को भिजवाएँ । भली प्रकार इसे प्रेषित करें । हे अग्निदेव ! आप इन दुष्ट शत्रुओं को अन्धकार में भेजते हुए इनके घर की वस्तुओं को भस्मसात् करें ॥४ ॥

२३५२. सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥५ ॥

हे काम ! वह धेनुरूपा वाणी आपकी पुत्री कही जाती है, जिसे कविजन विशेष तेजस्वी (वचन) कहते हैं । इस वाणी द्वारा आप हमारे शत्रुओं को विनष्ट करें । प्राण, पशु और आयु इन शत्रुओं का परित्याग करें ॥५ ॥

२३५३. कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥६ ॥

जिस प्रकार धैर्यवान् धीवर जल में नाव को चलाते हैं, हम उसी प्रकार काम, इन्द्र, वरुण राजा के साथ विष्णुदेव के बल, सवितादेव की प्रेरणा तथा अग्निहोत्र से शत्रुओं को दूर करते हैं ॥६ ॥

२३५४. अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥७ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी 'काम' (संकल्प) हमारे अधिष्ठाता देव हैं । सत्कर्म प्रधान याज्ञिक कर्म हमें शत्रुओं से विहीन करें । समस्त देवगण हमारे स्वामी के रूप में यज्ञ मण्डप में पधारें ॥७ ॥

२३५५. इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥८ ॥

हे काम को ज्येष्ठ मानने वाले देवो ! आप घृतयुक्त आज्याहुति का सेवन करते हुए आनन्दित हों और हमें शत्रुओं से रहित करें ॥८ ॥

२३५६. इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥९ ॥

हे इन्द्राग्नि और कामदेव ! आप सभी एक साथ रथ पर सवार होकर हमारे वैरियों को नीचे गिराएँ । हे अग्निदेव ! इनके गिरने पर इन्हें गहन अन्धकार से आवृत करके आप इनके घर की वस्तुओं को भस्म कर डालें ॥९ ॥

२३५७. जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥१० ॥

हे काम ! आप हमारे शत्रुओं का संहार करके गहन अन्धकाररूप मृत्यु को सौंप दें । वे सभी इन्द्रिय सामर्थ्य से रहित और निर्वीर्य होकर एक दिन भी जीवित रहने की स्थिति में न रहें ॥१० ॥

२३५८. अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥११ ॥

काम शक्ति ने हमारे अनिष्टकारक शत्रुओं (अथवा आन्तरिक दुर्बलताओं) को विनष्ट कर दिया है, हमारे विकास के लिए विस्तृत लोक (स्थान) प्रदान किए हैं । चारों दिशाएँ हमारे लिए नम्र (अनुकूल) हों तथा छह भूभाग हमारे लिए घृत (सार वस्तुएँ) प्रदान करें ॥११ ॥

२३५९. तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥१२ ॥

बन्धन से रहित नौका जिस प्रकार (प्रवाह में) नीचे की ओर स्वतः बहती है, उसी प्रकार हमारे अनिष्टकारक शत्रु अधोगति में गिरें । बाणों से भगाये गये शत्रुओं का पुनः लौटना सम्भव न हो ॥१२ ॥

२३६०. अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः । यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥१३ ॥

अग्नि, इन्द्र और सोम - ये सभी देवगण, शत्रुओं को भगाते हुए हमारा संरक्षण करें । ये सभी देव, शत्रुओं को दूर करें ॥१३ ॥

२३६१. असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्य१ःस्वानाम् ।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥१४ ॥

हमारे द्वारा भगाए गए शत्रु सभी शूरवीर सैनिकों से विहीन होकर और अपने हितैषी मित्रों से परित्यक्त होकर विचरें ।विद्युत् तरंगें पृथ्वी पर इनके खण्ड-खण्ड कर दें और हे काम !आपके पराक्रमी देव शत्रुओं का मर्दन करें ।

२३६२. च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान्।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥१५ ॥

सभी मेघ गर्जनों की धारणकर्त्री विद्युत् गिरकर अथवा न गिरते हुए स्थायीरूप से और उदय को प्राप्त होने वाले शक्तिमान् सूर्य अपनी तेजस्वितारूप ऐश्वर्य से हमारे अनिष्टकर शत्रुओं को पतित करें ॥१५ ॥

२३६३. यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥१६ ॥

हे कामशक्ति ! आपके जो सुखदायक तीनों ओर से संरक्षक, श्रेष्ठ-सामर्थ्ययुक्त और शस्त्रों से भेदनरहित विस्तृत (फैले हुए) ज्ञानमय कवच बने हुए हैं, उनसे आप हमारे अकल्याणकारी (अनिष्टकर) शत्रुओं को दूर करें। प्राण, पशु और आयु ये तीनों हमारे शत्रुओं का परित्याग करें ॥१६ ॥

२३६४. येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥१७ ॥

जिससे इन्द्रदेव ने दस्युओं को गहन अन्धकार (अथवा मृत्युरूप अधम अन्धकार) में फेंक दिया था और जिससे देवगण आसुरी तत्त्वों को खदेड़ते रहे, हे सत्संकल्परूप काम ! उसी सामर्थ्य से आप हमारे अवरोधक, तत्त्वों को इस लोक से दूर करें ॥१७ ॥

२३६५. यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥१८ ॥

जिस प्रकार इन्द्रदेव ने अवरोधक तत्त्वों को हीन अन्धकार में धकेला और जिस विधि से देवशक्तियों ने असुरता का पराभव किया, उसी प्रकार हे काम ! आप हमारी प्रगति में बाधक अवांछनीय तत्त्वों को हटा दें ॥१८ ॥

२३६६. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥१९ ॥

सृष्टि- उत्पत्ति काल में पहले काम (संकल्प) का उद्भव हुआ। देवगणों, पितरों और मनुष्यों ने इसे नहीं पाया (वे इससे पीछे ही रह गए), अतः हे काम ! आप श्रेष्ठ और महान् हैं, ऐसे आपके निमित्त हम नमन करते हैं ॥१९ ॥

२३६७. यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२० ॥

जितने विस्तृत द्युलोक और पृथ्वी हैं, जहाँ तक जल का विस्तार और जितने क्षेत्र में अग्नि का विस्तार है, हे सत्संकल्प के प्रेरक काम ! आप सभी प्राणियों में संव्याप्त होने वाले विस्तार में उनसे भी श्रेष्ठ और महान् हैं, अतएव हम आपके प्रति प्रणाम करते हैं ॥२० ॥

२३६८. यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२१ ॥

जहाँ तक दिशाएँ और उप दिशाएँ संव्याप्त हैं तथा जहाँ तक स्वर्गीय प्रकाश की विस्तारकर्त्ता (फैलाने वाली) दिशाएँ हैं, हे काम ! आप उनसे भी श्रेष्ठ और महान् हैं, ऐसे आपके प्रति हम नमन करते हैं ॥२१ ॥

२३६९. यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ।।२२ ।।

जहाँ तक भृङ्ग, मक्खियाँ (कीट), नीलगायें (पृथ्वीचर), काटने वाले डेमू और पेड़ पर चढ़ने वाले पशु तथा रेंगने वाले जीव होते हैं, हे काम ! आप उनसे भी कहीं महान् और श्रेष्ठ हैं, अतएव आपके प्रति हमारा नमन है ।।२२

२३७०. ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ।।२३ ।।

हे संकल्प शक्तिरूप काम और मन्यु ! आप आँख झपकने वालों, स्थित पदार्थों और जल के अथाह भण्डार रूप समुद्र से भी बढ़कर महान् और उत्कृष्ट हैं, आपके प्रति हमारा नमन है ।।२३ ।।

२३७१. न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ।।२४ ।।

वायु, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा इनमें से कोई सत्संकल्परूप काम की तुलना के योग्य नहीं । हे काम ! आप उनसे भी महान् और उत्कृष्ट हैं, ऐसे आपके प्रति हमारा प्रणाम है ।।२४ ।।

२३७२. यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।

ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ।।२५ ।।

हे संकल्प बल के प्रतीक काम ! आपके जो कल्याणकारी और हितकारक शरीर हैं, जिनके द्वारा आप जिनको स्वीकार (वरण) करते हैं, वे सत्यरूप होते हैं । उन उत्कृष्टताओं के साथ आप हम सभी में प्रवेश करें और अपनी दुर्भावग्रस्त विचारणाओं को हमसे भिन्न अवांछनीय तत्त्वों की ओर प्रेरित करें ।।२५ ।।

[३ - शाला सूक्त]

[**ऋषि-** भृग्वङ्गिरा । **देवता-**शाला । **छन्द-** अनुष्टुप्, ६ पथ्यापंक्ति, ७ परोष्णिक्, १५ त्र्यवसाना पञ्चपदातिशक्वरी, १७ प्रस्तार पंक्ति, २१ आस्तार पंक्ति, २५, ३१ एकावसाना त्रिपदा प्राजापत्या बृहती, २६ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप्, २७-३० एकावसाना त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री ।]

२३७३. उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।

शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ।।१ ।।

सुरचित, प्रत्येक ओर से नापे गए, उपयुक्त अनुपात वाले गृह के चारों ओर बँधे बन्धनों को हम खोलते हैं ।।१

२३७४. यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशोग्रन्थिश्च यः कृतः ।

बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ।।२ ।।

सम्पूर्ण श्रेष्ठता से युक्त हे शाले ! जो आपमें बन्धन लगा हुआ है और आपके दरवाजे पर जो पाश बँधा है, उसे हम (उपयोग के लिए) खोलते हैं, जैसे बृहस्पतिदेव वाणी की शक्ति को खोल देते हैं ।।२ ।।

२३७५. आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान् ।

परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ।।३ ।।

जानकार शिल्पी ने आपको ठीक करके ऊँचा बनाया और आपमें गाँठों (जोड़ों) को सुदृढ़ बनाया है । ज्ञानी शिल्पी द्वारा जोड़ों (गाँठों) को काटने के समान हम इन्द्रदेव की सामर्थ्य से उन गाँठों को खोलते हैं ।।३ ।।

२३७६. वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च ।

पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥४ ॥

समस्त वरणीय ऐश्वर्यों से सम्पन्न हे शाले ! (यज्ञशाला) आपके ऊपर बाँसों, बन्धन स्थानों और ऊपर से बँधे घास-फूस के पक्षों या पाँसों पर लगे बन्धनों को हम खोलते हैं ॥४ ॥

२३७७. संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च ।

इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥५ ॥

इस मान पत्नी (माप का पालन करने वाली) शाला में लगी कैंची के आकार से जुड़ी (संयुक्त) लकड़ियों और चटाइयों के चारों ओर सटे हुए बन्धनों को हम भली प्रकार खोलते हैं ॥५ ॥

[शाला को यहाँ 'मानपत्नी' कहा गया है । वास्तुशिल्प के जानकार जो परिमाप (नाप-जोख) के आधार पर भवन का आकार निर्धारित करते हैं, उन्हें 'मानपति' कहा जाता था । उस मान-माप के अनुरूप बनी शाला को मान का अनुपालन करने वाली होने से 'मानस्य पत्नी' (मान की पत्नी) कहा गया है ।]

२३७८. यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।

प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव ॥६ ॥

हे मान की पत्नी ! आपके भीतर जो छींकें, मनोहर सजावट हेतु बाँधे गए हैं, उन मच्चानों को हम भली प्रकार खोलते हैं । आप कल्याणकारिणी शाला हमारे शरीरों के लिए सुखदायिनी हों ॥६ ॥

२३७९. हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले ॥७ ॥

हे दिव्यता-सम्पन्न शाले ! (यज्ञशाला) आप हविष्यान्न के स्थान (स्टोर), यज्ञशाला (अग्निहोत्र स्थल), स्त्रियों के रहने के स्थान, सामान्य स्थान (कमरों) और देवशक्तियों के बैठने के उपासना-स्थल के आसनों से युक्त हों ॥७ ॥

[भारतीय शैली के भवनों में यह सभी स्थान रखने की परिपाटी रही है ।]

२३८०. अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति । अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥

आकाशीय रेखा में (ऊपर की ओर) हजारों अक्षों वाले फैले जाल को हम ब्राह्मीशक्ति द्वारा (अभिमंत्रित करके) खोलते हैं ॥८ ॥

२३८१. यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।

उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥९ ॥

हे मानपत्नी शाले ! जो तुम्हें ग्रहण कर रहे हैं और जिसने तुम्हें बनाया है, वे दोनों ही वृद्धावस्था (पूर्ण आयु) तक जीवित रहें ॥९ ॥

२३८२.अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता । यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।

हम जिस गृह के प्रत्येक अंग और प्रत्येक जोड़ को गाँठों से मुक्त कर रहे हैं, ऐसी हे शाले ! जिसके द्वारा आप मजबूत, बन्धनयुक्त और परिष्कृतरूप में बनाई गई हों, आप उसकी स्वर्ग-प्राप्ति में सहायक बनें ॥१० ॥

२३८३. यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।

प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥११ ॥

हे शाले ! जिसने आपका निर्माण किया है और जिसने वृक्षों को काटकर (यथाक्रम गढ़कर) स्थापित किया, (उनके माध्यम से) परमेष्ठी प्रजापति ने प्रजा के कल्याण के निमित्त आपको बनाया है ॥११ ॥

२३८४. नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥१२ ॥

वृक्षों को शाला के निमित्त काटने वालों, घर के संरक्षकों, अग्नि को अन्दर रखने वालों और आपके भीतर रहने वालों के लिए हमारा नमस्कार है ॥१२ ॥

२३८५. गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥१३ ॥

शाला में विद्यमान रहने वाले गौ, अश्वादि पशुओं के निमित्त यह अन्न है । हे नाना प्रकार के प्राणियों की उत्पादनकर्त्री और सन्तान आदि से सम्पन्न शाले ! हम विभिन्न ढंग से आपके पाशों को खोलते हैं ॥१३ ॥

२३८६. अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥१४ ॥

हे विविध प्राणियों की उत्पादक और प्रजा- सम्पन्न शाले ! आप अपने अन्दर पशुओं के साथ मनुष्यों और अग्नि को विश्राम देती हैं, हम आपकी गाँठों को खोलते हैं ॥१४ ॥

२३८७. अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृहणामि तस्मै ॥१५ ॥

पृथ्वी और द्युलोक के बीच जो विस्तृत आकाश अथवा यज्ञाग्नि ज्वालाएँ हैं, उनके द्वारा हम आपकी इस शाला को स्वीकार (ग्रहण) करते हैं । जो अन्तरिक्ष और पृथ्वी की निर्माणशक्ति है, उन्हें हम खजाने के लिए मध्यभाग (उदर) में रखते हैं, इसलिए स्वर्ग प्राप्ति के लिए हम इस शाला को ग्रहण करते हैं ॥१५ ॥

२३८८. ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृहणतः ॥१६ ॥

बल-प्रदात्री, दुग्धवती पृथ्वी में नये और निर्मित सभी अन्न को धारण करने में समर्थ हे शाले ! आप प्रतिग्रह (उपहार) लेने वाले को विनष्ट न करें ॥१६ ॥

२३८९. तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥१७ ॥

घास से आच्छादित, फूस की बनी चटाइयों से ढकी हुई, रात्रि के समान सभी प्राणियों को अपने भीतर आश्रय देने वाली हे शाले ! आप पृथ्वी पर मापकर बनाई गई, उत्तम पैरों वाली हथिनी के समान (सुदृढ़) स्तम्भों से युक्त होकर खड़ी हैं ॥१७ ॥

२३९०. इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् । वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥

पिछली बार की तरह आपके ऊपर बाँधे हुए पुलों को अलग करते हुए हम खोलते हैं,. वरुणदेव द्वारा खोली गई हे शाले !आपको प्रातःकालीन सूर्यदेव पुनः उद्‌घाटित करें ॥१८ ॥

२३९१. ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥१९ ॥

मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित और क्रान्तदर्शियों द्वारा प्रमाण से रची गई शाला को सोमपान के स्थल पर बैठने वाले अमरदेव, इन्द्राग्नि संरक्षित करें ॥१९ ॥

२३९२. कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥२० ॥

घोंसले में घोंसला (घर में कमरे अथवा देह में गर्भाशय) है, कोशों से कोश (कमरे से कमरा अथवा जीव कोशों से जीवकोश) भली प्रकार सम्बद्ध है । वहाँ प्राणधारी जीवों के मरणधर्मा शरीर विभिन्न प्रकार से उत्पन्न होते हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व प्रजायुक्त होता जाता है ॥२० ॥

२३९३. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१ ॥

दो पक्षों (पहलुओं या खण्डों) वाली, चार पक्षों, छह पक्षों, आठ पक्षों तथा दस पक्षों वाली शाला (यज्ञशाला) निर्मित की जाती है । उस मानपत्नी (शाला) में हम उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार गर्भ गृह में अग्नि स्थित रहती है ॥२१ ॥

[वास्तुकला के अनेक प्रकारों का वर्णन इस मंत्र में किया गया है । उस काल में भी आवश्यकतानुसार अनेक आकार-प्रकार के गृह विनिर्मित होते थे ।]

२३९४. प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् । अग्निर्ह्य१न्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥

हे शाले ! पश्चिम की ओर मुख करने वाले हम पश्चिमाभिमुख स्थित और हिंसाभाव से रहित शाला में प्रविष्ट होते हैं । ऋत (सत्य या यज्ञ) के प्रथम द्वार में हम अग्नि एवं जल के साथ प्रवेश करते हैं ॥२२ ॥

२३९५. इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः । गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥

इन रोगरहित यक्ष्मारोग के नाशक जल को हम शाला में भरते हैं और अमृतमय अग्नि के साथ घरों के समीप ही हम बैठते हैं ॥२३ ॥

२३९६. मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥

हे शाले ! नव-विवाहित कन्या (वधू) के समान हम तुझे सुसज्जित करते हैं, आप अपने पाशों को हमारी ओर मत फेंकना । आपका भारी बोझ हलका हो जाए ॥२४ ॥

२३९७. प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२५ ॥

शाला की पूर्वदिशा की महिमा के लिएनमन है, श्रेष्ठ प्रशंसनीय देवों के निमित्त यह आहुति समर्पित हो ॥२५॥

२३९८. दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२६ ॥

शाला की दक्षिण दिशा की महिमा के लिए हमारा नमन है, श्रेष्ठ देवों के निमित्त यह आहुति समर्पित हो ॥२६॥

२३९९. प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२७ ॥

शाला की पश्चिम दिशा की महत्ता के निमित्त हमारा वन्दन है, श्रेष्ठ प्रशंसनीय देवों के लिए यह श्रेष्ठ उक्ति समर्पित हो ॥२७ ॥

२४००. उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२८ ॥

शाला की उत्तर दिशा की महिमा के निमित्त हमारा वन्दन है, श्रेष्ठ पूजनीय देवों के लिए यह श्रेष्ठ कथन समर्पित हो ॥२८ ॥

२४०१. ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२९ ॥

शाला की ध्रुव दिशा की महत्ता के लिए नमन है, श्रेष्ठ वन्दनीय देवों के लिए यह आहुति समर्पित हो ॥२९ ॥

२४०२. ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥३० ॥

शाला की ऊर्ध्व दिशा की महिमा के निमित्त हमारा वन्दन है, श्रेष्ठ प्रशंसनीय देवों के लिए यह आहुति समर्पित हो ॥३०॥

२४०३. दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥३१ ॥

शाला की प्रत्येक दिशा और उपदिशा की महिमा के लिए हमारा नमस्कार है, उत्तम वर्णन योग्य देवों के लिए यह श्रेष्ठ उक्ति समर्पित है ॥३१ ॥

[४ - ऋषभ सूक्त]

[**ऋषि-** ब्रह्मा । देवता-ऋषभ । छन्द- त्रिष्टुप्, ६, १०, २४ जगती, ८ भुरिक् त्रिष्टुप्, ११-१७, १९-२०, २३ अनुष्टुप्, १८ उपरिष्टात् बृहती, २१ आस्तारपंक्ति ।]

इस सूक्त के ऋषि ब्रह्मा-सृजेता हैं तथा देवता ऋषभ हैं । ऋषभ का सीधा अर्थ बैल या साँड़ लिया जाता है । मन्त्रों के अर्थ अच्छी नस्ल के बैल द्वारा गोधन तथा दुग्ध, घृतादि के संवर्धन के संदर्भ में भी फलित होते हैं तथा वृषभ की दिव्य महत्ता का भी प्रतिपादन करते हैं; किन्तु सूक्त में ऋषभ के उपलक्षण से प्रकृति में उपलब्ध, सेचन सामर्थ्ययुक्त उस दिव्य प्रवाह का बोध कराया गया है, जो प्रकृति के अनेक इकाइयों का सेचन क्रिया द्वारा उत्पादक बना देता है । सूक्तोक्त यह ऋषभ केवल बैल नहीं है; क्योंकि (मन्त्र ५ में) यह जल, ओषधियों एवं घी का रस है तथा इसका शरीर ही मेघ बनता है । (मन्त्र ६ में) यही रूपों को गढ़ने वाला एवं पशुओं का उत्पादक है । (मन्त्र ७ में) उस हजारों के पोषणकर्त्ता को यज्ञ कहा है तथा वही ऋषभ इन्द्र का रूप धारण करता है । अस्तु, सूक्त में वर्णित ऋषभ के गोवंशपरक अर्थ के साथ उसके व्यापक संदर्भ भी ग्राह्य हैं-

२४०४. साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत् ।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥१ ॥

हजारों सामर्थ्यों से युक्त यह तेजस्वी ऋषभ पयस्वान् (दूध या रस उत्पादक) है । यह वहन करने वाली (गौओं या प्रकृति की) इकाइयों में विभिन्न रूपों को धारण करता है । बृहस्पतिदेव से सम्बद्ध यह दिव्य ऋषभ दाता यजमानों को श्रेष्ठ शिक्षण देता हुआ (उत्पादन के) ताने- बाने फैलाता है ॥१ ॥

२४०५. अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥२ ॥

जो पहले जल (मेघों) की प्रतिमा होता है, जो पृथ्वी के समान ही सबके ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने वाला, बछड़ों का पिता और अबध्य (गौओं या प्रकृति) का स्वामी ऋषभ हमें हजारों प्रकार की पुष्टियों से सम्पन्न करें ॥२ ॥

२४०६. पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥३ ॥

अपने अन्दर पौरुष को धारण करने वाला विशाल शरीर वाला पयस्वान् ऋषभ वसुओं (वास प्रदायकों) के उदर को भर देता है ।उस 'हुत' (दिए हुए) ऋषभ को जातवेदा अग्नि, इन्द्र के लिए देवयान मार्गों से ले जाएँ ॥३ ॥

[बैल के सन्दर्भ से 'हुत' का अर्थ दिया हुआ होता है तथा सूक्ष्म सेचन समर्थ प्रवाह के रूप में वह यज्ञ का ही रूप है ।]

२४०७. पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद् वस्य रेतः ॥४ ॥

वृषभ, बछड़ों का पिता, अबध्य (गौओं या प्रकृति) गर्गर शब्द करने वाले मेघों या प्रवाहों का पालक है। वत्सरूप में, उसके रक्षक जरायुरूप में, प्रतिदिन दुहे गए अमृतरूप में, दही और घीरूप में तथा अप्रत्यक्षरूप में उस ऋषभ का उत्पादक तेज ही विद्यमान रहता है ॥४ ॥

२४०८. देवानां भाग उपनाह एषो३पां रस ओषधीनां घृतस्य।

सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥५ ॥

यह देवों के समीप स्थित (उपनाह) भाग है। ओषधियों, जल और घृत का यह रस है, इसी सोमरस को इन्द्रदेव ने ग्रहण किया, इसका शरीर ही पर्वताकार (मेघ) हुआ है ॥५ ॥

२४०९. सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।

शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्य१स्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥६ ॥

हे ऋषभ ! आप सोमरस से भरे हुए कलश को धारण करते हैं। आप पशुओं के उत्पादक, विविधरूपों (शरीरों) को बनाने वाले हैं। आपकी जो सन्तानें हैं, वे हमारे लिए कल्याणकारी हों। हे स्वधिते (स्वयं सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाले) ! आपके पास जो (उत्पादक शक्तियाँ) हैं, उन्हें हमारे लिए प्रदान करें ॥६ ॥

२४१०. आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।

इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः ॥७ ॥

यह बैल घृत को धारण करने वाला रेतस् (उत्पादक तेज) का सेचनकर्त्ता है। हजारों प्रकार की पुष्टियों के प्रदाता होने से इसे यज्ञ कहा गया। यही ऋषभ इन्द्र के स्वरूप को धारण कर रहा है। हे देवगण ! वह ऋषभ हमारे लिए कल्याणप्रद हो ॥७ ॥

२४११. इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।

बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥८ ॥

धीर, मनीषी, कवि, विद्वान् आदि बृहस्पतिदेव को ही इस ऋषभ रूप में अवतरित हुआ बतलाते हैं। इसकी भुजाएँ इन्द्रदेव की, कन्धे अश्विनीदेवों के तथा कोहनी भाग मरुद्गणों के कहे गए हैं ॥८ ॥

२४१२. दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः।

सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥९ ॥

हे पयस्वान् ऋषभ ! आप दिव्यगुण सम्पन्न प्रजा को रूप देते हैं। आपको ही इन्द्र और सरस्वान् कहा जाता है। जो ब्राह्मण इस ऋषभ का यजन (दान) करता है, वह एक ही मुख (माध्यम) से हजारों का दान करता है ॥९ ॥

२४१३. बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।

अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१० ॥

हे वृषभ !बृहस्पति और सविता देवों ने आपकी आयु को धारण किया तथा आपकी आत्मा त्वष्टा और वायु से पूर्ण है। मन से आपको अन्तरिक्ष में समर्पित करते हैं । दोनों द्युलोक और भूलोक ही आपके आसनरूप हों ॥

२४१४. य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।

तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥११ ॥

जिस प्रकार इन्द्रदेव, देवों में आगमन करते हैं; उसी प्रकार जो गौओं (वाणियों या इन्द्रियों) के बीच शब्द करते हुए आता है, ऐसे ऋषभ के अंगों की स्तुति ब्रह्मा मंगलमयी वाणी से करें ॥११ ॥

२४१५. पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥१२ ॥

उसके पार्श्वभाग अनुमतिदेव के और पसलियों के दोनों भाग भगदेव के हैं । मित्रदेवता का कथन था कि दोनों घुटने केवल हमारे ही हैं ॥१२ ॥

२४१६. भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥१३ ॥

इसके कटि प्रदेश आदित्यदेवों के, कूल्हे बृहस्पति के और पूँछ वायुदेव की है । उसी से वे ओषधियों को प्रकम्पित करते हैं ॥१३ ॥

२४१७. गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥१४ ॥

सिनीवाली, सूर्य प्रभा, उत्थाता, इन देवों के लिए क्रमशः गुदा, त्वचा और पैर ये अवयव माने गये हैं । इस प्रकार विद्वान् पुरुषों ने बैल के विषय में कल्पना की है ॥१४ ॥

२४१८. क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥१५ ॥

जामिशंस की गोद (उदर भाग) और कलशरूप ककुद भाग को सोमदेव ने धारण किया है । इस प्रकार समस्त देवों ने इस बैल के सम्बन्ध में कल्पना की थी ॥१५ ॥

२४१९. ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥१६ ॥

बैल के कुष्ठिका भाग को सरमा और खुरों को कछुओं के निमित्त निश्चित किया गया, इसके अपक्व अन्न भाग को श्वानों और कीड़ों के लिए रखा गया ॥१६ ॥

२४२०. शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥१७ ॥

अहिंसित (गौओं या प्रकृति) के स्वामी ऋषभ अपने कानों से कल्याणकारी शब्द सुनते हैं, सींगों से राक्षसी वृत्तियों का संहार करते हैं तथा नेत्रों से अकालरूप दारिद्र्य को दूर करते हैं ॥१७ ॥

२४२१. शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८ ॥

इस ऋषभ का यजन (समर्पण) करने वाले ब्राह्मण शतयाज-यज्ञ के पुण्य को अर्जित करते हैं । समस्त देव उन्हें तृप्ति प्रदान करते हैं और अग्नि की ज्वालाएँ इन्हें सन्तापित नहीं करतीं ॥१८ ॥

२४२२. ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥१९ ॥

सत्पात्र ब्राह्मणों को ऋषभ सौंपकर जो अपने मन की उदार भावना का परिचय देते हैं, वे अपनी गोशाला में गौओं की पुष्टि का शीघ्र दर्शन करते हैं ॥१९ ॥

२४२३. गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥२०॥

ऋषभ का दान करने वाले को देवगण अपने निर्देश से गौएँ, सुसन्तति और शारीरिक शक्ति प्रदान करें ॥२०॥

२४२४. अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम्।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥२१॥

सोमरूपी हवि का पान करते हुए इन्द्रदेव ज्ञानस्वरूप सम्पत्ति को प्रदान करें। इन्द्रदेव स्वर्गलोक से परे ज्ञानयुक्त ऐसी धेनु (धारण क्षमता) लेकर आएँ, जो सुदुधा (श्रेष्ठ दूध वाली) नित्यवत्सा (सदा वत्स के-साधक के साथ रहने वाली) तथा वश में रहकर दुही जाने वाली हो ॥२१॥

२४२५. पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥२२॥

अन्तरिक्षीय अन्न को धारण करने वाला, भूरे रंग वाला (पिशङ्ग रूप) और अनेक आकृतिरूपों से युक्त देवराज इन्द्र का सामर्थ्य- बल निकट आ रहा है। वह बल आयुष्य, सुसन्तति और वैभव प्रदान करते हुए हमें पोषक तत्त्वों से सम्पन्न करे ॥२२॥

२४२६.उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः। उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम्।

हे ऋषभ (साँड़) ! आप इस गोष्ठ में रहें, हमारे सहायक हों। हे इन्द्रदेव ! आपका वीर्य रस वृषभ के रेतस् (उत्पादक तेज) के रूप में हमारे पास आ जाए ॥२३॥

२४२७. एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥२४॥

(हे प्रकृति के घटको या गौओ) ! इस युवा बैल (ऋषभ) को हम आपके निमित्त यहाँ रखते हैं, आप इस गोष्ठ (गोशाला) के इच्छित स्थानों में भ्रमण करें। हे सौभाग्यशालिनि ! आप हमारा परित्याग न करें और वैभव की पुष्टियों से हमें सम्पन्न करें ॥२४॥

[५ - पञ्चौदन - अज सूक्त]

[ऋषि- भृगु। देवता-पञ्चौदन अज। छन्द- त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा पुरोऽतिशक्वरी जगती, ४, १० जगती, १४, १७, २७-२९ अनुष्टुप्, १६ त्रिपदा अनुष्टुप्, १८, ३७ त्रिपदा विराट् गायत्री, २०-२२, २६ पञ्चपदा अनुष्टुप् उष्णिक् गर्भोपरिष्टात् बार्हता भुरिक् त्रिष्टुप्, २३ पुर उष्णिक्, २४ पञ्चपदा अनुष्टुप् उष्णिक् गर्भोपरिष्टाद् बार्हता विराट् जगती, ३० ककुम्मती अनुष्टुप्, ३१ सप्तपदाष्टि, ३२-३५ दशपदा प्रकृति, ३६ दशपदाकृति, ३८ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् ।]

इस सूक्त के देवता 'पञ्चौदन अज' हैं। ओदन पके हुए चावल (भात) को कहते हैं, व्यापक अर्थों में पके हुए अन्न को भी ओदन कहते हैं। अनेक आचार्यों ने इस सम्बोधन का भाव पंचभूतों या पंच तन्मात्राओं का भोक्ता जन्म-मरण से मुक्त जीवात्मा के साथ जोड़ा है। इस भाव से भी मंत्रों के अर्थ सिद्ध होते हैं; किन्तु उसे अजन्मा परिपक्व अन्न कहना बहुत युक्ति संगत नहीं लगता। जगह-जगह मंत्रों में उसकी आहुतियाँ देने एवं दान किए जाने का उल्लेख भी है। अस्तु, उसे पदार्थ जगत् के परमाणु बनने से पूर्व की स्थिति वाले उपकणों (सब एटामिक पार्टिकल्स) के रूप में समझा जा सकता है। वह पदार्थ के जन्म से पूर्व की स्थिति है, इसलिए उसे अजन्मा कहना उचित है, साथ ही वह पदार्थ (पंचभूत) बनने के लिए परिपक्व स्थिति में होने से पका हुआ अन्न 'ओदन' भी कहला सकता है। पाँचों भूतों के लिए आधार-आहार रूप होने से 'पञ्चौदन' संज्ञा देना भी उचित है। सुधी पाठक मंत्रार्थों को उक्त दोनों ही भावों से ग्रहण कर सकते हैं-

२४२८. आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।

तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥१ ॥

इस अज (अजन्मा) को यहाँ लाकर, ऐसे सत्कर्म प्रधान यज्ञ को प्रारम्भ करें, जिससे यह अज पुण्यात्मांओं के लोकों को जानता हुआ घने अन्धकारों को नाना प्रकार से पार करते हुए तृतीय स्वर्ग धाम को उपलब्ध करे ॥१ ॥

२४२९. इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम्।

ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥२ ॥

हे ज्ञानसम्पन्न अज ! हम आपको इस सत्कर्मरूप यज्ञ में इन्द्रदेव (परमात्मा) के लिए यजमान (साधक) के समीप लेकर आते हैं। जो हमारे प्रति दुर्भावनाएँ रखते हैं, उन्हें पैर से कुचल डालें और यजमान की वीर सन्तानें पापों से रहित हों ॥२ ॥

२४३०. प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।

तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥३ ॥

हे अज (अजन्मा जीवात्मा) ! पूर्वकाल में आपसे जो दुष्कृत्य बन पड़े हों, उसके लिए आप अपने पैरों को पवित्र करें। तत्पश्चात् पवित्र कदमों से मार्ग को जानते हुए स्वर्गारोहण करें। यह अज अन्धकारों को लाँघते हुए, विभिन्न लोकों को देखते हुए, तृतीय स्वर्ग धाम (परम उच्च स्थिति) को प्राप्त करे ॥३ ॥

[अज स्थिति वाले सूक्ष्म कणों से विषैले अपवित्र पदार्थ भी बन जाते हैं। उनको पुनः सूक्ष्म कणों में विखण्डित करके वाञ्छित पदार्थ बनाने की प्रक्रिया अन्तरिक्ष से भी ऊपर आकाश के उच्च क्षेत्र में होती है। भूः (पृथ्वी) , भुवः (अन्तरिक्ष) के बाद स्वः , महः , जनः ये तीन आकाश हैं। जनः का अर्थ जनन करने वाला भी होता है, उस अज की उस तीसरे स्वर्ग 'जनः' तक गति होती है।]

२४३१. अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः।

माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥४ ॥

हे विशस्तः (विशेष शासक) ! इस काले शस्त्र (श्याम) से इसकी त्वचा को आप इस प्रकार से काटें, जिससे जोड़ों को वेदना की अनुभूति न हो। द्वेष भावना से रहित होकर जोड़ों से इसे इस प्रकार समर्थ बनाएँ, जिससे यह परम उच्च स्थान (स्वर्ग धाम) को उपलब्ध करे ॥४ ॥

[जीवात्मा अथवा अज कणों का लगाव यदि किन्हीं हीन भावों से हो जाए, तो उन लगावों-सन्धियों को ज्ञान से काटकर श्रेष्ठ प्रवृत्तियों के साथ, उसे भली प्रकार जोड़ा जाए।]

२४३२. ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम्।

पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥५ ॥

अभिमंत्रित करके कुम्भी पात्र को हम आग पर रखते हैं। जल से अभिषिंचित पात्र को हे शमिताओ ! आप इस प्रकार रखें, जिससे आग (साधना) द्वारा परिपक्व होकर वह अज वहाँ जाए, जहाँ सत्कर्मियों (पुण्यात्माओं) के श्रेष्ठ लोक हैं ॥५ ॥

२४३३. उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।

अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥६ ॥

चारों ओर से संतप्त न होते हुए भी आप संतप्त चरु द्वारा तृतीय स्वर्गधाम में जाने के लिए आरोहण करें। अग्नि के संताप से आप उसके समान तेजस्वी हो गये हैं। अतः इस तेजोमय लोक को अपने सत्कर्मों से प्राप्त करें

[यज्ञीय प्रयोगों से भी हव्य विखण्डित होकर अज कणों में बदल जाता है । वह अग्नि के संयोग से उच्च लोकों में जाकर वाञ्छित कणों के रूप में पुनः पृथ्वी पर बरसता है ।]

२४३४. अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।

अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥७ ॥

अज (अजन्मा) ही अग्नि और ज्योति है । जीवित देहधारियों के अन्दर जो अज है, उसे ब्राह्मी या देव प्रक्रिया के लिए समर्पित करना चाहिए , ऐसा ज्ञानियों का कथन है । इस लोक में श्रद्धासहित समर्पित किया गया, यह अज दूरस्थ स्वर्गधाम में अन्धकारों को विनष्ट करता है ॥७ ॥

२४३५. पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।

ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥८ ॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीन तेजों को प्राप्त करने वाला, यह अज (जीवात्मा) पाँच प्रकार के भोज्य पदार्थों (पाँच प्राणों या पाँच तन्मात्राओं) से युक्त पाँच कार्यक्षेत्रों (पाँचभूतों या इन्द्रियों) में पराक्रम करे । हे पञ्चौदन ! आप याज्ञिक सत्कर्मियों के मध्य पहुँचकर तृतीय स्वर्गधाम को प्राप्त हों ॥८ ॥

२४३६. अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।

पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥९ ॥

हे अज ! उन्नति करो । हिंसक बाघ (घातक वृत्तियों या कणों) की पहुँच से परे पहुँचो । पंचभूतों का आधार, यह अज परब्रह्म के लिए समर्पित होकर, समर्पणदाता को तृप्ति देकर सन्तुष्ट करता है ॥९ ॥

२४३७. अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।

पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥१० ॥

यह अज समर्पणदाता को तीनों प्रकार के सुखों के प्रदाता, तीनों प्रकाशों से युक्त और तीन पृष्ठ (आधारों) से युक्त स्वर्गधाम के स्थल पर धारण करता है । हे अज ! परब्रह्म के लिए समर्पित पञ्चौदन दाता के तप में आप विश्वरूप कामधेनु के समान होते हैं ॥१० ॥

[अजकण संकल्पित - वाञ्छित पदार्थों के रूप में प्रकट हो सकते हैं, इसलिए उन्हें इच्छित विविध रूप वाली कामधेनु के समान कहा गया है ।]

२४३८. एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।

अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥११ ॥

हे पितरगण ! वह आपकी तृतीय ज्योति है, जो पञ्चौदनरूप अज को ब्रह्म (परमात्मा) के लिए समर्पित की जाती है । इस लोक में श्रद्धापूर्वक दिया गया पञ्चौदन अज दूरस्थ लोक के अन्धकार को विनष्ट कर देता है ॥११ ॥

२४३९. ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।

स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३स्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥१२ ॥

सुकृत (यज्ञादि) करने वालों को प्राप्त होने वाले लोकों की कामना करने वाले जो लोग, जिस पञ्चौदन अज को (यज्ञद्वारा) ब्राह्मी अनुशासन के लिए प्राप्त करते हैं । ऐसे हे अज ! आप व्यापक बनकर इस लोक को जीत लें । (देवों द्वारा) स्वीकृत होकर आप हमारा कल्याण करें ॥१२ ॥

२४४०. अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥१३॥

ब्रह्मबल (ज्ञानशक्ति) और पराक्रम-बल (क्षात्रशक्ति) के विशेषज्ञ ये अज अग्नि की प्रखर ज्वालाओं से उद्‌भूत (प्रकट) होते हैं। इनके द्वारा इष्टापूर्त (अभीष्ट पूर्ति) और यज्ञीय कृत्यों को सभी देवशक्तियाँ ऋतुओं के अनुकूल कल्पित करें ॥१३॥

२४४१. अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥१४॥

ज्ञानपूर्वक तैयार किया गया स्वर्णिम आवास जो उस अज के लिए अर्पित करते हैं, वे दानी द्युलोक और पृथ्वी दोनों में ही ऊँची उपलब्धियों को अर्जित करते हैं ॥१४॥

[पृथ्वी पर वह स्वर्णिम आवास 'यज्ञ क्षेत्र' है तथा द्युलोक में स्वर्णिम प्रकाशमय सूक्ष्म कणों का उत्पादक क्षेत्र है।]

२४४२. एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥१५॥

हे अज ! ये घृत और शहद से युक्त सोम सम्बन्धी दिव्य रस धाराएँ आपके समीप पहुँचें। हे अज ! आप सात किरणों वाले सूर्य के ऊपर स्वर्ग के पृष्ठभाग से द्युलोक और पृथ्वी को कम्पायमान करें ॥१५॥

२४४३. अजो३स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥१६॥

हे अज ! आप अजन्मा और स्वर्गरूप हैं, आपके द्वारा अंगिरा वंशजों ने स्वर्गलोक के विषय में जानकारी प्राप्त की थी। उस पुण्यमय लोक को हमने भली प्रकार समझ लिया है ॥१६॥

२४४४. येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥१७॥

हे अग्ने ! जिस सामर्थ्य द्वारा आप सभी प्रकार की सम्पदाओं को देने वाली आहुतियों को हजारों विधियों से देवों तक ले जाते हैं, उसी सामर्थ्य से आप हमारे इस यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति के लिए, देवों के पास पहुँचाएँ ॥१७॥

२४४५. अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥१८॥

पञ्चौदन अज परिपक्व होकर स्वर्गलोक में स्थापित होते हैं और पापदेवता को दूर हटाते हैं। इस अज द्वारा सूर्य से युक्त लोकों को हम प्राप्त करें ॥१८॥

२४४६. यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥१९॥

हम जिसे ब्रह्मनिष्ठों और जनसाधारण में प्रतिष्ठित करते हैं, वही सम्पदा अज के भोगों की पूर्ति करती है। हे अग्निदेव ! ये सभी सम्पदाएँ पुण्यात्माओं के लोक में पहुँचाने वाले मार्गों में हमारी सहायक हों, ऐसा जानें ॥१९॥

२४४७. अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥२०॥

इस जगत् में जो पूर्वकाल से सतत प्रयत्नरत है, वह अज ही है । इस अज की छाती यह भूमि पीठ-द्युलोक, मध्यभाग- अन्तरिक्षलोक, पसलियाँ-दिशाएँ और कोख समुद्र हैं ॥२० ॥

२४४८. सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥२१ ॥

उसके नेत्र सत्य और ऋतरूप, सम्पूर्ण विश्व अस्तित्वरूप, श्रद्धा प्राणरूप और विराट् शीर्षरूप हुए हैं । यह पञ्चौदन अज असीमित फल को प्रदान करने वाला है ॥२१ ॥

[ऊपर के दो मंत्रों में उस अज तत्त्व द्वारा सृष्टि निर्माण काल में पृथ्वी , अन्तरिक्ष, समुद्र आदि के उद्भूत होने का वर्णन किया गया है ।]

२४४९. अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२२ ॥

जो मनुष्य दक्षिणा की तेजस्विता वाले (भाव से) पञ्चौदन अज को समर्पित करते हैं । वे असंख्य यज्ञफलों के पुण्य के अधिकारी होते हैं और अपरिमित ऐश्वर्यमय लोक के मार्ग को अपने लिए उद्घाटित करते हैं ॥२२॥

[मनुष्य यज्ञ - प्रक्रिया द्वारा ही अज कणों का प्रवाह उत्पन्न कर सकते हैं । इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने से असाधारण पुण्य फल प्राप्त होते हैं ।]

२४५०. नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥२३॥

इस यज्ञ के निमित्त इसकी अस्थियों को न तोड़ें और मज्जाओं को भी न निचोड़ें; वरन् सभी 'यह है,' यह है , ऐसा कहते हुए इसे विशाल में प्रविष्ट करें ॥२३ ॥

[पदार्थ सृजन की स्थिति तक तैयार किये जा चुके अज कणों को और विभाजित न करें । उन्हें वाञ्छित पदार्थों को निर्माण की दिशा में प्रेरित करें , यही उचित है ।]

२४५१. इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२४ ॥

यही इस यज्ञ का रूप है, इसे (जीवात्मा अथवा यज्ञ) उस (परमात्मा या उच्च लोकों) से संयुक्त करते हैं । जो मनुष्य दक्षिणा से देदीप्यमान पञ्चौदन अज के समर्पणकर्त्ता हैं, उन्हें यह यज्ञ, अन्न, महानता और सामर्थ्य देता है ॥२४ ॥

२४५२. पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२५ ॥

जो दक्षिणा से देदीप्यमान पञ्चौदन अज के समर्पणदाता हैं, उन्हें पाँच सुवर्ण (प्राण) , पाँच नवीन-वस्त्र, पंच कोश और पाँच कामधेनुएँ (इन्द्रियाँ) उपलब्ध होती हैं ॥२५ ॥

२४५३. पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२६ ॥

दक्षिणा से दीप्तिमान् पंचभोजी अज को जो समर्पित करते हैं, उन्हें (उन्हे) पंचरुक्मा ज्योति (पाँच प्रकार की आभायुक्त ज्योति) और स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है ।इनके शरीर के लिए कवचरूपी वस्त्र प्राप्त होते हैं ॥२६ ॥

२४५४. या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥२७ ॥

जो स्त्रियाँ (सूक्ष्म इकाइयाँ) पहले पति (पदार्थ) के साथ रहती हैं अथवा जो अन्य पति (पदार्थों) का वरण कर लेती हैं, ऐसी दोनों प्रकार की नारियाँ (इकाइयाँ) पञ्चौदन (अजन्मे तत्त्वों) के रूप में स्वयं को समर्पित करके भी (अपनी विशेषताओं से) वियुक्त नहीं होतीं ॥२७ ॥

२४५५. समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२८ ॥

जो व्यक्ति पञ्चौदन अज को दक्षिणा के तेज से युक्त समर्पित करते हैं, ऐसे दूसरे पति भी पुनर्विवाहित स्त्री के साथ समान स्थान वाले होते हैं ॥२८ ॥

[पदार्थ भी स्वयं को अजरूप में समर्पित करके नयी विशेषताओं के साथ पुनः अस्तित्व में आ जाते हैं ।]

२४५६. अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।

वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९ ॥

क्रम से प्रतिवर्ष वत्स देने वाली (अनुपूर्ववत्सा) धेनु, वृषभ ओढ़नी (उपबर्हण) और सुवर्णयुक्त वस्त्रों के दानदाता श्रेष्ठ स्वर्गलोक को जाते हैं ॥२९ ॥

२४५७. आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् । जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥

अपनी आत्मचेतना, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, सहधर्मिणी, जन्म देने वाली माता और जो हमारे प्रिय इष्ट मित्र हैं, उन सबको हम अपने समीप बुलाएँ ॥३० ॥

[यह अज जिन ऋतुओं (अनुशासनों) में फलित होते हैं , उन्हें ग्रीष्म (ऊर्जा) क्रिया, संयम, पोषण, उद्यम एवं विजय कहा गया है । आगे के पाँच मंत्र उन्हीं ऋतुओं के सम्बन्ध में हैं ।]

२४५८. यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना । योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥

यह पञ्चौदन अज ही ग्रीष्म ऋतु है, जो इस ग्रीष्म ऋतु के ज्ञाता और दक्षिणा के तेजस् से सम्पन्न पञ्चौदन अज के समर्पणकर्त्ता हैं, वे अपनी शक्ति से अप्रिय शत्रु (कणों) की श्री- सम्पदा को भस्मीभूत कर देते हैं ॥३१ ॥

२४५९. यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद । कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना । योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३२ ॥

जो कर्म (कुर्वन्त) नामक ऋतु के ज्ञाता हैं, वे अप्रिय शत्रु की प्रयत्नमयी श्री- सम्पदा को हर लेते हैं । पञ्चौदन अज ही निश्चय से कुर्वन्त नामक ऋतु हैं, जो दक्षिणा के तेज से सम्पन्न पञ्चौदन अज के दाता हैं, वे अपने दान के प्रभाव से अप्रिय शत्रु (कणों) के ऐश्वर्य को विनष्ट कर देते हैं ॥३२ ॥

२४६०. यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद । संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः । निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना । योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३३ ॥

जो संयन्त नामक ऋतु के ज्ञाता हैं, वे अप्रिय शत्रु की संयम द्वारा उपलब्ध सम्पदा को ग्रहण करते हैं । पञ्चौदन अज ही संयन्त नामक ऋतु हैं । जो दक्षिणा से दीप्तिमान् पञ्चौदन अज के दाता हैं, वे अपनी आत्मशक्ति से अप्रिय (दुष्ट) शत्रु की श्री- समृद्धि का विनाश कर देते हैं ॥३३ ॥

२४६१. यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद। पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना। यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३४॥

जो पिन्वन्त (पोषण) नामक ऋतु के ज्ञाता हैं, वे अप्रिय शत्रु की पोषण द्वारा उपलब्ध की गई (पोषिका) श्री-सम्पदा का हरण करते हैं। पञ्चौदन अज ही पिन्वन्त (पोषण) नामक ऋतु हैं। जो दक्षिणा द्वारा देदीप्यमान पञ्चौदन अज (पञ्चभोज्य पदार्थों की सेवनकर्त्ता अजन्मा आत्मा) के समर्पणकर्त्ता हैं, वे अपने प्रभाव से दुष्ट शत्रु की श्री-समृद्धि को विनष्ट कर देते हैं ॥३४॥

२४६२. यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद। उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा उद्यन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना। यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३५॥

जो उद्यन्त (उद्यम) नामक ऋतु के ज्ञाता हैं, वे दुष्ट शत्रु की उद्यम द्वारा प्राप्त की गई लक्ष्मी को ग्रहण करते हैं। पञ्चौदन अज ही उद्यन्त नामक ऋतु हैं। दक्षिणा से दीप्तिमान् पञ्चौदन अज के जो समर्पणकर्त्ता हैं, वे अपने सुकृत्यों से शत्रु के श्रीवर्चस्व को भस्मीभूत कर डालते हैं ॥३५॥

२४६३. यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद। अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना। यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३६॥

जो अभिभू (विजय) नामक ऋतु के ज्ञाता हैं, वे दुष्ट शत्रु की परास्त करने वाली लक्ष्मी (शोभा) का हरण कर लेते हैं। पञ्चौदन अज ही अभिभू (विजय) नामक ऋतु हैं। दक्षिणा से दीप्तिमान् पञ्चौदन अज के जो समर्पणकर्त्ता हैं, वे दुष्ट शत्रु के श्री- वर्चस्व को पूरी तरह से जला डालते हैं ॥३६॥

२४६४. अजं च पचत पञ्च चौदनान्। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥३७॥

अज और पञ्चौदन (उसके पाँच प्रकार के भागों) को परिपक्व बनाएँ। सभी दिशाएँ और अन्तर्दिशाएँ एक मन होकर सहमति भाव से इसे स्वीकार करें ॥३७॥

२४६५. तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥३८॥

आपके इस यज्ञ की सभी दिशाएँ सुरक्षा करें, हम उनके निमित्त घृत और हवन सामग्री की आहुति देते हैं॥

[६ - अतिथि सत्कार (१)]

[**ऋषि-** ब्रह्मा। **देवता-** अतिथि अथवा विद्या। **छन्द-**१ नागी त्रिपदा गायत्री, २ त्रिपदार्षी गायत्री, ३, ७ साम्नी त्रिष्टुप्, ४, ९ आर्ची अनुष्टुप्, ५ आसुरी गायत्री, ६ त्रिपदा साम्नी जगती, ८ याजुषी त्रिष्टुप्, १० साम्नी भुरिक् बृहती, ११, १४-१६ साम्नी अनुष्टुप्, १२ विराट् गायत्री, १३ साम्नी निचृत् पंक्ति, १७ त्रिपदा विराट् भुरिक् गायत्री।]

इस सूक्त से ११वें सूक्त तक अतिथि सत्कार का महत्त्व प्रकट किया गया है। यह उस समय की मान्यता है, जब लोग केवल परमार्थ या तीर्थाटन के लिए यात्रा पर निकलते थे। गृहस्थ साधक सभी में विराट् प्रभु की झलक देखते हुए अतिथि सेवा को विराट् की आराधना मानते थे। सूक्तोक्त फल उसी मर्यादा के अन्दर फलित होते हैं-

२४६६. यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥१ ॥

जो विद्यारूप प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानते हैं, जिनके अवयव ही यज्ञ-सामग्री तथा कन्धे और मध्यदेश की रीढ़ (सन्धि) ही ऋचाएँ हैं ॥१ ॥

२४६७. सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥२ ॥

उसके बाल ही साम, हृदय ही यजुरूप और आच्छादन वस्त्र ही हवि हैं ॥२ ॥

२४६८. यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥३ ॥

जो गृहस्थ अतिथियों की ओर देखते हैं, मानो वे देवत्व- संवर्द्धक यज्ञ को ही देखते हैं ॥३ ॥

२४६९. यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥४ ॥

अतिथि से चर्चा करना यज्ञीय कार्य में दीक्षित होने के समान है, उसके द्वारा जलकी कामना प्रणयनरूप है ॥

२४७०. या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥५ ॥

जिस जल को यज्ञ में ले जाते हैं, यह वही जल है अथवा अतिथि के लिए समर्पित जल वही है, जो यज्ञ में प्रयुक्त होता है ॥५ ॥

२४७१. यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६ ॥

जिन पदार्थों को अतिथि के लिए ले जाते हैं, वही मानो अग्नि और सोम के लिए पशु को बाँधा जाना है ॥६ ॥

२४७२. यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७ ॥

जो अतिथि के लिए आश्रय- स्थल का प्रबन्ध किया जाना है, मानो वही यज्ञ में 'सद' और हविर्धान का निर्माण करना है ॥७ ॥

२४७३. यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥८ ॥

(सत्कार में) जो वस्त्र बिछाए जाते हैं, मानो वही यज्ञ की कुशाएँ हैं ॥८ ॥

२४७४. यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९ ॥

जो बिछौना लाते हैं, वे मानो स्वर्गलोक के द्वार को ही खोलते हैं ॥९ ॥

२४७५. यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥१० ॥

अतिथि के लिए जो चादर और तकिया लेकर आते हैं, वही मानो यज्ञ की सीमा है ॥१० ॥

२४७६. यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥११ ॥

जो आँखों के लिए अञ्जन और शरीर की मालिश के लिए तेल लाते हैं, वे मानो यज्ञ घृत ही है ॥११॥

२४७७. यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥१२ ॥

परोसने से पूर्व जो अतिथि के लिए खाद्य सामग्री लाते हैं, वे मानो पुरोडाश ही हैं ॥१२ ॥

२४७८. यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥१३ ॥

भोजन के लिए अतिथि को बुलाना ही मानो हविष्यान्न स्वीकार करने का आह्वान है ॥१३ ॥

२४७९. ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते ॥१४ ॥

जो चावल और जौ देखे जाते हैं, वे मानो सोम ही हैं ॥१४ ॥

२४८०. यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥१५ ॥

जो ओखली-मूसल अतिथि के लिएधान कूटने के काम आते हैं, वे मानों सोमरस निकालने के पत्थर हैं ॥

२४८१. शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीराप: ॥१६ ॥

अतिथि के लिए जो छाज उपयोग में लाया जाता है, वह यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पवित्रा के समान, धान की भूसी सोमरस अभिषवण के बाद अवशिष्ट रहने वाले सोम तन्तुओं के समान तथा भोजन के लिए प्रयुक्त होने वाला जल, यज्ञीय जल के समान है ॥१६ ॥

२४८२. स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि
पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥१७ ॥

कलछी (भात निकालने का साधन) स्रुवा के समान, पकते समय अन्न को हिलाया जाना यज्ञ की ईक्षण क्रिया के समान, पकाने आदि के पात्र द्रोणकलश के समान, अन्य पात्र, वायव्य पात्र तथा स्वागत में बिछायी गयी मृग चर्म कृष्णाजिन तुल्य होते हैं ॥१७ ॥

[७ - अतिथि सत्कार (२)]

[ऋषि - ब्रह्मा । देवता-अतिथि अथवा विद्या । छन्द- विराट् पुरस्ताद् बृहती, २, १२ साम्नी त्रिष्टुप्, ३ आसुरी अनुष्टुप्, ४ साम्नी उष्णिक्, ५ साम्नी बृहती, ६ आर्ची अनुष्टुप्, ७ पञ्चपदा विराट् पुरस्ताद् बृहती, ८ आसुरी गायत्री, ९ साम्नी अनुष्टुप्, १० त्रिपदार्ची त्रिष्टुप्, ११ भुरिक् साम्नी बृहती, १३ त्रिपदार्ची पंक्ति ।]

२४८३. यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते
यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥१ ॥

अतिथि के सत्कार में यह अधिक है या पर्याप्त है, इस प्रकार जो देने योग्य पदार्थों का निरीक्षण करते हैं, यह प्रक्रिया यज्ञ में यजमान द्वारा ब्राह्मण के प्रति किये गये व्यवहार के समान मान्य है ॥१ ॥

२४८४.यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२ ॥

जो इस प्रकार कहते हैं कि अधिक परोसकर अतिथि को दें, तो इससे वे अपने प्राण को चिरस्थाई बनाते हैं ।

२४८५. उप हरति हवींष्या सादयति ॥३ ॥

जो उनके पास ले जाते हैं, वे मानों हीन पदार्थ ही ले जाते हैं ॥३ ॥

२४८६. तेषामासन्नानामतिथिरात्मन्जुहोति ॥४ ॥

उन परोसे गए पदार्थों में से कुछ पदार्थों का अतिथि अपने अन्दर हवन ही करते हैं ॥४ ॥

२४८७. स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥५ ॥

हाथरूपी स्रुवा से, प्राणरूपी यूप से और भोजन ग्रहण करते समय 'स्रुक् - स्रुक्' ऐसे शब्दरूपी वषट्कार से अपने में आहुति ही डालते हैं ॥५ ॥

२४८८. एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥६ ॥

जो ये अतिथि प्रिय अथवा अप्रिय हैं, वे आतिथ्य यज्ञ के ऋत्विज् यजमान को स्वर्गलोक ले जाते हैं ॥६ ॥

२४८९. स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥७ ॥

जो इस विषय के ज्ञाता हैं, वे अतिथि किसी के प्रति द्वेष रखते हुए भोजन न करें, द्वेष करने वाले का भोजन न करें, सन्देहास्पद आचरण करने वाले का भोजन न करें और न सन्देह रखने वाले के यहाँ का अन्न ग्रहण करें ॥७ ॥

२४९०. सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥८ ॥

जिसके यहाँ अतिथि लोग अन्न ग्रहण करते हैं, उनके सभी कषाय-कल्मषरूपी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥८ ॥

२४९१. सर्वो वा एषो ऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥९ ॥

जिनके यहाँ अतिथिजन भोजन नहीं करते, उनके सभी पाप वैसे के वैसे ही रहते हैं ॥९ ॥

२४९२. सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥१० ॥

जो गृहस्थ अतिथिसेवा में आवश्यक सामग्री उनके पास ले जाते हैं, वे सर्वदा सोमरस निकालने के पत्थरों से युक्त रस की आर्द्रता से पवित्र सोमयज्ञ को करने वाले और उसको पूर्णता प्रदान करने वाले के समान होते हैं ॥

२४९३. प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥११ ॥

जो अतिथि के प्रति समर्पण करते हैं, वे मानो उनके प्राजापत्य यज्ञ के विस्तारक होते हैं ॥११ ॥

२४९४. प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥१२ ॥

जो अतिथिसत्कार करते हैं, वे प्रजापति के पदचिह्नों का अनुगमन करते हैं ॥१२ ॥

२४९५. योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥१३ ॥

अतिथियों का आवाहन ही आहवनीय-अग्नि और घर में स्थित अग्नि ही गार्हपत्यअग्नि है और अन्न पकाने की अग्नि ही दक्षिणाग्नि है ॥१३ ॥

[८ - अतिथि सत्कार (३)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता-अतिथि अथवा विद्या । छन्द- त्रिपदा पिपीलिक मध्या गायत्री, ७ साम्नी बृहती, ८ पिपीलिक मध्या उष्णिक् ।]

२४९६. इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥१ ॥

जो अतिथि से पहले भोजन करते हैं, वे गृहस्थ के सभी इष्टकर्मों और पूर्त्तफलों का ही भक्षण करते हैं ॥१ ॥

२४९७. पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥२ ॥

जो अतिथि से पहले भोजन करते हैं, वे घर के दूध और रस को ही विनष्ट करते हैं ॥२ ॥

२४९८. ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३ ॥

वे गृहस्थ घर की समृद्धि और अन्न-बल को विनष्ट कर डालते हैं, जो अतिथि से पूर्व भोजन ग्रहण करते हैं ॥

२४९९. प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥४ ॥

वे गृहस्थ घर के कुटुम्बियों और गौ आदि पशुओं को ही विनष्ट कर डालते हैं, जो अतिथि से पहले भोजन ग्रहण करते हैं ॥४ ॥

२५००. कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥५ ॥

वे गृहस्थ जो अतिथि से पूर्व भोजन लेते हैं, वे घर की कीर्ति और यशस्विता का ही नाश करते हैं ॥५ ॥

२५०१. श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।।६ ।।

जो अतिथि से पूर्व भोजन करने वाले गृहस्थ हैं, वे घर की श्री और सहमति भावना को ही विनष्ट करते हैं ।।६ ।।

२५०२. एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ।।७ ।।

वे निश्चितरूप से अतिथि हैं, जो श्रोत्रिय हैं, अतएव उनसे पहले भोजन करना उचित नहीं ।।७ ।।

२५०३. अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ।।८।।

अतिथि द्वारा भोजन ग्रहण करने के बाद गृहस्थ स्वयं भोजन करें । यज्ञ की पूर्णता और निर्विघ्न-समाप्ति के लिए गृहस्थियों द्वारा ऐसे व्रतों के निर्वाह आवश्यक हैं ।।८ ।।

२५०४. एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ।।९ ।।

गाय के दूध से उपलब्ध होने वाले और अन्य मांसादि, उन्हें भी अतिथि के भोजन से पूर्व गृहस्थ न खाएँ ।।९ ।।

[पूर्वकाल में क्षत्रियों-सैनिकों के लिए मांसाहार क्षम्य था । समुद्र के किनारे रहने वालों के लिए मछली आदि स्वाभाविक आहार रहे हैं । अतिथि जो पदार्थ नहीं खाते , वे पदार्थ भी अतिथि को भोजन कराने के पूर्व न खाने का निर्देश दिया गया है ।]

[९- अतिथि सत्कार (४)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता-अतिथि अथवा विद्या छन्द-प्राजापत्या अनुष्टुप्, २, ४, ६, ८ त्रिपदा गायत्री, ९ भुरिक् अनुष्टुप्, १० चतुष्पदा प्रस्तार पंक्ति ।]

२५०५. स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ।।१ ।।
२५०६. यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ।।२ ।।

जो इस बात को जानते हुए अतिथि के लिए दूध अच्छे पात्र में रखकर लाते हैं, वे श्रेष्ठ समृद्ध अग्निष्टोम यज्ञ के यजन का जितना फल प्राप्त करते हैं, उतना आतिथ्य सत्कार से उन्हें प्राप्त होता है ।।१-२ ।।

२५०७. स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ।।३ ।।
२५०८. यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ।।४ ।।

जो इस सम्बन्ध में जानते हुए अतिथि के लिए घृत, बर्तन में ले जाते हैं, उन्हें आतिथ्य-सत्कार से उतना फल मिलता है, जितना किसी को श्रेष्ठ-समृद्ध अतिरात्रयज्ञ करने से प्राप्त होता है ।।३-४ ।।

२५०९. स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ।।५ ।।
२५१०. यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ।।६ ।।

जो इस विषय को जानते हुए अतिथि के निमित्त शहद उत्तम पात्र में लेकर जाते हैं, उन्हें आतिथ्य-सेवा से उतना प्रतिफल मिलता है, जितना किसी को श्रेष्ठ-समृद्ध 'सत्रसद्य' यज्ञ करने से प्राप्त होता है ।।५-६ ।।

२५११. स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ।।७ ।।
२५१२. यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ।।८ ।।

जो इस विषय को जानते हुए (यदि वह मांसाहारी है तो) अतिथि के समीप मांस के पात्र को ले जाते हैं, उन्हें उतना प्रतिफल इस आतिथ्य से मिलता है, जितना श्रेष्ठ-समृद्ध द्वादशाह यज्ञ करने से किसी को प्राप्त होता है ।।७-८ ।।

२५१३. स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ।।९ ।।

२५१४. प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥१० ॥

जो इस बात को जानते हुए अतिथि के लिए जल को पात्र में रखकर ले जाते हैं, वे प्रजाओं के प्रजनन अर्थात् उत्पत्ति के लिए स्थायित्व प्राप्त करते हैं और प्रजाजनों के प्रिय होते हैं ॥९-१० ॥

[१० - अतिथि सत्कार (५)]

[**ऋषि-** ब्रह्मा । **देवता-**अतिथि अथवा विद्या । **छन्द-**१ साम्नी उष्णिक्, २ पुरउष्णिक्, ३, ५, ७, १० साम्नी भुरिक् बृहती, ४, ६, ९ साम्नी अनुष्टुप्, ५ त्रिपदा निचृत् विषमा गायत्री, ७ त्रिपदा विराट् विषमा गायत्री, ८ त्रिपदा विराट् अनुष्टुप् ।]

२५१५. तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥१ ॥

जो इस आतिथ्य- सत्कार को जानते हैं, उन मनुष्यों के लिए उषा आनन्द-सन्देश देती है और सवितादेव उनकी प्रशंसा करते हैं ॥१ ॥

२५१६. बृहस्पतिरूर्जयोद् गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥२ ॥

बृहस्पतिदेव अन्न-रस से उत्पन्न बल से उनका गान करते हैं, त्वष्टादेव पुष्टि प्रदान करते हैं तथा अन्य सभी देव सोम परिसमाप्ति के वाक्य द्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥२ ॥

२५१७. निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥३ ॥

ऐसा जो जानते हैं, वे सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का आश्रयस्थल होते हैं ॥३ ॥

२५१८. तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥४ ॥

उदय होते हुए सूर्यदेव उनके लिए आनन्द-सन्देश देते हैं औररश्मियों से युक्त सूर्य उनकी प्रशंसा करते हैं ॥

२५१९. मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन् निधनम् । निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥५ ॥

सूर्यदेव उसकी मृत्यु को विनष्ट करते हुए मध्याह्न के समय उसका गान करते हैं और अपराह्न के समय पुष्टि प्रदान करते हैं । जो इस प्रकार से ज्ञाता हैं, वे सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं को उपलब्ध करने वाले होते हैं ॥५ ॥

२५२०. तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥६ ॥

जो आतिथ्य-सत्कार के व्रत के ज्ञाता हैं, उनके लिए उत्पन्न होने वाले मेघ, आनन्द-सन्देश देते हैं और गर्जन करते हुए स्तुतिगान करते हैं ॥६ ॥

२५२१. विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् । निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥७ ॥

प्रकाशमान मेघ पुष्टि देते हैं, बरसते हुए गुणेगान करते हैं तथा उद्ग्रहण करते हुए पालन करते हैं, इस प्रकार वे सम्पत्ति, राजा और पशुओं के आश्रयदाता होते हैं ॥७ ॥

२५२२. अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद् गायति ॥

आतिथ्य-सत्कार के ज्ञाता, अतिथि दर्शन करते हुए अभिवादन, स्तुति और आनन्द प्रकट करते हैं । जब वे जल माँगते हैं, तो मानों गान करते हैं ॥८ ॥

२५२३. उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥९ ॥

जब पदार्थ अतिथि के पास लाते हैं, तो यज्ञ के प्रतिहर्त्ता का कार्य करते हैं । जो अतिथि के भोजन के पश्चात् अवशिष्ट रहता है, उसें यज्ञीय प्रसाद मानें ॥९ ॥

२५२४. निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥१० ॥

जो इस तथ्य के ज्ञाता हैं, वे सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं के पालनकर्त्ता होते हैं ॥१० ॥

[११ - अतिथि सत्कार (६)]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता-अतिथि अथवा विद्या । छन्द-१ आसुरी गायत्री, २ साम्नी अनुष्टुप्, ३, ५ त्रिपदार्ची पंक्ति, ४ एकपदा प्राजापत्या गायत्री, ६, ११ आर्ची बृहती, १२ एकपदासुरी जगती, १३ याजुषी त्रिष्टुप्, १४ एकपदासुरी उष्णिक् ।]

२५२५. यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥१ ॥

जो अभीष्ट कार्य को करने वाले द्वारपाल को बुलाते हैं, वे वेद वचन को कहने के सामान हैं ॥१ ॥

२५२६. यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥२ ॥

जब वह सुनता है, मानो वह प्रतिश्राव करता है ॥२ ॥

२५२७. यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥३ ॥

जब अतिथि के लिए प्रारम्भ और पश्चात् में परोसने वाले हाथों में पात्र लेकर जाते हैं, मानो वे यज्ञ के चमस और अध्वर्यु हैं ॥३ ॥

२५२८. तेषां न कश्चनाहोता ॥४ ॥

इन अतिथियों में यज्ञरहित कोई भी नहीं होते ॥४ ॥

२५२९. यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥५ ॥

जो गृहस्थ अतिथियों को भोजन परोसकर अपने घर लौटते हैं, वे मानो अवभृथ स्नान करके घर लौटते हैं ॥

२५३०. यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥६ ॥

जो भोज्य पदार्थों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं, वे मानो दक्षिणा प्रदान करते हैं । जो उनके लिए अनुकूल होकर उपस्थित रहते हैं, वे मानो उदवसान (यज्ञ का अन्तिम चरण पूरा) करते हैं ॥६ ।।

२५३१. स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥७ ॥

पृथ्वी में जितने प्रकार के विभिन्न रंग-रूप वाले अन्न हैं, उनके द्वारा (लिए) आदरपूर्वक आमन्त्रित किए जाने पर, वे अतिथि भोजन ग्रहण करते हैं ॥७ ॥

२५३२. स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥८ ॥

अन्तरिक्ष में जितने प्रकार के अन्न हैं, उनके द्वारा सम्मान किये जाने पर, वे अतिथि भोजन ग्रहण करते हैं ॥८ ॥

२५३३. स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥९ ॥

स्वर्ग में जितने प्रकार के विभिन्न अन्न हैं, उनके द्वारा सम्मानित होकर अतिथिगण भोजन ग्रहण करते हैं ॥९ ॥

२५३४. स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥१० ॥

देवों में जितने प्रकार की विभिन्न गुणों से युक्त जो अनेक शक्तियाँ हैं, उनके द्वारा सादर आमन्त्रित किये जाने पर, वे अतिथिगण भोजन ग्रहण करते हैं ॥१० ॥

२५३५. स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥११ ॥

सभी लोकों में जितने प्रकार के विभिन्न रंग-रूप वाले पदार्थ हैं, उनके लिए सादर आमन्त्रित किये जाने पर, वे भक्षण करते हैं ॥११ ॥

२५३६. स उपहूत उपहूतः ॥१२ ॥

जो इस भूलोक में सादर आमन्त्रित किये जाते हैं, वे उसी भावना से परलोक में भी आमन्त्रित किये जाते हैं ।

२५३७. आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥१३ ॥

अतिथि को सादर आमन्त्रित करने वाले सद्गृहस्थ इस लोक में सुख-सौभाग्य को प्राप्त करते हुए, परलोक में भी वही प्राप्त करते हैं ॥१३ ॥

२५३८. ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद ॥१४ ॥

जो आतिथ्य- सत्कार के व्रतों के ज्ञाता हैं, वे तेजस्वी (ज्योतिर्मय) लोकों को प्राप्त करते हैं ॥१४ ॥

[१२ - गौ सूक्त]

[**ऋषि**- ब्रह्मा । देवता-गौ । **छन्द**-१ आर्ची बृहती, २ आर्ची उष्णिक्, ३, ५ आर्ची अनुष्टुप्, ४, १४-१६ साम्नी बृहती, ६, ८ आसुरी गायत्री, ७ त्रिपदा पिपीलिक मध्या निचृत् गायत्री, ९, १३ साम्नी गायत्री, १० पुर उष्णिक्, ११-१२, १७, २५ साम्नी उष्णिक्, १८, २२ एकपदासुरी जगती, १९ एकपदासुरी पंक्ति, २० याजुषी जगती, २१ आसुरी अनुष्टुप्, २३ एकपदासुरी बृहती, २४ साम्नी भुरिक् बृहती, २६ साम्नी त्रिष्टुप् ।]

२५३९. प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥१ ॥

इस विश्वरूप गौ अथवा वृषभ के प्रजापति और परमेष्ठी दो सींग, इन्द्रदेव सिर, अग्नि ललाट और यम गले की घेंटी (कृकाट) हैं ॥१ ॥

२५४०. सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥२ ॥

राजा सोम मस्तिष्क, द्युलोक ऊपर का जबड़ा और पृथ्वी नीचे के जबड़े के रूप में है ॥२ ॥

२५४१. विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥३ ॥

विद्युत् जीभ, मरुद्गण दाँत, रेवती गर्दन, कृत्तिका कन्धे और उष्णता देने वाले सूर्य या ग्रीष्म 'ककुद' के समीपस्थ के भाग हैं ॥३ ॥

२५४२. विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥४ ॥

समस्त संसार वायु अर्थात् प्राणरूप, स्वर्गलोक कृष्णद्र और विधरणी (धारक शक्ति) पृष्ठभाग है ॥४ ॥

२५४३. श्येनः क्रोडो३न्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥५ ॥

श्येन उसकी गोद, अन्तरिक्ष उदरभाग, बृहस्पति ककुद् और बृहती कीकस भाग (कोहनी के भाग) हैं ॥५ ॥

२५४४. देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥६ ॥

देवशक्तियाँ पीठ के भाग और उपसद् इष्टियाँ पसलियाँ हैं ॥६ ॥

२५४५. मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥७॥

मित्र और वरुणदेव दोनों कन्धे, त्वष्टा और अर्यमादेव बाहुभाग (दोनों भुजाओं के ऊपरी भाग) और महादेव भुजाएँ हैं ॥७॥

२५४६. इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥८॥

इन्द्रपत्नी (इन्द्रदेव की शक्ति) कटिभाग (गुह्य), वायु पूँछ और पवमान वायु बाल हैं ॥८॥

२५४७. ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥९॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय नितम्ब भाग, बल (सामर्थ्य शक्ति) उस विश्वरूप गौ के जंघाभाग हैं ॥९॥

२५४८. धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥

धाता (धारकशक्ति) और सर्वप्रेरक सवितादेव, ये दोनों विश्वरूप गौ के टखने (जानु), गंधर्व जंघाएँ, अप्सराएँ, खुरभाग (कुण्डिकाएँ) और अदिति (देवमाता) खुर हैं ॥१०॥

२५४९. चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥११॥

चेतना उस विश्वरूप गौ का हृदय क्षेत्र, मेधा- बुद्धि कलेजा (यकृत्) और व्रत पुरीतत् (आँतें) हैं ॥११॥

२५५०. क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥१२॥

क्षुधा (भूख) के अधिष्ठाता देव उसकी कोख, इरा (अन्न या जल) उसकी बड़ी आँतें और पहाड़ उसकी छोटी आँतें हैं ॥१२॥

२५५१. क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥१३॥

क्रोध उसके गुर्दे, स्वस्थ (संतुलित) क्रोध अण्डकोश और प्रजा, प्रजनन अङ्ग के प्रतीक हैं ॥१३॥

२५५२. नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥१४॥

नदियाँ जन्म देने वाली सूत्र नाड़ी, वर्षापति मेघ स्तनरूप और गरजने वाले मेघ उसके दूध से भरे थनरूप हैं

२५५३. विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥१५॥

सर्वव्यापक आकाश चर्मभाग, ओषधियाँ उसके बाल और नक्षत्र उसके विभिन्न रूप हैं ॥१५॥

२५५४. देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥१६॥

देवशक्तियाँ गुदाभाग, साधारण मनुष्य आँतें और अन्य भोजन करने वाले प्राणी उदर भाग हैं ॥१६॥

२५५५. रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥१७॥

असुर उसके रक्त भाग (लोहित) और इतरजन (तिर्यग् योनियाँ) उसका अनपचा अन्न भाग हैं ॥१७॥

२५५६. अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥१८॥

मेघ मेद के समान (पुष्टता) और समस्त धन-सम्पदा मज्जाभाग है ॥१८॥

२५५७. अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥१९॥

अग्निदेव उसके आसनस्थल और दोनों अश्विनीकुमार खड़े होने के रूप हैं ॥१९॥

२५५८. इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥२०॥

पूर्व दिशा की ओर विराजमान वे इन्द्ररूप और दक्षिण की ओर वे यमरूप हैं ॥२०॥

२५५९. प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥२१ ॥

पश्चिम की ओर विराजमान वे धाता और उत्तर की ओर सविता स्वरूप हैं ॥२१ ॥

२५६०. तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥२२ ॥

तृणों को प्राप्त हुए वे विश्वरूप वृषभ राजा सोमरूप हैं ॥२२ ॥

२५६१. मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥२३ ॥

सभी प्राणियों पर कृपादृष्टि से देखते हुए वे मित्ररूप और परावृत्त होने पर वही आनन्दरूप हैं ॥२३ ॥

२५६२. युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥२४ ॥

जोतने के समय समस्त देवों के समष्टिरूप, जोतने पर प्रजापति और बन्धनमुक्त होने पर सर्वरूप हैं ॥२४ ॥

२५६३. एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥२५ ॥

यही विश्वरूप परमात्मा के विराट्रूप, यही सर्वरूप और गौ या वृषभ के रूप हैं ॥२५ । ।

२५६४. उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥२६ ॥

जो इस प्रकार प्रजापति के विराट्रूप को वृषभ या गौ के वास्तविक रूप में जान लेते हैं, उन्हें विश्वरूप और सर्वरूप पशु उपलब्ध होते हैं ॥२६ ॥

[१३- यक्ष्मनिवारण सूक्त]

[**ऋषि**- भृग्वंगिरा । देवता-सर्वशीर्षामयाद्य (शिरः रोग दूरीकरण) । छन्द- अनुष्टुप्, १२, अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पदोष्णिक् १५ विराट् अनुष्टुप्, २१ विराट् पथ्या बृहती, २२ पथ्यापंक्ति ।]

२५६५. शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥१ ॥

मस्तकशूल , कर्णशूल और विलोहित (पाण्डुरोग) - इन सभी शीर्ष रोगों को हम आपसे दूर करते हैं ॥१ ॥

२५६६. कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥२ ॥

आपके कानों और कानों के भीतरी भाग से कर्णशूल और विसल्पक (विशेष कष्ट देने वाले) रोग को हम दूर करते हैं तथा सभी शीर्ष रोगों को हम आपसे दूर करते हैं ॥२ ॥

२५६७. यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥३ ॥

जिसके कारण यक्ष्मारोग कान और मुख से बहता है, उन सभी शीर्ष रोगों को हम आपसे बाहर करते हैं ॥३ ॥

२५६८. यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥४ ॥

जो रोग मनुष्य को बहरा और अन्धा कर देते हैं, उन सभी शीर्ष रोगों को हम आपसे दूर हटाते हैं ॥४ ॥

२५६९. अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥

अंगभंजक अंगज्वर, अंगपीड़क विश्वांग्य रोग तथा सभी सिर के रोगों को हम आपसे दूर करते हैं ॥५ ॥

२५७०. यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे।

जिसका भयंकर उद्वेग (प्रतीकाश) मनुष्य को कम्पायमान कर देता है, उस शरत्कालीन ज्वर को हम आपसे बाहर करते हैं ॥६ ॥

२५७१. य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥

जो रोग जंघाओं की ओर बढ़ता है और गवीनिका नाड़ियों में पहुँच जाता है, उस यक्ष्मारोग को आपके भीतरी अंगों से हम बाहर निकालते हैं ॥७ ॥

२५७२.यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे।

जो इच्छाकृत कार्यों अथवा बिना कामना से हृदय के समीप उत्पन्न होता है, उस कफ को हृदय और शेष अंगों से हम बाहर निकालते हैं ॥८ ॥

२५७३. हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्। यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥

हम आपके अंगों से हरिमा (रक्तहीनता) रोग को, पेट के भीतर से जलोदर रोग को और शरीर के भीतर से यक्ष्मारोग को धारण करने वाली स्थिति को बाहर करते हैं ॥९ ॥

२५७४. आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१० ॥

कफ शरीर से बाहर आए, आमदोष मूत्ररूप में बाहर आए। सभी यक्ष्मारोगों के विष को मन्त्र-सामर्थ्य द्वारा हम बाहर निकालते हैं ॥१० ॥

२५७५. बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विष निरवोचमहं त्वत् ॥११ ॥

'काहाबाह' अर्थात् फड़फड़ाने वाले रोग आपके पेट से द्रवीभूत होकर बाहर जाएँ, सभी यक्ष्मारोगों के विष-विकारों को हम मन्त्र-सामर्थ्य से, आपके शरीर से बाहर करते हैं ॥११ ॥

२५७६. उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१२ ॥

हम आपके पेट, "क्लोम" (फेफड़ों), नाभि और हृदय से सभी रोगों के विषरूप विकारों को शरीर से बाहर निकालते हैं ॥१२ ॥

२५७७. याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१३ ॥

जो सीमाभाग को पीड़ित करते हैं और सिर तक बढ़ते जाते हैं, वे रोग दूर होकर रोगी के लिए कष्टकारक न होते हुए शरीर के रन्ध्रों से द्रवरूप होकर बाहर निकलें ॥१३ ॥

[मंत्र क्र० १४ से १८ तक अमर्यादित रूप से बढ़ी हुई हड्डियों के पीड़ादायक हिस्सों को द्रवीभूत करके बाहर निकालने का उल्लेख है। यह विद्या बहुत उपयोगी हो सकती है; किन्तु वर्तमान समय में यह शोध का विषय है।]

२५७८. या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥

जो हृदय और हँसुली (ग्रीवास्थि) की 'कीकस' नामक हड्डियाँ हृदय क्षेत्र में फैलती हैं, वे सभी वेदनाएँ दोषरहित और कष्टरहित (हिंसारहित) होती हुई शारीरिक रन्ध्रों से द्रवरूप होकर बाहर निकलें ॥१४ ॥

२५७९. याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१५ ॥

जो अस्थियाँ पार्श्व (पसलियों) में जाती और पीठ भाग तक फैलती हैं, वे रोगरहित और मारक न बनती हुई शारीरिक छिद्रों (रन्ध्रों) से द्रवीभूत होकर बाहर निकलें ॥१५ ॥

२५८०. यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१६ ॥

जो अस्थियाँ तिरछी जाती हुई आपकी पसलियों में प्रवेश करती हैं, वे भी रोगरहित और अमारक होकर द्रवीभूत होकर बाहर निकल जाएँ ॥१६ ॥

२५८१. या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१७ ॥

गुदा भाग तक फैली हुई जो अस्थियाँ आँतों को अवरुद्ध करती हैं, वे भी बिना कष्ट दिए रोगविहीन होकर शारीरिक छिद्रों से बाहर निकल जाएँ ॥१७ ॥

२५८२. या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१८ ॥

वे अस्थियाँ जो मज्जाभाग को रक्तहीन करती हैं और जोड़ों में वेदना पैदा करती हैं, वे बिना कष्ट दिए रोगरहित होकर शारीरिक रन्ध्रों से बाहर निकलें ॥१८ ॥

२५८३. ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१९ ॥

यक्ष्मारोग को दूर करने वाली और अंगों पर मांस की वृद्धि करने वाली जो ओषधियाँ आपके अंगों को आनन्दित करती हैं, उनसे सभी यक्ष्मारोगों के विष-विकारों को हम आपसे दूर करते हैं ॥१९ ॥

२५८४. विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥२० ॥

विसल्प (पीड़ा), विद्रध (सूजन) , वातीकार (वातरोग) और अलजि इन सभी रोगों के विष को हम आपके शरीर से, मन्त्र प्रयोग से दूर हटाते हैं ॥२० ॥

२५८५. पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥२१ ॥

आपके पैरों, घुटनों, कूल्हों, कटि (गुप्तभाग) रीढ़, गर्दन की नाड़ियों और सिर से फैलने वाली आपकी पीड़ाओं को हमारे द्वारा विनष्ट कर दिया गया है ॥२१ ॥

२५८६. सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोङ्गभेदमशीशमः ॥२२ ॥

आपके सिर पर उदय होते सूर्यदेव ने अपनी किरणों से रोग को विनष्ट किया और चन्द्रदेव आपके कपाल भाग तथा हृदय के अंग भेद को शान्त कर देते हैं ॥२२ ॥

[१४-आत्मा सूक्त]

[ऋषि- ब्रह्मा । देवता- वाम, आदित्य, अध्यात्म । छन्द- त्रिष्टुप्, १२, १४, १६, १८ जगती ।]

२५८७. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१ ॥

इस सुन्दर एवं जगपालक होता (सूर्यदेव) को हमने सात पुत्रों (सप्तवर्णी किरणों) सहित देखा है । इन (सूर्यदेव) के मध्यम (मध्य-अन्तरिक्ष में रहने वाला) भाई सर्वव्यापी वायुदेव हैं । इनके तीसरे भाई तेजस्वी पीठ वाले (अग्निदेव) हैं ॥१ ॥

२५८८. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥२ ॥

एक चक्र (सविता के पोषण चक्र) वाले रथ से ये सातों जुड़े हैं । सात नामों (रंगों) वाला एक (किरणरूपी) अश्व इस चक्र को चलाता है । तीन (द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी) नाभियों (केन्द्रक) अथवा धुरियों वाला यह काल चक्र सतत गतिशील अविनाशी और शिथिलता रहित है । इसी चक्र के अन्दर समस्त लोक विद्यमान हैं ॥२ ॥

२५८९. इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥३ ॥

इस (सूर्यदेव के पोषण चक्र) से जुड़े यह जो सात (सप्त वर्ण अथवा सातकाल वर्ग- अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात एवं मुहूर्त) हैं, यही सात चक्र अथवा सात अश्वों के रूप में इस रथ को चलाते हैं । जहाँ गौ (वाणी) में सात नाम (सात स्वर) छिपे हैं, ऐसी सात बहनें (स्तुतियाँ) इनकी वन्दना करती हैं ॥३ ॥

२५९०. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥४ ॥

जो अस्थि (शरीर) रहित होते हुए भी अस्थियुक्त (शरीरधारी प्राणियों) का पालन-पोषण करते हैं; उन स्वयं-भू को किसने देखा ? भूमि में प्राण, रक्त एवं आत्मा कहाँ से आए ? इस सम्बन्ध में पूछने (जानने) के लिए कौन किसके पास जाता है ? ॥४ ॥

२५९१. इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥५ ॥

जो इस सुन्दर और गतिमान् सूर्य के उत्पत्ति स्थान को (उत्पत्ति के रहस्य को) जानते हैं, वे इस गुप्त रहस्य का यहाँ आकर स्पष्टीकरण करें कि इस सर्वोत्तम सूर्य की गौएँ (किरणें) पानी का दोहन करती हैं (बरसाती हैं) ; वे ही (ग्रीष्मकाल में) तेजस्वी होकर पैरों (निचले भागों) से जल को सोखती हैं ॥५ ॥

२५९२. पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥६ ॥

अपरिपक्व बुद्धिवाले हम, देवताओं के इन गुप्त पदों (चरणों) के सम्बन्ध में जानने के लिए मनो पूर्वक पूछते हैं, सुन्दर युवा गोवत्स (बछड़े या सूर्य) के लिए ये विज्ञ (देव आदि) सप्त तन्तुओं (किरणों) ९ कैसे फैलाते हैं ? ॥६ ॥

२५९३. अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।।७ ।।

जिसके द्वारा इन छहों लोकों को स्थिर किया गया है, वह अजन्मा प्रजापतिरूपी तत्त्व कैसा है ? उसका क्या स्वरूप है ? इस तत्त्वज्ञान से अपरिचित हम तत्त्ववेत्ताओं से निश्चित स्वरूप की जानकारी के लिए यह पूछते हैं ।।७।।

२५९४. माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ।।८ ।।

माता (पृथ्वी) ने ऋत (यज्ञ अथवा ऋतु के अनुरूप उपलब्धि) के लिए पिता (द्युलोक अथवा सूर्य) का सेवन किया । क्रिया के पूर्व मन से उनका सम्पर्क हुआ । माता गर्भ (उर्वरता धारण करने योग्य) रस से निबद्ध हुई, तब (गर्भ के विकास के लिए) उनमें नमनपूर्वक (एक दूसरे का आदर करते हुए) वचनों का आदान-प्रदान हुआ ।।८ ।।

२५९५. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ।।९ ।।

समर्थ सूर्यदेव की धारण क्षमता पर माता (पृथ्वी) आधारित हैं ।गर्भ (उर्वरशक्ति प्राणपर्जन्य) गमनशील (वायु अथवा बादलों) के बीच रहता है । बछड़ा (बादल) गौओं (किरणों) को देखकर शब्द करते हुए अनुमान करता है, तब तीनों का संयोग विश्व को रूपवान् बनाता है ।।९ ।।

२५९६. तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ।।१० ।।

यह स्रष्टा प्रजापति अकेले ही (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकरूपी) तीन माताओं तथा (अग्नि, वायु और सूर्य रूपी) तीन पिताओं का भरण- पोषण करते हुए सबसे परे स्थित है ।इन्हें थकावट नहीं आती । विश्व के रहस्य को जानते हुए भी अखिल विश्व से परे (बाहर) रहने वाले प्रजापति की वाणी (शक्ति) के सम्बन्ध में (सभी देवगण) द्युलोक के पृष्ठ-भाग पर विचार करते हैं ।।१० ।।

२५९७. पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ।।११ ।।

अयन, मासादि पाँच अरों वाले इस कालचक्र (रथ) में समस्तलोक विद्यमान हैं । इतने लोकों का भार वहन करते हुए भी इस चक्र का अक्ष (धुरा) न गरम होता है और न टूटता है ।।११ ।।

२५९८. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ।।१२ ।।

अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन और रातरूपी पाँच पैरों वाला, मासरूपी बारह आकृतियों से युक्त तथा जल को बरसाने वाले पितारूप सूर्य दिव्यलोक के आधे हिस्से में रहते हैं, ऐसी मान्यता है । अन्य विद्वानों के मतानुसार ये सूर्य ऋतुरूप छः अरों तथा अयन, मास, ऋतु, पक्ष, दिन, रात एवं मुहूर्तरूपी सात चक्रों वाले रथ पर आरूढ़ हैं ।।

२५९९. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।१३ ।।

ऋत (सूर्य या सृष्टि संचालक यज्ञ) का बारह अरों (राशियों) वाला चक्र द्युलोक में चारों ओर घूमता रहता है ।यहचक्र कभी अवरुद्ध या जीर्ण नहीं होता ।हे अग्ने !संयुक्तरूप से रहने वाले सात सौ बीस पुत्र यहाँ रहते हैं ।

२६००. सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।

सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१४ ॥

नेमि (धुरा या नियन्त्रण) से युक्त कभी क्षय न होने वाला सृष्टि चक्र सदैव चलता रहता है। अतिव्यापक प्रकृति के उत्पन्न होने पर इसे दस घोड़े (पाँच प्राण एवं पाँच उपप्राण, पाँच प्राण एवं पाँच अग्नियाँ आदि) चलाते हैं । सूर्यरूपी नेत्र का प्रकाश जल से आच्छादित होकर गतिमान् होता है, उसमें ही सम्पूर्ण लोक विद्यमान हैं ॥१४ ॥

२६०१. स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः ।

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥१५ ॥

ये (किरणें) स्त्रियाँ हैं, फिर भी पुरुष की तरह (गर्भ धारण कराने में समर्थ) हैं, यह तथ्य (सूक्ष्म) दृष्टि सम्पन्न ही देख सकते हैं । दूरदर्शी पुत्र (साधक-शिष्य) ही इसे अनुभव कर सकता है । जो यह जान लेता है, वह पिता का भी पिता (सर्वसृजेता को भी जानने वाला) हो जाता है ॥१५ ॥

[यह मंत्र प्रजनन विज्ञान (जैनेटिक साइंस) पर भी घटित होता है । गुण सूत्रों (क्रोमोजोम्स) में भी एक्स एवं वाई, नारी एवं नर दोनों की क्षमताएँ पायी जाती हैं ।]

२६०२. साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥१६ ॥

एक साथ जन्मे, जोड़े से रहने वाले छः और सातवाँ यह सभी एक (काल अथवा परमात्म चेतना) से उत्पन्न हैं । यह देवत्व से उपजे ऋषि हैं । वे सभी अपने बदले हुए रूपों में अपने-अपने इष्ट प्रयोजनों में रत, अपने-अपने धामों (क्षेत्रों) में स्थित रहकर गतिशील (सक्रिय) हैं ॥१६ ॥

२६०३. अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।

सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥१७ ॥

गौएँ (पोषक किरणें) द्युलोक से नीचे की ओर तथा इस (पृथ्वी) से ऊपर की ओर (सतत) गतिमान् हैं । ये बछड़े (जीवन तत्त्व) को धारण किये हुए किस लक्ष्य की ओर जाती हैं ? यह किस आधे भाग से परे निकल कर जन्म देती हैं ? यहाँ समूह के मध्य तो नहीं देतीं ॥१७ ॥

[पदार्थ विज्ञान की नवीनतम शोधों के अनुसार सूक्ष्म किरणों के प्रवाह पृथ्वी से आकाश की ओर तथा आकाश से पृथ्वी की ओर सतत गतिशील हैं । ये प्रवाह पृथ्वी के किसी भी अर्द्ध भाग (हैमिस्फियर) को छूते हुए निकल जाते हैं । यह प्रवाह कब-कहाँ जीवन तत्त्व को प्रकट कर देते हैं ? किसी को पता नहीं है ।]

२६०४. अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।

कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥१८ ॥

जो द्युलोक से नीचे इस (पृथ्वी) के पिता (सूर्यदेव) तथा पृथिवी के ऊपर स्थित अग्निदेव को जानते हैं, वे निश्चित ही विद्वान् हैं । यह दिव्यता से युक्त आचरण वाला मन कहाँ से उत्पन्न हुआ ? इस रहस्य की जानकारी देने वाला ज्ञानी कौन है ? वह हमें यहाँ आकर बताए ॥१८ ॥

२६०५. ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।

इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९ ॥

(इस गतिशील विश्व में) पास आते हुए को दूर जाता हुआ भी कहा जाता (अनुभव किया जाता) है और

दूर जाते को पास आता हुआ भी कहा जाता है। हे सोमदेव ! आपने और इन्द्रदेव ने जो चक्र चला रखा है, वह धुरे से जुड़ा रहकर लोकों को वहन करता है ॥१९ ॥

[घूमते विश्व में नक्षत्रादि पास आते हुए, दूर जाते हुए भी दिखते हैं। इन्द्रदेव, सूर्यदेव अथवा संगठक शक्ति तथा सोम, चन्द्रमादेव अथवा पोषकशक्ति के संयोग से इस विश्व का चक्र चल रहा है।]

२६०६. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥२० ॥

साथ रहने वाले मित्रों की तरह दो पक्षी (गतिशील जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृति अथवा शरीर) पर स्थित हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) स्वादिष्ट पीपल (विश्व वृक्ष) के फल खाता है, दूसरा (परमात्मा) उन्हें न खाता हुआ केवल देखता (द्रष्टारूप) रहता है ॥२० ॥

२६०७. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥२१ ॥

इस (संसाररूपी) वृक्ष पर प्राण रस का पान करने वाली जीवात्माएँ रहती हैं, जो प्रज्ञा वृद्धि में समर्थ हैं, वृक्ष में ऊपर मधुर फल भी लगे हुए हैं, जो पिता (परमात्मा) को नहीं जानते, वे इन मधुर (सत्कर्मरूपी) फलों के आनन्द से वञ्चित रहते हैं ॥२१ ॥

२६०८. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२२ ॥

इस (प्रकृति-रूपी) वृक्ष पर बैठी हुई संसार में लिप्त मरणधर्मा जीवात्माएँ सुख-दुःखरूपी फलों को भोगती हुई अपने शब्दों में परमात्मा की स्तुति करती हैं कि इन लोकों के स्वामी और संरक्षक परमात्मा अज्ञान से युक्त मुझ जीवात्मा में भी विद्यमान हैं ॥२२ ॥

[१५ - आत्मा सूक्त]

[**ऋषि**- ब्रह्मा। देवता-गौ, विराट्, अध्यात्म, २३ मित्रावरुण। **छन्द**- त्रिष्टुप्, १, ७, १४, १७-१८ जगती, २, २६-२७ भुरिक् त्रिष्टुप्, २१ पञ्चपदातिशक्वरी, २४ चतुष्पदा पुरस्कृतें भुरिक् अतिजगती।]

२६०९. यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥१ ॥

पृथ्वी पर गायत्री छन्द को, अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् छन्द को तथा आकाश में जगती छन्द को स्थापित करने वाले को जो जान लेता है, वह देवत्व (अमरत्व) को प्राप्त कर लेता है ॥१ ॥

२६१०. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥२ ॥

(परमात्मा ने) गायत्री छन्द से प्राण की रचना की, ऋचाओं के समूह से सामवेद को बनाया, त्रिष्टुप् छन्द से यजुर्वाक्यों की रचना की तथा दो पदों एवं चार पदों वाले अक्षरों से सातों छन्दमय वाणियों को प्रादुर्भूत (प्रकट) किया ॥२ ॥

२६११. जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥३ ॥

गतिमान् सूर्यदेव द्वारा प्रजापति ने द्युलोक में जल स्थापित किया । वृष्टि के माध्यम से जल, सूर्यदेव और पृथ्वी संयुक्त होते हैं, तब सूर्य और द्युलोक में सन्निहित प्राण, जल वृष्टि के द्वारा इस पृथ्वी पर प्रकट होता है । गायत्री के तीन पाद अग्नि, विद्युत् और सूर्य (पृथ्वी, द्यु और अन्तरिक्ष) हैं । उस प्रजापति की तेजस्विता से ही ये तीनों पाद बलशाली होते हैं, ऐसा कहा गया है ॥३ ॥

२६१२. उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥४ ॥

दुग्ध (सुख) प्रदान करने वाली गौ (प्रकृति प्रवाहों) का हम आवाहन करते हैं । इस गौ का दुग्ध (श्रेष्ठ प्राण) हमें प्रदान करें । तपस्वी एवं तेजस्वी (जीवन्त साधक) ही इसको ग्रहण कर सकता है; ऐसा कथन है ॥४ ॥

२६१३. हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥५ ॥

कभी भी वध न करने योग्य गौ, मनुष्यों के लिए अन्न, दुग्ध, घृत आदि ऐश्वर्य प्रदान करने की कामना से अपने बछड़े को- मन को प्यार करती हुई, रँभाती हुई बछड़े के पास आ जाती है । वह गौ मानव समुदाय के महान् सौभाग्य को बढ़ाती हुई, प्रचुर मात्रा में दुग्ध प्रदान करती है ॥५ ॥

२६१४. गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥६ ॥

गौ (स्नेह से) आँखें बन्द किए हुए (बछड़े के) समीप जाकर रँभाती है । बछड़ेके सिर को चाटने (सहलाने) के लिए वात्सल्यपूर्ण शब्द करती है । उसके मुँह के पास अपने दूध से भरे थनों को ले जाती हुई शब्द करती है । वह दूध पिलाते हुए (प्यार से) शब्द करते हुए बछड़े को संतुष्ट भी करती है ॥६ ॥

२६१५. अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥७ ॥

वत्स गौ के चारों ओर बिना शब्द के अभिव्यक्ति करता है । गौ रँभाती हुई अपनी (भावभरी) चेष्टाओं से मनुष्यों को लज्जित करती है । उज्ज्वल दूध उत्पन्न कर अपने भावों को प्रकाशित करती है ॥७ ॥

२६१६. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥८ ॥

श्वसन प्रक्रिया द्वारा अस्तित्व में रहने वाला जीव (चंचल जीव) जब शरीर से चला जाता है, तब यह शरीर घर में निश्चल पड़ा रहता है । मरणशील (मरणधर्मा) शरीरों के साथ रहने वाली आत्मा अविनाशी है, अतएव अविनाशी आत्मा अपनी धारण करने की शक्तियों से सम्पन्न होकर सर्वत्र निर्बाध विचरण करती है ॥८ ॥

२६१७. विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥९ ॥

युद्ध में शौर्य प्रदर्शित करके शत्रुसेना को खदेड़ देने वाले बलशाली इन्द्रदेव के प्रभाव से श्वेतकेश (शक्तिहीन) वृद्ध भी स्फूर्तिवान् हो जाता है । हे स्तोताओ ! महान् इन्द्रदेव के पराक्रम का विवेचन करने वाले विचित्र काव्य को देखो, जो आज (उच्चारण के बाद) समाप्त हो जाने पर भी (भविष्य में नवीन मंत्रों के रूप में) पुनः प्रकट होता है ॥९ ॥

२६१८. य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥१० ॥

जिसने इसे (जीव को) बनाया, वह भी इसे नहीं जानता; जिसने इसे देखा है, उससे भी यह लुप्त रहता है। यह माँ के प्रजनन अंग में घिरा हुआ स्थित है। यह प्रजाओं की उत्पत्ति करता हुआ स्वयं अस्तित्व खो देता है ॥१०

२६१९. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥११ ॥

समीपस्थ तथा दूरस्थ मार्गों में गतिमान् सूर्यदेव निरन्तर गतिशील रहकर भी कभी नहीं गिरते। वे सम्पूर्ण विश्व का संरक्षण करते हैं। चारों ओर फैलने वाली तेजस्विता को धारण करते हुए समस्त लोकों में विराजमान् सूर्यदेव को हम देखते हैं ॥११ ॥

२६२०. द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥१२ ॥

द्युलोक स्थित (सूर्यदेव) हमारे पिता और बन्धु स्वरूप हैं। वही संसार के नाभिरूप भी हैं। यह विशाल पृथिवी हमारी माता है। दो पात्रों (आकाश के दो गोलार्द्धों) के मध्य स्थित सूर्यदेव अपने द्वारा उत्पन्न पृथ्वी में गर्भ (जीवन) स्थापित करते हैं ॥१२ ॥

२६२१. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१३ ॥

इस धरती का अन्तिम छोर कौन सा है? सभी भुवनों का केन्द्र कहाँ है? अश्व की शक्ति कहाँ है? और वाणी का उद्‌गम कहाँ है? यह हम आपसे पूछते हैं ॥१३ ॥

२६२२. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४ ॥

(यज्ञ की) यह वेदिका पृथ्वी का अन्तिम छोर है, यह यज्ञ ही संसार- चक्र की धुरी है। यह सोम ही अश्व (बलशाली) की शक्ति (वीर्य) है। यह 'ब्रह्मा' वाणी का उत्पत्ति स्थान है ॥१४ ॥

२६२३. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५ ॥

मैं नहीं जानता कि मैं कैसा हूँ? मैं मूर्ख की भाँति मन से बँधकर चलता रहता हूँ। जब पहले ही प्रकट हुआ सत्य मेरे पास आया, तभी मुझे यह वाणी प्राप्त हुई ॥१५ ॥

[वेद वाणी किस प्रकार प्रकट हुई? इस तथ्य को ऋषि निश्छल भाव से व्यक्त कर रहे हैं।]

२६२४. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६ ॥

यह आत्मा अविनाशी होने पर भी मरणधर्मा शरीर के साथ आबद्ध होने से विविध योनियों में जाती है। यह अपनी धारण- क्षमता से ही उन शरीरों में आती और शरीरों से पृथक् होती रहती है। ये दोनों शरीर और आत्मा शाश्वत एवं गतिशील होते हुए विपरीत गतियों से युक्त हैं। लोग इनमें से एक (शरीर) को तो जानते हैं, पर दूसरे (आत्मा) को नहीं समझते ॥१६ ॥

२६२५. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥१७ ॥

सम्पूर्ण विश्व का निर्माण अपरा प्रकृति के मन, प्राण और पंचभूत रूपी सात पुत्रों से होता है । यह सभी तत्त्व सर्वव्यापक प्रजापति के निर्देशानुसार ही कर्त्तव्य निर्वाह करते हैं । वे अपनी ज्ञानशीलता, व्यापकता से तथा अपनी संकल्पशक्ति द्वारा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं ॥१७ ॥

२६२६. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥१८ ॥

ऋचाएँ अविनाशी परमव्योम में भरी हुई हैं । जहाँ सम्पूर्ण देव शक्तियों का वास है । जो इस तथ्य को नहीं जानता (उसके लिए) ऋचा क्या करेगी ? जो इस तथ्य को जानते हैं, वे इस (ऋचा) का सदुपयोग कर लेते हैं ॥१८ ॥

२६२७. ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१९ ॥

ॐकार के पद को मात्रा द्वारा कल्पित करते हुए उसके अर्धभाग से इस चैतन्यजगत् को समर्थ करते हैं । तीन पादों से युक्त ज्ञान अनेकरूपों में स्थिर रहता है ।उसकी एकमात्र मात्रा से चारों दिशाएँ जीवन प्राप्त करती हैं ।

२६२८. सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥२० ॥

अवध्य गौ माता ! आप श्रेष्ठ पौष्टिक घास (आहार) ग्रहण करती हुई सौभाग्यशालिनी हों । आपके साथ हम सभी सौभाग्यशाली हों । आप शुद्ध घास खाकर और शुद्ध जल पीकर सर्वत्र विचरण करें ॥२० ॥

२६२९. गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी
बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥२१ ॥

गौ (वाणी) निश्चित ही शब्द करती हुई जल (रसों) को हिलाती (तरंगित करती) है । वह गौ (काव्यमयी वाणी) एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पदों वाले छन्दों में विभाजित होती हुई सहस्र अक्षरों से युक्त होती है । उसके रस समुद्र में क्षरित प्रवाहित होते हैं ॥२१ ॥

[इस ऋचा में गौ का अर्थ सूर्य रश्मियाँ भी लिया जा सकता है । वे सहस्र चरणवाली बनकर आकाश में संव्याप्त होती हैं और दिव्य पोषक रसों को प्रकृतिरूपी सिन्धु में संचरित करती हैं ।]

२६३०. कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥२२ ॥

श्रेष्ठ गतिमान् सूर्य-किरणें अपने साथ जल को उठाती हुई , सबके आकर्षण के केन्द्र यानरूप सूर्यमण्डल के समीप पहुँचती हैं । वहाँ अन्तरिक्ष के मेघों में स्थित जल को बरसाते हुए पृथ्वी को सिक्त कर देती हैं ।

२६३१. अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३ ॥

हे मित्र और वरुणदेव !(दिन और रात्रिरूप आप दोनों की सामर्थ्य से) बिना पैर वाली उषा, पैर वाले प्राणियों से पहले पहुँच जाती हैं । (आप दोनों के) गर्भ से उत्पन्न होकर शिशु, सूर्य, संसार के पालन-पोषणरूपी दायित्व का निर्वाह करते हैं । यही सूर्यदेव असत्यरूप अन्धकार को दूर करके सत्यरूप आलोक को फैलाते हैं ॥२३ ॥

२६३२. विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराणमृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥२४

विराट् (ब्रह्म) ही वाणी, भू, अन्तरिक्ष, प्रजापति (निर्माता) एवं मृत्युरूप हैं। वे ही सभी साध्यों के अधिकारी शासक हैं। भूत, भविष्य भी उन्हीं के अधीन हैं, वे भूत और भविष्य को हमारे वश में करें ॥२४ ॥

**२६३३. शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५ ॥**

दूर से हमने धूम्र को देखा। चतुर्दिक् व्याप्त धूम्र के मध्य अग्नि को देखा, जिसमें प्रत्येक उत्तम कार्यों के पूर्व ऋत्विग्गण शक्तिदायी सोमरस को पकाते हैं ॥२५ ॥

**२६३४. त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६ ॥**

तीन किरणों वाले पदार्थ (सूर्य, अग्नि और वायु) ऋतुओं के अनुसार दिखाई देते हैं। इनमें से एक (सूर्य) संस्कार का वपन करता है। एक (अग्नि) अपनी शक्तियों से विश्व को प्रकाशित करता है। तीसरे (वायु) का रूप प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता है ॥२६ ॥

**२६३५. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ते मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥२७ ॥**

मनीषियों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि वाणी के चार रूप हैं, इनमें से तीन वाणियाँ (परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा) प्रकट नहीं होतीं। सभी मनुष्य वाणी के चौथे रूप (वैखरी) को ही बोलते हैं ॥२७ ॥

**२६३६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥२८ ॥**

एक ही सत् रूप परमेश्वर का विद्वज्जन (विभिन्न गुणों एवं स्वरूपों के आधार पर) विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। उसी (परमात्मा) को (ऐश्वर्य सम्पन्न होने पर) इन्द्र, (हितकारी होने से) मित्र, (श्रेष्ठ होने से) वरुण तथा (प्रकाशक होने से) अग्नि कहा गया है। वह (परमात्मा) भली प्रकार पालनकर्त्ता होने से सुपर्ण तथा (शक्तिसम्पन्न होने से) गरुत्मान् है ॥२८ ॥

॥इति नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ अथ दशमं काण्डम् ॥

[१ - कृत्यादूषण सूक्त]

[ऋषि- प्रत्यङ्गिरस । देवता- कृत्यादूषण । छन्द- अनुष्टुप्, १ महाबृहती, २ विराट् गायत्री, ९ पथ्यापंक्ति,१२ पंक्ति, १३ उरो बृहती, १५ चतुष्पदा विराट् जगती, १६, १८ त्रिष्टुप्, १७, २४ प्रस्तार पंक्ति, १९ चतुष्पदा जगती, २० विराट् प्रस्तार पंक्ति, २२ एकावसाना द्विपदार्ची उष्णिक्, २३ त्रिपदा भुरिक् विषमा गायत्री, २८ त्रिपदा गायत्री, २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती, ३२ द्व्यनुष्टुप् गर्भा पञ्चपदातिजगती]

२६३७. यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥१ ॥

जिस कृत्या (घातक प्रयोग) को निर्माताजन अपने हाथों से उसी प्रकार अनेक ढंग का बनाते हैं, जिस प्रकार विवाहकाल में वधू को सजाते हैं । वह कृत्या हमारे समीप से दूर चली जाए , हम उसे दूर करते हैं ॥१ ॥

२६३८. शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥२ ॥

अनेक रूपों वाली, शीर्षभाग वाली, नाक वाली तथा कान वाली बनाई गई जो कृत्याएँ (घातक अभिचार प्रयोग) हैं, वे हमें हानि पहुँचाए बिना दूर चली जाएँ , इन्हें निवारण - विधि द्वारा हम दूर खदेड़ते हैं ॥२ ॥

२६३९. शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥३ ॥

शूद्र, राजा, स्त्री अथवा ब्राह्मणों द्वारा किये गये अभिचार मारकप्रयोग, उन प्रयोक्ताओं के समीप उसी प्रकार लौट जाएँ , जिस प्रकार पति द्वारा परित्यक्ता स्त्री अपने पिता अथवा भाइयों के पास ही जाती है ॥३ ॥

२६४०.अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ।

खेत में, गौओं में अथवा पुरुषों पर किये गये कृत्या-प्रयोगों को हम (अपामार्ग) ओषधि से पहले ही शक्तिहीन कर चुके हैं ॥४ ॥

२६४१. अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥५ ॥

हिंसक-पाप (कृत्या) प्रयोगकर्त्ता के पास और शपथरूप (शाप आदि) शाप प्रयोता के पास पहुँचें । हम अभिचार कर्म को इस प्रकार भेजते हैं, जिससे वे प्रयोक्ताओं को ही विनष्ट करें ॥५ ॥

२६४२. प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥६ ॥

अभिचार कर्म को लौटाने में समर्थ आंगिरसी विद्या का ज्ञाता अध्यक्ष ही हमारा अग्रणी नेता (पुरोहित) है । हे पुरोहित ! आप समक्ष आती हुई कृत्याओं को छिन्न-भिन्न करते हुए अभिचारकों को ही विनष्ट करें ॥६ ॥

२६४३. यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम्।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्वमास्मानिच्छो अनागसः ॥७॥

हे कृत्ये ! जिस प्रयोक्ता पुरुष ने तुझे "आगे बढ़ो" ऐसा कहा है, उस विरोधी शत्रु के पास तुम दुबारा लौट जाओ। हम निरपराधियों की आप इच्छा न करें ॥७॥

२६४४. यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया। तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥८॥

जिस प्रकार शिल्पकार विचारपूर्वक रथ के अवयवों को संयुक्त करते हैं, उसी प्रकार जिसने घातक प्रयोग के अवयवों को मन्त्रशक्ति से जोड़ा है, हे कृत्ये ! आप उसी के समीप लौट जाएँ, वही आपका अनुकूल स्थान है। यह मनुष्य तो आपसे परिचय रहित ही है ॥८॥

२६४५. ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः।
शम्भ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥९॥

हे कृत्ये ! जिन धूर्त अभिचारकों ने आपको बनाकर धारण किया है, उन घातक प्रयोगों के प्रतिकारक कल्याण साधन दुबारा घातक प्रयोक्ता को लौटाने में समर्थ हैं, इसलिए इससे तुम्हें नहलाते हैं, जिससे सभी दोषों का निवारण हो ॥९॥

२६४६. यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥१०॥

हम जिस मृत पुत्र वाली, दुर्भाग्य और शोक में स्नान कराने वाली कृत्या को प्राप्त हो गए हैं, वे सभी पाप हमसे दूर हों तथा हमारे पास प्रचुर धन स्थित रहे ॥१०॥

२६४७. यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
संदेश्या३त् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥११॥

हे मनुष्यो ! पितर जनों के निमित्त श्रद्धाञ्जलि देते समय (उनके प्राणान्त के दोषारोपण के साथ) यदि आपका नाम लिया जाए (ऐसा कोई पाप आपसे हुआ हो), तो उन सभी पापों से ये ओषधियाँ आपको संरक्षित करें ॥११॥

२६४८. देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्या दभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥१२॥

हे मनुष्यो ! देवों से सम्बन्धित (उनकी अवज्ञा से हुए) पाप, पितरों से सम्बन्धित पाप, अपमानित करने के पाप तथा अपशब्दकथन रूप पाप; इन सभी से ये ओषधियाँ, मन्त्रशक्ति, ज्ञान-सामर्थ्य और ऋषियों के पयः (आशीर्वाद) सहित हमारा संरक्षण करें ॥१२॥

२६४९. यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥१३॥

जिस प्रकार वायुदेव भूमि से धूलिकणों और अन्तरिक्ष से बादलों को उड़ा देते हैं, उसी प्रकार सभी दुष्प्रभाव मन्त्रशक्ति द्वारा निष्प्रभावी होकर दूर हों ॥१३॥

२६५०. अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥१४॥

हे कृत्ये ! आप शक्तिशाली मन्त्र से निष्प्रभावी होकर अपने प्रयोक्ताओं को दौड़ते हुए उसी प्रकार विनष्ट करें, जिस प्रकार बन्धन से छूटी हुई गर्दभी ताड़ना दिये जाने पर चिल्लाती हुई दुलत्तियाँ मारती है ॥१४ ॥

२६५१. अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।

तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५ ॥

हे कृत्ये ! यही आपका मार्ग है, शत्रुओं द्वारा भेजी गई आपको दुबारा उन्हीं की ओर भेजते हैं । इस अभिचारक क्रिया द्वारा गाड़ी से युक्त और अनेक सामर्थ्यों से युक्त होकर पृथ्वी पर शब्द (ध्वनि) करती हुई, आप सेना के समान हमारे शत्रुओं पर प्रत्याक्रमण करें ॥१५ ॥

२६५२. पराक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।

परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥१६ ॥

हे कृत्ये ! वापस लौटने के लिए आपको प्रकाश दिखे, लेकिन इस तरफ आने के लिए कोई मार्ग दिखाई न दे । आप हमें त्यागकर दूसरी ओर कहीं जाएँ । नौका द्वारा जाने योग्य दुर्गम, नब्बे नदियों को पार करके दूर चली जाएँ । हमें हिंसित न करके दूर चली जाएँ ॥१६ ॥

२६५३. वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।

कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥१७ ॥

जिस प्रकार वायु वृक्षों को तोड़ता है, उसी प्रकार हे कृत्ये ! आप हिंसक शत्रुओं का नाश करते हुए उन्हें उखाड़ फेंकें । उनके गाय, घोड़े और पुरुषों को भी शेष न रखें । अपने निर्माताओं को यहाँ से हटाकर 'आप सन्ततिहीन हो गये हो', ऐसा आभास कराएँ ॥१७ ॥

२६५४. यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।

अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥१८ ॥

जो अभिचार कृत्य आपके धान्य (अनाज) , श्मशान और खेत में गाड़कर किये गये हैं, आपके निरपराध और पवित्र होने पर भी जिन अभिचारकों द्वारा घातक प्रयोग किये गये हैं , उन्हें हम निष्प्रभावी करते हैं ॥१८ ॥

२६५५. उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् ।

तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥१९ ॥

लाये गये, जाने गये, गाड़े गये और छलपूर्वक प्रयुक्त वैररूप घातक अभिचार को हम प्रयोक्ता की ओर ही छोड़ते हैं । जिस स्थान से वह आया है, वहीं घोड़े के समान वापस लौट जाए और अभिचारक की सन्तानों का विनाश करे ॥१९ ॥

२६५६. स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।

उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥२० ॥

हे कृत्ये ! हमारे घर में उत्तम लोहे की तलवारें हैं, हम आपके अस्थि-जोड़ों को भी भली प्रकार जानते हैं, कि वे कैसी स्थिति में और कितने प्रकार के हैं, अतः आप यहाँ से उठकर दूर शत्रुओं की ओर भाग जाएँ । हमारे द्वारा न जाने गए हे अज्ञात मारणप्रयोग ! तुम यहाँ क्या (स्वयं लौट जाना या काटे जाना) चाहते हो ? ॥२० ॥

२६५७. ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।

इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥२१ ॥

हे अभिचार कृत्य ! हम तुम्हारे दोनों पैरों और गर्दन को भी काट देते हैं, अत: आप यहाँ से दूर चले जाएँ। प्रजाजनों के संरक्षक इन्द्र और अग्निदेव हमारा संरक्षण करें ॥२१ ॥

२६५८. सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥२२ ॥

राजा सोम संसार के समस्त प्राणियों के सुखदाता हैं, हम सबके पालक वे सोमदेव हमारे लिए भी सुख देने वाले हैं ॥२२ ॥

२६५९. भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥२३ ॥

भव और शर्व ये दोनों देव, देवों के विद्युत् रूपी आयुध को घातक दुराचारी पापी के ऊपर फेंकें ॥२३ ॥

[भव और शर्व यह भगवान् शिव के ही विशेषण हैं। उनकी दिव्य शिव शक्तियों से अशिव शक्तियों के निवारण की प्रार्थना की गई है।]

२६६०. यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतो३ष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥२४ ॥

यदि मारण (कृत्या) प्रयोक्ता द्वारा प्रेरित होकर अनेक रूप धारण करके दो अथवा चार पैर वाली बनकर हमारे पास आ रही हो, तो हे दुःख देने वाली कृत्ये ! आप यहाँ से आठ पैर वाली होकर (दूनी गति से) पुनः लौट जाएँ ॥२४ ॥

२६६१. अभ्य१क्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥२५ ॥

घृत से सिक्त, अच्छी तरह से अलंकृत और सभी दुर्दशाओं को धारण करने वाली हे कृत्ये ! आप यहाँ से दूर चली जाएँ। जिस प्रकार पुत्री अपने पिता को पहचानती है, उसी प्रकार आप अपने उत्पादनकर्त्ता को पहचानें ॥२५ ॥

२६६२. परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥२६ ॥

हे कृत्ये ! आप यहाँ न रुककर दूर चली जाएँ। शिकारी जिस प्रकार घायल हुए शिकार के स्थान पर जाता है, वैसे ही आप भी शत्रु के स्थान पर लौट जाएँ। आप शिकारी रूपा और आपका प्रयोक्ता शिकार के समान है, वह आपका नाश करने में सक्षम नहीं है, अतएव आप लौट जाएँ ॥२६ ॥

२६६३. उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥२७ ॥

पहले से बैठे हुए को दूसरा व्यक्ति बाण द्वारा मार देता है और पहले मारने वाले घातकी को दूसरा व्यक्ति विनष्ट करता है (इस प्रकार दोनों ही हानि उठाते हैं) ॥२७ ॥

२६६४. एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ। यस्त्वा चकार तं प्रति ॥२८ ॥

हमारे कथन के अभिप्राय को जानकर जहाँ से आपका आना हुआ था, वहीं पुनः चली जाएँ। हे कृत्ये ! जिसने आपका प्रयोग किया है, उसकी ओर ही आप जाएँ ॥२८ ॥

२६६५. अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९ ॥

हे कृत्ये ! निरपराध प्राणियों की हिंसा भयंकर कर्म है, इसलिए आप हमारी गौओं, घोड़ों और मनुष्यों का हनन न करें । जहाँ-जहाँ आप स्थापित की गई हैं, वहाँ से हम आपको हटाते हैं, आप पत्ते से भी सूक्ष्म हो जाएँ ॥२९ ॥

२६६६. यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव ।

सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥३० ॥

हे कृत्या अभिचारो ! यदि आप अन्धकार से जाल के समान आच्छादित हुए हों, तो उन सभी घातक प्रयोगों को यहाँ से लुप्त करके, हम आपको प्रयोक्ता के पास वापस भेजते हैं ॥३० ॥

२६६७. कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।

मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥३१ ॥

हे कृत्ये ! कपटी घातक प्रयोक्ता जो सन्तानों को विनष्ट करते हैं, आप उनका भी नाश करें । उन अभिचारकों में कोई शेष न रहे, उन सबको मार डालें ॥३१ ॥

२६६८. यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।

एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥३२ ॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अन्धकार से निवृत्त होते हैं तथा रात्रि और उषा के ध्वजों का परित्याग करते हैं, उसी प्रकार हम अभिचारी द्वारा किये गये दुष्कृत्यों का परित्याग करते हैं । हाथी द्वारा धूल झाड़ने के समान सहजभाव से शत्रु के अभिचार प्रयोग को हम दूर करते हैं ॥३२ ॥

[२ - ब्रह्मप्रकाशन सूक्त]

[ऋषि- नारायण । देवता- ब्रह्मप्रकाशन, पुरुष (३१-३२ साक्षात्परब्रह्म प्रकाशन) ।

छन्द- अनुष्टुप्, १-४, ७-८ त्रिष्टुप्, ६, ११ जगती, २८ भुरिक् बृहती ।]

इस सूक्त को 'केन-सूक्त' कहा गया है । 'केन उपनिषद' की तरह इस सूक्त का प्रारम्भ भी 'केन' (यह सब किसके द्वारा हुआ) की जिज्ञासा से हुआ है । 'केन' से प्रकट होने वाला मनुष्य का जिज्ञासा भाव ही उसकी अध्यात्म, ज्ञान - विज्ञान, कला परक शोधों का आधार रहा है । इस सूक्त में मनुष्य शरीर, उसके गुणों, प्रवृत्तियों, सद्गति-दुर्गति के सूत्रों, विश्व-ब्रह्माण्ड की संरचना एवं संचालन को लक्ष्य करके जो प्रश्न किए गए हैं, वे ऋषियों की सूक्ष्म अन्वेषक दृष्टि की गहराई का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । उस अद्‌भुतकर्त्ता और उसकी विचित्र कृति के बारे में भी यथास्थान संकेत किये गये हैं-

२६६९. केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।

केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥१ ॥

मनुष्य की एड़ियों और घुटनों का किसके द्वारा भरा गया है ? सुन्दर अँगुलियों, इन्द्रियों के छिद्रों और तलवों को पोषण किसने दिया ? तथा बीच में आश्रय देने वाले कौन हैं ? ॥१ ॥

२६७०. कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।

जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥२ ॥

मनुष्य के नीचे के टखनों और ऊपर के घुटनों को किसने विनिर्मित किया है ? जंघाएँ अलग-अलग बनाकर किसने इस स्थान पर स्थापित की ? जानुओं के जोड़ कहाँ हैं ? इसे कौन जानने में समर्थ है ? ॥२ ॥

२६७१. चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।

श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३ ॥

चार तरह से अन्त में संयुक्त किया गया शिथिल धड़, पेट और घुटनों के ऊपर जोड़ा गया है । कूल्हे और जंघाओं को किसके द्वारा बनाया गया है ? जिनसे धड़ भाग अधिक सुदृढ़ हुआ है ॥३ ॥

२६७२. कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥४ ॥

जो मनुष्य की छाती और कण्ठ के ज्ञाता हैं, वे कितने और कौन से देव हैं ? कितने तरह के देवों ने स्तनभाग और कोहनियों को विनिर्मित किया है ? कितने प्रकार से (जोड़ों से) कन्धों को तथा पसलियों को संयुक्त करते हैं ? ॥४ ॥

२६७३. को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥५ ॥

किस देव ने मनुष्य के वीर्य और भुजाओं को परिपुष्ट किया है, किस देव ने कन्धों को दृढ़ किया और किसने कुसिंध (धड़) पर शारीरिक अंगों को स्थापित किया है ? ॥५ ॥

२६७४. कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥६ ॥

मनुष्य के सिर में दो कान, दो नाक, दो नेत्र और एक मुख, इस प्रकार इन सात छिद्रों को किस देव के द्वारा विनिर्मित किया गया है ? किन देवों की विजयी महिमा में द्विपाद और चतुष्पाद प्राणी विभिन्न मार्गों से होते हुए यमराज के स्थान में गमन करते हैं ? ॥६ ॥

२६७५. हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥७ ॥

विभिन्न स्थानों में जाने वाली जीभ को जबड़ों के बीच में किसने रखा है और उसमें प्रभावपूर्ण वाणी को किसने आश्रित किया है ? जल के धारणकर्त्ता वे देव प्राणियों के अन्दर विचरण करते हैं, इसे कौन जानने में समर्थ है ? ॥७ ॥

२६७६. मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८ ॥

इस मनुष्य के मस्तिष्क के ललाट भाग, सिर के कपालभाग, कपाल और जबड़ों के संचय भाग का चयन करके जो देव सर्वप्रथम द्युलोक पर आरूढ़ हुए, वे कौन से देव हैं ? ॥८ ॥

[मस्तिष्कं का पिछला भाग विज्ञान के इतने विकास के बाद भी रहस्यमय बना हुआ है । ऋषि के संकेत हैं कि मस्तिष्क के माध्यम से द्युलोक पर आरूढ़ हुआ जा सकता है, यह उनके विलक्षण अन्वेषण क्षमता का प्रमाण है]

२६७७. प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥९ ॥

यह प्रचण्ड पुरुष बहुत-सी प्रिय और अप्रिय वाणी को स्वप्न (निद्रा) , पीड़ा, थकावट, आनन्द और हर्ष को किस देव के प्रभाव से धारण करते हैं ? ॥९ ॥

२६७८. आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥१० ॥

मनुष्य में पीड़ा, दरिद्रता, पाप और दुर्बुद्धि ये दुष्प्रवृत्तियाँ कहाँ से प्रवेश करती हैं तथा पूर्णता, समृद्धि, विशिष्ट ऋद्धि, सद्बुद्धि और अभ्युत्थान की ये सहज प्रवृत्तियाँ कहाँ से आती हैं? ॥१० ॥

[उक्त दो सूक्तों में मनुष्य की स्थूल रचना से भिन्न उसकी सूक्ष्म संरचना प्रवृत्तियों आदि का विवेचन किया गया है। यह पक्ष वर्तमान विज्ञान की पकड़ से अभी बाहर है।]

२६७९. को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥११ ॥

इस मनुष्य शरीर में विशेष प्रकार से विचारशील, सर्वत्र भ्रमणशील, नदी के समान प्रवाहित होने के लिए विनिर्मित, लालवर्ण वाले, लोहित वर्ण वाले, ताँबे और धुएँ के समान वर्ण वाले ऊपर, नीचे और तिरछे वेग से गमनशील जल-प्रवाह किसके द्वारा स्थापित किये गये हैं? ॥११ ॥

[अगले तीन मंत्रों में मनुष्य जीवन में उन अति महत्त्वपूर्ण सूक्ष्मप्रवाहों और प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जो वर्तमान विज्ञान के लिए अगम्य हैं।]

२६८०. को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥१२ ॥

इस मनुष्य देव में रूप-सौन्दर्य, महिमा, नाम-कीर्ति, गतिशीलता, ज्ञान-पिपासा और आचरण सम्बन्धी गुण किन देवों द्वारा प्रतिष्ठित किये गये हैं ? ॥१२ ॥

२६८१. को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥१३ ॥

इस मानव देह में प्राण, अपान, व्यान और समान वायु किन देवों द्वारा प्रतिष्ठित किये गये हैं? ॥१३ ॥

२६८२. को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥१४ ॥

इस मनुष्य देह में परस्पर सहकार सहयोग की यज्ञीय भावनाओं और सत्यनिष्ठा को कौन प्रमुखदेव स्थापित करते हैं? कौन असत्य, मृत्यु और अमरत्व को इसमें प्रतिष्ठित करते हैं? ॥१४ ॥

२६८३. को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥१५ ॥

जिससे इस मनुष्य का शरीर आच्छादित है, उस आवरण (चर्म) को किसने पहनाया है? आयु की कल्पना किसके द्वारा की गई? इसे बल-सामर्थ्य किसने दी तथा इसमें गतिशीलता किसने स्थापित की है? ॥१५ ॥

२६८४. केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥१६ ॥

जल का विस्तार किसके द्वारा हुआ? इसके प्रकाश के लिए दिन किसने बनाया? उषा को किसके द्वारा प्रकाशित किया गया? तथा सायंकाल को किस देव द्वारा प्रदान किया गया? ॥१६ ॥

२६८५. को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥१७ ॥

सन्तति विस्तार के लिए प्रजनन सामर्थ्य किसने स्थापित की ?इसमें विचारशक्ति किसने प्रतिष्ठित की ? वाक् शक्ति और नृत्य भावों (हाथ, पैर की संचालन क्रिया) को किन देवों द्वारा मनुष्यों में प्रतिष्ठित किया गया ? ॥

[इन सभी विषयों में आज का विज्ञान केवल इतना जान पाया है कि क्या-क्या होता है; किन्तु इन प्रक्रियाओं के पीछे कौन-सी निर्णायक सामर्थ्य काम कर रही है, विज्ञान को इसका पता नहीं है ।]

२६८६. केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥१८ ॥

किस सामर्थ्य द्वारा इस भूमि को और द्युलोक (स्वर्ग) को आच्छादित किया गया है ? किस महत्ता के द्वारा पर्वतों को आच्छादित किया गया और यह मनुष्य किसकी प्रेरणा से कर्मों में प्रवृत्त होता है ? ॥१८ ॥

[ऋषि पृथ्वी के रक्षक आवरण (आयनोस्फीयर) तथा द्युलोक के निर्धारक आवरण (चेतनावलय) को भी देखते हैं ।]

२६८७. केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥१९ ॥

यह मनुष्य किस देव की सामर्थ्य से पर्जन्य, ज्ञानवान् सोम, यज्ञ (सत्कर्म) और श्रद्धा आदि को प्राप्त करता है ? किसके द्वारा इसका मन सत्कर्म की ओर प्रवृत्त किया गया है ? ॥१९ ॥

[आज का विज्ञान पर्जन्य को तो थोड़ा बहुत जानने-मानने लगा है ; किन्तु सृष्टि के सूक्ष्म पोषक प्रवाहों सोम, यज्ञ और श्रद्धा से वह अपरिचित है । मन को सन्मार्गगामी बनाने के सूत्रों की आवश्यकता अनुभव होते हुए भी वे वर्तमान विज्ञान के लिए अगम्य हैं ।]

२६८८. केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् । केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ।

किस देव की सामर्थ्य से यह पुरुष श्रोत्रिय, परमात्मज्ञान और अग्नि को जानने तथा संवत्सर-काल का मापन करने में समर्थ होता है ? ॥२० ॥

२६८९. ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् । ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ।

ब्रह्म ही श्रोत्रिय, परमेष्ठी प्रजापति और अग्नि को संव्याप्त कर रहे हैं, ब्रह्म (ज्ञान) ही संवत्सरं काल का मापन कर रहे हैं ॥२१ ॥

२६९०.केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः । केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते।

किस सामर्थ्य से देवों की अनुकूलता में मनुष्य रहने में समर्थ है ? दिव्यतायुक्त प्रजाओं के अनुकूल कैसे रहा जा सकता है ? किससे वह क्षत्रहीन (शौर्यहीन) और किससे उत्तम क्षत्र (शौर्य-सम्पन्न) कहलाता है ॥२२ ॥

२६९१.ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः । ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते।

ब्रह्म ही देवों के अनुशासन में उसे (मनुष्य को) जीना सिखाता है । ब्रह्म ही दिव्यता सम्पन्न प्रजाओं को अनुकूल आवास प्रदान करता है । ब्रह्म ही उत्तम क्षात्रबल और वही क्षात्र से भिन्न अन्य बल है ॥२३ ॥

२६९२. केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२४ ॥

इस भूमि को विशिष्टतापूर्वक किसने स्थापित किया ? द्युलोक को उत्तर (अधिक ऊपर) तथा अन्तरिक्ष को ऊपर तिरछा और फैला हुआ किसने स्थापित किया है ? ॥२४ ॥

[भूमि की गोलाई के तिरछेपन के अनुरूप अन्तरिक्ष भी स्थित है । वह तिरछापन कहीं असन्तुलन पैदा नहीं करता , यह क्या रहस्य है ? ऋषि इस ओर ध्यानाकर्षण करते हैं ।]

२६९३. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५ ॥

ब्रह्म ही इस भूमि के उच्च (भाग में) द्युलोक, ऊपर तिरछे तथा फैले हुए अन्तरिक्ष के निर्माता हैं ॥२५ ॥

२६९४. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६ ॥

प्रजापति ने उसके सिर और हृदय को आपस में जोड़ा, तत्पश्चात् ऊर्ध्व पवमान वायु ने इसके मस्तिष्क और शीर्षभाग को प्रेरित किया ॥२६ ॥

२६९५. तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७ ॥

अथर्वा (प्रजापति) द्वारा प्रदत्त सिर (शीर्ष भाग) सरलता से विद्यमान है और यह देवों का सुरक्षित खजाना है । उस सिर का संरक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥२७ ॥

[सिर-मस्तिष्क की असाधारण सामर्थ्य ऋषि जानते-समझते रहे हैं । उसे वे दिव्य सम्पदाओं का अक्षय-भण्डार मानते रहे हैं । अन्न, प्राण और मन उसके क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तन्त्र के संरक्षक हैं ।]

आगे के मन्त्रों में दिव्य नगरी के उपलक्षण से ब्रह्माण्ड एवं शरीररूपी आवास की विलक्षण विशेषताओं तथा उसके निवासी दिव्यपुरुष का वर्णन है-

२६९६. ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८ ॥

जो पुरुष ब्रह्म की नगरी के ज्ञाता हैं, जिसके कारण ही उसे पुरुष कहा गया है, पुरुष ऊपरी दिशा, तिरछी दिशा तथा सभी दिशाओं में उत्पन्न होकर अपने प्रभाव का परिचय देते हैं ॥२८ ॥

[ऋषियों को वह नियंत्रण एवं सृजनशील चेतन तत्त्व, सभी प्रभागों- सभी दिशाओं में सक्रिय दिखाई देता है ।]

२६९७. यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९ ॥

जो निश्चितरूप से अमृत से परिपूर्ण ब्रह्म की नगरी के ज्ञाता हैं, उन्हें ब्रह्म और अन्य देव नेत्र, प्राण और सन्तति देते आये हैं ॥२९ ॥

[नेत्रों को देखने - समझने की क्षमता का, प्राणों को निर्वाह क्षमता का तथा संतति को विकास की क्षमता का प्रतीक समझा जाना चाहिए ।]

२६९८. न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३० ॥

जिसके कारण उसे पुरुष कहा गया है, उस ब्रह्म की नगरी का जो ज्ञाता है, बुढ़ापे से पहले उस पुरुष का साथ नेत्र और प्राण नहीं छोड़ते ॥३० ॥

२६९९. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१ ॥

जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं, देवशक्तियों की पुरी (नगरी) यह अयोध्या है, उसमें जो तेजस्वी कोश हैं, वही तेजस्विता से युक्त होकर स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण हैं ॥३१ ॥

[यह पुरी अयोध्या अजेय है। इसकी विशेषताओं का उपयोग किया जा सके, तो कोई भी विकार या अवरोध इसको पराजित नहीं कर सकते। इसके चक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, लोलक (तालू मूल) तथा सहस्रार है। नौ द्वार-दोनों आँखों के, दोनों नासिका के, दोनों कानों के, एक मुख का तथा दो मल-मूत्र द्वारों के छिद्र हैं।]

२७००. तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥

तीन अरों से युक्त, तीन केन्द्रों में स्थित, तेजस्वी कोश में जो आत्मवान् यक्षा (पूजनीय आत्मा) का स्थान है, उसे निश्चित ही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥३२॥

२७०१. प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥

देदीप्यमान, दुःखनाशक, यश से सम्पन्न और पराजय रहित, ऐसी प्रकाशमय पुरी में ब्रह्म प्रवेश करता है ॥३३॥

[३ - सपत्नक्षयणवरणमणि सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा। देवता- वरणमणि, वनस्पति, चन्द्रमा। छन्द- अनुष्टुप्, २-३, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्, ८, १३-१४ पथ्यापंक्ति, ११, १६ भुरिक् अनुष्टुप्, १५, १७-२५ षट्पदा जगती।]

२७०२. अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥१॥

वरण नामक यह मणि शत्रुजनित अनिष्टों का निवारण करने में सक्षम है और अभीष्टफलों की वर्षक है। उसके सहयोग से आप प्रयत्नशील हों और दुर्भावनाओं से ग्रस्त शत्रुओं का विनाश करें ॥१॥

२७०३. प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः ॥२॥

यह वरणमणि आपके उद्देश्य में आगे-आगे चले, आप इन शत्रुओं को मसल डालें तथा अपने वशीभूत करें। इसके सहयोग से देवगणों ने प्रतिदिन राक्षसों के अभिचार कृत्यों का निवारण किया ॥२॥

२७०४. अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।

स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

वरणमणि विश्व भेषज (सभी रोगों की दवा) है। यह मणि सहस्राक्ष के समान पराक्रमशाली, दुःखों का हरण करने वाली, हिरण्य (स्वर्ण या सार) रूप है। जो शत्रु आपसे द्वेष करते हैं, यह उनका पतन करने में सक्षम हैं। आप उनका दमन करें ॥३॥

२७०५. अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।

अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥४॥

वरणमणि चारों ओर से फैलाये गये अभिचार कृत्यों को आपसे दूर करेगी। मनुष्यकृत भय को दूर करके यह वरणमणि आपको समस्त पापकर्मों से पृथक् करेगी ॥४॥

२७०६. वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।

यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥५॥

यह वरणमणि हमारे रोगरूप शत्रुओं का निवारण करे । रोगी मनुष्य में जो यक्ष्मारोग प्रवेश कर चुके हैं, देव शक्तियाँ उनका निवारण करें ॥५ ॥

२७०७. स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥६ ॥

हे पुरुष !यदि आप स्वप्न में सोते समय पाप के दृश्यों को देखते हों, अनुपयुक्त दिशा की ओर पशु भागता हो; इन अपशकुनों, शकुनि पक्षी के कठोर शब्दों और नाक फुरफुराने के दोषों से यह मणि आपको संरक्षित करेगी ।

२७०८. अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥७ ॥

हे पुरुष ! यह वरणमणि आपको शत्रुओं, पापदेवता , अभिचार प्रयोग, मृत्यु के भयानक संहार और अन्य भय से सुरक्षित करेगी ॥७ ॥

२७०९. यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥८ ॥

हमारे माता-पिता, बान्धवजनों और आत्मीय- परिजनों द्वारा प्रमादवश जो भी पापकर्म बन पड़े हों, उनसे ये वनस्पतिदेव हमारा संरक्षण करेंगे ।८ ॥

२७१०. वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः ।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥९ ॥

इस वरणमणि और हमारे बान्धवों से शत्रु समुदाय पीड़ित हों । वे अन्धकारपूर्ण विस्तृत धूलयुक्त स्थान को प्राप्त करें तथा भयानक अन्धकार से आच्छादित हों ॥९ ॥

२७११. अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः ।
तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१० ॥

हम अनिष्टरहित होकर शान्ति लाभ प्राप्त कर रहे हैं । समस्त परिवारीजनों से युक्त होकर हम दीर्घायु प्राप्त करें, यह वरणमणि समस्त दिशाओं और उपदिशाओं में हमारी संरक्षक हो ॥१० ॥

२७१२. अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥११ ॥

यह दिव्यतायुक्त, वनस्पति विनिर्मित वरणमणि दीप्तिमान् होते हुए हमारे हृदयक्षेत्र में प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार इन्द्रदेव असुरों को संताप देते हैं, उसी प्रकार यह वरणमणि हमारे लिए कष्टप्रद शत्रुओं को पीड़ित करे ॥११ ॥

२७१३. इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥१२ ॥

इस वरणमणि द्वारा हमारे अन्दर राष्ट्रीय प्रेम, रक्षण-सामर्थ्य, गौ आदि पशुओं की प्राप्ति तथा शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल की स्थापना हो । शतायु होने के लिए हम इस मणि को धारण करते हैं ॥१२ ॥

२७१४. यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१३ ॥

जिस प्रकार वायुदेव अपने तीव्र वेगरूपी बल से वृक्षों और वनस्पतियों को तोड़ देते हैं । उसी प्रकार यह वरणमणि पहले से बने हुए और बाद में उत्पन्न अन्य शत्रुओं को विनष्ट करे । हे यजमान ! यह वरणमणि आपका संरक्षण करे ॥१३ ॥

२७१५. यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१४ ॥

जिस प्रकार अग्नि और वायु मिलकर वृक्ष-वनस्पतियों को विनष्ट कर डालते हैं, उसी प्रकार हे वरणमणे ! आप पहले से उत्पन्न हुए और पीछे से उत्पन्न शत्रुओं का हनन करें । हे यजमान ! यह वरणमणि आपका संरक्षण करे ॥१४ ॥

२७१६. यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः । एवा सपत्नांस्त्वं मम
प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वाञ्जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१५ ॥

वायु से कमजोर हुए वृक्ष जिस प्रकार पृथ्वी पर गिरकर लेट जाते हैं, उसी प्रकार हे वरणमणे ! आप हमारे पूर्व उत्पन्न और बाद में उत्पन्न शत्रुओं को कमजोर (दुर्बल) करके धराशायी करें । हे यजमान ! यह वरणमणि आपकी संरक्षक हो ॥१५ ॥

२७१७. तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥१६ ॥

हे वरणमणे ! जो इस यजमान के गवादि पशुओं और राष्ट्रीय स्वाभिमान के विघातक राष्ट्रद्रोही शत्रु हैं, आप उन्हें आयु क्षीण होने और निश्चित प्रारब्ध भोगने से पहले ही विनष्ट कर डालें ॥१६ ॥

२७१८. यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् । एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१७ ॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अत्यन्त प्रकाशमान और तेजस्वितायुक्त हैं, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और ऐश्वर्य प्रदान करे तथा हमें तेजस्वी और यशस्वी बनाए ॥१७ ॥

२७१९. यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१८ ॥

जिस प्रकार सभी के लिए (दर्शनीय) चन्द्रमा और आदित्य यशोभागी हैं, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और ऐश्वर्य प्रदान करे तथा हमें तेजस्वी और यशस्वी बनाए ॥१८ ॥

२७२०. यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि । एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१९ ॥

जिस प्रकार पृथ्वी और जातवेदा अग्नि में यश विद्यमान है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और वैभव प्रदान करे तथा तेजस्वी और यशस्वी बनाए ॥१९ ॥

२७२१. यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे । एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२० ॥

जिस प्रकार कन्याओं और युद्ध के लिए तैयार रथों में यशस्विता है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और ऐश्वर्य प्रदान करती हुई, तेजस्विता और यश-सम्मान से हमें सुशोभित करे ॥२० ॥

२७२२. यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२१॥

जिस प्रकार सोमपीथ (सोमपेय) और मधुपर्क में यशस्विता विद्यमान है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और वैभव प्रदान करती हुई, तेज़स्विता और यश से सम्पन्न करे ॥२१॥

२७२३. यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२२॥

अग्निहोत्र और वषट्कार में जिस प्रकार यशस्विता विद्यमान है, उसी प्रकार वरणमणि हमें कीर्ति और वैभव प्रदान करे तथा तेजस्विता और यशस्विता से हमें संयुक्त करे ॥२२॥

२७२४. यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२३॥

जिस प्रकार यजमान और यज्ञ में यशस्विता विद्यमान है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और वैभव प्रदान करते हुए तेजस्विता एवं यश से संयुक्त करे ॥२३॥

२७२५. यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२४॥

जिस प्रकार प्रजापति और परमेष्ठी में यश प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और ऐश्वर्य प्रदान करते हुए तेजस्वितायुक्त सम्मान से सम्पन्न करे ॥२४॥

२७२६. यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा मे वरणो मणिः
कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥२५॥

जिस प्रकार देवशक्तियों में अमृत और सत्य प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार यह वरणमणि हमें कीर्ति और ऐश्वर्य प्रदान करते हुए तेजस्विता एवं यशस्विता से संयुक्त करे ॥२५॥

[४ - सर्पविषदूरीकरण सूक्त]

[**ऋषि**- गरुत्मान्। **देवता**- तक्षक। **छन्द**- अनुष्टुप्, १ पथ्यापंक्ति, २ त्रिपदा यवमध्या गायत्री, ३-४ पथ्या बृहती, ८ उष्णिक् गर्भा परात्रिष्टुप्, १२ भुरिक् गायत्री, १६ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री, २१ ककुम्मती अनुष्टुप्, २३ त्रिष्टुप्, २६ त्र्यवसाना षट्पदा बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप्।]

२७२७. इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथः स्थाणुमारदथार्षत् ॥१॥

सर्वप्रथम रथ (रस या बल) इन्द्रदेव के, द्वितीय स्तर के रथ देवताओं के, तृतीय स्तर के रथ वरुणदेव के हैं। सर्पों के रथ (बल) 'अपमा' (निम्न गतिशील), इस नाम से जाने जाते हैं, जो स्तम्भ (सूखी लकड़ी) रूप में भी चले जाते हैं तथा पुनः भाग जाने में कुशल हैं ॥१॥

२७२८. दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम् ॥२॥

यह कुशा सामान्य सर्पों के लिए शोकप्रद, अश्वनामक ओषधि सर्प की विषनाशक और पुरुष नामक ओषधि विषनिवारक है। रथ बन्धूर और तरूणक (तृण विशेष), ये सभी साँपों के विष को दूर करने में सहायक हैं ॥२॥

२७२९. अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥

हे श्वेत सर्षप ओषधे !आप दायें और बाँयें दोनों पद प्रक्षेप द्वारा सर्पों के विष को विनष्ट करें । नदी प्रवाह में काष्ठ गिर जाने के समान मंत्र शक्ति से सर्प-विष का प्रभाव सारहीन हो ।आप भयानक विष का भी निवारण करें ॥

२७३०. अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् । उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥

अलंघुष ओषधि ने (विषनिवारण हेतु) प्रविष्ट होकर तथा बाहर आकर बताया कि नदी प्रवाह में काष्ठ गिरने के समान सर्प-विष सारहीन हो गया है । हे ओषधे ! आप विष का निवारण करें ॥४ ॥

२७३१. पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥५ ॥

'पैद्व' नामक ओषधि कसर्णील, श्वित्र और असित (काले) साँपों के विष प्रभाव को समाप्त करने वाली है । इसी ने रथर्व्या और पृदाकु (बड़े साँप) के शीर्ष भाग को छिन्न-भिन्न कर दिया था ॥५ ॥

२७३२. पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि ।
अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥६ ॥

हे पैद्व नामक ओषधे ! आप प्रमुख हैं, अतएव आप यहाँ आएँ , हम आपकी स्तुति करते हैं । जिन मार्गों से हम जाने के इच्छुक हैं, उन मार्गों से सर्पों को दूर करें ॥६ ॥

२७३३. इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् । इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥७ ॥

सर्प विष के निवारक पैद्व (फुर्तीला) ओषधि प्रकट हो चुकी है, यही इसका प्रिय स्थल है ।यह उसी सर्पनाशक गतिशील के पद- चिह्न हैं ॥७ ॥

२७३४. संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥८ ॥

सर्प का बन्द मुख (हमें डसने के लिए) खुले ही नहीं और खुला हुआ बन्द न होने पाए । इस क्षेत्र में जो नर और मादा दो साँप हैं, वे दोनों मन्त्र प्रभाव से सारहीन हो जाएँ ॥८ ॥

२७३५. अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके । घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥

जो साँप हमारे आस-पास रहने वाले हैं तथा जो दूर जंगल या निर्जन स्थानों में रहने वाले हैं, वे सभी विषहीन हो जाएँ । हम साँप को लाठी प्रहार और बिच्छू को हथौड़े से मारते हैं ॥९ ॥

२७३६.अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च । इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥

अघाश्व और बिना किसी विशेष उद्देश्य से उत्पन्न होने वाले स्वज, इन दोनों की ओषधि हमारे पास है । इन्द्रदेव ने प्राणघातक पापकर्मी पैद्व ओषधि को हमारे अधीन कर दिया है ॥१० ॥

२७३७. पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः । इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥

हमारी मान्यता है कि अचल प्रभावयुक्त, स्थिर पैद्व के पृष्ठभाग में, ये साँप शोकग्रस्त होकर खड़े रहते हैं ॥११

२७३८. नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा । जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥१२ ॥

वज्रधारी इन्द्रदेव ने इन साँपों की प्राणशक्ति और विषप्रभाव को विनष्ट कर दिया था । देवराज इन्द्र द्वारा संहारित सर्पों को हम भी मारते हैं ॥१२ ॥

२७३९. हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः । दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥

तिरछी धारियों वाले तिरश्चिराजी नामक साँप मंत्रप्रभाव से विनष्ट हुए तथा कुत्सित फुंकार करने वाले पृदाकु नामक सर्प पीस डाले गये हैं । हे यजमान ! करैत नामक काले साँप, श्वित्र नामक चितकबरे साँप और कृष्णकाय, इन सभी साँपों को कुशा के बीच मार डालें ॥१३ ॥

२७४०. कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥१४ ॥

भील जाति की यह कुमारी कन्या हिरण्यी (चमकदार तेज) कुदाल से पर्वतीय शिखरों पर ओषधियों का खनन करती है ॥१४ ॥

२७४१. आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥१५ ॥

यह सर्व-विष निवारक अपराजित (नायक अथवा पराजित न होने वाला) युवा वैद्य (उपचार) आ गया है, वह (वैद्य) स्वज नामक साँप और बिच्छू , इन दोनों के विष को नष्ट करने में सक्षम है ॥१५ ॥

२७४२. इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च । वातापर्जन्योऽभा ॥१६ ॥

इन्द्र, सूर्य, वरुण, वायु तथा पर्जन्य ये सभी देव हमारे समीप आये हुए साँपों का संहार करते हैं ॥१६ ॥

२७४३. इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥१७ ॥

इन्द्रदेव ने पृदाकु, पृदाक्व, स्वज, तिरश्चिराजी, कसर्णील और दशोनसि, इन साँपों को हमारे कल्याण के निमित्त नियन्त्रित कर लिया है ॥१७ ॥

२७४४. इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः ॥१८ ॥

हे सर्प ! आपके जन्मदाता को इन्द्रदेव ने पहले ही समाप्त कर दिया था । उन सर्पों के संहारकाल में कौन सर्प सामर्थ्यवान् रह सका था ? ॥१८ ॥

२७४५. सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् । सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥

साँपों को नियन्त्रित करने में निष्णात, हम साँपों को गर्दन से पकड़ लें, जिस प्रकार केवट (अपनी कुशलता से) नदी के गहरे मध्यभाग में पहुँच कर (सकुशल) लौट आता है । हम भी उसी प्रकार साँपों के विष को विशेष रीति से शोधित कर डालें ॥१९ ॥

२७४६.अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः । हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥

सभी प्रकार के सर्पों के विष को नदियाँ बहाकर ले जाएँ । तिरश्चिराजी नामक सर्प और पृदाकु आदि महासर्प नष्ट हो गए हैं ॥२० ॥

२७४७. ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया । नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ।२१ ।

हम अपनी कल्याणकारिणी प्रेरणा से ओषधियों को उपजाऊ भूमि पर धान्य उगाये जाने के समान ही प्राप्त करते हैं । हे सर्प ! तेरे विष का निवारण हो ॥२१ ॥

२७४८. यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत्। कान्दाविषं कनक्रकं निरैत्वैतु ते विषम्

जो विष, अग्नि, सूर्य, भूमि, कन्दों तथा वनस्पतियों में विद्यमान है, वह सम्पूर्ण विष आप में (वनस्पति विशेष) में आ जाए और आपके (उस) विष का पूर्ण निवारण हो ॥२२ ॥

२७४९. ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः।

येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥२३ ॥

अग्नि, ओषधि, जल और सर्पों में उत्पन्न हुए, जो मनुष्य को प्रकम्पित करने वाले विद्युद्धर्मी विष हैं, जिनके द्वारा विशाल कर्म किये गये हैं, उन साँपों को हम हविष्यान्न समर्पित करते हैं ॥२३ ॥

२७५०. तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।

अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥२४ ॥

तौदी और घृताची इन नामों की एक कमनीय ओषधि है। हे ओषधे ! नीचे की ओर पैर करके आपके विषनाशक भाग को हम प्राप्त करते हैं ॥२४ ॥

२७५१. अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय।

अधा विषस्य यत् तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥२५ ॥

हे रोगी मनुष्य ! हम आपके हृदय क्षेत्र को संरक्षित करते हुए प्रत्येक अङ्ग- अवयव से विष को निकालें, तत्पश्चात् उस विष का प्रभाव नीचे की ओर जाता हुआ दूर हो जाए ॥२५ ॥

२७५२. आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि।

अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणयीत्। दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ।।२६ ॥

विष का निवारण हुआ, विष को बाँध दिया गया, ओषधि में मिलकर विष पूर्ववत् प्रभावहीन हो गया है। अग्नि द्वारा जलाकर सर्प के विष का निवारण हुआ। सोम ओषधि सर्प विष को दूर करती है। डसने वाले सर्प का विष पहुँच गया है, उससे सर्प की मृत्यु हो गई ॥२६ ॥

[५- विजयप्राप्ति सूक्त]

[**ऋषि-** सिन्धु द्वीप, २५-३६ कौशिक, ३७-४१ ब्रह्मा, ४२-५० विहव्य। । **देवता-** १-२४ आपः, चन्द्रमा, २५-३५ विष्णुक्रम, ३६ मृत्यु, ३७-४१ मन्त्रोक्त, ४२-५० प्रजापति। **छन्द-** त्रिपदा पुरोऽभिकृति ककुम्मती-गर्भापंक्ति, ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती, ७-१०, १२-१३ त्र्यवसाना पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहती, ११, १४ पथ्यापंक्ति, १५-१८, २१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुभगर्भाअतिधृति, १९-२० चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुभगर्भा कृति, २२-२३, ४२-४३, ४५-४९ अनुष्टुप्, २४ त्रिपदा विराट् गायत्री। २५-३५ त्र्यवसाना षट्पदा यथाक्षरं शक्वरी और अतिशक्वरी, ३६ पंचपदा अतिशाक्वर अतिजागतगर्भा अष्टि, ३७ विराट् पुरस्ताद् बृहती, ३८ पुर उष्णिक्, ३९, ४१ आर्षीगायत्री, ४० विराट् विषमा गायत्री, ४४ त्रिपदा गायत्री गर्भा अनुष्टुप्, ५० त्रिष्टुप्।]

२७५३. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।

जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥१ ॥

हे दिव्य प्रवाह ! आप इन्द्रदेव के ओज - बल, शत्रु- पराभव के पराक्रम और ऐश्वर्य हैं। ऐसे गुण- सम्पन्न आपको विजय-प्राप्ति के निमित्त हम ब्रह्म योगों (ज्ञानादि) के साथ संयुक्त करते हैं ॥१ ॥

२७५४. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥२ ॥

आप इन्द्रदेव के ओज, बल, संघर्ष- शक्ति और ऐश्वर्य हैं । विजय प्राप्ति हेतु हम आपको क्षात्रबल से संयुक्त करते हैं ॥२ ॥

२७५५. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥३ ॥

आप इन्द्रदेव के ओज, संघर्षकशक्ति, पराक्रम और ऐश्वर्य हैं, ऐसे आपको हम विजय प्राप्ति के निमित्त इन्द्रयोग (संगठन) के साथ संयुक्त करते हैं ॥३ ॥

२७५६. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥४ ॥

आप इन्द्रदेव के ओज, संघर्षकशक्ति, पराक्रम और वैभव हैं, विजय-प्राप्ति हेतु हम आपको सोमादि योगों के साथ संयुक्त करते हैं ॥४ ॥

२७५७. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ॥५ ॥

आप इन्द्रदेव की ओजस्विता, संघर्ष-क्षमता और ऐश्वर्य हैं, विजय-प्राप्ति के लिए हम आपको जल योगों से संयुक्त करते हैं ॥५ ॥

२७५८. इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ ॥६ ॥

आप इन्द्रदेव की ओजस्विता, संघर्ष-शक्ति और वैभव हैं । विजय-प्राप्ति के निमित्त सभी प्राणी आपके समीप रहें तथा यह अप् (दिव्य-प्रवाह) भी हमारे साथ रहे ॥६ ॥

२७५९. अग्नेर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥७ ॥

हे दिव्य अप् प्रवाहो ! आप अग्नि के अंश हैं । जल के शुक्र (उत्पादक अंश) रूप आप हममें तेजस् की स्थापना करें । प्रजापति के धाम से पधारे आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान देते हैं ॥७ ॥

२७६०. इन्द्रस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥८ ॥

हे दिव्यप्रवाहो ! आप इन्द्र के अंश हैं । जल के शुक्ररूप आप हममें तेजस् स्थापित करें । प्रजापति के धाम से पधारे आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान देते हैं ॥८ ॥

२७६१. सोमस्य भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥९ ॥

हे दिव्यप्रवाहो ! आप सोम के अंश हैं । जल के शुक्र (उत्पादक अंश) रूप आप हममें तेजस् की स्थापना करें । प्रजापति के धाम से पधारे आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान देते हैं ॥९ ॥

२७६२. वरुणस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥१० ॥

हे दिव्य प्रवाहो ! आप वरुण के अंश हैं। जल के शुक्ररूप तेजस् को आप हममें स्थापित करें। प्रजापति के धाम से पधारे आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान प्रदान करते हैं ॥१० ॥

२७६३. मित्रावरुणयोर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥११ ॥

हे दिव्यप्रवाहो ! आप मित्रावरुण के भाग हैं। जल के शुक्र (उत्पादक अंश) रूप आप हममें तेजस् की स्थापना करें। प्रजापति के धाम से पधारे आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान प्रदान करते हैं ॥११ ॥

२७६४. यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥१२ ॥

हे दिव्यप्रवाहो ! आप यमदेव के भाग हैं। जल के शुक्ररूप आप हममें तेजस् स्थापित करें। प्रजापति के धाम से आए, आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान देते हैं ॥१२ ॥

२७६५. पितॄणां भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥१३ ॥

हे दिव्य अप् प्रवाहो ! आप पितर गणों के अंश हैं। जल के शुक्ररूप आप हममें तेजस् स्थापित करें। प्रजापति के धाम से आए, आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान देते हैं ॥१३ ॥

२७६६. देवस्य सवितुर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥१४ ॥

हे दिव्य अप् प्रवाहो ! आप सर्वप्रेरक सवितादेव के अंश हैं। जल के शुक्ररूप आप हममें तेजस् स्थापित करें। प्रजापति के धाम से आए, आपको हम इस लोक में सुनिश्चित स्थान प्रदान करते हैं ॥१४ ॥

२७६७. यो व आपोऽपां भागो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं
माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१५ ॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो जलीय भाग है, जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय अंश है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं। वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से, इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥१५ ॥

२७६८. यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं
माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१६ ॥

हे अप् प्रवाहो ! आपकी जो गतिशील लहरें हैं, जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं। वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से, इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें। ।१६ ॥

२७६९. यो व आपोऽपां वत्सो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१७॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो वत्स (विकासमान अंश) है । जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं । वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से, इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥१७॥

२७७०. यो व आपोऽपां वृषभो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१८॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो वृषभ (बलशाली या वर्षणशील अंश) है । जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं । वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥१८॥

२७७१. यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥१९॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो हिरण्यगर्भ रूप है, जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं । वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥१९॥

२७७२. यो व आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्यो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः। इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि। तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥२०॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो अश्म (पत्थर जैसा सुदृढ़), सूर्य जैसा दिव्य अंश है, जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छोड़ते हैं । वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से, इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥२०॥

२७७३. ये व आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः। इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि। तैस्तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥२१॥

हे अप् प्रवाहो ! आपका जो अग्नि जैसा उष्ण भाग है, जो रसों के बीच यज्ञादि में देवों के लिए यजनीय है, उसे हम उस (शत्रु) की ओर छाड़ते हैं । वह हमें पुष्टि दे तथा जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं; इस ज्ञान-प्रयोग से, इस अभिचार से तथा इस इच्छाशक्ति से उनका वध करें, उन्हें नष्ट करें ॥२१॥

२७७४. यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।

आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥२२ ॥

तीन वर्ष के अन्तराल में हमसे जो भी मिथ्या वचन कहे गये हों, उन सभी दुर्गति देने वाले पापकृत्यों से जल हमें संरक्षित करें ॥२२ ॥

२७७५. समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।

अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥२३ ॥

हे अप् प्रवाहो ! हम आपको समुद्र (अन्तरिक्ष) की ओर भेजते हैं, आप अपने उद्गम स्थल में विलीन हो जाएँ । आपकी गति सभी जगह है । आप हिंसा के निवारक हैं, अतः कोई शत्रु हमारा संहार न करने पाए ॥२३ ॥

२७७६. अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।

प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥२४ ॥

ये अप् प्रवाह निर्दोष हैं । वे हम सबसे पाप-दोषों को हटाएँ । उत्तमरूप वाले ये प्रवाह हमसे दुर्गतियुक्त पापों, दुष्ट स्वप्नों से उत्पन्न पापकर्मों और मल-विक्षेपों को बहाकर दूर ले जाएँ ॥२४ ॥

२७७७. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः । पृथिवीमनु

वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२५ ॥

विष्णुदेव (पोषणकर्त्ता) के समान ही आपका पराक्रम है । शत्रुओं के नाशक आप पृथ्वी पर प्रशंसित और अग्नि की तेजस्विता से युक्त हैं । आप पृथ्वी पर विशेष पराक्रम करें । हम पृथ्वी से उन्हें हटाते हैं, जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेष करते हैं । वे जीवित न रहें , प्राणतत्त्व उनका परित्याग करें ॥२५ ॥

२७७८. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः । अन्तरिक्षमनु वि

क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२६ ॥

विष्णुदेव के समान ही आपके पराक्रमीशौर्य शत्रुओं के विनाशक हैं । अन्तरिक्ष ने आपको कर्म-प्रवृत्त, तीक्ष्ण और वायु के तेजस् से सम्पन्न किया है । आप अन्तरिक्ष में विशेष पराक्रम करें । हम अन्तरिक्षीय अनिष्टों को वहाँ से हटाते हैं । जो शत्रु हमसे द्वेष रखते हैं और हमें जिनसे द्वेष है, वे जीवित न रहें, प्राण उनका परित्याग करें ॥२६ ॥

२७७९. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः । दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं

निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२७ ॥

आप शत्रुओं के संहार में विष्णु के पराक्रम तुल्य हैं, द्युलोक ने आपको कर्म प्रवृत्त करने के लिए तीक्ष्ण और सूर्य की तेजस्विता से सम्पन्न किया है । आप विशेष पराक्रम करें ।द्युलोक के अनिष्टों को हम वहाँ से हटाते हैं । जो हमारे प्रति द्वेषयुक्त हैं और हम जिनके प्रति द्वेषयुक्त हैं, वे जीवन त्यागकर मृत्यु को प्राप्त हों, प्राण उन्हें छोड़ दें॥

२७८०. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः । दिशोऽनु

वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२८ ॥

आप शत्रुनाशक विष्णु के पराक्रम तुल्य हैं । दिशाओं ने आपको कर्म प्रवृत्त, तेजस्वी, धारयुक्त और मन के तेज से परिपूर्ण किया है । आप दिशाओं में विशिष्ट पराक्रम करें । हम दिशाओं के अनिष्टों को हटाते हैं । विद्रोही, दुष्ट शत्रु जीवित न रह सकें और प्राणशक्ति उनका साथ छोड़ दे ॥२८ ॥

२७८१. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः । आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥२९ ॥

आप विष्णु के पराक्रमतुल्य और शत्रुसंहारक हैं । उप दिशाओं ने आपको तेजस्वी, कर्म प्रवृत्त, धारयुक्त (तीक्ष्ण) और वायु के तेज से परिपूर्ण किया है । आप अवान्तर दिशाओं में विशेष पराक्रम करें । अवान्तर के अनिष्टों को हम वहाँ से हटाते हैं । हमारे दुष्ट-विद्वेषी शत्रु जीवित न रह पाएँ, प्राणशक्ति उनका परित्याग करे ॥२९ ॥

२७८२. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः । ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३० ॥

आप विष्णु के पराक्रमतुल्य और शत्रुनाशक हैं । आप ऋग्वेद के ज्ञान से तेजस्वी और साम के तेजस् से युक्त हैं । आप ऋक्विज्ञान में विशेष पराक्रम करें और ऋचाओं (मन्त्रों) से हम उन (अनिष्टों) को हटाते हैं । जो हमसे द्वेष करने वाले और हमें जिनसे द्वेष है, ऐसे शत्रु जीवित न रहें प्राणतत्त्व उनका परित्याग करे ॥३० ॥

२७८३. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः । यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात् तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३१ ॥

आप विष्णुदेव के समान शत्रुनाशक और पराक्रमयुक्त हैं । आप यज्ञ से तेजस्वी और ज्ञानतेज से युक्त हैं । आप यज्ञक्षेत्र पर विक्रमण करें । हम उन्हें (विकारों को) यज्ञ से हटाते हैं । जो हमसे द्वेष रखने वाले और हम जिनके प्रति विद्वेष रखने वाले हैं, ऐसे शत्रु जीवित न रहकर प्राणों का परित्याग करें ॥३१ ॥

२७८४. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः । ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३२ ॥

आप विष्णुदेव के समान शत्रुसंहारक और पराक्रमयुक्त हैं । आप ओषधियों द्वारा तीक्ष्ण और सोम से तेजस्वी बने हैं । ओषधियों पर आप विक्रमण करें । हम ओषधियों से उन (दोषों) को पृथक् करते हैं, जो हमारे प्रति द्वेषी हैं और हम जिनसे द्वेष रखते हैं, ऐसे शत्रुओं का प्राणान्त हो, वे जीवित न रह सकें ॥३२ ॥

२७८५. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः । अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३३ ॥

आप विष्णुदेव के समान शत्रुसंहारक और पराक्रमयुक्त हैं । आप जल से तीक्ष्ण और वरुण के तेजस् से युक्त हैं । आप जलप्रवाहों पर विशेष पराक्रम करें, जिससे जल से उन्हें (विकारों का) खदेड़ने में हम सक्षम हों, वे सभी शत्रु जीवित न बचें, उनका प्राणान्त हो , जो हमसे द्वेष रखते हैं अथवा हम जिनसे दुर्भाव रखते हैं ॥३३ ॥

२७८६. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः । कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥

आप विष्णुदेव के समान शत्रुविनाशक और पराक्रमी हैं । आप कृषि से तेजस्वी और अन्न के तेजस् से युक्त हैं । आप कृषि पर विक्रमण करें, जिससे वहाँ से हम उन विकारों को हटाने में सक्षम हों । वे शत्रु प्राणों का परित्याग करें, जो हमसे द्वेष रखते हों अथवा हम जिनसे विद्वेष रखते हैं ॥३४ ॥

२७८७. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः । प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥३५ ॥

आप विष्णुदेव के समान शत्रुसंहारक पराक्रमयुक्त हैं । आप प्राण से तेजस्वी और पुरुष के तेज से सम्पन्न हैं । आप प्राणों पर विशिष्ट पराक्रम करें, जिससे प्राणों से उन्हें दूर करने में हम सफल हों । वे जीवित न रहें, प्राण उन्हें छोड़ दें, जो हमसे द्वेष रखने वाले अथवा हम जिनके प्रति द्वेष रखने वाले हैं ॥३५ ॥

२७८८. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः । इदमहमामुष्यायण-स्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥

विजित पदार्थ समूह और विदीर्ण करके लाये गये पदार्थ समूह हमारे हैं । हम सम्पूर्ण शत्रु सेना को वशीभूत कर रहे हैं । अमुक गोत्र के , अमुकी माता के पुत्र, जो हमारे शत्रु हैं, उनके वर्चस्व, तेजस् , प्राण और आयु को हम भली प्रकार घेरते हैं, इस प्रकार इन्हें नीचे की ओर धकेलते हैं ॥३६ ॥

२७८९. सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् । सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३७ ॥

दक्षिण दिशा की ओर विस्तारयुक्त सूर्य द्वारा तय किये गये मार्ग का हम अनुगमन करते हैं । दक्षिण दिशा हमें ऐश्वर्य और ब्रह्मतेज से युक्त करे ॥३७ ॥

२७९०. दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३८ ॥

हम देदीप्यमान दिशाओं में गमन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐश्वर्य और ब्रह्मवर्चस प्रदान करें ॥३८ ॥

२७९१. सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३९ ॥

हम सप्तर्षियों के सम्मुख उपस्थित होकर उनसे ऐश्वर्य और ब्रह्मवर्चस की कामना करते हैं ॥३९ ॥

२७९२. ब्रह्माभ्यावर्ते । तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४० ॥

हम मंत्रशक्ति के सम्मुख प्रस्तुत होकर उनसे ऐश्वर्य और ब्रह्मतेज की प्रार्थना करते हैं ॥४० ॥

२७९३. ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१ ॥

हम ज्ञाननिष्ठों के अनुगामी होकर चलते हैं, वे हमें ऐश्वर्य और ब्रह्मतेज से युक्त करें ॥४१ ॥

२७९४. यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै । व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥४२ ॥

हम जिन (दुष्टों को) खोजते हैं, उन्हें प्राण घातक हथियारों से ढँकते हैं और परमेश्वर के खुले अग्निरूप मुख में मंत्र के प्रभाव से उन्हें धकेलते हैं ॥४२ ॥

२७९५. वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि । इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥४३ ॥

समिधारूप यह हथियार शत्रुओं को वैश्वानर अग्नि की दाढ़ों में समर्पित करे । ज्योतिष्मती, शत्रु-पराभव करने वाली, ये आहुतियाँ शत्रुओं का भक्षण कर डालें ॥४३ ॥

२७९६. राज्ञो वरुणस्य बन्धो ऽसि । सो३मुमामुष्यायणममुष्याः
पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥४४ ॥

हे राजा वरुण के बन्धनरूप मंत्र ! आप अमुक गोत्र के, अमुकी माता के पुत्र के लिए अन्न और प्राण के अवरोधक बनें ॥४४ ॥

२७९७. यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥४५ ॥

हे पृथ्वी के अधिष्ठाता प्रजापतिदेव ! आपका जो अन्न पृथ्वी के आश्रित है, उनके सारतत्त्व को हमारे लिए प्रदान करें ॥४५ ॥

२७९८. अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥४६ ॥

दिव्य जल-प्रवाहों को हमने संगृहीत किया है, उनसे हम स्वयं को सुसंगत करते हैं । हे अग्निदेव ! जल सहित आपके समीप उपस्थित हो रहे हैं, अतएव आप हमें तेजस्विता से युक्त करें । ।४६ ॥

२७९९. सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥४७ ॥

हे अग्निदेव ! आप हमें तेजस्विता, सुसन्तति और आयुष्य से सम्पन्न करें । देव शक्तियाँ हमारे इस अभिप्राय को समझें, इन्द्रदेव ऋषियों के साथ हमारे अभीष्ट भावों को जानें ॥४७ ॥

२८००. यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥४८ ॥

हे अग्निदेव ! जो वक्ता वाणी का दुरुपयोग करते हैं, जो मिलकर शापादि देते हैं, ऐसे राक्षसों के हृदयों को उन बाणों से बींध डालें, जो मन्यु के कारण मन से प्रकट होते हैं ॥४८ ॥

२८०१. परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥४९ ॥

हे अग्निदेव ! आप अपने तप से राक्षसों को दूर भगा दें, उन्हें बलपूर्वक दूर कर दें । अपनी ज्वाला से उन मूढ़ों को दूर फेक दें । दूसरों के प्राणों का शोषण करके तृप्त होने वालों को शोकातुर करके भगा दें ॥४९ ॥

२८०२. अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥५० ॥

हम मन्त्रशक्ति के प्रयोक्ता इन शत्रुओं के सिर को फोड़ने के लिए 'चतुर्भृष्टि' जलवज्र का प्रहार करते हैं । यह वज्रास्त्र इनके सभी अङ्ग- अवयवों को काट डालें । सभी देवगण भी इस सम्बन्ध में हमें अनुकूल (उचित) परामर्श प्रदान करें ॥५० ॥

[६- मणिबन्धन सूक्त]

[ऋषि- बृहस्पति । **देवता-**फालमणि, वनस्पति, ३ आप: । **छन्द-** अनुष्टुप्, १, ४, २१ गायत्री, ५ षट्पदा जगती, ६ सप्तपदा विराट् शक्वरी, ७-९ त्र्यवसानाष्टपदाष्टि, १० त्र्यवसाना नवपदाधृति, ११, २०, २३-२७ पथ्यापंक्ति, १२-१७ त्र्यवसाना षट्पदा शक्वरी, ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, ३५ पञ्चपदा त्र्यनुष्टुप् गर्भा जगती ।]

इस सूक्त में फालमणि नामक किसी द्रव्य मणि का उल्लेख है । इसे ज्ञान के देव बृहस्पति ने देवों के लिए तैयार किया है । मंत्रों में प्राप्त वर्णन से यह कोई 'दिव्य-विद्या' प्रतीत होती है-

२८०३. अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः । अपि वृश्चाम्योजसा ॥१ ॥

हृदय में दुर्भाव रखने वाले शत्रुओं का सिर (या उनके विचारों को) हम अपने ओज से छिन्न-भिन्न करते हैं ॥१ ॥

२८०४. वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥२ ॥

मंथन द्वारा रस से परिपूर्ण होकर, यह मणि तेज के साथ हमारे निकट आ गई है । फाल से उत्पन्न होने वाली, यह मणि कवच के समान हमारी संरक्षक होगी ॥२ ॥

२८०५. यत् त्वा शिक्वः परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या ।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥३ ॥

आपको कुशल कारीगर (शिक्व) ने काटा है और तक्षक (बढ़ई) हाथ में शस्त्र लेकर आपको गढ़ते हैं । आप स्वच्छ (उपकरण) को जीवनदायी शुद्ध जल से पवित्र बनाती हैं ॥३ ॥

२८०६. हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥४ ॥

यह हिरण्यस्रक् (सुवर्ण मालायुक्त) मणि श्रद्धा-भक्ति और यज्ञ से प्रभावशाली बनती हुई अतिथि के समान हमारे भवन में वास करे ॥४ ॥

२८०७. तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥

हम इस मणि के लिए घी, तीक्ष्ण ओषधिरस, शहद और अन्न समर्पित करते हैं । पिता द्वारा पुत्रों के हित साधन की तरह, यह मणि हमारे लिए परम कल्याणकारी हो । देवताओं के पास से बार-बार आकर यह मणि हमारे लिए कल्याणकारी योजनाएँ बनाए ॥५ ॥

२८०८. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

जिस घृत के समान पौष्टिक तत्त्वों को देने वाली और प्रचण्ड-प्रभावयुक्त खदिर फाल से उत्पन्न मणि को बृहस्पतिदेव ने बल- वृद्धि हेतु धारण किया, उसे अग्निदेव ने अपने शरीर पर बँधवाया था । अग्नि के लिए इस मणि ने नित्य प्रति बार-बार घृत (सार, अंश, तेज) का दोहन किया । उस मणि सामर्थ्य से आप शत्रुओं का हनन करें ॥६ ॥

२८०९. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥७ ॥

जिस घृततुल्य पौष्टिक पदार्थों को देने वाली और प्रचण्ड फालमणि को बृहस्पति देव ने बल प्राप्ति हेतु धारण किया, इन्द्रदेव ने उसी को ओज और वीर्य प्राप्ति हेतु प्राप्त किया । इन्द्रदेव के लिए यह मणि नित्यप्रति बार-बार बलवर्द्धक तत्त्वों को प्रस्तुत करे । उस मणि की सामर्थ्य से आप शत्रुओं का संहार करें ॥७ ॥

२८१०. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे । तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे । सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ।

जिस घृत से परिपूर्ण और उग्रपराक्रमी फालमणि को बृहस्पतिदेव ने ओजस् वृद्धि हेतु धारण किया था । सोमदेव ने उसी को महिमायुक्त श्रवणशक्ति और दृष्टि-सामर्थ्य प्राप्ति हेतु धारण करवाया था । यह मणि सोमदेव के लिए नित्य नवीन वर्चस् (तेज) प्रदान करती है । उस मणि द्वारा हे मणि धारणकर्त्ता ! आप शत्रुओं का संहार करें ॥८ ॥

२८११. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे । तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः । सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ।

घृत से परिपूर्ण और प्रचण्ड पराक्रमशाली, जिस फालमणि को बृहस्पतिदेव ने ओजस् प्राप्ति के लिए धारण किया था । सूर्यदेव ने उसे बँधवाकर समस्त दिशाओं पर विजय प्राप्त की थी । वह मणि सूर्यदेव को नित्य-नवीन ऐश्वर्य प्रदान करती रहे । ऐसी मणि द्वारा हे मणिधारणकर्त्ता ! आप अनिष्टकारक शत्रुओं का विनाश करें ॥९ ॥

२८१२. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः ।
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१० ॥

बृहस्पतिदेव ने जिस घृत से परिपूर्ण शत्रुओं की उग्ररूपा फालमणि को बलवृद्धि के लिए धारण किया था, उसी मणि को बाँधकर चन्द्रदेव ने असुरों और दानवों के स्वर्णिम नगरों को अपने अधिकार क्षेत्र में किया था । यह मणि चन्द्रदेव को नित्य-नवीन श्री-सम्पदा प्रदान करती रहती है । उसी मणि द्वारा आप भी विध्वंसक तत्त्वों का नाश करें ॥१० ॥

२८१३. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥११ ॥

बृहस्पतिदेव ने जिस फालमणि को वायु की गतिशीलता के लिए धारण किया था, वह मणि नित्यप्रति बार-बार वायुदेव को गतिशील बनाती रहती है । उस मणि द्वारा आप शत्रुओं का विनाश करें ॥११ ॥

२८१४. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः । स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१२ ॥

बृहस्पतिदेव ने जिस मणि को वायु की गतिशीलता हेतु धारण किया था, उस मणि से अश्वनीकुमार कृषि की सुरक्षा करते हैं । वह अश्विनीकुमारों को नित्यप्रति बार-बार जल प्रदान करती है । हे मणि धारणकर्त्ता ! आप इससे विध्वंसक तत्त्वों का संहार करें ॥१२ ॥

२८१५. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः । सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१३ ॥

बृहस्पतिदेव ने जिस मणि को वायु की गतिशीलता हेतु बाँधा था, सवितादेव ने उस मणि को बाँधकर स्वर्ग पर विजय प्राप्त.की । सवितादेव के लिए यह मणि प्रतिदिन बार-बार शुभ सत्य-वाणी उच्चारण करती है । हे मणिधारणकर्त्ता ! आप इससे विध्वंसक तत्त्वों का संहार करें ॥१३ ॥

२८१६. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः । सो आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ।

जिस मणि को बृहस्पतिदेव ने वायु की गतिशीलता हेतु बाँधा था, उस मणि को धारण करके जल सदैव अक्षयरूप से दौड़ता रहता है । इन जल-प्रवाहों के निमित्त यह मणि नित्यप्रति अत्यधिक मात्रा में अमृत ही देती रहती है । हे मणिधारणकर्त्ता ! आप इस मणि द्वारा अनिष्टकारक तत्त्वों का संहार करें । ।१४ ॥

२८१७. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् । सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि । ।१५ ॥

जिस मणि को बृहस्पतिदेव ने वायु की तीव्रता हेतु बाँधा था, उस सुखदायी मणि को राजा वरुण ने बँधवाया था । वरुणदेव के निमित्त यह मणि नित्यप्रति अधिक से अधिक सत्य ही प्रदान करती है । हे मणि धारणकर्त्ता ! आप इस मणि द्वारा शत्रुओं को विनष्ट करें ॥१५ ॥

२८१८. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान् युधाजयन् । स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥१६॥

जिस मणि को वायु की तीव्रता हेतु बृहस्पतिदेव ने धारण किया, इसी मणि को धारण करके देवों ने युद्ध द्वारा सम्पूर्ण लोकों को अपने आधिपत्य में किया था । देवों के लिए यह मणि नित्य बार-बार विजय प्राप्त करती है । उस मणि द्वारा आप शत्रुओं का संहार करें ॥१६ ॥

२८१९. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् । स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि । ।१७ ॥

जिस मणि.को बृहस्पतिदेव ने वायु की तीव्रता हेतु धारण किया था; उस सुखदायी मणि को देवों ने भी धारण किया था । देवों के लिए यह मणि प्रतिदिन बार-बार विश्वसुख प्रदान करती रहती है । ऐसी मणि के द्वारा आप शत्रुओं का विनाश करें ॥१७ ॥

२८२०. ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥१८॥

ऋतुओं और ऋतु-अवयव (महीनों) ने इस मणि को धारण किया था, इसको धारण करके संवत्सर सभी प्राणियों का संरक्षण करते हैं ॥१८ ॥

२८२१. अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ।

अन्तर्दिशाओं और प्रदिशाओं ने इस मणि को धारण किया था; प्रजापालक परमेश्वर द्वारा निर्मित यह मणि हमारे शत्रुओं को दुर्गति में धकेले ॥१९ ॥

२८२२. अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत । तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥२० ॥

अथर्ववेत्ताओं और आथर्वणिकों (अथर्व के मन्त्र समूह) ने इस मणि को धारण किया था, उससे शक्तिशाली हुए अंगिराओं ने शत्रु-नगरों को तोड़ डाला। ऐसी मणि द्वारा आप शत्रुओं का संहार करें ॥२०॥

२८२३. तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत्। तेन त्वं द्विषतो जहि ॥२१॥

उस मणि को धारण करके धाता (विधाता) प्राणियों की रचना करने में समर्थ हुए, उस मणि द्वारा आप विध्वंसक तत्त्वों को विनष्ट करें ॥२१॥

२८२४.यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्। स मायं मणिरागमद् रसेन सहवर्चसा॥

असुर विनाशक जिस मणि को बृहस्पतिदेव ने देवशक्तियों के लिए धारण किया था, वह मणि रस और तेज के साथ हमारे समीप पहुँच चुकी है ॥२२॥

२८२५. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥२३॥

जिस असुर संहारक मणि को देवों के निमित्त बृहस्पतिदेव ने धारण किया। वह मणि गौ (गौओं या किरणों), अजाओं (अजन्मी शक्तियों), पोषक अन्न तथा प्रजा के साथ हमारे समीप पहुँच गई है ॥२३॥

२८२६. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥२४॥

बृहस्पतिदेव ने असुर संहारक जिस मणि को देवों के निमित्त बाँधा था, वह मणि जौ, चावल और ऐश्वर्य के साथ हमारे समीप पहुँच रही है ॥२४॥

२८२७. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥२५॥

देवों के निमित्त जिस असुर संहारक मणि को बृहस्पतिदेव ने धारण किया था, वह मणि घी की धाराओं, शहद, अन्न के साथ हमारे पास पहुँच रही है ॥२५॥

२८२८. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥२६॥

देवों के निमित्त बृहस्पतिदेव ने जिस राक्षस नाशक मणि को धारण किया था, ऐसी मणि अन्न, बल, धन और सम्पत्ति के साथ हमारे समीप पहुँच गई है ॥२६॥

२८२९. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह ॥२७॥

देवों के लिए बृहस्पतिदेव ने जिस असुर नाशक मणि को धारण किया था। तेज, दीप्ति, यश और कीर्ति के साथ यह मणि हमारे समीप आ गई है ॥२७॥

२८३०. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत् सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥२८॥

देवों के लिए बृहस्पतिदेव ने असुर विनाशक जिस मणि को धारण किया था, यह मणि सभी ऐश्वर्यों के साथ हमारे समीप पहुँच गई है ॥२८॥

२८३१. तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये । अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ।।

यह मणि शत्रुनाशक, क्षात्रतेज को बढ़ाने वाली और शत्रुओं को पराभूत करने वाली है । इसे देवगण पोषण-क्षमता के लिए हमें प्रदान करें ॥२९ ॥

२८३२. ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।

असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥३० ॥

हम इस कल्याणकारी मणि को ज्ञान और तेज के साथ धारण करते हैं । यह मणि शत्रुरहित और शत्रुसंहारक है । हे मणे ! आप हमारे वैरियों को दुर्दशाग्रस्त करें ॥३० ॥

२८३३. उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः । यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते । स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥३१ ॥

देवों द्वारा उत्पादित यह मणि हमें शत्रुओं से उत्तम स्थिति में रखे । जिस मणि के दूध और जल को तीनों लोक उपभोग करते हैं, इस प्रकार की यह मणि श्रेष्ठता प्राप्ति के लिए हमारे द्वारा धारण की जाए ॥३१ ॥

२८३४. यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥३२ ॥

देव, मनुष्य और पितर जिस मणि पर सदैव निर्भर रहते हैं, वह हमें उत्तम स्थान की ओर अग्रसर करे ॥३२ ॥

२८३५. यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति । एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु

फाल द्वारा कुरेदे जाने पर जिस प्रकार पृथ्वी में बोया गया बीज उगता है, उसी प्रकार यह मणि हमारे लिए सन्तान, पशु और खाद्यान्न पैदा करे ॥३३ ॥

२८३६. यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम् ।

तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥३४ ॥

हे यज्ञवर्द्धक मणे ! आप मंगलकारिणी को जिसके निमित्त हम धारण कर रहे हैं, सैकड़ों तरह के अनुदान देने वाली हे मणे ! आप उस प्रयोजन को श्रेष्ठता की ओर बढ़ाएँ ॥३४ ॥

२८३७. एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।

तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥३५

हे अग्ने ! आप भली प्रकार स्थापित किये गये ईंधन का सेवन करते हुए, आहुतियों से प्रदीप्त हों । ज्ञान (मन्त्र सामर्थ्य) से प्रदीप्त उन सर्वज्ञ अग्निदेव से हम सद्‌बुद्धि, कल्याण, सन्तान, दर्शनशक्ति और पशु प्राप्त करें ॥

[७ - सर्वाधारवर्णन सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा क्षुद्र । देवता- स्कन्भ, आत्मा (अध्यात्म) । छन्द-अनुष्टुप्, १ विराट् जगती, २, ८ भुरिक् त्रिष्टुप्, ७, १३ परोष्णिक्, १०, १४, १६, १८-१९ उपरिष्टात् बृहती, ११, १२, १५, २०, २२, ३९ उपरिष्टात् ज्योति जगती, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, २१ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्, ३१ मध्येज्योति जगती, ३२, ३४, ३६ उपरिष्टात् विराट् बृहती, ३३ पराविराट् अनुष्टुप्, ३५ चतुष्पदा जगती, ३-६, ९, ३८, ४२-४३ त्रिष्टुप्, ४१ आर्षी त्रिपदा गायत्री, ४४ एकावसाना पञ्चपदा निचृत् पदपंक्ति द्विपदार्ची अनुष्टुप् ।]

इस सूक्त के देवता स्कम्भ हैं, जिसका अर्थ होता है आधार, भार सँभालने वाला स्तम्भ । प्रश्न किया गया है कि वह आधार कौन सा है, जिस पर यह सारी सृष्टि व्यवस्था टिकी हुई है । मन्त्रों के भाव से स्पष्ट होता है कि ऋषि की दृष्टि में कोई ऐसी चेतन

सत्ता है, जिस पर पदार्थपरक तथा गुणपरक सृष्टि के विभिन्न घटक टिके हुए हैं। स्वयं परमात्मा या प्रकृति की चेतन सत्ता अथवा चेतन के सागर परम व्योम के साथ ही मन्त्रों के भावों की संगति बैठती है-

२८३८. कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥१॥

इस (स्कम्भ-जीवन धारक देह) के किस अंग में तप:शक्ति रहती है ? किस अंग में ऋत (यज्ञ) रहता है ? इसकी श्रद्धा कहाँ टिकती और व्रत कहाँ स्थित होते हैं ? इसके किस अंग में सत्य का निवास है ? ॥१॥

[भाव यह है कि इसके हर अंग में हर गुण स्थित हैं, कोई भी विशेषता एक अंग या क्षेत्र में सीमित नहीं रहती है।]

२८३९. कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम्॥२॥

इसके किस अंग में अग्नि प्रदीप्त होती है ? किस अंग से वायु प्रवाहित होती है ? उस महान् स्कम्भ के किस अंग का परिमाप करता हुआ चन्द्रमा प्रकाशित होता है ? ॥२॥

२८४०. कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥३॥

इसके किस अङ्ग में भूमि का निवास है ? किस अंग में अन्तरिक्ष रहता है ? किस अंग में सुरक्षित द्युलोक रहता है तथा किस अंग में उच्चतर द्युलोक का उत्तर भाग रहता है ? ॥३॥

२८४१. क्व१ प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व१ प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥४॥

ऊपर को उठती हुई अग्नि कहाँ जाने की इच्छा करती है ? वायु कहाँ जाने की इच्छा करती हुई बहती है ? उस स्कम्भ को बताओ, वह कौन सा है, जहाँ जाने की इच्छा करते हुए प्राणी आवर्तन के चक्कर में पड़े हैं ? ॥४॥

२८४२. क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥५॥

संवत्सर के साथ मिलते हुए पक्ष और मास कहाँ जाते हैं ? जहाँ ये ऋतुएँ और उनमें उत्पन्न पदार्थ जाते हैं, उस स्कम्भ को बताओ कि वह कौन सा है ? ॥५॥

२८४३. क्व१ प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥६॥

विरुद्ध रूप वाली युवतियाँ अर्थात् दिनप्रभा एवं रात्रि मिलकर दौड़ती सी कहाँ जाती हैं ? बताओ वह कौन सा स्कम्भ है, जहाँ पाने की इच्छा वाला यह जल जा रहा है ? ॥६॥

२८४४. यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥७॥

प्रजापति ने जिस पर आधारित होकर समस्त लोकों को धारण किया है, बताओ वह स्कम्भ कौन सा है ? ॥

२८४५. यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव॥८॥

प्रजापति ने जो श्रेष्ठ (परम), निकृष्ट (अवर) तथा मध्यम विश्वरूप की रचना की है, उसमें स्कम्भ कितने अंश प्रवेश किया है तथा वह अंश कितना है, जो प्रविष्ट नहीं हुआ ? ॥८ ॥

[इसका उत्तर पूर्णमदः पूर्णमिदम् के रूप में ही मिल सकता है ।]

२८४६. कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥९ ॥

यह सर्वाधार (स्कम्भ) भूतकाल में कितने अंश में प्रविष्ट हुआ था, भविष्यत् में कितने अंश से शयन कर रहा है तथा जो अपने एक अंग को हजारों-प्रकारों में प्रकट कर लेता है, वह वर्तमान में कितने अंश से प्रविष्ट है ? ॥९ ॥

२८४७. यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१० ॥

जिसमें सब लोक, कोश, ब्राह्मी अप् (मूल सक्रिय तत्त्व) निवास करते हैं, ऐसा लोग जानते हैं । सत् और असत् जिसके अन्दर हैं, उस स्कम्भ को बताएँ ॥१० ॥

२८४८. यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥११॥

उस स्कम्भ को बताएँ, जहाँ तप तथा व्रत करके श्रेष्ठ पुरुष प्रतिष्ठित होते हैं और जहाँ ऋत्, श्रद्धा तथा अप् ब्रह्म समाहित हैं ? ॥११ ॥

२८४९. यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

जिसमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थित हैं तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं वायु जिसके आश्रय में रहते हैं, उस स्कम्भ को बताएँ ? ॥१२ ॥

२८५०. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

जिस स्कम्भ के अंग में समस्त तैंतीस देव स्थिर हैं, उसे बताएँ ? ॥१३ ॥

२८५१. यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१४ ॥

जिसमें प्रथम ऋषि तथा ऋक्, साम, यजु तथा मही (महती विद्या) विद्यमान हैं, जिसमें मुख्यरूप से एक ही ऋषि (अथर्वा) समर्पित हैं (अर्थात् अथर्ववेद प्रकट हुआ), उस स्कम्भ के बारे में हमें बतलाएँ ॥१४ ॥

२८५२. यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्य१ः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

वह स्कम्भ कौन सा है ? जहाँ पुरुष, अमृत और मृत्यु भली प्रकार समाहित हैं, समुद्र जिसकी नाड़ियाँ हैं ॥१५ ॥

२८५३. यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१६ ॥

उस स्कम्भ को बताएँ, जिसकी नाड़ियाँ पहली चारों दिशाएँ हैं तथा यज्ञ जहाँ तक पहुँचता है ॥१६ ॥

२८५४. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्। ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥१७॥

जो पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठी, प्रजापति तथा ज्येष्ठ ब्राह्मण को जानते हैं, वे स्कम्भ को जानते हैं ॥१७॥

२८५५. यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१८॥

जिसका सिर वैश्वानर है और नेत्र अंगिरा वंशी हुए थे। 'यातु' जिसके अंग हैं, उस स्कम्भ को बताएँ ॥१८॥

२८५६. यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१९॥

वह कौन सा स्कम्भ है, बताएँ ? जिसके मुख को ब्रह्म, जिह्वा को मधुकशा तथा 'ऐन' (दुग्धाशय) स्तन को विराट् कहते हैं ? ॥१९॥

२८५७. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥

उस स्कम्भ के बारे में बताएँ ? जिससे ऋचाएँ प्रकट हुईं, यजुर्वेद के मन्त्र प्रकट हुए, जिसके लोम साम हैं और अथर्व जिसका मुख है ॥२०॥

२८५८. असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥२१॥

असत् से उत्पन्न हुई एक प्रतिष्ठित शाखा को मनुष्यगण परमश्रेष्ठ मानते हैं तथा जो दूसरे लोग हैं, वे सत्‌रूप से उसे ही स्वीकार करके उसकी उपासना करते हैं ॥२१॥

२८५९. यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२२॥

उस स्कम्भ के बारे में बताएँ ? जिसमें सूर्य, रुद्र तथा वसु निवास करते हैं और जिसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सहित समस्त लोक समाहित हैं ॥२२॥

२८६०. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥२३॥

तैंतीस देव जिसकी एवं जिसके निधि की रक्षा करते हैं, उसको एवं उसकी उस निधि को कौन जानता है ? ॥२३॥

२८६१. यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥२४॥

ब्रह्मवेत्ता जहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं तथा जो उनको निश्चयपूर्वक प्रत्यक्ष जानता है, वह जानने वाला ब्रह्मा हो सकता है ॥२४॥

[ज्येष्ठ ब्रह्म के सम्बन्ध में अगले सूक्त क्र. ८ में विवेचना की गई है।]

२८६२. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः

जो असत् (अर्थात् प्रकृति) से उत्पन्न हुए हैं, वे बृहत् नाम के देव हैं, वे स्कम्भ के अंग हैं । लोग उन्हें असत् परन्तु श्रेष्ठ कहते हैं ॥२५ ॥

२८६३. यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् । एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ।

जहाँ स्कम्भ (सर्वाधार-आत्मा) ने निर्माण के क्रम में पुराण (तत्त्व) को ही विवर्तित किया, स्कम्भ के उस अंग को पुराण करके ही जानते हैं ॥२६ ॥

२८६४. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥२७ ॥

तैंतीस देवता जिसके शरीर के अंग रूप में शोभा पाते हैं, उन तैंतीस देवताओं को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं ॥२७ ॥

२८६५. हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥२८ ॥

(जिस) परम हिरण्यगर्भ को लोग अवर्णनीय जानते हैं, उस हिरण्यगर्भ को पहले स्कम्भ ने ही इस लोक में प्रसिञ्चित किया ॥२८ ॥

[परम व्योम में से ही हिरण्यगर्भ (सृष्टि का मूल उत्पादक प्रवाह) उत्पन्न हुआ था । पदार्थ विज्ञानी इस तत्त्व हिरण्यगर्भ को नहीं पा सके हैं, वे अभी सृष्टि रचना के आधार-भूत मुख्य तत्त्व (बेसिक मोर्टर आफ द यूनिवर्स) खोज रहे हैं ।]

२८६६. स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥२९ ॥

स्कम्भ में लोक, तप तथा ऋत समाहित हैं । हे स्कम्भ ! जो तुम्हें प्रत्यक्ष जानता है, वह जानता है कि इन्द्र (आत्मा) में ही सब समाया है ॥२९ ॥

२८६७. इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥३० ॥

इन्द्र में सब लोक, तप एवं ऋत समाहित हैं । हे इन्द्रदेव ! मैं आपको प्रत्यक्ष जानता हूँ । स्कम्भ में ही सब समाया है ॥३० ॥

२८६८. नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत्
स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥३१ ॥

सूर्योदय से पहले, उषाकाल से भी पूर्व ब्राह्ममुहूर्त्त में जो नाम रूप ईश्वर को, इस (सर्वाधार) नाम से पुकारता है (अर्थात् जप करता है), वह आत्मा उस स्वराज्य को प्राप्त कर लेती है, जिससे श्रेष्ठ कोई भूत (जगत् का पदार्थ) नहीं है तथा जो पहले (अज) अजन्मा था ॥३१ ॥

२८६९. यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः

भूमि जिसकी प्रमा (पाद मूल के समान) है, अन्तरिक्ष उदर है तथा द्युलोक जिसका सिर है, उस ब्रह्म को नमस्कार है ॥३२ ॥

२८७०. यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३ ॥

सूर्य तथा पुनः-पुनः नया होने वाला (कलाओं के आधार पर) चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं । अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया, उस श्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है ॥३३ ॥

२८७१. यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४ ॥

प्राण और अपान जिसके वायु हैं, अंगिरस् जिसकी आँखें हैं । जिसकी उत्कृष्ट ज्ञापक दिशाएँ हैं, उस ज्येष्ठ (सर्वश्रेष्ठ) ब्रह्म को नमस्कार है ॥३४ ॥

२८७२. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥३५ ॥

द्यावा-पृथिवी एवं विशाल अन्तरिक्ष को स्कम्भ ने धारण कर रखा है । छह उर्वियों और प्रदिशाओं को स्कम्भ ने हीं धारण कर रखा है और स्कम्भ ही इस विश्व में प्रविष्ट है ॥३५ ॥

[उस चेतन या परम व्योम में ही सब समाए हुए हैं तथा सबके अन्दर भी वही समाया हुआ है ।]

२८७३. यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३६ ॥

जो श्रमपूर्वक किये गये तप द्वारा प्रकट होता है तथा समस्त लोकों को व्याप्त किये हुए है, जिसने केवल सोम को ही प्रवाहित किया है, उस श्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है ॥३६ ॥

२८७४. कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥३७ ॥

वायु क्यों स्थिर नहीं रहती, मन क्यों नहीं रमता तथा जल किस सत्य को पाने की इच्छा से प्रवाहित है ? ॥

२८७५. महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥३८ ॥

इस विश्व में एक परम पूज्य है, जो सलिल पृष्ठ पर कान्तिवान् होता है, जिसे तपः द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । जैसे वृक्ष के तने पर शाखाएँ आधारित रहती हैं, वैसे ही समस्त देव उनका आश्रय लेते हैं ॥३८ ॥

२८७६. यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा । यस्मै देवाः सदा बलिं
प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥३९ ॥

देवता जिनके लिए हाथ, पैर, वाणी, कान एवं नेत्रों से सतत बलि (आहुति) प्रदान करते रहते हैं । देव जिनके विमित शरीर में अमित उपहार प्रदान करते रहते हैं । उस स्कम्भ को बताएँ , वह कौन सा स्कम्भ है ? ॥३९ ॥

२८७७. अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥४० ॥

(जो स्कम्भ को जान लेता है) उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है । वह पाप से निवृत्त हो जाता है । जो तीन ज्योतियाँ प्रजापति में होती हैं, वह उसे प्राप्त हो जाती हैं ॥४० ॥

२८७८. यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद । स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥४१ ॥

जो सलिल (अन्तरिक्ष) में स्थित तेजोमय वेतस् (संसार) को जानता है, वही गुह्य प्रजापति है ॥४१ ॥

२८७९. तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥४२ ॥

दो विरुद्ध रूपवाली युवतियाँ (उषा और रात्रि) हैं । वे छह खूटियों (छह ऋतुओं) वाले विश्वरूपा जाल को बुन रही हैं । एक, तन्तुओं (किरणों) को फैलाती है तथा अन्य दूसरी उन्हें अपने में धारणकर (समेट) लेती है । ये दोनों न तो विश्राम करती हैं और न इनका कार्य अन्त तक पहुँचता है ॥४२ ॥

२८८०. तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात् ।
पुमानेनद् वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके ॥४३ ॥

नृत्य के समान श्रम करती हुई, उन दोनों युवतियों में कौन सी पहली है, हम यह नहीं जानते । इसको एक पुरुष बुनता है तथा दूसरा पुरुष उकेलता (तन्तुओं को उधेड़ता) है । इसको वह स्वर्ग में धारण करता है ॥४३ ॥

२८८१. इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥४४ ॥

वे मयूखें (किरणें) ही द्युलोक को थामकर रखती हैं । साम (तालमेल के साथ चलने) वाले दिव्य प्रवाह उस तन्तुजाल को बनाए हुए हैं ॥४४ ॥

[८- ज्येष्ठब्रह्मवर्णन सूक्त]

[ऋषि- कुत्स । **देवता-** आत्मा (अध्यात्म) । **छन्द-** त्रिष्टुप्, १ उपरिष्टात् विराट् बृहती, २ बृहती गर्भा अनुष्टुप्, ५ भुरिक् अनुष्टुप्, ६, १४, १९- २१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७-३८, ४१, ४३ अनुष्टुप्, ७ पराबृहती त्रिष्टुप्, १० अनुष्टुप् गर्भा त्रिष्टुप्, ११ जगती, १२ पुरोबृहती त्रिष्टुप् गर्भार्षी पंक्ति, १५, २७ भुरिक् बृहती, २२ पुरउष्णिक्, २६ द्व्युष्णिक् गर्भा अनुष्टुप्, ३० भुरिक् त्रिष्टुप्, ३९ बृहती गर्भा त्रिष्टुप्, ४२ विराट् गायत्री ।]

इस सूक्त में ज्येष्ठ ब्रह्म का उल्लेख है । ज्येष्ठ का प्रचलित अर्थ 'वय ज्येष्ठ' उम्र में बड़ा माना जाता है; किन्तु इसका अर्थ गुण श्रेष्ठ भी होता है । ज्येष्ठ ब्रह्म के बारे में विचारकों की दो अवधारणाएँ मिलती हैं । एक मान्यता यह है कि ज्येष्ठों में सबसे ज्येष्ठ ब्रह्म ही है, अन्य उससे कनिष्ठ छोटे हैं । दूसरी मान्यता वेदान्त के 'अपर ब्रह्म' और 'परब्रह्म' जैसी है । ब्रह्म सम्बोधन बहुतों के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे- अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, अपो वै ब्रह्म, ब्रह्मकर्म (यज्ञ) , ब्रह्मज्ञान (वेद) , ब्रह्मवर्चस आदि । अपर ब्रह्म सृष्टि का उद्भव, पालन एवं संवरणकर्त्ता है; किन्तु परम व्योम में जहाँ सृष्टि हुई ही नहीं, वहाँ वह परम या ज्येष्ठ ब्रह्म है, ऐसी विद्वज्जनों की अवधारणा है-

२८८२. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१ ॥

जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्काल में सबके अधिष्ठाता हैं । जिनका केवल प्रकाशमय स्वरूप है, हम उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार करते हैं ॥१ ॥

२८८३. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥२ ॥

प्राणयुक्त और पलक झपकने वाला (अर्थात् सचेष्ट द्रष्टा) , सब आत्मा से युक्त जो यह सर्वाधार है, वही स्कम्भ, द्यौ और पृथ्वी को स्थिर किए है ॥२ ॥

[उसे पलक झपकाने वाला कहा गया है । पलक झपकाना स्वचालित प्रक्रिया (रिफ्लैक्स एक्शन अथवा आटो कन्ट्रोल्ड सर्किट) के अन्तर्गत आता है । ब्रह्म की भी सारी क्रियाएँ इसी स्तर की स्वनियंत्रित होती हैं ।]

२८८४. तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त ।

बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥३ ॥

तीन प्रकार की प्रजाएँ (सात्त्विक, राजस् और तामस्) अत्यधिक आवागमन को प्राप्त होती हैं । उनसे भिन्न एक (सत्त्वगुणी प्रजा) सविता मण्डल में आश्रय लेती है । बड़ी (राजस्) चमकीले (यशस्वी) लोकों में फैलती है तथा तीसरी हरण (परिर्वतन) शील प्रजा या शक्तियाँ हरण करने वाले देवों के अधिकार में जाती हैं ॥३ ॥

२८८५. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥४ ॥

बारह प्रधियाँ, एक चक्र और तीन नाभियों वाले उसको कौन जानता है ? वहाँ तीन सौ साठ खूँटे और उतनी ही कीलें हैं, जो अविचल हैं ॥४ ॥

[यहाँ बारह माह, एक संवत्सर, तीन ऋतु ३६० दिन व ३६० रात्रि का आशय सुसंगत लगता है.।]

२८८६. इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः ।

तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥५ ॥

हे सविता ! आप यह जानिए कि यहाँ छह यम (जोड़े) हैं, एक अकेला है, इनमें जो अकेला है, उसमें सब मिलने की इच्छा करते हैं ॥५ ॥

[छह ऋतुएँ हैं ; जो दो-दो के जोड़े से रहती हैं - ये यम हैं , तो एक अकेला सूर्य या संवत्सर है , जिससे संयुक्त होते हैं । काया में पाँच तन्मात्राएँ एवं एक मन - ये छह यम हैं तथा एक जीवात्मा अकेली है , जिससे सभी जुड़ना चाहते हैं ।]

२८८७. आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।

तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥६ ॥

प्रकाशवान् आत्मा इस देहरूप गुहा में विराजती है । जरत् (गतिशील) नामक महान् पद में यह सचेष्ट और प्राणयुक्त (आत्मा) प्रतिष्ठित है ॥६ ॥

२८८८. एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव ॥७ ॥

एक नाभि वाला एक चक्र, हजारों अक्षरों (अक्षय शक्तियों) वाला एक चक्र आगे एवं पीछे घूमता है, उसने अपने आधे भाग से विश्व का निर्माण किया और जो शेष आधा भाग है, वह कहाँ है ? ॥७ ॥

२८८९. पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति ।

अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥८ ॥

इनमें जो पञ्चवाही (पाँच प्राणों से वहन की जाने वाली, आत्मा) है, वह प्रगति करती है या अन्त तक (परमात्मा तक) पहुँचती है । जो घोड़े (वहनकर्त्ता) युक्त हैं, वे भली प्रकार वहन करते हैं । इसका न चलना तो दिखाई देता है; पर चलना नहीं दिखाई देता है, यह समीप होकर भी दूर तक है और दूर तक संचरित होकर भी समीप है ॥८ ॥

२८९०. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।

तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥९ ॥

तिरछे मुख वाला एवं ऊपर की ओर पैंदी वाला एक चमस् (पात्र) है । उसमें विश्वरूप यश निहित है । उसमें सात ऋषिगण इस महान् शरीर की रक्षा हेतु विराजते हैं ॥९ ॥

[इसका स्पष्टीकरण बृहदारण्यक (२.२.३.४) में किया गया है । मानव शरीर का कपाल ऊपर पेंदी वाला पात्र है, मुख तिरछा (सामने की ओर) है, सात ऋषिरूप प्राण आदि इसके पहरेदार हैं ।]

२८९१. या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१० ॥

जो विश्व में योजित है; आगे भी योजित है, पीछे भी योजित है तथा सब ओर योजित है । ऋचाओं में ऐसी वह कौन सी ऋचा है, जिससे यज्ञ का विस्तार किया जाता है ? ॥१० ॥

२८९२. यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥११ ॥

जो कम्पन करता है, गति करता है (फिर भी) स्थिर रहता है, जो प्राण धारण करता है, प्राणरहित होता है; जो पलक झपकाता है तथा जिसकी सत्ता है, वह ही इस विश्व को, पृथ्वी को धारण करता है, पुनः (प्रलयकाल में) वह सब मिलकर एक हो जाता है ॥११ ॥

२८९३. अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥१२ ॥

नानारूपों में वह अनन्त ही प्रकटरूप से फैला है । इस अनन्त में ही ससीम समाया है और यह निःसीम सब ससीम में समाया है । इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के समस्त सम्बन्धों को जानता हुआ वह परमात्मा इस जगत् को चलाता है ॥१२ ॥

२८९४. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥१३ ॥

वह प्रजापति गर्भ (जगत्) के अन्दर अदृश्यरूप से विचरण करता हुआ नानारूपों में प्रकट होता है । वह अपने आधे भाग से समस्त भुवनों को उत्पन्न करता है, जो इसका शेष आधा भाग है, वह ज्ञानमय पुरुष कौन सा है ? ॥१३ ॥

२८९५. ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् । पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ।

भरे घड़े को ऊपर लाने वाला कोई (कहार) होता है । इस घटनाक्रम को लोग आँखों से तो देखते हैं; किन्तु (विश्वघट का धारणकर्त्ता कौन है ?) मन से इस सबका बोध नहीं कर पाते ॥१४ ॥

२८९६. दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥१५ ॥

अपूर्ण एवं पूर्ण दोनों से ही परे यह पूजनीयदेव महान् विश्व-ब्रह्माण्ड के मध्य स्थित उस (विराट्) के लिए राष्ट्र सेवक बलि (आहार आदि) प्रदान करते हैं ॥१५ ॥

२८९७. यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति । तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ।।

सूर्य जिससे उदित होता है और जिसमें ही अस्त हो जाता है, हम उसे ही ज्येष्ठ ब्रह्म मानते हैं । उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता ॥१६ ॥

२८९८. ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥१७ ॥

जो प्राचीन, मध्य एवं वर्तमानकाल में स्थित इस सर्वज्ञानमय पुरुष का वर्णन करते हैं, वे आदित्य का ही वर्णन करते हैं। वे इससे द्वितीय अग्नि का वर्णन करते हैं तथा तीसरे त्रिवृत् हंस (तीन गुणों से आवृत आत्मा) का वर्णन करते हैं ॥१७॥

२८९९. सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८॥

हजारों दिनों (के प्रयास) से इस हंस (बँधे जीव) के पंख (आवागमनरूपी) गिर जाते हैं, तब यह अपने मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह (मुक्तात्मा) समस्त देवताओं (दिव्यताओं) को हृदय में धारण करके, समस्त धामों को देखता हुआ (परमधाम को) जाता है ॥१८॥

२९००. सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥१९॥

जो सत्य के द्वारा ऊपर तपता है, ज्ञान के द्वारा इस निचले जगत् को देखता है (या प्रकाशित करता है) तथा प्राण द्वारा तिर्यक् जगत् को जीवन्त रखता है, उसमें ही ज्येष्ठ ब्रह्म रहता है ॥१९॥

[जो सत्य की प्रेरणा ऊपर से ले, ज्ञानपूर्वक जगत् में व्यवहार करे तथा दोनों से सम्पर्क बनाए रखकर जीवन्त बना रहे, ज्येष्ठ ब्रह्म उसी का वरण करता है।]

२९०१. यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वाञ्ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥२०॥

जो (आत्म ज्ञानरूप) धन को मथने वाली उन दो (विद्या तथा अविद्या) अरणियों को जानता है। वह जानने वाला ज्येष्ठ ब्रह्म को जान सकता है ॥२०॥

२९०२. अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत्।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥२१॥

प्रारम्भ में जब वह पादरहित था, तब वह इस समस्त जगत् अपने में धारण किये था। बाद में वह ही चार पाद (जरायुज, अण्डज, उद्भिज तथा स्वेदज) वाला भोग्य बनता है और अन्त में (प्रलयकाल में) समस्त भोजन को निगल लेता है ॥२१॥

२९०३. भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु। यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥२२॥

भोग्य हुए (इन ज्येष्ठब्रह्म को) जो बहुत-सा अन्न (यज्ञीयप्रक्रिया द्वारा) प्रदान करता है, वह सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त हुए, इस सनातनदेव की (ज्येष्ठब्रह्म की) ही उपासना करता है ॥२२॥

२९०४.सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः। अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः

उसे सनातन (पुरुष) कहते हैं, फिर आज भी वह नया है, जैसे कि दिन और रात्रि अन्योन्याश्रितरूप से नित-नये उत्पन्न होते हुए भी सनातन हैं ॥२३॥

२९०५. शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४॥

सैकड़ों, हजारों, लाखों ही नहीं असंख्य स्वत्व (आत्मतत्त्व) इसमें (ज्येष्ठब्रह्म में) निविष्ट हैं। वे इसमें ही लीन हो जाते हैं। यह देव ही साक्षीरूप से सबमें प्रकाशित रहता है ॥२४॥

२९०६. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५ ॥

एक बाल से भी सूक्ष्म (अर्थात् सूक्ष्मतम-जड़) है और एक होते हुए भी दिखाई नहीं देता (अर्थात् चेतन) है । जो दिव्यशक्ति इन दोनों का आलिंगन करती है, वह चेतन आद्यशक्ति मेरा प्रिय है ॥२५ ॥

२९०७. इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ।

मनुष्य के घर में (अर्थात् देह में), यह कल्याणकारी चित्शक्ति अजर और अमररूप में लेटती है (अर्थात् निवास करती है) । जो इसके लिए उपासना करता है, वह इस लोक में पूजा (सम्मान) पाता है ॥२६ ॥

२९०८. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७ ॥

तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष, तुम्हीं युवक एवं तुम्हीं युवती हो । वृद्ध होने पर तुम्हीं दण्ड लेकर चलते हो अर्थात् तुम्हीं नानाप्रकार के रूपों में प्रकट होते हो ॥२७ ॥

२९०९. उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥२८ ॥

इनके पिता और पुत्र तथा ज्येष्ठ और कनिष्ठ एक ही देव हैं, जो मन में प्रविष्ट हैं । वही पहले भी उत्पन्न हुआ था तथा वही गर्भ में आता रहता है ॥२८ ॥

२९१०. पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥२९ ॥

पूर्ण (परमेश्वर) से पूर्ण (जगत्) उत्पन्न होता है । पूर्ण से पूर्ण सींचा जाता है । आज (बोध हो जाने पर) हम जानते हैं कि यह कहाँ से सींचा जाता है ॥२९ ॥

२९११. एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।
मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥३० ॥

यह सनातनशक्ति, सनातनकाल से विद्यमान है । यह पुरातनशक्ति ही समस्त संसार में व्याप्त रही है । ऐसी यह महान् देवी उषा को आभामयी बनाती है । वह अकेले-अकेले प्रत्येक प्राणी को देख रही है ॥३० ॥

२९१२. अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥३१॥

"अवि" (रक्षण करने वाली प्रकृति) देवी ऋत के द्वारा ढंकी (आच्छादित) है । उसी के रूप से यह वृक्ष एवं पत्ते हरे हुए हैं ॥३१ ॥

२९१३. अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥३२ ॥

यह पास में आए हुए (शरणागत) को नहीं छोड़ता है और यह समीप स्थित को भी नहीं देखता है । इस देव के काव्य (वेदज्ञान) को देखो, जो न कभी मरता है और न ही जीर्ण होता है ॥३२ ॥

२९१४. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥३३ ॥

जिसके पूर्व कोई नहीं था, उन (परमेश्वर) से प्रेरित वचन (वेद वाणियाँ) यथार्थ का वर्णन करती हुई , जहाँ तक जाती हैं, वह ज्येष्ठ ब्रह्म कहलाता है ॥३३ ॥

२९१५. यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।

अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥३४ ॥

जिस प्रकार अरे (चक्र की) उसकी नाभि में आश्रित होते हैं, उसी प्रकार देवता एवं मनुष्य उसमें आश्रित हैं ।अप्-तत्त्व उसके विषय में हमें बताए , जो माया द्वारा आच्छादित रहता है ॥३४ ॥

२९१६. येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ।

य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥३५ ॥

जिनके द्वारा प्रेरित होकर वायु प्रवाहित होती है , जो मिली जुली पाँचों दिशाओं को अस्तित्व प्रदान करते हैं, जो देवता आहुतियों को अधिक मानते हैं, वे अप् प्रवाहों के नेता (नेतृत्व करने वाले) कौन हैं ? ॥३५ ॥

२९१७. इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।

दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥३६ ॥

एक वही इस पृथ्वी को आच्छादित करता है, एक वही अन्तरिक्ष के चारों ओर स्थित है । वह धारण करने वाला ही द्युलोक को धारण करता है । कुछ देव समस्त दिशाओं की रक्षा करते हैं ॥३६ ॥

२९१८. यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥३७ ॥

जिसमें ये समस्त प्रजाएँ ओत-प्रोत हैं , जो विस्तृत इस (प्रकृतिरूपी) सूत्र को एवं इसके कारणरूप सूत्र को भी जानता है । वास्तव में वह ज्येष्ठ ब्रह्म को जानता है ॥३७ ॥

२९१९. वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥३८ ॥

जिसमें ये समस्त प्रजाएँ ओत-प्रोत हैं, मैं उस विस्तृत (प्रकृतिरूपी) सूत्र को एवं उसके भी सूत्र (कारण) को जानता हूँ, वही ज्येष्ठब्रह्म है ॥३८ ॥

२९२०. यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।

यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वे वासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥३९ ॥

जब (प्रलयकाल में) द्यावा-पृथिवी के मध्य समस्त संसार को भस्म करने वाले अग्निदेव व्याप्त होते हैं, उस समय एक पत्नी (आज्ञा का पालन करने वाली एक मात्र संवरणशक्ति) ही रह जाती है, उस समय मातरिश्वा (वायु) कहाँ रहता है ? ॥३९ ॥

२९२१. अप्स्वा सीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् ।

बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥४० ॥

वायु उस समय अप् तत्त्व (सृष्टि के उत्पादक मूल सक्रिय तत्त्व) में प्रविष्ट रहता है तथा अन्य देव भी उसी में प्रवेश करते हैं, तब वह लोकों का रचनाकार सबका संचालक महान् परमेश्वर विद्यमान रहता है । सभी दिशाओं के जाज्वल्यमान रहने पर भी वह व्याप्त रहता है ॥४० ॥

२९२२. उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे ।

साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व ॥४१ ॥

जो साधक प्राण (गय) से उत्तर (आगे) स्थित अमृत-प्रवाह को प्राप्त करके गायत्री महाविद्या में गतिशील होते हैं, जो साम (आत्मतत्त्व) से, साम (परमात्मतत्त्व) को जानते हैं, वे ही जानते हैं कि अज (अजन्मा-परमात्मा का) कहाँ प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) होता है ॥४१ ॥

२९२३. निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा ।

इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥४२ ॥

(अपनी शक्तियों का) निवेश करके (साधना की पूर्वोक्त) धारा के साथ गतिमान् (साधक) दिव्य सम्पदाओं के संग्राम में सत्य-धर्मपालक, सवितादेव तथा इन्द्रदेव की तरह (जयशील होकर) स्थित होता है ॥४२ ॥

२९२४. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३ ॥

नौ द्वारों वाला पुण्डरीक जीवनरूपी कमल तीन गुणों (सत्, रज और तम) से घिरा है । उसमें जो वन्दनीय आत्मा का स्थान है, उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥४३ ॥

२९२५. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४ ॥

निष्काम, धैर्यवान्, अमर तथा स्वयंभू ब्रह्म अपने ही रस से तृप्त रहता है । वह किसी भी विषय में न्यून नहीं है । उस धैर्यवान्, अजर तथा नित्य युवा आत्मा को जानने वाले मनुष्य मृत्यु से भयभीत नहीं होते ॥४४ ॥

[९ - शतौदनागौ सूक्त]

[ऋषि- अथर्वा । देवता- शतौदना (गौ) । छन्द- अनुष्टुप्, १ त्रिष्टुप्, १२ पथ्यापंक्ति, २५ द्व्युष्णिक् गर्भानुष्टुप्, २६ पञ्चपदा बृहती अनुष्टुप् उष्णिक् गर्भा जगती, २७ पञ्चपदाति जागतानुष्टुब्गर्भा शक्वरी । **]**

इस सूक्त के देवता 'शतौदना' हैं । जिसका अर्थ होता है 'सैकड़ों प्रकार का परिपक्व आहार देने वाली ।' उन्हें पय, घृत, मधु आदि की दात्री कहा गया है । इस आधार पर कुछ आचार्यों ने इस सम्बोधन को 'गौ' से जोड़ने का प्रयास किया है । व्यापक अर्थों में पृथ्वी एवं पोषक प्रकृति को भी गौ कहते हैं । उस संदर्भ में ही यह उक्ति ठीक है । पृथ्वी तथा प्रकृति मातृभाव से सैकड़ों प्रकार का पोषण देती है । अस्तु, वे 'शतौदना' हैं । इस 'शतौदना' को 'अहिंसनीय' कहा गया है । जो लोग प्रकृति संतुलन 'इकॉलाजी' को हानि पहुँचाते हैं, वे इस 'शतौदना' का हनन करते हैं । उनके प्रति ऋषि ने रोष प्रकट किया है-

२९२६. अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ।

इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥१ ॥

पापियों (हानि पहुँचाने वालों) का मुख बन्द करो । उन शत्रुओं पर वज्र प्रहार करो । इन्द्रदेव द्वारा पहले दी गयी यह 'शतौदना' शत्रुओं का विनाश करने वाली तथा यजमान (यज्ञोन्मुख व्यक्तियों अथवा प्रक्रियाओं) का मार्गदर्शन करने वाली है ॥१ ॥

२९२७. वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते ।

एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥२ ॥

हे शतौदने ! आपका चर्म वेदिका बने और रोम कुशारूप हो । इस डोरी (यज्ञीयप्रक्रिया के सूत्रों) द्वारा आपको बाँधा गया है । यह ग्रावा (रस निष्पादक यंत्र) आपके ऊपर हर्ष से नृत्य करे ॥२ ॥

२९२८. बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्टर्वघ्न्ये ।

शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥३ ॥

हे अहिंसनीय ! आपके बाल प्रोक्षणी बनें और जिह्वा शोधन करे । हे शतौदने ! आप पूज्य और पवित्र बनकर द्युलोक में गमन करें ॥३ ॥

२९२९. यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते ।

प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥४ ॥

जो मनुष्य 'शतौदना' का परिपाक करते हैं, वे कामनापूर्ति में समर्थ होते हैं और इससे हर्षित होकर ऋत्विग्गण यथायोग्य मार्ग से वापस जाते हैं ॥४ ॥

['शतौदना' तथा 'प्रकृति' का परिपाक विभिन्न प्रक्रियाओं से होता रहता है । मनुष्य में यज्ञीय तथा प्रकृति संवर्द्धक प्रक्रियाओं द्वारा सहायक बनते हैं । परिपाक में भाग लेने वाले लाभान्वित होते हैं ।]

२९३०. स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः ।अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ।

जो 'शतौदना' को अपूप (मालपुवों) के रूप में प्रदान करते हैं, वे अन्तरिक्ष स्थित स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं ॥५ ॥

[मालपुए का मैदा जब गर्म घी में छोड़ा जाता है, तो फैलकर बड़ा आकार बना लेता है । उसमें छिद्र हो जाते हैं तथा घी उसके अधिकतम भाग के साथ सीधे सम्पर्क में आकर उसे पकाता है । यज्ञ द्वारा छोड़े गए वायुभूत पोषक पदार्थ, इसी प्रकार प्रकृति में फैल जाते हैं । दिव्य आकाशीय प्रवाह उनके अधिकतम भाग के सीधे सम्पर्क में आकर उन्हें पोषण, क्षमता - सम्पन्न बनाते हैं । इसी प्रक्रिया की ओर ऋषि का संकेत प्रतीत होता है ।]

२९३१. स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ।

हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥६ ॥

जो 'शतौदना' गौ को हिरण्य ज्योतियुक्त करके (यज्ञीय ऊर्जा या अंतरिक्षीय प्रकाशमान प्रवाहों से संयुक्त करके) दान करते हैं, वे उन लोकों को प्राप्त करते हैं, जो दिव्य तथा पार्थिव हैं ॥६ ॥

२९३२. ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥७ ॥

जो आपकी शान्ति के लिए तथा आपको परिपक्व करने वाले लोग हैं, वे सब आपकी सुरक्षा करेंगे । हे देवि ! आप उनसे भयभीत न हों ॥७ ॥

२९३३. वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।

आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥८ ॥

दक्षिण की ओर से वसुदेव आपकी सुरक्षा करेंगे, उत्तर की ओर से मरुद्गण और पीछे की ओर से आदित्यगण आपकी सुरक्षा करेंगे, इसलिए आप अग्निष्टोम यज्ञ के पार गमन करें ॥८ ॥

२९३४. देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥९ ॥

देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सराएँ, ये सब आपकी सुरक्षा करेंगे । आप अतिरात्र यज्ञ के पार गमन करें ॥९ ॥

२९३५. अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः ।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥१० ॥

जो 'शतौदना' का दान करते हैं, वे अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य, मरुत् तथा दिशाओं आदि के सम्पूर्ण लोकों को प्राप्त करते है ॥१० ॥

२९३६. घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति ।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥११ ॥

हे अहिंसनीय सुभगा देवि ! आप घृत सिंचन करती हुई देवताओं को प्राप्त होंगी । आप पकाने वाले की हिंसा न करें, उन्हें स्वर्ग की ओर प्रेरित करें ॥११ ॥

['शतौदना' प्रकृति कभी-कभी क्रुद्ध हो उठती है, तो मनुष्यों का अनिष्ट होने लगता है । उससे प्रार्थना है कि हम आपके विकास-परिपाक में सहयोगी हैं । हे मातः ! हमें मारो मत, श्रेष्ठ दिशा में प्रेरित करो ।]

२९३७. ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१२ ॥

जो देव स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा धरती पर निवास करते हैं, उनके लिए सदैव दुग्ध, घृत तथा मधु का दोहन करें ॥

२९३८. यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१३ ॥

आपके जो सिर, मुख, कान तथा हनु हैं, वे दाता को, दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१३ ॥

२९३९. यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१४ ॥

आपके जो ओष्ठ, नाक, आँख तथा सींग हैं, वे दाता को, दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१४ ॥

२९४०. यत् ते क्लोमा यद् हृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१५ ॥

आपके जो फेफड़े, हृदय, मलाशय तथा कण्ठ भाग हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१५ ॥

२९४१. यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१६ ॥

आपके जो यकृत, गुर्दे, आँते तथा गुदा हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१६ ॥

२९४२. यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१७ ॥

आपके जो प्लीहा, गुदाभाग, कुक्षि (कोख) तथा चर्म हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१७ ॥

२९४३. यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम् ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१८ ॥

आपके जो मज्जा, अस्थि , मांस और रुधिर हैं, वे दाता को, दूध, दही, घी तथा मधु प्रदान करें ॥१८ ॥

२९४४. यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत्।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥१९ ॥

आपके जो बाहु , भुजाएँ , कन्धे तथा ककुत् हैं , वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥१९ ॥

२९४५. यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२० ॥

आपके जो गर्दन, पीठ, कन्धे तथा पसलियाँ हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥२० ॥

२९४६. यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२१ ॥

आपके जो जंघा, घुटने, कूल्हे तथा गुह्यांग हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥२१ ॥

२९४७. यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२२ ॥

आपके जो पूँछ, बाल, दुग्धाशय तथा थन हैं, वे दाता को दुग्ध, दही, घृत तथा मधु प्रदान करें ॥२२ ॥

२९४८. यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२३ ॥

आपके जो जंघा , खुट्टियाँ, खुर तथा कलाई के भाग हैं , वे दाता को दुग्ध, घृत, दही तथा मधु प्रदान करें ॥२३ ॥

२९४९. यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥२४ ॥

हे शतौदने ! हे अघ्न्ये ! आपके जो चर्म तथा रोम हैं. वे दाता को दुग्ध, घृत, दही तथा मधु प्रदान करें ॥२४ ॥

२९५०. क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥२५ ॥

हे देवि ! आपकेपार्श्व भाग, घृत द्वारा अभिषिंचित पुरोडाश हों । हे शतौदने ! आप उनको पंख बनाकर पकाने वाले को स्वर्ग ले जाएँ ॥२५ ॥

२९५१. उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥२६ ॥

ओखली, मूसल, चर्म तथा सूर्प में जो चावल के कण रह गए हैं अथवा जिसको मातरिश्वा ने शुद्ध करते हुए मंथन किया है, उसको होता अग्निदेव श्रेष्ठ हविरूप बनाएँ ॥२६ ॥

२९५२. अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

मधुयुक्त घृत को प्रदान करने वाली दिव्य जल धाराओं को हम ब्राह्मणों के हाथों में अलग-अलग प्रदान करते हैं । हे ब्राह्मणो ! जिस कामना के लिए हम आपका अभिषेक करते हैं, वह सब हमें प्राप्त हो और हम धनपति बनें ॥२७ ॥

[१० - वशागौ सूक्त]

[ऋषि- कश्यप । देवता- वशा । छन्द- अनुष्टुप्, १ ककुम्मती अनुष्टुप्, ५ पञ्चपदाति जागतानुष्टुप्, गर्भा स्कन्धोग्रीवी बृहती, ६, ८, १० विराट् अनुष्टुप्, २३ बृहती, २४ उपरिष्टात् बृहती, २६ आस्तारपंक्ति, २७ शङ्कुमती अनुष्टुप्, २९ त्रिपदा विराट् गायत्री, ३१ उष्णिक् गर्भा अनुष्टुप, ३२ विराट् पथ्या बृहती ।]

इस सूक्त के देवता वशा हैं । पूर्व सूक्त (क्र. ९ के 'शतौदना') की तरह इस सम्बोधन का भाव भी गौ की तरह पोषण देने वाली सूक्ष्म प्रकृति से जुड़ता है । हमारे पर्यावरण की सीमा में जो प्रकृति है, वहाँ तक हमारा वश चलता है अथवा यह हमारे जीवनचक्र को वश में रखने वाली है, इसलिए इसे वशा कहा गया है । मन्त्र क्र० २-३ के आधार पर यह यज्ञ से उत्पन्न पोषक शक्तिप्रवाह प्रतीत होती है तथा मन्त्र क्र० ६ में इसे पर्जन्य- पत्नी कहा है, जिससे इसके 'उर्वरता' होने का बोध होता है-

२९५३. नमस्ते जायमानायै जाताया उत ते नमः ।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥१ ॥

हे अहिंसनीय गौ ! उत्पन्न हुई तथा उत्पन्न होने वाली आपको नमस्कार है । आपके बालों, खुरों तथा विभिन्न रूपों के लिए नमस्कार है ॥१ ॥

२९५४. यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः ।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥२ ॥

जो वशा गौ के सात जीवन- प्रवाहों, सात अन्तर-स्थानों तथा यज्ञ के सिर को जानते हैं, वे ही वशा गौ को स्वीकार कर सकते हैं ॥२ ॥

२९५५. वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः ।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥३ ॥

सात जीवन- प्रवाहों, सात अन्तर स्थानों तथा यज्ञ के सिर को भी हम जानते हैं । इसमें जो विशेष आलोकित होने वाले सोमदेव हैं, उनको भी हम जानते हैं ॥३ ॥

२९५६. यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥४ ॥

जिसने द्यावा, पृथिवी और समस्त जल की सुरक्षा की है, उस सहस्रधारा प्रदान करने वाली वशा गौ से हम ज्ञान द्वारा सम्मुख होकर वार्तालाप करते हैं ॥४ ॥

२९५७. शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥५ ॥

इसके पृष्ठ में दुग्ध के सैकड़ों बर्तन हैं, सैकड़ों दूध दुहने वाले हैं और सैकड़ों संरक्षक हैं । जो देवता उस गाय से जीवित रहते हैं, वे एकमत से उसके महत्त्व को जानते हैं ॥५ ॥

[प्रकृति के पोषण देने वाले सैकड़ों स्रोत हैं, उनके दोहन के क्रम भी सैकड़ों हैं । देवगण उसी से तृप्त होते हैं ।]

२९५८. यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥६ ॥

यज्ञ में विशेष स्थान प्राप्त, दूध देने वाली, अन्नरूप प्राण को धारण करने से धरती पर प्रसिद्ध तथा पर्जन्य की पत्नी (उर्वरता) वशा, ब्रह्मरूप अन्न द्वारा देवताओं को प्राप्त करती है ॥६ ॥

२९५९. अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥७ ॥

हे वशा गौ ! अग्निदेव और सोमदेव आप में प्रविष्ट हुए हैं । हे कल्याणकारी गौ ! पर्जन्य आपका दुग्ध स्थान है और हे वशे ! विद्युत् आपके स्तन हैं ॥७ ॥

२९६०. अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥८ ॥

हे वशा गौ ! आप सबसे पहले जल प्रदान करती हैं, उसके बाद उर्वरक भूमि प्रदान करती हैं, फिर तीसरी राष्ट्रीयशक्ति प्रदान करती हैं । हे वशे ! तत्पश्चात् आप अन्न और दूध प्रदान करती हैं ॥८ ॥

२९६१. यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि ।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥९ ॥

हे ऋतावरि ! जब आप आदित्यों द्वारा बुलाए जाने पर उनके समीप गयी थीं, तब हे वशे ! इन्द्रदेव ने आपको हजारों पात्रों से सोमरस पिलाया था ॥९ ॥

[सूर्य की उर्वरता सोम प्रवाहों से ही बनी हुई है- 'आदित्यः सोमेन बलिनः ।' इन्द्र नियन्ताशक्ति द्वारा सूर्यस्थ वशा- उर्वरता को सहस्रों धाराओं से सोमपान कराया जाता है ।]

२९६२.यदनूचीन्द्रमैरात् त्व ऋषभो ऽह्वयत् ।
तस्मात् ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धो हरद् वशे ॥१० ॥

हे गौ ! जब आप अनुकूलता से इन्द्रदेव के समीप थीं, तब वृषभ ने आपको समीप से बुलाया था, इसी कारण क्रोधित होकर वृत्रहन्ता इन्द्रदेव ने आपके दूध और जल को हर लिया था ॥१० ॥

२९६३. यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे । इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥

हे वशा गौ ! जब क्रोधित होकर धनपति ने आपके दुग्ध को हर लिया था, तब से आज तक यह स्वर्गधाम ही सोमरूप तीन पात्रों में उसकी सुरक्षा कर रहा है ॥११ ॥

२९६४. त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्य हरद् वशा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१२ ॥

जहाँ पर दीक्षित होकर 'अथर्वा' ऋषि मनोहर आसन पर बैठते हैं, उनके समीप देवी वशा तीनों पात्रों में रखा हुआ सोमरस ले जाती हैं ॥१२ ॥

२९६५.सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता ।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥१३ ॥

सोम तथा समस्त पैर वालों के साथ वशा गौ सुसंगत हो जाती है । वह कलि (ध्वनि करने वाले) गन्धर्वों के साथ समुद्र पर भी प्रतिष्ठित होती है ॥१३ ॥

२९६६. सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः । वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ।

वायु तथा समस्त पैर वाले प्राणियों के संग यह वशा गौ सुसंगत हो गई थी । यह ऋचा तथा साम को धारण करती हुई समुद्र में नर्तन करती है ॥१४ ॥

२९६७. सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा।

वशा समुद्रमत्यख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥१५ ॥

सूर्य तथा समस्त नेत्र वालों से मिलती हुई, ज्योतियों को धारण करती हुई, कल्याणकारी वशा, समुद्र से भी अधिक विख्यात हुई ॥१५ ॥

२९६८. अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि।

अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥१६ ॥

हे अन्न प्रदान करने वाली गौ ! जब आप स्वर्णिम आभूषणों से सम्पन्न होकर खड़ी हुई थीं, उस समय हे वशे ! आपके समीप समुद्र अश्व बनकर आ गया ॥१६ ॥

२९६९. तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा।

अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१७ ॥

जहाँ पर दीक्षित होकर 'अथर्वा' ऋषि स्वर्णिम आसन पर विराजते हैं , वहाँ पर वशा देष्ट्री तथा स्वधा (देने वाली तथा तृप्त करने वाली) होकर पहुँच जाती है ॥१७ ॥

२९७०. वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।

वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥१८ ॥

क्षत्रियों की माता वशा है, हे स्वधे ! आपकी माता भी वशा है । वशा से आयुध उत्पन्न हुए हैं और उससे चित्त विनिर्मित हुआ है ॥१८ ॥

२९७१. ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।

ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥१९ ॥

ब्रह्म के उच्च भाग (ककुद्) से एक बूँद ऊपर उछला, हे वशे ! उससे आप प्रकट हुईं, उसके बाद होता उत्पन्न हुए ॥१९ ॥

२९७२. आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।

पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥२० ॥

हे वशे ! आपके मुख से गाथाएँ बनी हैं, गर्दन के भागों से बल प्रकट हुआ है, दुग्धाशय से यज्ञ प्रकट हुआ है और स्तनों से किरणें प्रकट हुई हैं ॥२० ॥

२९७३. ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।

आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥२१ ॥

हे वशे ! आपके बाहुओं तथा पैरों से गमन होता है । आपकी आँतों से विविध पदार्थ तथा उदर से वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई हैं ॥२१ ॥

२९७४. यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे।

ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत् स हि नेत्रमवेत् तव ॥२२ ॥

हे वशे ! जब आप वरुणदेव के उदर में प्रविष्ट हुई थीं , तब ब्रह्मा ने आपको बुलाया था और वे ही आपके नेत्र को जान सके थे ॥२२ ॥

२९७५. सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।

ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥२३ ॥

ऐसा कहते हैं, कि समस्त प्राणी गर्भ से पैदा होने से भयभीत होते हैं, यह वशा ही उनको पैदा करती है और इसका भाई मन्त्रों से समर्थ होने वाला कर्म है ॥२३ ॥

[वशा उर्वरा शक्ति का भाई तथा मंत्रों से समर्थ होने वाला यज्ञ है । अगले मंत्र में उसे पार करने वाला कहा गया है ।]

२९७६. युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी ।

तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥२४ ॥

(वशा का) एक (अन्य भाई) संघर्षपूर्वक सृजन करता है ।एक यज्ञ पार कराने वाला है ।पार होने वालों का नेत्र वशा ही है ॥२४ ॥

[वशा के भाई सृजन और यजन हैं । सृजन उसके साथ उसकी शक्ति प्रकट करता है तथा यजन उसमें समाहित होकर उसकी शक्ति बढ़ाता है ।]

२९७७. वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।

वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥२५ ॥

वशा यज्ञ को स्वीकार करती है, उसने ही सूर्य को धारण किया है । ब्रह्मा के साथ वशा में ओदन भी प्रविष्ट है ॥२५ ॥

२९७८. वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।

वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः ॥२६ ॥

देवगण 'वशा' को अमृत कहते हैं और उसे ही मृत्यु समझकर उसकी उपासना करते हैं । देव, मानव, असुर, पितर तथा ऋषि, ये सब वशामय ही हैं ॥२६ ॥

२९७९. य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।

तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥२७ ॥

जो इस ज्ञान को जानते हैं, वे 'वशा ' का प्रतिग्रहण करें । 'वशा' के दाता को यज्ञ अविचलित भाव से सब फल प्रदान करता है ॥२७ ॥

२९८०. तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।

तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८ ॥

वरुणदेव के मुँह के अन्दर तीन जिह्वाएँ चमकती हैं । उनके बीच में जो विशेषरूप से आलोकित होती है, वह 'वशा' ही है । अतः उसे दान में स्वीकार करना दुरूह है ॥२८ ॥

२९८१. चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः ।

आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥२९ ॥

'वशा' गौ का वीर्य चार भागों में विभक्त है । उसका चौथाई भाग जल, चौथाई अमृत, चौथाई यज्ञ तथा चौथाई पशु है ॥२९ ॥

२९८२. वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३० ॥

'वशा' ही द्यौ और धरती है, 'वशा' ही प्रजापालक विष्णु है । जो साध्य तथा वसु देवगण हैं, वे 'वशा' का ही दुग्धपान करते हैं ॥३० ॥

[उर्वरतारूपी 'वशा' ही सबका पालन करती है, अतः विष्णु रूपा है । यह प्रवाह द्युलोक से पृथ्वी तक संचरित है ।]

२९८३. वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥३१ ॥

'वशा' का दुग्धपान करने वाले साध्य और वसु , सूर्यमण्डल में विद्यमान देवों के स्थान में दुग्ध की ही उपासना करते हैं ॥३१ ॥

[ऋषि की दृष्टि में उर्वरता के प्रवाह सूर्य मण्डल से भी निःसृत होते हैं ।]

२९८४. सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥३२ ॥

इनमें से एक सोम का दोहन करते हैं और एक घी को प्राप्त करने की साधना करते हैं । जो ऐसे ज्ञानी को गौ प्रदान करते हैं, वे स्वर्गलोक में गमन करते हैं ॥३२ ॥

२९८५. ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्त्समश्नुते ।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥३३ ॥

मनुष्य ब्राह्मणों को 'वशा' का दान करके समस्त लोकों को प्राप्त करते हैं । इस 'वशा' में सत्य, ब्रह्म तथा तप आश्रित (समाहित) हैं ॥३३ ॥

२९८६.वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥३४ ॥

देवगण 'वशा' पर जीवन व्यतीत करते हैं और मनुष्य भी 'वशा' पर जीवित रहते हैं । जहाँ तक आदित्य का आलोक पहुँच सकता है, वह सब 'वशा' ही है ॥३४ ॥

॥इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

परिशिष्ट - १

अथर्ववेद भाग-१ के ऋषियों का संक्षिप्त परिचय-

१. **अगस्त्य (६.१३३)** - अगस्त्य ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में ६.१३३ सूक्त इनके द्वारा दृष्ट है। ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी (२.१.१६६) के अनुसार ये मित्रावरुण के पुत्र थे तथा उर्वशी से उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद १.११७.११ में अगस्त्य ऋषि द्वारा विश्पला की टाँग के लिए अश्विनीकुमारों की स्तुति करने का उल्लेख मिलता है। ऋ० १.१७९ में इनके द्वारा अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ संवाद विवेचित हुआ है। इस सूक्त में प्रथम दो ऋचाएँ लोपामुद्रा द्वारा और अन्तिम दो ऋचाएँ अगस्त्य शिष्यों द्वारा दृष्ट हैं। एक ऋचा १०.६०.६ अगस्त्य-स्वसा द्वारा दृष्ट है। ऋ० ७.३३.१० से अगस्त्य और वसिष्ठ दोनों के मित्रावरुण और उर्वशी द्वारा उत्पन्न होने का प्रमाण मिलता है। इसी कारण दोनों के नाम के साथ मैत्रावरुणि पद संयुक्त होता है। बृह० ५.१५० में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। ऋ० १.१८९.८ में इन्हें मान्य (मान के पुत्र) के रूप में उपन्यस्त किया गया है। सप्तऋषियों में भी इन्हें मान्यता प्राप्त है।

२. **अङ्गिरा (२.३)** - अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर अङ्गिरा (अङ्गिरस्) को ऋषित्व प्राप्त हुआ है। सम्भवतः अग्नि कर्म से जुड़े होने के कारण इन्हें अङ्गिरस् कहा गया है। इनके वंशजों (आङ्गिरसों) में अनेकों को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। नवग्व और दशग्व उनमें से श्रेष्ठतम हैं- **नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः** (ऋ० १०.६२.६)। इन्हें "विश्वरूप" कहकर विवेचित किया गया है- **विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः** (ऋ० १०.७८.५)। अग्नि की भाँति इन्हें भी शक्ति का पुत्र माना गया है- **अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे** (अथर्व० २०.१०३.३)। ये ज्येष्ठ ब्रह्म के नेत्ररूप माने गये हैं- **चक्षुरङ्गिरसो ऽ भवन्.....ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः** (अथर्व० १०.७.३४)। वे पितृतुल्य माने जाते थे- **अङ्गिरसो नः पितरो** (अथर्व० १८.१.५८)। अग्नि के आविष्कार के लिए अङ्गिरा को ख्याति प्राप्त है। मन्थन का कार्य पहले करने से ये सहसपुत्र कहलाये-**स जायसे मथ्यमानः सहोमहत् त्वामाहुः सहसस्पुत्र-मंगिरः** (ऋ० ५.११.६)। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें अग्नि का ही रूप माना गया है- **अङ्गिरा उ ह्यग्निः** (शत० ब्रा० १.४.१.२५)। **अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः** (ऐत० ब्रा० ६.३४)। इन्हें ही प्राण एवं रसरूप में भी विवेचित किया गया है-**प्राणो वा अङ्गिराः** (शत० ब्रा० ६.१.२.२८)। **ये ऽङ्गिरसः स रसः** (गो० ब्रा० १.३.४)।

३. **अथर्वा (१.१-३)** - अथर्वा ऋषि को अथर्ववेद में प्रमुखरूप से ऋषित्व प्राप्त हुआ है। अनेक स्थानों पर इन्हें एक शल्य चिकित्सक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इनके द्वारा मनुष्य की मूर्धा को सिलने और हृदय को यथास्थान स्थिर करने का,उल्लेख मिलता है-**मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्** (अथर्व० १०.२.२६)। अथर्वा का इन्द्र के साथ सखा का सम्बन्ध था,उनके लिए उन्होंने पूर्ण चमस बनाया था- **अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते** (अथर्व० १८.३.५४)। अथर्वा प्रथम आहुति डालने के कारण विश्व के प्रथम याज्ञिक थे- **यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः** (अथर्व० १९.४.१) अथर्वा और अङ्गिरा को पिता तुल्य बृहस्पति माना गया है और देवबन्धु कहा गया है। अथर्वा को वरुण से उत्पन्न माना गया है-**अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्** (अथर्व० ५.११.११)। अथर्वा को प्रजापति भी माना गया है-**अथर्वा वै प्रजापतिः** (गो० ब्रा० १.१.४)। अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ऋषि प्रख्यात हैं- **तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः** (मैत्रा० सं० २.७.३)।

४. **अथर्वाङ्गिरा (४.८)** - अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर अथर्वा और अङ्गिरा का सम्मिलित ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इनका साथ-साथ भी अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। अथर्वण और अङ्गिरस् को स्कम्भ (ब्रह्म) के मुख के रूप में मान्यता मिली है- **अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः** (अथर्व० १०.७.२०)। अथर्वाङ्गिरस् को प्रथम आहुतिकर्त्ता या यज्ञ आविष्कारकर्त्ता के रूप में भी स्वीकार किया गया है- **मेद आहुतयो ह वा ऽ एतम देवानाम्। यदथर्वाङ्गिरसः** (शत० ब्रा० ११.५.६.७)।

५. **अथर्वाचार्य (८.१०)** - अथर्ववेद के आठवें काण्ड के दसवें सूक्त के ऋषि अथर्वाचार्य माने गये हैं। सम्भव है, अथर्वा ऋषि ही यहाँ अथर्वाचार्य के रूप में विवेचित हुए हों अथवा अथर्वा के वंशज आथर्वण के रूप में। इस सूक्त में ऋषि ने विराट् (जगत् या पुरुष) की स्तुति की है।

६. **उच्छोचन (६.१०३)** - अथर्ववेद के छठवें काण्ड के १०३वें सूक्त के द्रष्टा उच्छोचन ऋषि हैं। इस सूक्त में उन्होंने 'शत्रुनाशन' देवता की स्तुति की है। इससे अगले सूक्त में भी 'शत्रुनाशन' देवता स्तुत्य हैं; परन्तु वहाँ ऋषि नाम में 'प्रशोचन' ऋषि उल्लिखित है। उच्छोचन नाम व्यक्तिवाचक है अथवा नहीं, यह शोध का विषय है। इस सूक्त में ऋषि ने शत्रुसेनाओं को पाश-बन्धनों में डालने की प्रार्थना देवों से की है- **संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्** (अथर्व० ६.१०३.१)।

७. उद्दालक (३.२९) - उद्दालक को अथर्ववेद के दो सूक्तों ३.२९ और ६.१५ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्त (३.२९) के प्रमुख देवता 'शितिपाद अवि' हैं। पाँच मंत्रों वाले इस सूक्त का प्रयोग 'ओदनसव कर्म' में श्वेत पैर वाली भेड़ के साथ याज्ञिक क्रियाओं में किया जाता है। इस सूक्त में श्वेत पैर वाली भेड़ के दान की महत्ता भी प्रतिपादित हुई है- **यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्** (अथर्व० ३.२९.३)। दूसरे सूक्त ६.१५ में इनके द्वारा वनस्पति देवता की स्तुति की गई है।

८. उन्मोचन (५.३०) - अथर्ववेद के दो सूक्तों ५.३०, ६.१०५ के ऋषि नाम में "उन्मोचन" नाम उल्लिखित है। इस सूक्त (५.३०) का ऋषि हस्त से बालक का स्पर्श करने पर पाठ किया जाता है तथा अभिचार से उन्मोचन हेतु पिष्टरात्रि कल्प में सरसों के अभिमंत्रण के अनन्तर जप करना भी विनियोग होता है। इस सूक्त का देवता "आयुष्य" है। किन्हीं शास्त्रकारों ने ऋषि नाम में उन्मोचन को 'आयुष्काम' रूप में भी स्वीकार किया है। सम्भवतः इस सूक्त में ऋषि ने आयुष्य को क्षीण करने वाले अभिचार तथा पाप, रोगादि से उन्मोचन के लिए पाठ किया है, इसी क्रिया के आधार पर अज्ञातनामा ऋषि उन्मोचन आयुष्काम रूप में मान्य हुए। सूक्त ६.१०६ में "प्रमोचन" ऋषि भी निर्दिष्ट हैं।

९. उपरिबभ्रव (६.३०-३१) - उपरिबभ्रव ऋषि को अथर्ववेद में पाँच सूक्तों (६.३०-३१, ७.९-१०, ७.७९) तथा तीन ऋचाओं (ऋ० २०.४८.४-६) का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन सूक्तों में ऋषि ने शमी, गौ (रश्मियों) पूषा, सरस्वती आदि की स्तुति की है।

१०. ऋभु (४.१२) - अथर्ववेद के चौथे काण्ड के १२वें सूक्त में ऋभु का ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। इस सूक्त में इन्होंने रोहणी वनस्पति की स्तुति की है। इस सूक्त का प्रयोग शस्त्रादि के प्रहार से कटे अंग से बहते रुधिर को रोकने, टूटी हड्डी को जोड़ने के लिए रोहणी लाख के औटाए हुए जल को छिड़कने में किया जाता है तथा इस सूक्त से घृत, दुग्ध का अभिमन्त्रण करके क्षत अंगवाले पुरुष को पिलाया जाता है।

११. कपिञ्जल (२.२७) - अथर्ववेद के तीन सूक्तों २.२७, ७.१००-१०१ के ऋषि रूप में 'कपिञ्जल' नाम निर्दिष्ट है। इस सूक्त का प्रमुख देवता वनस्पति है। अन्तिम दो मन्त्रों में रुद्र तथा इन्द्र की स्तुति की गयी है। निरुक्त द्वारा 'कपिञ्जल' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नानुसार है-**"कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, कपिरिव जवत ईषत् पिङ्गलो वा, कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा"** (बूढ़े बन्दर के समान वर्ण वाले अथवा वृद्ध कपि के समान गति अथवा थोड़े भूरे वर्ण वाले अथवा सुमधुर शब्द वाले होने से कपिञ्जल कहा जाता है। (नि० ३.१८)। कपिञ्जल का सामान्य अर्थ चातक अथवा तित्तिर पक्षी किया जाता है।

१२. कबन्ध (६.७५.७७) - 'कबन्ध' द्रष्टा रूप में अथर्व के तीन सूक्तों ६.७५-७७ में उल्लिखित हैं। इनमें से प्रथम सूक्त में ऋषि ने इन्द्र की तथा द्वितीय में सान्तपन अग्नि और तृतीय में जातवेदा की स्तुति की है। 'कबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति वाच० के अनुसार **'कं जलं बध्नाति इति कबन्धः'** है। इसका अर्थ अमरकोश के अनुसार 'जल' तथा निरुक्त के अनुसार 'मेघ' किया गया है।

१३. कश्यप (१०.१०) - 'कश्यप' ऋषि अथर्ववेद में १०.१० तथा १२.४-५ सूक्तों में ऋषि रूप में मान्य हैं। १०.१० तथा १२.४-५ सूक्तों में पोषक धाराओं (किरणों) के रूप में 'वशा' की स्तुति की गई है। यहाँ ऋषि नाम में अपत्यवाचक पद का उल्लेख नहीं किया गया है। सप्तर्षि मण्डल के प्रमुख ऋषि के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य में इनका मरीचि पुत्र होना स्वीकार किया है- **मरीचि पुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वा ऋषिः** (ऋ० ८.२९ सा.भा.)। बृहद्देवता ग्रन्थ में कश्यप को प्रजापति के पौत्र, मरीचि के पुत्र तथा दक्ष की अदिति आदि तेरह पुत्रियों के पति के रूप में माना गया है- **प्राजापत्यो मरीचिर्हि मारीचः कश्यपो मुनिः। तस्य देव्यो ऽ भवञ्जाया दाक्षायण्यस्त्रयोदश** (बृह० ५.१४३)।

१४. काङ्कायन (६.७०) - अथर्ववेद के दो सूक्तों ६.७० और ११.११ के ऋषि नाम में 'काङ्कायन' निर्दिष्ट है। प्रथम सूक्त का देवता अघ्न्या और द्वितीय सूक्त का अर्बुदि है। प्रथम सूक्त का गौ और बछड़े के परस्पर विरोध को शान्त करने के लिए पाठ किया जाता है। दूसरे सूक्त का प्रयोग विजयाकांक्षी राजा युद्ध के समय करता है।

१५. काण्व (२.३१-३२) - काण्व ऋषि को अथर्ववेद के तीन सूक्तों २.३१-३२ तथा ५.२३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यह 'काण्व' पद अपत्यवाचक प्रतीत होता है। 'काण्व' पद का अर्थ 'कण्व गोत्रीय' ऋषि लिया जाता है। ऋषि नाम यहाँ अनुक्त है। प्रथम सूक्त में ऋषि ने मही, चन्द्रमा तथा द्वितीय सूक्त में आदित्य एवं तृतीय सूक्त में इन्द्र देवता की स्तुति की है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में 'काण्व' (कण्वगोत्रीय) ऋषियों को ऋषित्व प्राप्त होने का विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। अथर्ववेद में ये ऋषि क्रिमिनाश विद्या के कारण गौरवान्वित हुए हैं- **अत्रिवत् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्** (अथर्व० २.३२.३)। अनेक रोगों की एक मात्र ओषधि वीरुध् के वे ज्ञाता थे - **कण्वस्य वीरुधम्। आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् निशमयत्** (अथर्व० ६.५२.३)। कण्व ऋषियों (काण्वों) की इन्द्र विषयक स्तुतियाँ उत्तम मानी जाती थीं, अन्य स्तोता उनके समान स्तुति का प्रयत्न करते थे- **अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्** (अथर्व० २०.११५.३)।

१६.कुत्स (१०.८) - कुत्स का ऋषित्व अथर्ववेद में अपत्यवाचक पदरहित नाम से निर्दिष्ट है। ऋग्वेद में ये आङ्गिरस (अङ्गिरस्-गोत्रीय) पद से उल्लिखित हैं। अष्टाध्यायी (पाणिनि) के सूत्रों में पूर्वाचार्यों के नाम में तथा निरुक्त ३.११ में ऋषि रूप में ये उल्लिखित हुए हैं। कुत्स को ऋग्वेद १.११२.२३ में आर्जुनेय भी कहा गया है। आचार्य सायण ने वाजसनेयक का उद्धरण देकर इन्द्र को अर्जुनरूप में तथा कुत्स को उनके पुत्ररूप में उल्लिखित किया है। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में (अथर्व० ४.१६.१०-१२) कुत्स को इन्द्र के अभिन्न सखारूप में वर्णित किया गया है, जिन्हें देखकर इन्द्र पत्नी शची को इन्द्र के पहचानने में भ्रान्ति हुई थी। इन्द्रदेव ने कुत्स के लिए शुष्ण का हनन किया था- **कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः** (ऋ० ४.१६.१२)।

१७. कृति (१.६) - अथर्ववेद के एक सूक्त में ऋषि नाम कृति, सिन्धुद्वीप अथवा अथर्वा निर्दिष्ट है। इससे स्पष्ट है कि इस सूक्त के ऋषि कृति तथा सिन्धुद्वीप अथवा कृति तथा अथर्वा सम्मिलितरूप से हैं। कृति का ऋषित्व अन्यत्र कहीं निर्दिष्ट नहीं है। सामान्य अर्थ में कृति शब्द छन्द या असि या तलवार के रूप में प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम् में इसके पुरुष प्रयत्न, कर्तृ व्यापार, हिंसा आदि अर्थ भी दिये हैं।

१८. कौरुपथि (७.६०) - अथर्ववेद के दो सूक्तों ७.६० तथा ११.१० के ऋषि नाम में 'कौरुपथि' नाम उपन्यस्त किया गया है। प्रथम सूक्त में ऋषि ने इन्द्रावरुण तथा द्वितीय सूक्त में 'अध्यात्म एवं मन्यु' देवता की स्तुति की है। कौरुपथि ऋषि का अन्यत्र कहीं कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

१९. कौशिक (६.३५) - कौशिक ऋषि को अथर्ववेद में ६ सूक्तों ६.३५,६.११७-१२१ तथा कुछ मन्त्रों १०.५.२५-३६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यह नाम अपत्यवाचक पद प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद के चार सूक्तों ३.१९-२२ के ऋषि नाम में 'गाथी कौशिक' निर्दिष्ट है। अथर्ववेद में कौशिक ऋषि का नाम "गाथी" अनुक्त है। ये कुशिक के पुत्र तथा विश्वामित्र के पिता थे। ऋ० ३.३३.५ में विश्वामित्र को '**कुशिकस्य सूनुः**' कहकर उल्लिखित किया गया है। इन्हें राजा सुदास् के महायज्ञ में पुरोहित माना गया है। उक्त सूक्तों में कौशिक ऋषि ने प्रमुखरूप से अग्नि, वैश्वानर अग्नि की स्तुति की है।

२०. गरुत्मान् (४.६-७) - अथर्ववेद में गरुत्मान् को सात सूक्तों ४.६,७,५.१३,६.१२,६.१००,७.९३,१०.४ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इन सूक्तों में ऋषि ने प्रायः तक्षक और वनस्पति देवता की स्तुति की है। सम्भव है, ऋषि सर्प विषनिवारण की विद्या में पारंगत रहे हों। निरुक्तकार ने गरुत्मान् शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है- **गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा** (नि० ७.१८)।

२१. गार्ग्य (६.४९) - अथर्ववेद में गार्ग्य ऋषि को तीन सूक्तों ६.४९,१९.७-८ के ऋषि होने का गौरव प्राप्त हुआ है। प्रथम सूक्त में ऋषि ने अग्नि की तथा शेष दो सूक्तों में नक्षत्रों की स्तुति की है। ऋग्वेद में एक सूक्त ६.४७ के ऋषि गर्ग भारद्वाज हैं। सम्भव है, गार्ग्य ऋषि इन्हीं के पुत्र या वंशज हों। बृ० उ० २.११ और कौषी० उ० ४.१ में बालाकि का पैतृक नाम गार्ग्य है। इनके वंशज गार्ग्यायण या गार्ग्यायणि कहलाये। निरुक्त १.१२,३.१३ में भी गार्ग्य का नामोल्लेख मिलता है।

२२. चातन (१.७-८) - अथर्ववेद के अनेक सूक्तों (१.७-८,१.१६ आदि) के ऋषि नाम में 'चातन' का उल्लेख है। इन्होंने प्रमुखरूप से अग्नि के विविधरूपों की स्तुति की है। इन ऋषि के विषय में अन्य कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता है।

२३. जगद्बीज पुरुष (३.६) - अथर्ववेद के एक सूक्त ३.६ के ऋषि नाम में जगद्बीज पुरुष नाम निर्दिष्ट है। यह सूक्त शत्रुनाशन सूक्त के नाम से विवेचित है। इसका देवता अश्वत्थ (वनस्पति) है। सम्भवतः ये ऋषि प्रजापति पुत्र आदि पुरुष होंगे, जिन्हें यजु० १२.१०२ सूक्त के ऋषि नाम में हिरण्यगर्भ कहा गया है, ऋ० १०.१२१ सूक्त के ऋषि नाम में हिरण्यगर्भ प्राजापत्य कहा गया है। काठक संहिता में पुरुष मात्र को जगत् (चैतन्य) संज्ञा से निरूपित किया गया है- **यः पुरुषमात्रस्स जगच्चित्** (काठ० सं० २१.४)।

२४. जमदग्नि (६.८-९) - जमदग्नि ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में तीन सूक्तों ६.८-९,६.१०२ के ऋषि होने का गौरव इन्हें प्राप्त हुआ है। इन सूक्तों के देवता कामात्मा, अश्विनीकुमार आदि हैं। ऋग्वेद में इन्हें एक भार्गव (भृगु वंशज) कहा गया है। हरिश्चन्द्र के राजसूय यज्ञ में इनके पुरोहित (अध्वर्यु) होने का वर्णन निर्दिष्ट है- **तस्य ह विश्वामित्रो होता ऽऽ सीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्मा ऽ यास्य उद्गाता** (ऐत० ब्रा० ७.१६)। इन्हें जगद् द्रष्टा रूप में भी स्वीकार किया गया है- **चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः** (शत० ब्रा० ८.१.२.३)।

२५. जाटिकायन (६.३३) - जाटिकायन का ऋषित्व अथर्ववेद के दो सूक्तों ६.३३,६.११६ में दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने प्रथम सूक्त में इन्द्र तथा द्वितीय सूक्त में विवस्वान् की स्तुति की है। इनके विषय में अन्यत्र कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता है।

२६. द्रविणोदा (१.१८) - अथर्ववेद के एक सूक्त १.१८ के ऋषिरूप में द्रविणोदा को स्वीकार किया गया है। इन्होंने इस सूक्त में विनायक देवता की स्तुति की है। निरुक्तकार ने द्रविणोदा की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की है- **द्रविणोदाः कस्मात्? धनं**

द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं- यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः (नि० ८.१)। द्रविणोदा अग्निरूप में भी मान्य हैं- **अथाप्यग्निं द्रविणोदसमाह** (नि० ८.२)।

२७. द्रुह्वण (६.६३) - अथर्व में 'द्रुह्वण' ऋषि को केवल एक सूक्त ६.६३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। चार मन्त्रों के इस सूक्त में ऋषि ने क्रमशः निर्ऋति, यम, मृत्यु और अग्नि की स्तुति की है। इनके विषय में अन्यत्र कोई विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता है।

२८. नारायण (१०.२) - नारायण ऋषि को चारों वेदों में ऋषित्व प्राप्त हुआ है। यजुर्वेद में प्रसिद्ध पुरुष सूक्त के द्रष्टा नारायण पुरुष ही हैं। आचार्य सायण के अनुसार आदि कारण पुरुष का प्रतिपादन करने के कारण इस सूक्त को पुरुष सूक्त कहा गया है। अथर्व में दो सूक्तों १०.२,१९.६ के द्रष्टा रूप में ये मान्य हैं। इनमें भी ऋषि ने प्रमुखरूप से 'पुरुष' देवता की स्तुति की है।

२९. पतिवेदन (२.३६) - अथर्ववेद के एक सूक्त २.३६ के ऋषि नाम में 'पतिवेदन' नाम उपन्यस्त किया गया है। इस सूक्त में ऋषि ने विभिन्न देवों की स्तुति की है।

३०. प्रचेता (६.४५-४८) - अथर्व में प्रचेता का ऋषित्व चार सूक्तों ६.४५-४८ में अङ्गिरस् एवं यम के साथ सम्मिलितरूप से दृष्टिगोचर होता है। एक मंत्र २०.९६.२४ में इनका स्वतंत्र ऋषित्व भी निर्दिष्ट है। इन्होंने प्रमुख रूप से दुःस्वप्ननाशन और विश्वेदेवा आदि की स्तुति की है। ऋग्वेद में एक सूक्त १०.१६४ के ऋषि नाम में इन्हें एक आङ्गिरस (अङ्गिरस्-गोत्रीय) स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य में अग्नि एवं आदित्यों को भी प्रचेतस् कहा गया है। प्रचेतस् का सामान्य अर्थ 'प्रकृष्ट चित्त वाला' है। यास्क ने भी प्रायः यही अर्थ स्वीकार किया है- **प्रचेताः प्रवृद्धचेताः** (नि० ८.५)। अग्नि, सोम और सूर्य को भी प्रचेता विशेषण से सम्बद्ध किया गया है- **संयच्च प्रचेताश्चाग्नेः सोमस्य सूर्यस्य** (तैत्ति० सं० ४.४.११.२)। प्रचेता, वरुण के पर्यायरूप में मान्य हैं।

३१. प्रजापति (२.३०) - प्रजापति का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों २.३०,४.३५ आदि के ऋषिरूप में प्रजापति मान्य हैं। ऋग्वेद में प्रजापति के साथ तीन वैकल्पिक पद संयुक्त हुए हैं-(i) वाच्य (ii) वैश्वामित्र (iii) परमेष्ठी। प्रजापति शब्द का उल्लेख वैदिक साहित्य में सृष्टि रचयिता, प्रजापालक, सविता, अग्नि, यज्ञ आदि के लिए किया गया है- **प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् सो ऽ कामयत प्रजाः पशून्त्सृजेयेति** (तैत्ति० सं० २.१.१.४)। **प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः** (तैत्ति० सं० ३.४.८.६)। **सविता वै प्रजापतिः** (जैमि० ब्रा० १.६)। **प्रजापतिर्वा ऽ अग्निः** (जैमि० ब्रा० १.२९०)।

३२. प्रत्यङ्गिरस् (१०.१) - अथर्ववेद में प्रत्यङ्गिरस् को केवल एक ही सूक्त १०.१ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्त में इन्होंने 'कृत्यादूषण' देवता की स्तुति की है। कृत्या को दूर करने के लिए इस सूक्त का विनियोग किया जाता है।

३३. प्रमोचन (६.१०६) - अथर्व में एक सूक्त ६.१०६ के ऋषि नाम में 'प्रमोचन' नाम उल्लिखित है। इससे पहले के सूक्त में उन्मोचन ऋषि नाम निर्दिष्ट है। ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं प्रतीत होते। प्रमोचन ऋषि ने वहाँ 'दूर्वाशाला' देवता की स्तुति की है।

३४. प्रशोचन (६.१०४) - प्रशोचन का ऋषित्व अथर्ववेद ६.१०४ सूक्त में दृष्टिगोचर होता है। इसके पूर्व सूक्त के ऋषि उच्छोचन हैं। उक्त सूक्तों में इन्द्र, इन्द्राग्नी आदि देवगण स्तुत हुए हैं। उक्त सूक्त 'शत्रुनाशन सूक्त' नाम से वर्णित है।

३५. प्रस्कण्व (७.४०-४७) - प्रस्कण्व ऋषि द्वारा दृष्ट मंत्र चारों वेदों में संगृहीत हैं। अथर्ववेद में अनेक सूक्तों के ऋषि नाम में प्रस्कण्व उल्लिखित हैं; परन्तु इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद अनुक्त है। ऋग्वेद में इन्हें एक काण्व (कण्व गोत्रीय) के रूप में उपन्यस्त किया गया है। निरुक्तकार ने इन्हें कण्व-पुत्र के रूप में वर्णित किया है- **प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। कण्व प्रभवो यथा प्राग्रम्** (नि० ३.१७)। बृह० ६.८५ में प्रस्कण्व द्वारा पृषध्र को धन देने का वर्णन प्रतिपादित किया गया है। इन्द्र द्वारा इनकी सहायता का उल्लेख भी मिलता है- **धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ** (अथर्व० २०.९.३)।

३६. बभ्रुपिंगल (६.१४) - बभ्रुपिंगल को अथर्व में ६.१४ सूक्त का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इसमें इन्होंने बलास देवता की स्तुति की है। ऋग्वेद के एक सूक्त (५.३०) के ऋषि अत्रि गोत्रीय बभ्रु हैं, जिन्होंने ऋणंचय से दान प्राप्त किया था।

३७. बादरायणि (४.३७-३८) - बादरायणि का ऋषित्व अथर्ववेद के चार सूक्तों ४.३७-३८,७.६१,७.११४ में दृष्टिगोचर होता है। इन सूक्तों में से प्रथम दो सूक्तों में इन्होंने मुख्यतः अप्सराओं और तृतीय, चतुर्थ में क्रमशः अरिनाशन और अग्निदेवता की स्तुति की है। बादरायणि का सामान्य अर्थ 'बदर के वंशज' लिया जाता है। बदर वैदिक साहित्य में कोई ऋषि रहे होंगे। सामान्यतः बदर (बेर के) फलदार वृक्ष के रूप में मान्य है। पौराणिक सन्दर्भ में बादरायणि को व्यास का पुत्र शुकदेव माना गया है।

३८. बृहच्छुक्र (६.५३) - बृहच्छुक्र का अथर्व में मात्र एक सूक्त ६.५३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। बृहच्छुक्र शब्द की व्युत्पत्ति **'बृहत् शुक्र'** की जाती है। शुक्र ऋषि को अथर्व में अनेक सूक्तों २.११,४.१७-१९ आदि का ऋषि माना गया है। 'बृहच्छुक्र' ऋषि शुक्र से भिन्न हैं या नहीं, यह शोध का विषय है। उक्त सूक्त में इन्होंने त्वष्टा, वैश्वानर, अग्नि, वायु आदि की स्तुति की है।

३९. बृहद्दिवोऽथर्वा (५.१-३) - बृहद्दिव और अथर्वा ऋषि को अथर्ववेद में तीन सूक्तों ५.१-३ का सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त हुआ है। बृहद्दिव ऋषि को २०.१०७.४-१३ मंत्रों का स्वतंत्र ऋषित्व भी प्राप्त हुआ है। ऋक्, यजु और साम तीनों वेदों में इनके ऋषि नाम में 'आथर्वण' पद भी संयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये अथर्वा के वंशज रहे होंगे। ये इन्द्र के स्तोताओं में अग्रणी रहे हैं- **इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः** (अथर्व० ५.२.८)। ये दोनों महान् ऋषि इन्द्र के शरीर की भाँति उनके अति निकट थे- **एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव** (अथर्व० ५.२.९)।

४०. बृहस्पति (१०.६) - बृहस्पति का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०.७१-७२ में इन्हें आङ्गिरस अथवा लौक्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद में इन्हें एक सूक्त १०.६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्त में इन्होंने प्रमुखतः फालमणि वनस्पति की स्तुति की है। वे ज्ञान के देवता हैं तथा ज्ञान द्वेषियों को ताप देने वाले हैं- **ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते** (ऋ० २.२३.४)। वैदिक साहित्य में इन्हें ब्रह्म ज्ञान के रूप में ही कहा गया है- **बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म** (गो० ब्रा० २.१.३)। **बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः** (तैत्ति० सं० २.५.७.४)। बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने निम्न प्रकार से दी है- **बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा** (बृहस्पति अर्थात् बृहद् रूप से रक्षा करने वाले अथवा पालन करने वाले।)(नि० १०.११)।

४१. ब्रह्मा (१.१७, १९) - अथर्ववेद में अनेक सूक्तों के द्रष्टा रूप में ब्रह्मा स्वीकार किये गये हैं। ऋग्वेद में कण्व गोत्रीय एक ऋषि ब्रह्मातिथि का ऋषित्व (ऋ० ८.५ में) निर्दिष्ट है; परन्तु ब्रह्मा ऋषि का अन्य संहिताओं में ऋषित्व नहीं मिलता। निरुक्तकार ने ब्रह्मा की उपमाएँ निम्न प्रकार से दी हैं - **ब्रह्मैको जातेजाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः** (नि० १.८)। इन्हें देवों में श्रेष्ठ की उपमा दी गई है- **तस्मादाहुर्ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति** (शत० ब्रा० ८.४.१.३)। इन्द्र को ब्रह्मा रूप में स्वीकार किया गया है- **इन्द्र एव ब्रह्मा ऽऽसीत्** (जैमि० ब्रा० ३.३७४)।

४२. ब्रह्मास्कन्द (४.३१-३२) - ब्रह्मास्कन्द को अथर्ववेद के दो सूक्तों ४.३१-३२ के द्रष्टा रूप में स्वीकार किया गया है। इन दोनों सूक्तों में इन्होंने देवता रूप में 'मन्यु' की स्तुति की है। 'स्कन्द' सामान्य अर्थों में 'शिव का एक नाम' है। सम्भव है, ब्रह्मा और शिव का संयुक्त ऋषित्व यहाँ अभीष्ट हो।

४३. भग (६.८२) - भग ऋषि को अथर्ववेद के एक सूक्त ६.८२ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। इस सूक्त में इन्होंने इन्द्र देवता की स्तुति की है। यज्ञ के पर्याय के रूप में भी 'भग' प्रयुक्त हुआ है- **यज्ञो भगः** (शत० ब्रा० ६.३.१.१९)। निरुक्तकार ने 'भग' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है- **भगो भजतेः** (नि० १७)। निरुक्त ग्रन्थ में ही आदित्यों के नाम में इन्हें परिगणित किया गया है- **तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति** (नि० २.१३)। कश्यप पत्नी देवमाता अदिति को इनकी माता के रूप में स्वीकार किया गया है। पौराणिक सन्दर्भ में इनकी पत्नी का नाम सिद्धि है, जिनसे महिमा आदि पुत्र उत्पन्न हुए।

४४. भरद्वाज (२.१२) - भरद्वाज ऋषि को चारों वेदों में ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेद में इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'बार्हस्पत्य' संयुक्त हुआ है, जिसका आशय बृहस्पति के पुत्र अथवा वंशज से है। ये सप्तर्षियों में प्रतिष्ठा प्राप्त ऋषि हैं। उषा देवी से प्रार्थना की गई है कि वे भरद्वाज के समान हमें प्रकाशित करें- **उच्छा दिवो दुहितः प्रत्नवन्नो भरद्वाजवद् विधते मघोनि** (ऋ० ६.६५.६)। निरुक्तकार ने भरद्वाज शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है- **भरणाद् भारद्वाजो** (भरण-पोषण करने के कारण भरद्वाज कहलाते हैं- नि० ३.१७)। ब्राह्मण ग्रन्थ में इनकी संगति मन से बिठाते हुए उपन्यस्त किया है- **मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सो ऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः** (शत० ब्रा० ८.१.१.९)। इन्हें ममता के गर्भ से उत्पन्न बृहस्पति का पुत्र माना जाता है। बृहद्देवता ५.१०२-१०३ में इन्हें अङ्गिरस् का पौत्र तथा बृहस्पति पुत्र स्वीकार किया गया है।

४५. भागलि (६.५२) - अथर्ववेद के एक सूक्त ६.५२ का ऋषित्व भागलि को प्राप्त हुआ है। तीन मंत्रों के इस सूक्त में ऋषि ने क्रमशः सूर्य, गौ और भेषज का वर्णन किया है।

४६. भार्गव (७.११८-११९) - भार्गव ऋषि का ऋषित्व अथर्ववेद के दो सूक्तों ७.११८-११९ में दृष्टिगोचार होता है। ये सूक्त 'शत्रुनाशन सूक्त' शीर्षक से वर्णित हैं। इनमें ऋषि ने तृष्टिका और अग्नीषोमा देवता की स्तुति की है। भार्गव नाम व्यक्तिवाचक न होकर अपत्यवाचक है, जिसका आशय 'भृगु गोत्रीय' से है। भार्गव ऋषियों में इट, कवि, गृत्समद, च्यवन, जमदग्नि आदि प्रसिद्ध हैं। सम्भव है, उक्त दो सूक्त इन्हीं में से किन्हीं ऋषि द्वारा दृष्ट हों।

४७. भृगु (३.१३) - भृगु ऋषि को अथर्ववेद में अनेक सूक्तों के द्रष्टा रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के दो सूक्त ९.६५, १०.१९ के ऋषि नाम में इनके साथ 'वारुणि' पद उल्लिखित है जिसका आशय 'वरुण पुत्र' है, इसकी पुष्टि आचार्य सायण के भाष्य से होती है- **वरुणपुत्रस्य भृगोरार्षं भार्गवस्य जमदग्नेर्वा** (ऋ० ९.६५ सा० भा०) अथर्ववेद के एक सूक्त २.५ के ऋषि भृगु आथर्वण हैं, जिससे ये अथर्वा के वंशज प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में भृगु के साथ अङ्गिरा का सम्मिलित ऋषित्व

प्राप्त होता है । संभवतः भृगु अथवा भार्गवों को अग्नि-पूजक होने के कारण अङ्गिरा से सम्बद्ध माना गया है । निरुक्तकार ने इन्हें अङ्गिरा के रूप में स्वीकार किया है- **अर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुर्भृज्यमानोनदेहे, अङ्गारेष्वङ्गिरा** (नि० ३.१७) । शतपथ ब्राह्मण में ये वारुणि (वरुण-पुत्र) के रूप में अभिहित है- **भृगुर्ह वै वारुणिः । वरुणं पितरं........**(शत० ब्रा० ११.६.१.१) ।

४८. भृगु आथर्वण (२.५) - भृगु अथर्वण को अथर्ववेद के एक सूक्त २.५ का ऋषि स्वीकार किया गया है । वे अथर्वा ऋषि के वंशज हैं, इसी कारण अपत्यवाचक पद 'आथर्वण' संयुक्त किया गया है । इस सूक्त में ऋषि ने इन्द्र के पराक्रमों की विवेचना की है । इन्द्र ही इस सूक्त के देवता हैं । इन्हें इन्द्र के मित्र रूप में वर्णित किया गया है- **इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो ....बिभेद वलं भृगुर्न** (अथर्व० २.५.३) । मातरिश्वा ने अग्नि को भी इनका मित्र बनाया था- **वह्निं. .... रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा** (ऋ० १.६०.१) । आथर्वण ऋषि को साम मन्त्रों से भी सम्बद्ध माना गया है- **आथर्वणं लोककामाय ब्रह्म साम कुर्य्यात्** (तां० म० ८.२.५) ।

४९. भृग्वङ्गिरा (१.१२-१४) - अथर्ववेद में अनेक सूक्तों के द्रष्टा रूप में 'भृगु और अङ्गिरा' को सम्मिलित रूप से स्वीकार किया गया है । भृगु और अङ्गिरा का स्वतन्त्र ऋषित्व भी अनेक सूक्तों में निर्दिष्ट है । एक सूक्त १९.७२ में भृगु, अङ्गिरा के साथ ब्रह्मा को भी सम्मिलित ऋषित्व प्राप्त हुआ है । इन दोनों को मंगलकारी कहा गया है- **भद्रा भृगवोऽङ्गिरसः सुदानवः** (काठ० संक० ६२) । इन्हें तप में अग्रणी माना गया है- **भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्** (काठ० सं० १.७) । इन्हें विपुल ब्रह्मज्ञान का प्रतीक माना गया है- **एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः** (गो० ब्रा० १.३.४) ।

५०. मयोभू (५.१७-१९) - अथर्व में तीन सूक्तों ५.१७-१९ के ऋषिरूप में 'मयोभू' नाम उल्लिखित है । इनमें इन्होंने ब्रह्मजाया और ब्रह्मगवी की स्तुति की है । यजुर्वेद के एक मन्त्र ११.१८ के ऋषि नाम में 'मयोभुवः' नाम आता है, जिसका आशय सम्भवतः मयोभू के वंशजों से होगा । मयोभू का सामान्य अर्थ (मयस् से सुख तथा भू से प्राण) 'सुखकारी प्राणरूप' किया जाता है ।

५१. मरीचि कश्यप (७.६४) - मरीचि कश्यप को अथर्ववेद में एक सूक्त ७.६४ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है । इस सूक्त में इन्होंने अग्नि की स्तुति की है । ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर कश्यप मारीच का ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है । इन्हें आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में मरीचि पुत्र के रूप में विवेचित किया है- **'जातवेदसे' इति एकर्चं षष्ठं सूक्तं मरीचिपुत्रस्य कश्यपस्यार्षं त्रैष्टुभम्** (ऋ० १.९९ सा० भा०) । कश्यप ऋषि सप्तर्षियों में एक माने जाते हैं । बृहद्देवता ग्रन्थ (५.१४३-१४५) में प्रजापति के वंशज एवं दक्ष पुत्रियों अदिति आदि के पति के रूप में इनका उल्लेख निर्दिष्ट है । शतपथ ब्राह्मण (१३.७.१.१५) के अनुसार इन्होंने विश्वकर्मन् भौवन राजा का सर्वमेध यज्ञ कराया था ।

५२. मातृनामा (२.२) - मातृनामा को अथर्ववेद के तीन सूक्तों २.२, ४.२० ८.६ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है । उक्त सूक्तों में गन्धर्व-अप्सरा मातृनामा और ब्रह्मणस्पति आदि की स्तुति की है ।

५३. मृगार (४.२३-२९) - अथर्ववेद के सात सूक्तों ४.२३-२९ में मृगार को मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया है । इन सूक्तों में ऋषि ने प्रचेता अग्नि, इन्द्र, सविता, वायु, द्यावा-पृथिवी, मरुद्गण, मित्रावरुण आदि देवताओं की स्तुतियाँ की हैं ।

५४. मेधातिथि (७.२६-३०) - मेधातिथि का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है । अथर्ववेद के पाँच सूक्तों ७.२६-३० तथा एक मन्त्र २०.१४३.९ का ऋषित्व इन्हें प्राप्त हुआ है । ऋग्वेद तथा सामवेद में इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'काण्व' संयुक्त है, जिसका आशय 'कण्वगोत्रीय' है । आचार्य सायण ने इन्हें कण्वगोत्रीय के रूप में उल्लिखित किया है- **मेधातिथि मेध्यातिथि नामानौ द्वावृषी तौ च कण्वगोत्रौ** (ऋ० ८.१ सा० भा०) । अथर्ववेद में मेध्यातिथि ऋषि को भी अनेक सूक्तों का ऋषित्व प्राप्त हुआ है । इन्द्र द्वारा मेधातिथि के पास जाकर सोमपान करने का उल्लेख मिलता है- **तेषां ह स्मेन्द्रो मेधातिथेर्मेषस्य रूपं कृत्वा सोमं व्रतयति** (जैमि० ब्रा० ३.२३४) । **मेधातिथेर्ह मेषो भूत्वा (इन्द्रः) राजानं (सोमम्) पपौ** (जैमि० ब्रा० २.७९) ।

५५. यम (६.४५-४६) - अथर्व में यम, प्रजापति, वरुण, सविता, भर्ग, ब्रह्मा आदि देवों का ऋषित्व भी दृष्टिगोचर होता है । **'यस्य वाक्यं स ऋषिः'** के अनुसार जिन देवों द्वारा संवाद या वाक्य प्रस्तुत किया गया है, वे देवगण भी ऋषि रूप में अभिप्रेत हैं । ऋग्वेद के ऋषि नाम में 'यम' के साथ 'वैवस्वत' पद संयुक्त है । जिसका आशय विवस्वत् या विवस्वान् का पुत्र है । ऋग्वेद में यम की बहिन यमी वैवस्वती का ऋषित्व भी निर्दिष्ट है । इनकी माता का नाम सरण्यू विवेचित है- **यमस्य माता पर्युह्यमाना... द्वा मिथुना सरण्यूः** (ऋ० १०.१७.१-२) । यम गोत्रीय ऋषियों (यामायनों) में कुमार, दमन, देवश्रवा, शङ्ख, संकुसुक आदि ख्याति प्राप्त हैं ।

५६. वरुण (७.११७) - वरुण का ऋषित्व ऋक्, यजु और अथर्व तीनों वेदों में निर्दिष्ट है । अथर्ववेद में एक सूक्त ७.११७ का ऋषित्व वरुण को प्राप्त हुआ है । वरुण पुत्रों में भृगु और सत्यधृति का ऋषित्व भी क्रमशः ऋग्वेद ९.६५ तथा १०.१८५ में निर्दिष्ट है । वरुणानी इनकी पत्नी के रूप में अभिप्रेत हैं । भागवत पुराण के अनुसार वरुण की चर्षणी नाम की पत्नी से इन्हें दो पुत्र भृगु और वाल्मीकि प्राप्त हुए । निरुक्तकार ने इन्हें द्वादश आदित्यों में से एक माना है । महाभारत के अनुसार ये कश्यप द्वारा अदिति

के गर्भ से जन्मे थे। वरुण को सम्पूर्ण भुवनों के सम्राट् के रूप में वर्णित किया गया है- **आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि** (ऋ० ८.४२.१)। निरुक्त में वरुण शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी है- **वरुणः वृणोतीति सतः** (नि० १०.३)।

५७. **वसिष्ठ (१.२९)** - वसिष्ठ ऋषि को चारों वेदों में ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद और सामवेद में इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'मैत्रावरुणि' संयुक्त हुआ है। वसिष्ठ और अगस्त्य को मित्र और वरुण का पुत्र माना जाता है, अतः दोनों के नाम के साथ मैत्रावरुणि पद निर्दिष्ट है। इनके मित्रावरुण और उर्वशी से उत्पन्न होने की पुष्टि ऋग्वेद में होती है-**उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः** (ऋ० ७.३३.११)। इन्हें सप्तर्षियों में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऋ० ७.३३.१०-१४ में वसिष्ठ पुत्रों का सम्मिलित ऋषित्व भी प्राप्त होता है। अथर्ववेद के एक सूक्त ४.२२ में वसिष्ठ और अथर्वा का सम्मिलित ऋषित्व निर्दिष्ट है। वसिष्ठगोत्रीय ऋषियों में उपमन्यु, द्युम्नीक, शक्ति आदि का ऋषित्व भी ऋग्वेद में वर्णित है। महामृत्युञ्जय मन्त्र के द्रष्टा भी वसिष्ठ ही हैं- **त्र्यम्बकं द्वे अनुष्टुभौ पूर्वस्यां वसिष्ठ...**(यजु० सर्वा० १.१५)। पुराणानुसार कर्दम की पुत्री अरुन्धती इनकी पत्नी थी।

५८. **वामदेव (३.९)** - वामदेव ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में अभिहित है। अथर्ववेद और यजुर्वेद में इनके ऋषि नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'गौतम' अनुल्लिखित है। ये गौतम के पुत्र होने के कारण 'गौतम' पद से संयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के अनेक सूक्तों के द्रष्टा वामदेव गौतम हैं। गोतम वंशजों ने इन्द्र की स्तुति करते हुए श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की है- **इन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्। एषु विश्वपेशसंधियं धाः** (अथर्व० २०.३५.१६)। शत्रुओं को नष्ट करने की सामर्थ्य इन्हें पिता से प्राप्त हुई थी- **महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय** (४.४.११)। बृहद्देवता ग्रन्थ में वामदेव द्वारा इन्द्र पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है (बृह० ४.१३२)। वामदेव गोत्रीय ऋषियों में अंहोमुक्, दधिक्रावा, बृहदुक्थ, मूर्धन्वान् ऋषियों का ऋषित्व ऋग्वेद में उपनिबद्धित है।

५९. **विश्वामित्र (३.१७)** - विश्वामित्र ऋषि को चारों वेदों में ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेद में इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'गाथिन' प्रयुक्त हुआ है। ये गाथि के पुत्र होने के कारण 'गाथिन' पद से संयुक्त हुए। ये कुशिक के पौत्र होने के कारण कौशिक भी कहे जाते हैं। निरुक्त ग्रन्थ में उनके पितामह के राजा होने का उल्लेख मिलता है-**प्रज्ञया वाऽवनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव** (नि० २.२५)। विश्वामित्र ने शुनः शेप को अपना दत्तक पुत्र बनाकर उनका नाम देवरात रखा, इसकी पुष्टि ऐत० ब्रा० ७.१७-१८ में होती है। ऋषि विश्वामित्र गायत्री महामंत्र के द्रष्टा के रूप में प्रख्यात हैं तथा सप्तऋषियों में भी ख्याति प्राप्त हैं। सम्पूर्ण विश्व के मित्र होने के कारण इन्हें विश्वामित्र कहा गया है- **विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस, विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद** (ऐत० ब्रा० ६.२०)। ये ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ऋषि रूप में मान्य हैं। ये सुदास् के महायज्ञ के प्रमुख ऋत्विक् रूप में भी वर्णित हुए हैं।

६०. **विहव्य (१०.५.४२-५०)** - विहव्य ऋषि का ऋषित्व अथर्ववेद में ९ मन्त्रों (१०.५.४२-५०) में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के एक सूक्त १०.१२८ तथा यजुर्वेद के एक मंत्र ३४.४६ का ऋषित्व भी इन्हें प्राप्त है। ऋग्वेद में इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'आङ्गिरस' संयुक्त है। ये अङ्गिरस् गोत्रोत्पन्न होने के कारण आङ्गिरस कहलाये। बृहद्देवताकार ऋषि शौनक ने (बृह० २.१३०,३.५७ में) वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टाओं में इन्हें परिगणित किया है। ऋषि रूप में ये जमदग्नि के साथ वर्णित हुए हैं- **जमदग्नेश्च वा ऋषीणाञ्च सोमौ सं सुतावास्तां तत एतज्जमदग्नि र्विहव्यमपश्यत्** (तां० म० ९.४.१४)।

६१. **वीतहव्य (६.१३६-१३७)** - अथर्ववेद में वीतहव्य का ऋषित्व दो सूक्तों ६.१३६-१३७ में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद का एक सूक्त ६.१५ तथा सामवेद के तीन मंत्र १५६७-६९ भी इनके द्वारा दृष्ट हैं, परन्तु यहाँ इनके नाम के साथ अपत्यवाचक पद 'आङ्गिरस' संयुक्त है। अथर्ववेद में इनका उल्लेख दो बार हुआ है। इन्द्र द्वारा सहायता पाने का उल्लेख प्राप्त होता है- **त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावः** (अथर्व० २०.३७.३)। ये असित के घर से ओषधि ढूँढ़कर लाये थे- **तां वीतहव्य आभ्रदासितस्य गृहेभ्यः** (अथर्व० ६.१३७.१)। ऋग्वेद के एक स्थान में भरद्वाज के साथ इनका नामोल्लेख मिलता है। इसके भाष्य में आचार्य सायण ने भरद्वाज को वीतहव्य ऋषि के विशेषण के रूप में वर्णित किया है तथा विकल्प में वीतहव्य को भरद्वाज ऋषि के विशेषण के रूप में भी उल्लिखित किया है- **वीतं गमितं हव्यं हविर्येन तादृशाय भरद्वाजायेति वा योज्यम्** (ऋ० ६.१५.३ सा० भा०)।

६२. **वेन (२.१)** - वेन ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में उपन्यस्त है। अथर्व में तीन सूक्त २.१, ४.१-२ तथा ऋग्वेद में दो सूक्त ९.८५, १०.१२३ इनके द्वारा दृष्ट हैं; परन्तु ऋग्वेद में इन्हें एक भार्गव के रूप में माना गया है। ये एक मेधा सम्पन्न ऋषिरूप में मान्य हैं। पृथवान् को वैनगोत्रीय भी समझा जाता है- **प्र तद्दुः शीमे पृथवाने वेने** (ऋ० १०.९३.१४)। आचार्य सायण ने पृथु को वेन पुत्र कहकर वर्णित किया है, इसीलिए इनके नाम के साथ वैन्य पद संयुक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थ में वेन को इन्द्र के रूप में माना गया है- **इन्द्र उ वै वेनः** (कौषी० ब्रा० ८.५)। आर्षा० में इन्हें भृगुपुत्र के रूप में प्रमाणित किया गया है- **वेनो नाम भृगोः सुतः** (आर्षा०

१०.६०)। पौराणिक सन्दर्भ में इन्हें राजा अंग तथा सुनीथा का पुत्र माना गया है। ये कुरु के पौत्र तथा चाक्षुष मनु के प्रपौत्र थे।

६३. शन्ताति (१.३३) - शन्ताति को अथर्ववेद के अनेक सूक्तों (१.३३,४.१३,६.१०,६.१९,६.२१-२४,६.५१,६.५६-५७,६.९३, ६.१०७,७.७०-७२) के ऋषि होने का गौरव प्राप्त हुआ है। अन्यत्र इनका ऋषित्व अनुपलब्ध है।

६४. शम्भु (२.२८) - शम्भु अथर्ववेद के ऋषि हैं। इन्हें अथर्ववेद के केवल एक ही सूक्त (२.२८) का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। 'शम्भुः' का अर्थ निरुक्तकार ने 'सुखभूः' लिया है (नि० ५.३), जिसका आशय 'सुख देने वाला' या 'समृद्धि देने वाला' है। इस सूक्त में इन्होंने मित्रावरुण, द्यावा-पृथिवी आदि देवगणों की स्तुति की है।

६५. शुक्र (२.११) - शुक्र को अथर्ववेद के अनेक सूक्तों का द्रष्टा माना गया है। ये अथर्ववेदीय ऋषि हैं। अन्य संहिताओं में इनका ऋषित्व उपलब्ध नहीं है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २.७.७ में एक आचार्य का नाम शुक्र है, जो जबाला का वंशज होने के कारण 'जाबाल' पद से संयुक्त हैं। शुक्र को अनेक स्थानों पर आकाशीय प्रकाशमय ग्रह के अर्थ में लिया गया है- **एष वै शुक्रो य एष तपति** (शत० ब्रा० ४.३.१.२६)। **ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्** (ऐत० ब्रा० ७.१२)। **असौ वा आदित्यः शुक्रः** (शत० ब्रा० ९.४.२.२१)। पौराणिक सन्दर्भ में इन्हें कवि का पुत्र तथा भृगु का पौत्र कहा गया है, जो दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य कहलाये।

६६. शुनःशेप (६.२५) - शुनःशेप ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में उपन्यस्त है। अथर्ववेद में इन्हें चार सूक्तों ६.२५,७.८८ २०.७४, २०.१२२ तथा तीन मंत्रों २०.२६.१-३ का ऋषित्व प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद तथा सामवेद में इनके नाम के साथ 'आजीगर्ति' पद संयुक्त है। ये अजीगर्त के पुत्र थे, इसी कारण आजीगर्ति कहलाये। ऐतरेय ब्राह्मण में ये विश्वामित्र के दत्तक पुत्र के रूप में विवेचित हैं, जो कालान्तर में देवरात वैश्वामित्र कहलाये। इनके पिता अजीगर्त के तीन पुत्रों, जिनमें से मध्यम शुनः शेप थे, का उल्लेख भी इसी में वर्णित है- **तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः शुनः पुच्छः शुनः शेपः शुनोलाङ्गूल इति** (ऐत० ब्रा० ७.१५)। बृहद्देवता (३.१०३) में इन्द्रदेव द्वारा शुनः शेप को स्वर्णमय रथ प्रदान करने का उल्लेख है।

६७. शौनक (२.६) - अथर्ववेद में शौनक ऋषि को २.६,६.१६,६.१०८,७.११-१३,१०.८३ सूक्तों का द्रष्टा स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में शौनक ऋषि का पूरा नाम गृत्समद भार्गव शौनक वर्णित है तथा इनका पूर्व नाम गृत्समद आङ्गिरस शौनहोत्र उल्लिखित है। यहाँ शौनक का नाम अपत्यवाचक ही है, जो गृत्समद ऋषि के साथ संयुक्त हुआ है। ये भृगु कुल में उत्पन्न होने से भार्गव तथा शुनक पुत्र होने से शौनक कहलाये, इस तथ्य की पुष्टि आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में की है- **मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः। स च पूर्वम् आङ्गिरस कुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञ काले ऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेण मोचितः। पश्चात् तद्वचनेनैव भृगुकुले शुनक पुत्रो गृत्समदनामा अभूत्** (ऋ० २.१ सा० भा०)। ये ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के ऋषि रूप में मान्य हैं। कौषीतकि ब्राह्मण २२.४ में ये भार्गव के रूप में तथा बृहद्देवता ४.७८ में ये शौनहोत्र के रूप में अभिप्रेत हैं। गृत्समद के पुत्र कूर्म गार्त्समद का ऋषित्व भी ऋ० २.२७-२९ में निर्दिष्ट है। गृत्समद शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने निम्न प्रकार की है- **गृत्सम्रदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः** (नि० ९.५)।

६८. सविता (२.२६) - सविता का ऋषित्व यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में अनेक देवगणों प्रजापति, ब्रह्मा, बृहस्पति, भग, वरुण आदि को भी ऋषित्व प्राप्त हुआ है। **'यस्य वाक्यं स ऋषिः'** सूत्रोक्ति के अनुसार मंत्रों में वर्णित देवों को जिन देवों द्वारा सम्बोधित किया गया है, वे देवगण भी ऋषि रूप में मान्य हैं। सविता को देवों का उत्पन्निकारक कहा गया है- **सविता वै देवानां प्रसविता** (शत० ब्रा० १.१.२.१७)। यह सूर्य रश्मियों से पवित्र करने वाला है- **देवो वः सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः** (कपि० कठ सं० १.५)। निरुक्तकार ने उन्हें सबका जनक स्वीकार किया है- **सविता सर्वस्य प्रसविता** (नि० १०.३१)। आदित्य को भी सविता कहा गया है- **आदित्योऽपि सविता उच्यते** (नि० १०.३२)। प्रजापति ने सविता रूप में प्रजा की उत्पत्ति की- **प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत** (तैत्ति० ब्रा० १.६.४.१)।

६९. सिन्धुद्वीप (१.४-५) - सिन्धु द्वीप ऋषि का ऋषित्व चारों वेदों में निर्दिष्ट है। ऋग्वेद में एक सूक्त १०.९ का ऋषित्व इन्हें प्राप्त है, जिसमें इन्हें आम्बरीष (अम्बरीष पुत्र) कहा गया है। इनके पिता अम्बरीष वार्षागिर को एक राजा स्वीकार किया गया है। वृषागिर के पाँच राजर्षि पुत्रों ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधस् का ऋषित्व भी ऋ० १.१०० में उपन्यस्त है। बृहद्देवताकार ऋषि शौनक (६.१५२-१५३) के अनुसार इन्द्र ने विश्वरूप का वध किया, उनके पाप का निवारण करने के लिए सिन्धुद्वीप ऋषि ने जल का सिञ्चन कर सूक्त १०.९ का गायन किया। आचार्य सायण ने इन्हें राजा अम्बरीष के पुत्र रूप में वर्णित किया है- **अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वाष्ट्- पुत्रस्त्रिशिरा वा** (ऋ० १०.९ सा० भा०)।

परिशिष्ट - २

अथर्ववेद भाग-१ के देवताओं का संक्षिप्त परिचय

१. **अंश (६.४.२)** - बृहद्देवता में एक स्थान पर (७.११४ में) अदिति के आठ पुत्र वर्णित हैं; किन्तु इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर (५.१४७ में) अदिति के बारह पुत्रों (आदित्यों) का वर्णन भी मिलता है। इन दोनों प्रसङ्गों में अंश का देवत्व उपन्यस्त है- **धातेन्द्रो वरुणो मित्रो अंशः सूर्योऽर्यमा भगः** (बृह० ७.११७)। **भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च। धाता चैव विधाता च विवस्वांश्च महाद्युतिः** (बृह० ५.१४७)। अंश शब्द का उल्लेख अथर्ववेद में दो बार हुआ है। एक बार तब, जब वे मित्र, भग, वरुण, अदिति, मरुत् और अर्यमा के साथ हैं तथा उनसे शत्रु को दूर भगाने की प्रार्थना की गई है- **अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः। अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम्** (अथर्व० ६.४.२)। दूसरी बार तब उनके नाम का उल्लेख हुआ है, जब उनसे पाप से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की गई है और उनके साथ वरुण, भग, विष्णु और विवस्वान् हैं- ...... **वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्। अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः** (अथर्व० ११.६.२)। इस प्रकार अथर्ववेद में अंशदेव पापों को दूर करने वाले तथा शत्रुओं से त्राण दिलाने वाले देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

२. **अग्नाविष्णू (७.३०)** - अथर्ववेदीय देवयुग्मों में अग्नाविष्णू का देवत्व विवेचित है। अथर्ववेद में दो बार इनका नामोल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के ७ वें काण्ड के ३० वें सूक्त में ऋषि मेधातिथि द्वारा इनकी स्तुति की गई है। इनकी महिमा का गान करते हुए ऋषि ने इन्हें गुह्य, आज्य एवं सांनाय्य नामक घृत पीने वाला तथा घर-घर में सातों रत्न प्रदान करने वाला बताया है- **अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम। दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात्** (अथर्व० ७.३०.१)। इन दोनों देवों के धाम को महान् तथा सबका प्रिय वर्णित किया गया है तथा उनसे निवेदन किया गया है कि आप दोनों की जिह्वा आज्य को ग्रहण करें- **अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ।.........घृतमुच्चरण्यात्** (अथर्व० ७.३०.२)।

३. **अग्नि (८.३)** - चारों वेदों में अग्नि का देवत्व प्रतिष्ठित है। सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण इन्हें अग्नि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है- **स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः** (शत० ब्रा० ६.१.१.११)। अग्निदेव को सभी देवों का अधिष्ठाता निरूपित किया गया है- **अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा** (शत० ब्रा० १४.२.२.५)। ये सभी पापों के विनाशक हैं। ऋग्वेद में इन्हें द्यौ से उत्पन्न विवेचित किया गया है- **यदेनं द्यौर्जनयत सुरेताः** (ऋ० १०.४५.८)। कुछ प्रसङ्गों में इन्हें आपः, त्वष्टा, सूर्य, यज्ञ तथा अरणि से भी उद्भूत कहा गया है। स्थिति भेद से इन्हें अनेक नामों से उपन्यस्त किया गया है। जैसे- घर्षणबल (अरणि मंथन) से उत्पन्न होने के कारण उन्हें सहसः पुत्र, नरों द्वारा प्रशंसित होने के कारण नराशंस, पार्थिव अग्नि को तनूनपात्, सर्वत्र विद्यमान, सर्वत्र पूजित अग्नि को वैश्वानर; घरों में प्रयोग होने वाली अग्नि को गार्हपत्य, शवों को जलाने में प्रयुक्त होने वाली अग्नि को क्रव्यादग्नि, सभी उत्पन्न हुए को जानने के कारण जातवेदा, द्रविण अर्थात् धन प्रदाता होने के कारण अग्नि को द्रविणोदा कहते हैं। पापनाशक होने के कारण अग्नि को पाप्मनाशन, कोशग्रन्थों के अनुसार प्रकृष्ट चित्त और प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न होने के कारण प्रचेता अग्नि, सत्यरूपी बल से युक्त होने के कारण सत्यौजा अग्नि, यक्ष्मा विनाशक होने के कारण यक्ष्मनाशक अग्नि, अत्यन्त सन्तप्त करने की सामर्थ्य होने से सान्तपनाग्नि, पेट में भोजन को पचाने वाली अग्नि को जठराग्नि, जंगलों को जलाने वाली अग्नि को दावाग्नि तथा समुद्र में विद्यमान अग्नि को बड़वाग्नि कहते हैं। अग्नि का एक नाम त्रिणामा भी है; क्योंकि स्थान भेद की दृष्टि से ये (पार्थिव, वैद्युत और गार्हपत्य) तीन नाम वाले हैं- **एवा त्रिणामन्नह्रणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह** (अथर्व० ६.७४.३)। वैदिक देवों में इन्हें इन्द्रदेव के समान ही प्रतिष्ठा प्राप्त है। अग्निदेव के अनेक कार्यों में सर्व प्रमुख कार्य वर-वधू का संयोजन करना है। सूर्या के विवाह में अग्नि को पुरोगव अर्थात् विवाह सुनिश्चित करने के लिए प्रतिपक्ष से भेजा गया प्रतिनिधि वर्णित किया गया है- **सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः** (अथर्व० १४.१.८)। अग्नि तथा वधू को सुभगा और जरदष्टि बनाने वाला कहा गया है- **अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु** (अथर्व० १४.१.४९)। अग्निदेव को देवताओं और मनुष्यों का नेत्र कहा गया है- **अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्** (अथर्व० ४.१४.५)। इस प्रकार चारों वेदों तथा इतर ग्रन्थों में भी अग्निदेव को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

४. अग्नीन्द्र (१.७.३) - वैदिक देवयुग्मों में अग्नीन्द्र की अभ्यर्थना चारों वेदों में प्राप्य है। इन्हें यमल भ्राता कहा जाता है। जो एक ही पिता की सन्तान हैं। ऋग्वेद के छठवें मण्डल में उल्लेख है- **बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा** (ऋ० ६.५९.२)। कष्टदायी मायावियों का निराकरण करके ये श्रेष्ठजनों की सहायता सदैव तत्परतापूर्वक करते हैं- **ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्**। (ऋ० १.२१.५)। इनके वीरतापूर्ण कृत्य प्रसिद्ध हैं- **यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणि यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि** (ऋ० १.१०८.५)। अथर्ववेद १.७.३ में इस देवयुग्म से राक्षसों को नष्ट करने तदनन्तर यज्ञ में आने व हवि और घृत स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है- **वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः। अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥** बृहद्देवता में भी अग्नीन्द्र का देवत्व प्रमाणित करते हुए ऋषि शौनक ने लिखा है- **सम्यगग्नीन्द्रसूर्याणां तान्युक्तानि यथाक्रमम्** (बृह० २.७०)। इस देवयुग्म का उल्लेख 'अग्नीन्द्र' और 'इन्द्राग्नी' दोनों रूपों में मिलता है। जहाँ अग्नि की प्रधानता होती है, वहाँ अग्नि का नाम पहले और इन्द्र का बाद में होता है तथा जहाँ इन्द्र की प्रधानता होती है, वहाँ इन्द्र का नाम पहले और अग्नि का बाद में होता है। शतपथ ब्राह्मण में इन दोनों (अग्नीन्द्र) की तुलना प्राणोदान से की गई हैं-इन्द्राग्नी हि प्राणोदानौ (शत० ब्रा० ४.३.१.२२)। इसी ग्रन्थ में इन समस्त देवों में महान् विवेचित किया गया है- **इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः** (शत० ब्रा० ६.१.२.२८)।

५. अग्नीषोम (१.८.१-२) - अग्नि और सोमदेव का सम्मिलित देवत्व 'अग्नीषोम' नाम से उपन्यस्त किया गया है। ऋग्वेद में यह देवयुगल प्रकाश प्रदाता के रूप में तथा कुछ स्थानों पर इन्हें जल-प्रवाहों को मुक्त करने वाला, आकाश में नक्षत्रों का विस्तारक निरूपित किया गया है- **युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान्** (ऋ० १.९३.५)। इन दोनों देवों में एक को मातरिश्वा द्वारा आकाश से तथा दूसरे को श्येन पक्षी द्वारा पर्वत शिखर (अद्रि) से यहाँ लाने का विवरण मिलता है- **आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः। अग्नीषोमा.....लोकम्** (ऋ० १.९३.६)। शतपथ ब्राह्मण में इन्हें दो भ्राता बताया गया है- **अग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत्** (शत० ब्रा० ११.१.६.१९)। इसी ग्रन्थ में अग्नि को सूर्य से और सोम को चन्द्र से सम्बद्ध निरूपित किया गया है- **सूर्य एवाग्नेयश्चन्द्रमाः सौम्यः** (शत० ब्रा० १.६.३.२४)। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर इनसे धन, स्वर्ण, पशु, प्रजा और ऐश्वर्य आदि की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में इनसे उपद्रवकारी राक्षसों को दण्ड देने और मारने की प्रार्थना की गई है- **अयं स्तुवान ....हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम्** (अथर्व० १.८.२)।

६. अदिति (६.६८.२) - अदिति विश्वदेवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मैत्रायणी संहिता में उल्लेख है- **इयं (पृथिवी) वा अदितिर्देवी विश्वदेव्यवती** (मैत्रा० सं० ३.१.८)। सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण अदिति के द्वारा ही सम्पन्न होता है एवं इन्हीं के द्वा उसकी प्रतिष्ठा है- **एवा न देव्यदितिरनर्वा। विश्वस्यभर्त्री जगतः प्रतिष्ठा** (तैत्ति० सं० ३.१.१.४)। अदिति अष्ट आदित्यों की माता के रूप में प्रख्यात हैं- **अष्टयोनिरदितिरष्ट पुत्राष्टमीम्** (अथर्व० ८.९.२१)। निरुक्तकार यास्क ने भी अदिति को देवमाता के रूप में उपन्यस्त किया है- **अदितिर्अदीना देवमाता** (नि० ४.२२)। अदिति का भौतिक आधार अनन्त अन्तरिक्ष है, जहाँ आदित्य गण भ्रमण करते रहते हैं। इनकी सार्वभौम संज्ञा का संकेत अथर्ववेद के इस मंत्र में मिलता है- **अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः** (अथर्व० ७.६.१)।

७. अध्यात्म (९.९) - अथर्ववेद के नवें ग्यारहवें तथा तेरहवें काण्ड के कुछ मन्त्रों का देवत्व अध्यात्म को प्राप्त हुआ है। आचार्य सायण के **'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०)' सूत्र के अनुसार अध्यात्म को देवता के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि इन सूक्तों का वर्ण्य विषय अध्यात्म (तत्त्व) ही है। आप्टे० सं० कोश पृ० २८ के अनुसार अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - **'अध्यात्मनः संबद्धम्' इति अध्यात्मः**- अर्थात् आत्मा या व्यक्ति से सम्बंध रखने वाला (विषय)। हिन्दी शब्द सागर में पृ० १७६ पर अध्यात्म के तीन अर्थ वर्णित हैं - १- ब्रह्म विचार,ज्ञानतत्त्व, आत्मज्ञान । २- परमात्मा ३- आत्मा। बृहत्सर्वानुक्रमणी में अध्यात्म का देवत्व इन शब्दों में विवेचित है - **'यन्मन्युः' इति चतुस्त्रिंशत्। कौरुपथिः। अध्यात्ममन्यु दैवतम्**---(बृह० सर्वा ११.१०)। अथर्ववेद १०.७-८ में अध्यात्म के आधारभूत आत्मा को अलग से भी देवत्व प्रदान किया गया है। वस्तुतः 'आत्मा' को आधार मानकर या आत्मा पर आधारित जो भी चिन्तन - मनन - निदिध्यासन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उसे 'अध्यात्म' की संज्ञा प्रदान की जाती है। 'आत्मा' ही वेदांत (वेद के चरम ज्ञान) का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। सभी उपनिषद् इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। बृहद्देवता में आत्मा का देवत्व इस प्रकार निर्दिष्ट है - **तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्यद्भक्तिः प्रकीर्त्यते** (बृह० १.७३)।

८. **अनुमति (६.११.३)** - अनुमति कल्याण की देवी के रूप में ख्यातिलब्ध हैं। अथर्ववेद में उल्लेख है कि वे किसी स्त्री के अरणिं (दुर्भाग्य सूचक चिह्नों) को दूर करती हैं; क्योंकि सौभाग्य प्रदान करने का कार्य देवताओं द्वारा अनुमति देवी को ही सौंपा गया है- .... **निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषु: सौभगाय** (अथर्व० १.१८.२)। अनुमतिदेवी का वर्णन प्रायः सिनीवाली के साथ दृष्टिगोचर होता है। खोये हुए पशुओं को उनके गृह में वापस लाने में बृहस्पति और सिनीवाली उनकी सहायता करते हैं। अनुमति देवी से प्रार्थना की जाती है कि उन्हें (पशुओं को) गोष्ठ में बाँधकर रखें, जिससे वे बाहर न निकल सकें- ....**सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ** (अथर्व० २.२६.२)। सन्तति के विषय में प्रजापति, सिनीवाली के साथ अनुमति को भी गर्भस्थ भ्रूण का अंग निर्माता कहा गया है। अथर्ववेद के छठवें काण्ड के एक मंत्र में उपर्युक्त तीनों देवताओं द्वारा एक स्त्री के गर्भ से कन्या को जन्म देने वाले तत्त्वों को अन्यत्र पहुँचाकर उनके स्थान पर पुरुष तत्त्वों को स्थापित कर देने का वर्णन मिलता है- **प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह** (अथर्व० ६.११.३)। वैदिक ग्रन्थों में अनुमति को पूर्णिमा और सिनीवाली को अमावास्या काल का प्रतिनिधित्व करने वाला विवेचित किया गया है। अमरकोश के अनुसार अनुमति, पूर्णिमा (राका) से एक कला हीन दिन अर्थात् चतुर्दशी की देवी है- **कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे** (अमर० १.४८)। निरुक्त में भी यास्क मुनि ने इसी तथ्य की पुष्टि इन शब्दों में की है- **'या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमतिर्योत्तरा सा राके'** (नि० ७.२८)।

९. **अपांनपात् (६.३.१)** - अपांनपात् का देवत्व ऋक्० साम० तथा अथर्व० तीनों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। अपांनपात् अग्निदेव का एक नाम भी है, जो मेघों में स्थित जल को नीचे न गिरने देकर उसका संवर्द्धन करते हैं। अपांनपात् को जल से उत्पन्न वनस्पतियों द्वारा उद्भूत माना गया है, इसीलिए उन्हें जल का पौत्र कहते हैं। जल से वृक्ष-वनस्पतियाँ और उनसे अग्नि। इस प्रकार अग्नि (अपांनपात्) आपः के तृतीय पुत्र (पौत्र) हुए। एक मन्त्र में वायु को अपांनपात् कहा गया है- **अपां नपादवतु वायुरिष्टये** (ऋ० १०.९२.१३)। ऋग्वेद में ही दो बार वैद्युत अग्नि के रूप में अपांनपात् का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में अपांनपात् से सामान्य रक्षा और सहायता के लिए प्रार्थना की गई है- **अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः** (अथर्व० ६.३.१)। अपांनपात् का देवत्व स्वीकार करते हुए बृहद्देवताकार ने लिखा है- **अपांनपादित्यनेन नाम्नाग्निर्मध्यम स्तुतः** (बृह० ७.३३)।

१०. **अप्सरा (४.३८.१-४)** - अप्सराओं का देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में संप्राप्य है। इनका उल्लेख एकवचन तथा बहुवचन में भी हुआ है। अप्सराओं का सम्बन्ध प्रायः गन्धर्वों और मृगों के साथ वर्णित है- **अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्** (ऋ० १०.१३६.६)। अप्सराओं को गन्धर्वों की पत्नी भी निरूपित किया गया है- **ताभ्यो गन्धर्व पत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः** (अथर्व० २.२.५)। अथर्ववेद (३.२६.१-६) में गन्धर्वों को स्थिति भेद से क्रमशः साग्नि हेति, सकामा अविष्यव, वैराज, सवाता प्रविध्यन्त, सौषधिका निलिम्पा तथा बृहस्पतियुक्त अवस्वान् दिशेषण प्रदान किए गए हैं। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार जल (अप्) से उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें अप्सरा कहा जाता है- **अद्‌भ्यः समुद्रजलेभ्यः सरन्ति उद्यान्ति......अप्सु निर्मथनादेवरसात् तस्मात् वरस्त्रियः। उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्** (श० क० पृ० ७१)। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड में सूर्य को गन्धर्व और उसकी किरणों को अप्सरा बताया गया है- **दिविस्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य। मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः** (अथर्व० २.२.२)। अप्सराओं का निवास समुद्र (अन्तरिक्ष या जल) बताते हुए यह भी कहा गया है कि वे वहीं से आती हैं और पुनः वहीं लौट जाती हैं ... **समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति** (अथर्व० २.२.३)।

११. **अप्सरा समूह (४.३७.१-५)** - **द्र० अप्सरा।**

१२. **अमावस्या (७.८४)** - वैदिक देवताओं में अमावस्या का नाम प्रतिष्ठित है। अमावस्या को विशेषतया अथर्ववेद में ही देवता का सम्मान मिला है। यों तो ऋग्वेद में 'अमा' शब्द का प्रयोग प्रायः १०-१२ बार हुआ है, पर वह गृह, समीप या सह के अर्थ में ही हुआ है। अस्तु, अमावस्या अथर्ववेदीय ऋषियों की सम्मानास्पद देवी के रूप में विवेचित हैं। ऋषियों द्वारा उन्हें वसुओं को प्राप्त कराने वाली शक्ति, पुष्टि और समृद्धि प्रदान करने वाली कहा गया है- **आगन्रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती। अमावस्यायै हविषा .... न आगन्** (अथर्व० ७.८४.३)। अमावास्या को विश्ववारा-सबके द्वारा वरण करने योग्य श्रेष्ठ-भाग्यवती कहा गया है, जो याजक को धन, और वीर सन्तति प्रदान कर उसके यज्ञ को पूर्ण करती हैं- **तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्** (अथर्व० ७.८४.१)। एक मंत्र में स्वयं अमावस्या के शब्द हैं कि अर्थ की दृष्टि से मैं सार्थक हूँ; क्योंकि सुकृती देवता मेरे अन्दर निवास करते हैं **(अमा समीपे अथवा सह वसन्ति देवाः यस्याम्)** - **अहमेवास्म्यमावस्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे** (अथर्व० ७.८४.२)।

१३. अराति समूह (५.७.१-३, ६-१०) - ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अराति' का उल्लेख लक्ष्य को असफल कर देने वाली पीड़ा-प्रदात्री पाप देवता के रूप में हुआ है। इन्हें अनिष्टकर्त्री पापदेवता के रूप में स्वीकार किया गया है। एकवचन और बहुवचन दोनों में स्त्रीलिंग में अराति शब्द का प्रयोग मिलता है। असफलता, संकट और विपन्नता के अर्थों में भी कई जगह इस शब्द को लिया गया है। दुर्भाग्य सूचक अन्य वस्तुओं की तरह ही अराति को स्वयं व सन्तति से दूर रखने के लिए कई मंत्रों में संकेत दिये गये हैं। जैसे-**निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि। अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि** (अथर्व० १.१८-१)। जंगिड नामक पदार्थ की बनी मणि से कृत्या और अराति को दूर करने का विवेचन भी वेदों में मिलता है, इसीलिए उस मणि को 'अराति दूषि' कहा गया है। अराति एवं अभिमाति आदि पाप देवताओं से बचने के लिए अन्य मणियों को बाँधने का विधान था-**परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्। अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः** (अथर्व० २.७.४)। अराति से मुक्ति के निमित्त अग्नि से भी प्रार्थना की गई है- **वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या** (अथर्व० ३.३१.१)।

१४. अरुन्धती (६-५९) - अथर्ववेद में अरुन्धती नामक ओषधि को भी देवता की श्रेणी में परिगणित किया गया है। इसका एक नाम सिलाची तथा लाक्षा भी है। अरुन्धती देवी की माता के रूप में रात्रि तथा पिता के रूप में नभ और पितामह के रूप में अर्यमा का उल्लेख है- **रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा** (अथर्व० ५.५.१)। अरुन्धती को देवताओं की बहिन निरूपित किया गया है। अरुन्धती को स्परणी नामक ओषधि भी कहते हैं, जो प्लक्ष, न्यग्रोध, खदिर, धव, पीपल और पर्ण वृक्षों से निकलती है- **भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात्। भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति** (अथर्व०५.५.५)। इस (अरुन्धती नामक ओषधि) को रक्तवर्णा तथा कटे हुए अंगों को फिर से जोड़ देने वाली तथा रुधिर को रोकने वाली विवेचित किया गया है। पुरुषों को क्षयरोग रहित करने की क्षमता भी इसमें है। अरिष्ट निवारण हेतु भी अरुन्धती से प्रार्थना की गई है-**जीवलां नघारिषां ...। अरुन्धती मुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये**(अथर्व० ८.७.६)।

१५. अर्यमा (६-४-२) - अथर्ववेदीय देवताओं में अर्यमा का देवत्व उपन्यस्त है। इनका देवत्व ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी संप्राप्य है। अर्यमादेव की गणना आदित्यगणों में की गई है। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है- **असौ वा आदित्योऽर्यमा** (तैत्ति० सं० २.३.४.१)। सूर्य का ही एक नाम होने के कारण अर्यमा शब्द की व्युत्पत्ति इन शब्दों में वर्णित है- **'ऋच्छति सदा गच्छतीत्यर्यमा'**। अनेक स्थानों पर इनका नामोल्लेख वरुण और मित्र देवों के साथ हुआ है- **आ नो बर्हीं रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा** (ऋ० १.२६.४)। अर्यमादेव को सप्त होता का भी होता विवेचित किया गया है- **अर्यमा सप्तहोतॄणां होता** (तैत्ति० ब्रा० २.३.५.६)। वैदिक संहिताओं में अर्यमा को धन, कल्याण तथा स्वर्ग प्रदान करने वाला बताया गया है। अथर्ववेद में अर्यमा कल्याण के देवता रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे विवाह के अधिष्ठाता देवता के रूप में माने जाते हैं। वे अपने रश्मि समूह के साथ पूर्व से आते हैं और कन्या को पति और वर को पत्नी प्रदान करने की कामना करते हैं - **अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः। अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये** (अथर्व०६.६०.१)। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में अर्यमा को सुबन्धु तथा पतिवेदन कहा गया है, जो घनिष्ठ मित्र के समान कन्या के लिए पति और पति के लिए कन्या की खोज करते हैं-**अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः** (अथर्व० १४.१.१७)। अर्यमा देव प्रख्यात दाता के रूप में भी जाने जाते हैं, इसी कारण उन्हें यज्ञ की उपमा प्रदान की गई है- **एष वा अर्यमा यो ददाति** (काठ० सं० ११.४)। ..**यज्ञो वा अर्यमा** (मैत्रा० सं० ४.२.१०)।

१६. अशनि (३.२७.४) - वज्र आयुध को अशनि कहा गया है। आकाश में बादलों के परस्पर संघर्ष से कड़कने वाली बिजली को अशनि कहा गया है। अथर्ववेद में अशनि का देवत्व भी स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद के एक मंत्र में अशनि को उत्तर दिशा की रक्षा करने वाला 'बाण' विवेचित किया गया है- **उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो...........एभ्यो अस्तु** (अथर्व० ३.२७.४)। अशनिपात से वृक्षों के जल जाने का वर्णन अनेकशः मिलता है। शपथ से प्रार्थना की गई है कि वे हमें अपशब्द कहने वाले को ऐसे जला दें, जैसे अशनि वृक्ष को जलाते हैं- **परिणो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवादहन्। शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः** (अथर्व० ६.३७.२)। एक स्थान पर किसी को ये आशीष भी दिया गया है कि दिव्य अशनि उसे न मारें .....**मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्** (अथर्व० ६.१४२.१)।

१७. अश्विनीकुमार (६.५०) - वैदिक संहिताओं में अश्विनीकुमारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः इन दो भाइयों का उल्लेख संयुक्तरूप में ही हुआ है। ये देवभिषक् हैं- **अश्विनौ वै देवानां भिषजौ** (तैत्ति० सं० २.३.११.२)। रासभ इनके वहनकर्ता हैं, जिस पर आरूढ़ होकर ये विजय प्राप्त करते हैं- **गर्दभ रथेनाश्विना उदजायताम्** (ऐ० ब्रा० ४.९)। निरुक्तकार यास्क मुनि ने इन्हें रात्रि तथा उषा का पुत्र कहा है- **वासात्योऽन्य उच्यत उषः पुत्रस्त्वान्यः** (नि० १२.२)। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें विवस्वान् तथा त्वष्टा

पुत्री सरण्यू का यमलपुत्र भी उपन्यस्त किया गया है- **उताश्विनावभरद् यत्तदासी दजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः** (ऋ० १०.१७.२) ये कल्याण एवं शुभ प्रदाता के रूप में प्रतिष्ठित हैं- **ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती** (ऋ० ८.२२.१४) अथर्जवेद में अश्विनीकुमारों का ये शुभस्पती विशेषण प्रायः तीन बार (६.३.३, ७.१.१९, ६.६९.२) प्रयुक्त हुआ है। अथर्व में उनसे वर्चस् प्रदान करने, सन्तति विहीन स्त्री को गर्भ प्रदान करने, यजमान को निर्ऋति से बचाने, वषट्कार द्वारा स्तोता की रक्षा करने, बुद्धि को स्थिर रखने तथा ओजस्, तेजस् और वर्चस् में वृद्धि करने हेतु प्रार्थना की गई है-.. **एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम** (अथर्व० ९.१.१७)।

१८. अष्टका (३.१०) द्र०- एकाष्टका।

१९. असुर (१. १०-१) - वैदिक देवताओं की श्रेणी में असुरों की गणना की जाती है। प्रारम्भ में असुर शब्द 'प्राणवान्' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। बाद में ये सुर (देवता) के विलोम अर्थ में असुर प्रयुक्त होने लगा। ऋग्वेद १.२४.१४ तथा अथर्व० १.१०.१ असुर शब्द वरुण के लिए प्रयुक्त हुआ है- **अवतं हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः। क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि** (ऋ० १.२४.१४), **अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः** (अथर्व० १.१०.१)। यह सृष्टि सत् और असत् के द्वन्द्व से बनी है। मानवीय चेतना इन दोनों शक्तियों पर विश्वास करती है, दोनों ही एक दूसरे की पूरक हैं। सामान्यतः देवताओं की विरोधी शक्तियाँ असुर कहलाती हैं। ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है- **अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अपवयन्नृजीषिन्** (८.९६.९)। ये असुर शक्तियाँ सृष्टि के क्रिया-कलापों में अवरोध उत्पन्न करती हैं। जल-प्रवाह निरोध, सूर्याच्छादन तथा वृष्टि-अवरोध इनके प्रमुख कार्य हैं। अतः इन्द्रादि देवों द्वारा मंत्रों एवं शक्ति के माध्यम से इनको पराजित करने के प्रमाण मिलते हैं- **तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्** (ऋ० १०.५३.४)।

२०. आदित्यगण (५.३.९-१०) - आदित्यगणों का देवत्व ऋक्०, यजु०, साम तथा अथर्ववेद में मिलता है। कुछ स्थानों पर एक वचन में यह शब्द (आदित्य) मिलता है, अधिकांश स्थलों पर बहुवचन में प्राप्त होता है। ये अदिति के पुत्र हैं, इसीकारण अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगाकर इन्हें आदित्य कहते हैं- **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्ण्यः** (अ० ४.१.८५)। ये आकाशस्थ देवता हैं। देवमाता अदिति के पुत्रों की संख्या अलग-अलग ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न वर्णित है। वह कहीं छः, कहीं सात, कहीं आठ और कहीं बारह बताई गई है। अथर्ववेद में इन्हें आठ बताया गया है- **अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं** (अथर्व० ८.९.२१)। ऋग्वेद २.२७.१ में आदित्यों की संख्या छः ९.११४.३ में सात तथा १०.७२.८ में आठ वर्णित हैं। आचार्य सायण ने इनकी संख्या आठ बताई है- **'ते च तैत्तिरीये' अष्टौ पुत्रासौ अदितेरित्युपक्रम्य स्पष्टमनुक्रान्ताः- 'मित्रश्च वरुणश्च धाता च अर्यमा च अंशुश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्च** इत्येते (ऋ० २.२७.१ सा० भा०)। शतपथ ब्राह्मण में बारह आदित्यगणों का उल्लेख है- **स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्। ते द्वादशादित्याः असृज्यन्त। तान् दिव्युपादधात्** (शत० ब्रा० १.२.८)। ये बारह नाम हैं- धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, अंशुमान तथा विष्णु। आदित्यगण सम्पूर्ण जगत् के धारणकर्त्ता हैं- **धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था** (ऋ० २.२७.४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् में आदित्यों को प्रजाओं का सिर (मूर्धा- शिरोमणि) तथा चक्षु (द्रष्टा) भी उपन्यस्त किया है- **असावादित्यः शिरः प्रजानाम्** (तैत्ति० ब्रा० १.२.३.३)।.......... **अथ यत्तच्चक्षुरासीत् स आदित्यो ऽभवत्** (जैमि० उ० २.१.२.३)। आदित्य का एक विशेषण संस्फान भी है। संस्फान अर्थात् प्रवृद्ध। अथर्व० ६.७.९ में दानादिगुण सम्पन्न और प्रवृद्ध आदित्य से धन- ऐश्वर्य प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

२१. आपः (१.४-६) - आपो देवता अथवा आपः का देवत्व ऋग्, यजु० तथा अथर्ववेद में प्राप्त होता है। ये अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। इन्हें सूर्य का निकटस्थ तथा अग्नि का जनक प्रतिपादित किया गया है- **अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह** (ऋ० १.२३.१७), **या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्तान आपः शं स्योना भवन्तु** (अथर्व० १.३३.१)। ये चर-अचर के सृष्टिकर्त्ता तथा रोगहर्त्ता हैं, इसी कारण इन्हें श्रेष्ठ माता तथा भिषक् भी उपन्यस्त किया गया है- **यूयं हिष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः** (ऋ० ६.५०.७)। काठक संहिता में आपः को पवित्र (कारक) वर्णित किया गया है- **आपो वै पावत्रम्** (काठ० सं० ८८) शतपथ ब्राह्मण में आपः को प्राण विवेचित किया गया है- **आपो वै प्राणाः** (शत० ब्रा० ३.८.२.४)। अथर्ववेद ६.१२४.१ में द्युलोक स्थानीय आपः अथवा दैवीयगुण सम्पन्न आपः को 'दिव्य आपः' कहा गया है। अथर्ववेद में आपः को विशेष महत्त्व मिला है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ ऋग्वेद का प्रारम्भ अग्नि की स्तुति से हुआ है, वहीं अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के ४-५-६ सूक्तों में आपः की स्तुति है। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के छठे सूक्त के प्रथम मंत्र में आपः को देवी बताते हुए उनकी शक्तियों और उपयोग पर भी प्रकाश डाला गया है, उन्हें यज्ञ, पान और रोगों के शमन तथा भय के निवारण हेतु कल्याणकारी विवेचित किया गया है- **शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं यो रभि स्रवन्तु नः।**

२२. आशापालक वास्तोष्पतिगण (१.३१) - अथर्ववेद में आशापालक वास्तोष्पतिगणों का देवत्व प्रतिष्ठित है। प्रारम्भ में यज्ञभूमि की चतुर्दिक् रक्षा का दायित्व ये ही सँभालते थे। कालान्तर में वास्तोष्पतिगणों को गृहपति के अर्थ में माना जाने लगा और घर की रक्षा के देवता के रूप में उनकी स्तुति की गई। आशापाल का शाब्दिक अर्थ दिशापालक तथा वास्तोष्पति का (वसति गृह अर्थात् घर, पति अर्थात् पालन करने वाला) शाब्दिक अर्थ घर का पालक है। प्रारम्भ में वास्तोष्पति के यज्ञ रक्षक होने की पुष्टि इस मंत्र से भी होती है- **देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्** (ऋ० १०.६१.७)। बाद में इनके गृहपति होने का उल्लेख कई मंत्रों में मिलता है, जिनमें उन्हें गृहपालक, गृह के रोग मुक्तकर्ता, धन प्रदाता, पुत्र-पौत्र, पशु और शम् प्रदाता विवेचित करते हुए गो, अश्व और अन्य वस्तुओं का सम्वर्द्धनकर्ता उपन्यस्त किया गया है- **वस्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।.........चतुष्पदे** (ऋ० ७.५४.१)। इसी प्रकार इस मंत्र में भी उल्लेख है- **वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।** (ऋ० ७.५४.२)। पूर्वकाल में चारों दिशाओं के अधिपति या रक्षक के रूप में वास्तोष्पतिगणों को ही आशापाल विशेषण से सम्बद्ध किया जाता था। बाद में आशापाल विशेषण को चार देवताओं इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम से सम्बद्ध माना जाने लगा। इसी कारण इन चारों देवताओं को दिक्पाल भी कहते हैं। इन्हें समग्र भूतजात (प्राणियों) का अध्यक्ष विवेचित करते हुए अमर्त्य कहा गया है- **आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः। इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम्** (अथर्व० १.३१.१) आशापालों की प्रसन्नता से परिवार में माता-पिता, गोधन, परिजन आदि को सुख-समृद्धि प्राप्त होने की फलश्रुति भी एक मंत्र में उपन्यस्त है- **स्वस्ति मात्र उत पित्रे ....दृशेम सूर्यम्** (अथर्व० १.३१.४)। इस प्रकार आशापालों और वास्तोष्पतिगणों के गुणों में भी समानता परिलक्षित होती है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व में आशापाल शब्द वास्तोष्पतिगणों के साथ ही सम्बद्ध रहा होगा।

२३. इन्द्र (८.८) - इन्द्रदेव का देवत्व चारों वेदों में प्रतिष्ठित है। अथर्ववेद में आपः और अग्नि के बाद सर्वाधिक महत्त्व इन्द्रदेव को ही प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में तो प्रायः २५० सूक्त इन्द्रदेव को समर्पित हुए हैं। ये अन्तरिक्ष स्थानीय (मध्यलोक के) देवता के रूप में ख्याति लब्ध हैं, जो संगठक शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ये अतिशय सोमप्रिय हैं, जो तीन प्रमुख देवों (अग्नि, वायु और सूर्य) में वायु के प्रतिनिधि माने जाते हैं। इन्द्रदेव द्वारा अनेक राक्षसों का संहार किया गया था, जिनमें वृत्र प्रमुख हैं। इसी कारण इन्द्र को वृत्रहन् भी कहा गया है- **अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद** (ऋ० ६.४७.२)। वृत्र वध के समय इन्होंने तीन सोमह्रदों का पान किया था- **त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम्** (ऋ० ५.२९.७)। इन्द्र को महेन्द्र तथा मघवा भी कहा गया है। वृत्रवध के उपरान्त ही इन्हें महेन्द्र उपाधि से विभूषित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में विवेचित है- **इन्द्रो वा एष.......महेन्द्रोऽभवत्** (शत० ब्रा० १.६.४.२१)। धनवान् और दानी होने के कारण इन्हें मघवा विशेषण से भी अलंकृत किया गया है- इन्द्र को हिरण्यवर्ण और हिरण्यबाहु विशेषणों से भी सम्बद्ध किया गया है। इनके रथ को दो 'हरी' संज्ञक अश्वों द्वारा वहन करने का भी विवरण ऋग्वेद में मिलता है- **आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या** (ऋ० २.१८.४)। इनका रथ मन की गति से संचालित है- **यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि** (ऋ० १०.११२.२)। अथर्ववेद में इन्द्र को शतक्रतु उपन्यस्त किया गया है। यह भी सम्भव है कि पूर्व काल में शत शब्द अनेक अर्थ का बोधक हो और शतक्रतु का अर्थ अनेक क्रतुओं का हव्यभाक् (हवि ग्रहण करने वाला) रहा हो। कालान्तर में इन्द्र शब्द पार्थिव प्रशासकों के लिए भी प्रयोग में आया और उसका अर्थ हो गया पार्थिवों में उत्तम। इन्द्र और अग्निदेव की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख से विवेचित की गई है- मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत (अथर्व० १९.६.७)। अथर्व० के एक मन्त्र में, सभी कार्यों में शक्त या समर्थ होने के कारण इन्द्र को 'शक्र' भी विवेचित किया गया है - **शक्रः सर्वकार्येषुशक्त इन्द्रः** (अथर्व० ३.३१.२सा० भा०)। सेचन समर्थ होने से इन्द्र को 'वृषा' भी कहा गया है **.......वृषा सेचन समर्थ इन्द्रः** (अथर्व० ६.४८.३ सा० भा०)।

२४. इन्द्रवायू (३.२०.६) - वैदिक देवयुग्मों में इन्द्रवायू को भी परिगणित किया जाता है। ऋग्वेद में इस देवयुग्म को सोमपान के लिए एक साथ आवाहित किया गया है- **उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये** (ऋ० १.२३.२)। ये अपने हिरण्यवन्धुर रथ में बैठकर मखमण्डल में पधारते हैं- **रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्** (ऋ० ४.४६.४)। इन्हें शवसस्पति और धियस्पति जैसे विशेषणों के साथ सम्बद्ध किया गया है- **वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती** (ऋ० ४.४७.३)। **सहस्राक्षा धियस्पती** (ऋ० १.२३.३)। अथर्ववेद में केवल एक मंत्र में इन्द्रवायू की स्तुति की गई है, जिसमें इन्हें सुहव विवेचित करते हुए यज्ञ में आमन्त्रित किया गया है। इनके आगमन से लोग समाज में स्तुतिकर्त्ता के प्रति श्रेष्ठ मन वाले ही नहीं, दान देने के इच्छुक भी हो जाते हैं- **इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे। यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत्** (अथर्व० ३.२०.६)।

२५. इन्द्राग्नी (६.१०३-१०४) - इन्द्राग्नी का देवत्व चारों वेदों में प्राप्य है। यह देवयुग्म सोमपायी देवताओं में श्रेष्ठ है। सोमपान के लिए वे रथारूढ़ होकर आते हैं- **य इन्द्राग्नी चित्रतमोरथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे** (ऋ० १.१०८.१) इन्द्राग्नी सोमपीतये (ऋ० ८.३८.७)। इन्द्राग्नी देव युगल का प्रमुख कार्य शत्रुओं और उनके आवास स्थलों का भेदन है। वज्र, विद्युत् और तिग्म नामक आयुधों से वे अपना कार्य सम्पन्न करके सज्जनों की रक्षा करते हैं- **आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः** (ऋ० १.१०९.७)। ऋग्वेद में इनके द्वारा दास नामक असुर के ९९ दुर्ग तोड़े जाने का वर्णन मिलता है- **इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्** (ऋ० ३.१२.६)। याज्ञिक कार्य करने के कारण इन्हें पुरोहित भी विवेचित किया गया है। अथर्ववेद में इन्द्राग्नी के नाम की २४ बार आवृत्ति हुई है। कई बार उनके नाम के साथ अन्य देवयुग्मों को भी आवाहित किया गया है। उनसे प्रायः सोमपान के निमित्त पधारने, शत्रुओं से रक्षा करने तथा धन प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। जैसे - **इन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि** (अथर्व० ५.७-६)।

२६. इन्द्राणी (१.२७) - अथर्ववेदीय देवियों में इन्द्राणी का देवत्व भी परिगणित किया गया है। यद्यपि ऋग्वेद में भी एक स्थान पर इनका देवत्व प्रकाशित हुआ है; किन्तु वहाँ वे केवल इन्द्रदेव की पत्नी के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। उनके किसी क्रियाकलाप व गुण विशेष का परिचय वहाँ नहीं मिलता; किन्तु अथर्ववेद में एक सम्पूर्ण सूक्त उन्हें समर्पित हुआ है। अथर्ववेद में उन्हें सेना की देवी के रूप में माना गया है। युद्ध के निमित्त प्रस्थान करते हुए एक योद्धा कहता है, हे पैरो ! उत्साहित होकर तेजी से आगे बढ़कर शत्रु तक ले चलो, वे इन्द्राणी जो अजीत व अनपहृत हैं, आगे-आगे चलें- **प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्। इन्द्राण्येऽतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः** (अथर्व० १.२७.४)। इन्द्राणी को सुभगा व वीर पुत्रवती उपन्यस्त करते हुए नववधू से कहा गया है कि वह प्रसन्न मन से तल्प (शय्या) पर आरूढ़ हो और इन्द्राणी के समान स्वपति हेतु श्रेष्ठ सन्तति उत्पन्न करे और इन्द्राणी के समान ही बुद्धि- सम्पन्न रहकर उषाकाल में जागती रहे- **आरोह तल्पं सुमनस्य मानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि** (अथर्व० १४.२.३१)। बृहद्देवता में भी इन्द्राणी के देवत्व को प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनक ने लिखा है- **इन्द्राणी वरुणानी च अग्नायी च पृथक् स्तुताः** (बृह० ३.९२)।

२७. इन्द्रापूषन् (६.३.१) - इन्द्रापूषन् नामक देवयुगल का देवत्व अथर्ववेद में गौण रूप में प्रतिपादित हुआ है। इन्हें केवल एक मंत्र समर्पित हुआ है, जिसमें उनसे रक्षा की कामना की गई है- **पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः। अपांनपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः** (अथर्व० ६.३.१)। इस मंत्र में इन्द्रापूषन् के साथ अदिति, अपांनपात्, अग्नि, मरुद्गण, सप्तसिन्धु, आकाश और विष्णु आदि से भी रक्षा की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में वाजसाति युद्ध में रोगों के निवारण व भय से मुक्ति हेतु भी इन्द्रापूषन् से प्रार्थना की गई है- **शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ** (अथर्व० १९.१०.१)। इन्द्रापूषन् का देवत्व बृहद्देवताकार ने भी स्वीकार किया है। इनके देवत्व को प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनक ने लिखा है- **छागस्य कीर्तनं चात्र इन्द्रापूष्णोः सह स्तुतिः** (बृह० ४.३१)।

२८. इन्द्राबृहस्पती (७.५३) - अनेक देवयुग्मों की तरह अथर्ववेद में इन्द्राबृहस्पती का यमल देवत्व भी संप्राप्य है। ऋग्वेद में भी इन्द्राबृहस्पती को दो सूक्त समर्पित हुए हैं। जिनमें इन्हें सोमपान के लिए निमंत्रित करते हुए उनसे अश्वों से रहित विपुल धन प्रदान करने एवं परस्पर सौमनस्य में वृद्धि करने की प्रार्थना की गई है- **आ न इन्द्राबृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये। अस्मे इन्द्राबृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम्। अश्वावन्तं सहस्रिणम्** (ऋ० ४.४९.३-४)। अथर्ववेद में भी इन्द्राबृहस्पती से रक्षार्थ तथा धनार्थ प्रार्थना की गई है- **बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः। इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु** (अथर्व० ७.५३)। इन्द्राबृहस्पती का देवत्व प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनक ने लिखा है- **स्तौतीन्द्रं प्रथमा त्वत्र द्वितीयाद्या बृहस्पतिम्। यज्ञ आद्येन्द्रमेवास्तौद् अन्त्या त्विन्द्राबृहस्पती** (बृह० ६.२६)।

२९. इन्द्रावरुण (७.६०) - इन्द्रावरुण का देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में इनके निमित्त आठ सम्पूर्ण सूक्त समर्पित हुए हैं। इन्हें मनुष्यों का धारणकर्त्ता विवेचित किया गया है- **धर्तारा चर्षणीनाम्** (ऋ० १.१७.२) अपने उपासकों को विजय प्रदान करने के लिए ये प्रख्यात हैं- **इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सुजिग्युषस्कृतम्** (ऋ० १.१७.७)। अथर्ववेद में इनका विवेचन सोमपान हेतु यजमान के घर अध्वर रथ से पधारने व यजमानों के कल्याणकर्त्ता के रूप में है- **इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ। युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये** (अथर्व० ७.६०.१)। बृहद्देवता में इन्द्रावरुण का देवत्व इन शब्दों में स्वीकार किया गया है- **दशाश्विनानीमानीति इन्द्रावरुणयो स्तुतिः** (बृह० ३.११९)।

३०. इन्द्रासोम (८.४) - इन्द्रासोम का देवत्व अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में उपन्यस्त है। उनका नाम शान्ति संस्थापक देवयुग्मों में प्रतिष्ठालब्ध है। ऋग्वेद में इस देवयुगल का प्रमुख कार्य शत्रुओं को परास्त करना, पहाड़ों में छिपी वस्तुओं को प्रकट करना, सूर्य को तेजस्वी बनाकर (मेघों को सामने से हटाकर) अन्धकार को दूर भगाना, द्युलोक को स्थिर करके पृथिवी को विस्तृत (उसके सद्‌गुणों, गाम्भीर्य, क्षमाशीलता, ममत्व आदि में वृद्धि) करना विवेचित है- **इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः। युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च** (ऋ० ६.७२.१) अथर्ववेद में इन्द्रासोम की स्तुति प्रमुखतः शत्रुओं, राक्षसों से रक्षा के लिए की गई है- **इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः। परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः** (अथर्व० ८.४-१)। बृहद्देवताकार ने भी इनका देवत्व प्रमाणित किया है- **इन्द्रश्च सोमश्चेत्येवम् इन्द्रासोमौ निदर्शनम्** (बृह० २.१०७)।

३१. ईश्वर (१.१९) - **यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०-१० सा० भा०) सूत्र के अनुसार अथर्ववेद में ईश्वर को भी देवता की श्रेणी में परिगणित किया गया है। वैदिक कोश के अनुसार प्रभु या स्वामी के अर्थ में ईश्वर शब्द का प्रयोग वैदिककाल से ही होता रहा है। ईश्वर शब्द में प्रभु या स्वामी का भाव इतना प्रबल है कि कालान्तर में यह शब्द भगवान् का पर्याय बन गया। अथर्व० १.१९ के प्रमुख देवता ईश्वर हैं, किन्तु ४ मंत्रों वाले इस सूक्त के प्रत्येक मंत्र के देवता क्रमशः इन्द्र, मनुष्यइषु, रुद्र और देवगण भी हैं अर्थात् इनकी समर्थता के कारण सम्पूर्ण सूक्त के देवता ईश्वर माने गये हैं। इसी प्रकार अथर्व० ७.१०२.१ में भी द्युलोक-पृथिवी और अन्तरिक्ष के ईश्वर (स्वामी या प्रभु) अग्नि, वायु और सूर्य माने गये हैं। अतः वहाँ भी समर्थता के अर्थ में ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है- **नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे। मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः** (अथर्व० ७.१०७.१)। इस मंत्र के भाष्य में आचार्य सायण लिखते हैं- **ईश्वराः स्वामिनः द्युपृथिव्यन्तरिक्ष देवता अग्निवायुसूर्या......वधिषुः**।

३२. उषा (३.१६.७) - "उषा" प्रातः काल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रख्यात हैं। इनका देवत्व चारों वेदों में प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में इनका नामोल्लेख प्रायः ३०० बार हुआ है। उषा की रचना वैदिककाल की सर्वोत्कृष्ट मनोरम कल्पना है। प्रायः किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र उपलब्ध नहीं होता। ऋग्वेद में उन्हें अनुपम सुषमा से सम्पन्न झिलमिलाती हुई, उदित होकर सौन्दर्य प्रदर्शन करती हुई, तमस् को दूर भगाकर प्रकाश के साथ अवतरित होने वाली उपन्यस्त किया गया है- **अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्** (ऋ० ५.८०.५)। उषा देवी प्रसुप्तों को जगाती एवं सभी प्राणियों द्विपादों एवं चतुष्पादों को गति हेतु प्रेरित करती हैं- **प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरुथाय जीवम्** (ऋ० ४.५१.५)। अथर्ववेद में उषा की प्रतिष्ठा देवता के रूप में अधिक तथा प्रकृति सुन्दरी के रूप में कम है। वहाँ उषाकाल को सौभाग्य का जनक तथा दौर्भाग्य का विनाशक विवेचित किया गया है। इस तथ्य की पुष्टि इस मंत्र से होती है, जिसमें याजक द्वारा यह आशा की गई है कि नक्षत्रों तथा उषाओं के विदा होते ही हमारे समस्त दुर्भूत और क्षेत्रिय रोग, (कुष्ठ, अपस्मार आदि) नष्ट हो जायेंगे- **अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत। अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु** (अथर्व० ३.७.७)। उषा और नक्षत्रों के विदा होने का समय एक ही है, यही समय देव यजन का भी माना गया है। उषा देवी सभी उपासकों को प्रबुद्ध करके यज्ञाग्नि को प्रदीप्त कराकर देवताओं पर भरपूर उपकार करती हैं- **उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य। यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः** (ऋ० १.११३.९)। उषा को भग की बहिन कहा गया है- **भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व** (ऋ० १.१२३.५)। उषा को रात्रि की बहिन तथा दिवः दुहिता (द्युलोक-पुत्री) भी कहा गया है। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए वे सूर्य की यात्रा हेतु पथ खोलती हैं- **आरैक्पन्थां यातवे सूर्याय** (ऋ० १.११३.१६)। उषा देवी का सम्बन्ध अश्विनीकुमारों, चन्द्रमा, इन्द्र तथा बृहस्पति आदि देवताओं के साथ भी होने के प्रमाण मिलते हैं।

३३. उषासानक्ता (६.३.३) - उषासानक्ता का देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में दृष्टिगोचर होता है। उषा और रात्रि को युगल रूप में 'उषासानक्ता' नाम से आवाहित किया गया है। उषा और नक्त का संयुक्त रूप उषासानक्ता है। इन्हें दिन-रात की देवी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इनसे रक्षा की प्रार्थना की जाती है- **........उषासानक्तोत न उरुष्यताम्** (अथर्व० ६.३.३)। इन दोनों को दिवोदुहिता अर्थात् द्युलोक की पुत्री स्वरूप चित्रित किया गया है- **उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः** (ऋ० ७.२.६)। इन्हें धन सम्पदा से विभूषित दिव्य युवती भी विवेचित किया गया है- **उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा** (ऋ० २-३१-५)। अथर्ववेद में इन्हें सुवर्णाभूषणों से सज्जित, उज्ज्वल, राजमान और सौन्दर्य - श्री से युक्त योषा वर्णित किया गया है- **आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ। ....दधाने** (अथर्व० ५.१२.६)। उषा और नक्त परस्पर बहिनें हैं, जिनका रंग तो अलग-अलग है, पर मन एक है। इनका मार्ग भी एक है और साथ ही अनन्त भी। ये न

कभी ठहरती हैं न परस्पर टकराती ही हैं- **समानो अध्वा स्वस्त्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे । न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे** (ऋ० १.११३.३)। निरुक्त में 'उषा' का निर्वचन इस प्रकार दिया गया है- **उषाः कस्मात्? उछतीति** (नि० २.१८) अर्थात् जो अन्धकार को हल्का कर देती है, वह उषा है। इसी प्रकार निरुक्त में नक्त को भी अव्यक्तवर्णा कहा गया है- **'अपि वाऽनक्ताऽव्यक्तवर्णा** (नि० ८.१०)।

३४. **ऋभु (६.४८.२)** - वैदिक देवों में कुछ देवगण ऐसे भी हैं, जिनके दिव्यगुणों का अधिक विकास नहीं हो पाया है, फिर भी वे देवता संज्ञा से प्रतिष्ठित हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'ऋभु' हैं। अथर्ववेद में ऋभुओं को देवकल्प ऋषियों के रूप में उपन्यस्त किया गया है। ऋग्वेद में इनका नाम सौ से अधिक बार आवृत्त हुआ है तथा प्रायः ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गई है। अथर्ववेद में ऋभुगणों का उल्लेख आठ बार हुआ है। इनका प्रचलित नाम तो 'ऋभु' है, पर ये एक समूह (ऋभुगण) के रूप में भी आवाहित किये जाते हैं, जिसमें तीन नामों का उल्लेख मिलता है। ये नाम हैं- ऋभुक्षन्, वाज और विभ्वन्। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का एक मंत्र द्रष्टव्य है- **तद्वो वाजा ऋभवः सु प्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्** (ऋ० ४.३६.३)। कुछ आचार्यों ने इन्हें परस्पर तीनों भाई विवेचित किया है, जो आङ्गिरस सुधन्वा के पुत्र थे। निरुक्त में इस तथ्य की पुष्टि इन शब्दों मे विवेचित है- **ऋभु र्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः बभूवुः** (नि० ११.१६)। कुछ आचार्यों ने ऋभु के ही ये तीनों नाम बताये हैं। कहीं-कहीं इनका यह स्वरूप कुछ धुँधला सा प्रतीत होता है; क्योंकि ऋभुओं के साथ ऋभु और विभुवों के साथ विभ्वन् का आवाहन भी मिलता है- **ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि** (ऋ० ७.४८.२)। निरुक्तकार यास्क ने आदित्य रश्मियों को ऋभु की संज्ञा प्रदान की है- **आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते** (नि० ११.१६)। ऋभुगणों का आवाहन तृतीय सवन में किया जाता है, इसीलिए उन्हें तृतीय सवन का देवता कहते हैं। इसी कारण तृतीय सवन का ऋभु-सवन भी कहा जाता है- **ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे ......**(अथर्व० ६.४८.२) । इन्द्रदेव के साथ ऋभु का सम्बन्ध इतना घनिष्ठतापूर्ण बताया गया है कि एक स्थान पर तो उन्हें अभिनव इन्द्र ही कह दिया गया है- **ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान्** (ऋ० १.११०.७)। ऋभु को इन्द्र के अतिरिक्त मरुतों, आदित्य, सविता, पर्वत और सरिताओं से भी सम्बद्ध उपन्यस्त किया गया है।

३५- **एकाष्टका (३.१०.५)** - अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त एकाष्टका को समर्पित है। माघ मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी की पूर्वरात्रि को एकाष्टका या अष्टका कहते हैं। एकाष्टका को देवी का गौरव प्राप्त है। इस रात्रि में पितृकर्म करने तथा अनेक यागों को सम्पन्न करने का विधान है। शास्त्रों में वर्णित है कि सृष्टि के आदि में जब न रात्रि थी, न दिन तब देवताओं की शक्ति से पाँच उषाएँ जो अन्धकार को दूर कर प्रकाशित हुईं, उनमें एकाष्टका सर्वप्रथम थीं। देवगण आगामी एकाष्टका की रात्रि की धेनु के समान प्रतीक्षा करते हैं और कामना करते हैं कि वे हमारे लिए प्रतिवर्ष फलवती बनें और सुख प्रदान करें- **प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे** (अथर्व० ३.१०.१)। एकाष्टका को संवत्सर की पत्नी तथा प्रतिमा विवेचित करते हुए उन्हें मंगलदात्री, आयु प्रदात्री, सन्तति और धन प्रदात्री वर्णित किया गया है- **संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली** (अथर्व० ३.१०.२) तथा - **संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज** (अथर्व० ३.१०.३)। एकाष्टका के संवत्सर की पत्नी होने के विवेचन से ऐसा लगता है कि इस सूक्त की रचना के समय इसे वर्ष (नये संवत्सर) का प्रथम दिन माना जाता होगा, इसी कारण यह कहा गया है कि सर्वप्रथम यही उषा प्रकट हुई और अब अन्य उषाओं में प्रवेश करके संचरित होती है- **इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।..............नवगज्जनित्री** (अथर्व० ३.१०.४)। एक स्थान पर अष्टका को प्रजापति की सुपुत्री तथा सोम और इन्द्र की माता भी कहा गया है- **इन्द्र पुत्रे सोम पुत्रे दुहितासि प्रजापतेः** (अथर्व० ३.१०.१३)। वार्षिक पितृकर्म के निमित्त इसी दिन पुरोहितगण पत्थरों द्वारा हवि तैयार करते हैं- **वानस्पत्या ग्रावाणो........... । एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्** (अथर्व० ३.१०.५)।

३६. **कश्यप (८.९)** - वैदिक देवताओं में 'कश्यप' भी निर्दिष्ट हैं। यों तो 'कश्यप' सप्तर्षि मण्डल के महत्त्वपूर्ण ऋषि के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं, किन्तु अथर्ववेद के आठवें काण्ड के नवें सूक्त के सातवें मंत्र में उन्हें देवता के रूप में परिगणित किया गया है। 'या तेनोच्यते सा देवता' सूत्र के अनुसार उनका वहाँ देवता के क्रम में परिगणन उचित भी है। वहाँ अन्य छः ऋषियों में कश्यप ऋषि से विराट् के सन्दर्भ में प्रश्न किये हैं। अस्तु, वहाँ कश्यप ऋषि देवता स्वरूप प्रतिष्ठित हुए- **षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च। विराज माहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः** (अथर्व० ८.९.७)। कुछ आचार्यगण कश्यप को मरीचि पुत्र भी विवेचित करते हैं। इसीकारण इनके नाम के साथ कई स्थलों पर अपत्यार्थक पद 'मारीच' भी संयुक्त मिलता है। बृहद्देवताकार आचार्य शौनक द्वारा इस तथ्य की पुष्टि इन शब्दों में प्राप्त होती है- **प्राजापत्यो मरीचिर्हि मारीचः कश्यपो मुनिः**

(बृह० ५.१४३)। बृहद्देवता (५.१४३) में ही कश्यप को प्रजापति का पौत्र तथा दक्ष की अदिति आदि तेरह पुत्रियों का पति भी उपन्यस्त किया गया है। आचार्य सायण ने भी इनका मरीचि पुत्र होना प्रतिपादित करते हुए लिखा है- **मारीचि पुत्रः कश्यपो वैवस्वतो मनुर्वा ऋषिः** (ऋ० ८.२९ सा० भा०)।

३७. काम (३.२९.७) - अथर्ववेदीय देवताओं में 'काम' भी देवता श्रेणी में प्रतिष्ठित है। सामान्य अर्थों में चाह या इच्छा को काम कहते हैं। प्रायः इसी अर्थ में अथर्ववेद में काम शब्द का प्रयोग हुआ है। काम की उत्पत्ति सृष्टि से भी पूर्व की मानी जाती है। काम ही मन का प्रथम रेतस् था, जिसके सहयोग से मन द्वारा समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ- **कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्** (अथर्व० १९.५२.१)। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.९.१ द्वारा इन शब्दों में की गई है- **तदसदेव सन्मनो कुरुतस्यामिति**। यह काम का समष्टिगत स्वरूप है- व्यापक स्वरूप है। विशेष काम अर्थात् व्यक्ति विशेष की विशेष इच्छा यद्यपि संकुचित होती है, फिर भी बृहत्काम की ही सहोदर या सयोनि है- **स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि** (अथर्व० १९.५२.१)। काम का निवास स्थल हृदय है- **हृत्सु कामा अरंसत** (अथर्व० १४.२.५)। काम वा एक अन्य स्वरूप प्रणय मनोभव है, जो जीवन की सर्वोत्कृष्ट शक्तिशाली वृत्ति है। इसी वृत्ति को कामदेव की संज्ञा प्रदान की गई है। कामदेव का बाण इतना भयंकर है, जो सीधे हृदय पर चोट करता है- **उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि** (अथर्व० ३.२५.१)। काम-इषु अर्थात् काम बाण को दण्ड पर चढ़ाकर कामदेव अपने लक्ष्य, हृदय को विद्ध करते हैं- **........तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि** (अथर्व० ३.२५.२)। कामावेश का आख्यान ऋग्वेद के यम-यमी संवाद में भी मिलता है, जिसमें यम के प्रति यमी के हृदय में कामाभिलाषा जाग्रत् हो उठती है, तब वह कहती है- **यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा** (ऋ० १०.१०.७)। ऋग्वेद का यही मंत्र अथर्व० १८.१.८ में भी पठित है। इस प्रकार काम के तीन स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम सामान्य निर्विकल्पक अभिलाषा अर्थात् निर्विषयक अभिलाषा-यह सात्त्विक काम है। द्वितीय धन आदि की इच्छा विशेष। काम शब्द का अधिकतर प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। यथा- **.............यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्यामा पतयो रयीणाम्** (ऋ० १०.१२१.१०)। तृतीय काम यौनैषणा के रूप में वर्णित है, जिसकी अथर्ववेद में विस्तृत चर्चा है। अथर्व ६.१३० में काम का एक नाम स्मर भी उल्लिखित है। स्मर शब्द काम के स्थूल आकर्षण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। स्मर उस मनः स्थिति को कहते हैं, जिसमें व्यक्ति सदा अपने स्नेही का स्मरण किया करता है।

३८. काम-बाण (३.२५) -द्र०-काम।

३९. कुहू (७.४९) - **यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०) सूत्र के अनुसार कुहू को भी देव श्रेणी में मान्यता प्रदान की गई है। अमावस्या का एक नाम कुहू भी है। जिस रात्रि को चन्द्रमा दृष्टिगोचर नहीं होता, उसे कुहू कहते हैं। इस तिथि को देवी की संज्ञा प्रदान की गई है। इन्हें सुकृत् अर्थात् सुकर्मा भी कहते हैं। याजकों द्वारा इनकी स्तुति करते हुए इनसे वरणीय धन और वीर सन्तति की कामना का विवेचन मिलता है। उसी क्रम में इन्हें शतदाय और विश्ववार भी कहा गया है- **कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनाप-समस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि। सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्** (अथर्व० ७.४९.१)। कुहू को दिव्य अमृत की पुष्टिकर्त्री वर्णित किया गया है। इनके लिए हविष् अर्पित किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। वे जिस याजक पर कृपा करती हैं, उसे धन समृद्धि (रायस्पोष) से परिपूर्ण कर देती हैं- **कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत। शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु** (अथर्व० ७.४९.२)। बृहद्देवता में प्रायः ४ बार कुहू का नाम आवृत्त हुआ है। कुहू के देवत्व का प्रतिपादन आचार्य शौनक ने इन शब्दों में किया है- **तत्पूर्वं द्वे ऋचौ कुह्वाः कुहू-महमिति स्मृते** (बृह० ४८७)।

४०. गन्धर्व-अप्सरा समूह (२.२) - द्र०-अप्सरा।

४१. चन्द्रमा (६.७८.१-२) - चन्द्रमा देवता का देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में निर्दिष्ट है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में चन्द्रदेव या चन्द्रमा का नाम प्रख्यात है। यजुर्वेद में चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से बताई गई है- **चन्द्रमा मनसो जातः** (यजु० ३१.१२)। इनका अस्तित्व सूर्यआधृत है। अमावस्या को चन्द्रदेव आदित्य में प्रविष्ट हो जाते हैं- **चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति** (ऐ० ब्रा० ८.२८)। चन्द्रमा और सोम अभिन्न हैं, यह तथ्य कौषीतकि ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण दोनों में प्रतिपादित है- **सोमो वै चन्द्रमाः** (कौषी० ब्रा० १६.५)। **एतद्वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः** (ऐ० ब्रा० ७.११)। चन्द्रमा रात्रि के स्वामी हैं। उनके आविर्भाव से ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष बनते हैं, जिनके अनुसार सभी देवगणों को उनका अंश (हविष्य) प्राप्त होता है। मासों और ऋतुओं के

सृजनकर्त्ता भी चन्द्रदेव ही हैं। नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रमुख हैं। यही नक्षत्रों की प्रतिष्ठा है- **चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः नक्षत्राणां प्रतिष्ठा** (तैत्ति० ब्रा० ३.११.१.१२) । अथर्ववेद में सूर्य और चन्द्रमा की तुलना शिशुओं से की गई है, जो परस्पर क्रीडा करते हुए कभी आगे और कभी पीछे परिभ्रमण करते हैं। इस क्रीडा में सूर्यदेव सभी भुवनों को देखते हैं और चन्द्रदेव ऋतुओं का निर्माण करते हैं-**पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्। विश्वान्यो भुवना विचष्टऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः** (अथर्व० ७.८६.१)। चन्द्रमा शान्ति और विश्रान्ति प्रदान करके दार्घायुष्य प्रदान करते हैं-........**भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः** (अथर्व०७.८६.२)।

४२. **जरिमा (२.२८.१, ३)** - जरिमा शब्द का सामान्य अर्थ जरा अथवा वृद्धावस्था है। अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग प्रायः चार बार हुआ है। '**या तेनोच्यते सा देवता**' सूत्र के अनुसार कुछ मंत्रों का वर्ण्य विषय 'जरिमा' होने के कारण उसे देवत्व प्रदान किया गया है। अथर्ववेद में सर्वत्र यही प्रार्थना है कि अमुक व्यक्ति जरावस्था तक देवों द्वारा सुरक्षित रहे-**इमान् रक्षतु पुरुषा नाजरिम्णः** (अथर्व० १८.३.६२)। एक अन्य मंत्र में जरिमा में देवत्व का आरोपण करके प्रार्थना है कि अमुक व्यक्ति तुम तक पहुँचने के लिए बढ़ता रहे, मृत्यु के अन्य साधन इसे नष्ट न कर सकें- **तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये** (अथर्व० २.२८.१)। निरुक्तकार यास्क ने जरिमा का अर्थ 'स्तूयमान' किया है- **जरा स्तुतिर्जरते स्तुति कर्मणः** (नि० १०.८)। आचार्य सायण ने भी यास्क मुनि के आधार पर इस मंत्र का भाष्य करते हुए लिखा है-**जरिमन् जरितः स्तुतिकर्मा** (अथर्व० २.२८.१ सा० भा०)। आचार्य सायण ने इस मंत्र के अर्थ में जरिमा को अग्नि माना है; क्योंकि अग्नि भी स्तूयमान है। जरिमा शब्द ऋग्वेद में भी आया है, पर वहाँ उसे देवता की श्रेणी में परिगणित नहीं किया गया है। वहाँ इसका प्रयोग वृद्धावस्था, स्तुति और स्तुतिकर्त्ता इन तीन अर्थों में हुआ है।

४३. **जातवेद (अग्नि) - द्र० अग्नि।**

४४. **तार्क्ष्य (७.९०)** - वैदिक देवताओं में तार्क्ष्य का देवत्व निर्दिष्ट है। ऋग्वेद में इन्हें कुछ मंत्रों का ऋषित्व भी प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में तार्क्ष्य शब्द का विशेषण 'अरिष्टनेमि' है। मूलतः तार्क्ष्य की कल्पना अश्व स्वरूप की गई थी। वह तार्क्ष्य (अश्व) अरिष्टनेमि अर्थात् अनष्टनेमि (अर्थात् जिसके रथ की नेमि नष्ट न हो सके) था। वाजसनेयि संहिता १५.१८ तथा शतपथ ब्राह्मण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है-**तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति** (शत० ब्रा० ८.६.१.१९)। परवर्ती ग्रन्थों में 'तार्क्ष्य' को पक्षी रूप में विवेचित किया गया। कालान्तर में तार्क्ष्य का तादात्म्य भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के साथ हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में 'तार्क्ष्य' दिव्य अश्व स्वरूप आदित्य का प्रतिरूप रहा होगा; क्योंकि सूर्य को भी 'अश्व' कहा गया है। तार्क्ष्य शब्द की व्युत्पत्ति तृक्ष से हुई है तृक्ष के पुत्र को अपत्यवाचक अर्थ में तार्क्ष्य कहा गया है। सुपर्ण के साथ भी तार्क्ष्य पद जोड़ा जाता है। आचार्य सायण ने सुपर्ण को तृक्ष पुत्र तार्क्ष्य कहा है- **तार्क्ष्यं तृक्ष पुत्रं सुपर्णम्** (ऋ० १०.१७८.१ सा० भा०)। अथर्व० ७.९०.१ में तार्क्ष्य का आह्वान कल्याण के लिए किया गया है- **त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम।** वैदिक कोश के अनुसार एक राजा का नाम तृक्षि था, जो त्रसदस्यु का वंशज था। अतः त्रासदस्यव को भी तार्क्ष्य कहा गया है।

४५. **तिस्रो देव्यः (इळा, भारती, सरस्वती) (५.२७.९)** - वेदों में प्रायः तीन देवियों का नाम एक साथ लिया गया है, इन्हें एक शब्द में तिस्रो देव्यः (तीन देवियाँ) नाम से जानते हैं। ये हैं- इळा, भारती और सरस्वती। 'तिस्रोदेव्यः' समूह की प्रथम देवी-इळा को घृतवती माना गया है। उनके घृतसिक्त अंगों का वर्णन मिलता है। हविष् की प्रतिरूप होने के कारण उन्हें घृतहस्ता और घृतपाद उपन्यस्त किया गया है- **येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति** (ऋ० ७.१६.८) । **मनुष्वद् यज्ञं हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त** (ऋ० १०.७०.८)। शतपथ ब्राह्मण में इळा को मित्रावरुण की पुत्री निरूपित किया गया है- **इळासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः** (शत० ब्रा० १४.९.४.२७)। तीन देवियों के इस वर्ग में द्वितीय देवी भारती हैं। बृहद्देवता के अनुसार ये तीनों देवियाँ जो 'वाच्' के रूप में हैं, इनके तीन स्थान हैं (**त्रिस्थानैवेह सा तु वाक-३.११**) । इळा अग्नि की अनुगामिनी, सरस्वती मध्यम से सम्बद्ध तथा भारती दिव्य लोक में स्थित हैं- **अग्निमेवानुगेळा तु मध्यं प्राप्ता सरस्वती। .... भारती भवति ह्यसौ** (बृह० ३.१३)। त्रिदेवी (तिस्रोदेव्यः) वर्ग की तृतीय देवी-सरस्वती नाम से प्रख्यात हैं। इन्हें वाणी की देवी के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त है- **वाग्वै सरस्वती पावीरवी** (ऐ० ब्रा० ३.३७)। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्हें वाणी की उत्प्रेरिका देवी भी निरूपित किया गया है- **अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन्दहति तदस्य सारस्वतं रूपम्** (ऐत० ब्रा० ३.४)। शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती को जिह्वा स्थानीय देवी माना गया है-...... **जिह्वा सरस्वती** (शत० ब्रा० १२.९.१.१४)। इनके द्वारा ही सम्पूर्ण वेदों की उत्पत्ति वर्णित है-**सरस्वत्याः सर्वे वेदाः**

अभवन् (गा० र० उ० ४५.९-१०)। सरस्वती बौद्धिक पुष्टि प्रदात्री भी हैं, इसी कारण इन्हें पुष्टि पत्नी भी विवेचित किया गया है-**सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपत्नी** (तैत्ति० ब्रा० २.५.७.४)। अथर्ववेद में इन तीनों देवियों से यज्ञ मण्डप में पधारने और बर्हि पर बैठने के लिए प्रार्थना की गई है- .... **तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना** (अथर्व० ५.२७.९)।

४६. त्रिणामा (६.७४) द्र०-अग्नि।

४७.त्वष्टा (३.८.२) - दिव्य शिल्पी के रूप में त्वष्टा देव चारों वेदों में प्रतिष्ठित हैं। विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्यों में वे निष्णात और समर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में है-**त्वष्टा रूपाणि विकरोति** (तैत्ति० ब्रा० २.७.२.१)। **त्वष्टा वै रूपाणामीशे** (तैत्ति० ब्रा० १.४.७.१)। उनके द्वारा देवताओं के निमित्त उपयोगी सामग्री के रूप में वज्र, आयस, परशु , भोज्य तथा पानक वस्तुओं को रखने हेतु 'चमस' बनाने का उल्लेख विशेषतः मिलता है- **उतत्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः** (ऋ० १.२०.६)। उनके हाथों से श्रेष्ठतम निर्माण के कारण उन्हें सुपाणि कहा गया है-**सुकृत् सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात्** (ऋ० ३.५४.१२)। त्वष्टा देवता का एक अन्य कार्य सन्तति प्रदान करना भी है। वे ही मनुष्यों और पशुओं के अंग-अवयवों का सृजन कर उनका लिङ्ग निर्धारित करते हैं- **त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्** (तैत्ति० ब्रा० ३.८.११.२)। जन्मोपरान्त शिशु के पोषण में भी त्वष्टा ही सहायता करते हैं-**बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम्** (अथर्व० ९.१०.२)। आचार्य सायण ने वैद्युत अग्नि का नाम भी त्वष्टा निरूपित किया है- .... **त्वष्टुः दीप्तात् मध्यमात् वायोः सकाशात् जनयन्त वैद्युतमग्निम् उत्पादयन्ति** (ऋ० १.९५.२ सा० भा०)। बृहद्देवता में चौदह बार त्वष्टा का नामोल्लेख हुआ है।

४८. त्विषि (६.३८) - अथर्ववेद में 'त्विषि' जो एक गुण है, को भी देवत्व प्राप्त हुआ है। त्विषि का अर्थ 'दीप्ति' या 'तेजस्' है। यह एक ऐसा गुण है, जो किसी पदार्थ या व्यक्ति को प्रखरता-सम्पन्न बनाता है। स्तोता पृथ्वी माता से त्विषि प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है- ....**सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे** (अथर्व० १२.१.८)। ओषधि भी त्विषि सम्पन्न हो सकती है। वरुण को भी त्विषिमान् विवेचित किया गया है- .... **नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते** (अथर्व० ६.२०.२)। त्विषि को मेधा के समान ही महत्त्वपूर्ण गुण की प्रतिष्ठा प्राप्त है। मेधा आन्तरिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है, तो त्विषि बाह्य शक्ति के रूप में। सिंह, व्याघ्र, अग्नि, सूर्य, ब्राह्मण और पृदाकु में त्विषि विद्यमान है। त्विषि को सुभगा निरूपित करते हुए विवेचन किया गया है कि उन्हीं के द्वारा इन्द्र का आविर्भाव हुआ अर्थात् इन्द्र में इन्द्रत्व का आविर्भाव हुआ। एक मंत्र में त्विषि से प्रार्थना की गई है कि वे आएँ और साथ में अपने मित्र के रूप में वर्चस् को भी लाएँ- **सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना** (अथर्व० ६.३८.१)।

४९. दधिक्रावा (३.१६.६) - दधिक्रावा का देवत्व ऋक्, साम और अथर्व में प्राप्त है; किन्तु ऋक् और साम में 'दधिक्रा' पाठ मिलता है; जबकि अथर्ववेद में दधिक्रावा। दधिक्रावा का अभिप्राय दैवी अश्व से है। गर्जनशील और शक्तिस्वरूप होने से इसे दैवी अश्व की संज्ञा प्रदान की गई है। बृहद्देवताकार ने उस शक्ति को 'दधिक्रा' कहा है, जो आकाश में आठ मास तक जल को धारण करके रखती है तथा यदा-कदा गर्जना करती है- **अपामम्बरगर्भौघम्......दधिक्रास्तेन कथ्यते** (बृह० २.५६)। आचार्य सायण ने दधिक्रावा की व्याख्या इन शब्दों में की है-**दधिकावेव। अश्वनामैतत्। दधिः धारयिता सन् क्रामतीति दधिक्रावा अश्वः** (अथर्व० ३.१६.६ सा० भा०)। उन्होंने दधिक्रा को अश्व विशेष कहा है-**दधिक्राम् एतन्नामकमश्वविशेषं देवम्** (ऋ० ७.४४.२ सा० भा०)। निरुक्तकार यास्क ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है-**दधत् क्रामतीति वा। दधत् क्रन्दतीति वा। दधदाकारी भवतीति वा** (नि० २.२७)। अथर्व में देवी उषा से प्रार्थना की गई है कि जैसे-दधिक्रावा शुद्ध स्थान पर पद रखने के लिए समुद्यत होता है, उसी तरह वे धन-प्रदाता भग देवता को याजक के पास लाने हेतु उद्यत हों-**समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय। अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु** (अथर्व० ३.१६.६)। कुछ स्थानों पर 'दधिक्र' शब्द से विद्युत् का संकेत भी मिलता है।

५०. दिव (४.३९.५-६) द्र०-द्यौ।

५१.दिव्य आपः (६.१२४) द्र०-आपः।

५२. दिव्य ऋषिगण (६.४१.३) द्र०-सप्तर्षिगण।

५३. देवगण (६.९७.१, ३) - देवगणों का देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी विवेचित है। यों तो एक मंत्र में एक या दो देवताओं का देवत्व ही दृष्टिगोचर होता है; किन्तु कुछ मंत्रों में एक ही मंत्र में कई देवताओं का देवत्व उपन्यस्त है। ऐसे मंत्रों के देवताओं के समूह को 'देवगण' कहते हैं। जैसे-ऋग्वेद की एक ऋचा में बालक, तरुण, वृद्ध सभी को देव मानकर नमन किया गया है।

इनके लिए देवाः (देवगण) शब्द प्रयुक्त हुआ है-**नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः । यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः** (ऋ० १.२७.१३)। बृहद्देवता में इस देवसमूह को 'विश्वेदेवा' नाम दिया गया है- **जराबोधेति विज्ञेया वैश्वदेव्युत्तमा नमः** (बृह० ३.९९)। इसी प्रकार अथर्ववेद के इस मंत्र में भी अनेक देवताओं (याग, अग्नि, सोम, सेना, हवि आदि) की एक साथ स्तुति की गई है- **अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः । अभ्य १ हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः** (अथर्व० ६.९७.१)। देवताओं के विशिष्ट गण के लिए बहुवचन में 'देवजन' शब्द का उल्लेख भी मिलता है। मोनियरविलियम्स ने राक्षसों एवं सर्पों के समूह को भी देवजन कहा है। पवित्रता के निमित्त देवजनों से प्रार्थना की गई है- **पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया** (अथर्व० ६.१९.१) अर्थात् देवजाति के व्यक्ति मुझे पवित्र करें। सर्पों का उत्कीलन करने के लिए भी देवगणों व देवजनों की स्तुति की गई है- **माने देवा अहिर्वधीत् सतोकान्तसहपूरुषान् । संयतं न विष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः** (अथर्व० ६.५६.१) आचार्य सायण ने देवजन शब्द का अर्थ 'सर्पादि के विष को दूर करने में समर्थ व्यक्ति' किया है- **देवजनेभ्यः ये सर्पादि विष निर्हरण समर्था....नमोस्तु** (अथर्व० ६.५६.१ सा० भा०)। अथर्ववेद के कई मंत्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि देवजनों का सर्पों के साथ निश्चित ही कोई सम्बन्ध रहा होगा। देवजन विद्या के प्रसंग (छा० उप०) में भी सर्प विद्या का ही उल्लेख है। 'देवगण' और 'देवजन' शब्द मिलते-जुलते होने के कारण दोनों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

५४. देवजन (६.१९.१) - द्र०-देवगण।

५५. देवपत्नी (७.५१) - वैदिक आस्था के क्रम में जहाँ देवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ देवियों अथवा देवपत्नियों का स्थान अपेक्षाकृत गौण है। ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर यज्ञ की रक्षा के निमित्त देवताओं की पत्नियों को भी आवाहित किया गया है-**अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः । अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्** (ऋ० १.२२.११)। देवपत्नियों अथवा देवियों का अलग से कोई व्यक्तित्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् देवों के नामों के आधार पर ही उनका भी नामकरण हुआ है। अथर्ववेद के एक मंत्र (जो ऋ० ५.४६.७ में भी पठित है) में अग्निदेव की पत्नी अग्नायी, इन्द्रदेव की पत्नी इन्द्राणी, अश्विनीकुमारों की पत्नी अश्विनी, रुद्रदेव की पत्नी रोदसी और वरुणदेव की पत्नी वरुणानी का रक्षार्थ आवाहन किया गया है- **उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् । आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्** (अथर्व० ७.५१.२)। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में सोमपान हेतु इन्द्राणी, अग्नायी और वरुणानी को निमंत्रित किया गया है- **इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये । अग्नायीं सोमपीतये** (ऋ० १.२२.१२)। अथर्ववेद ३.२०.३ का भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने देवी शब्द को इन्द्राणी तथा सरस्वती के साथ सम्बद्ध किया है-**देवीः देव्यः इन्द्राणीप्रभृतयः धनम्.....प्रयच्छन्तु । .....देवी सरस्वती रयिम्....प्रयच्छतु** (अथर्व० ३.२०.३सा० भा०)। कुछ स्थानों पर दो अप्सराओं को भी देवपत्नी निरूपित किया गया है- **ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम्** (अथर्व० ६.११८.३)। इसी प्रकार वृषाकपि की पत्नी को वृषाकपायी विवेचित किया गया है- **वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे** (अथर्व० २०.१२६.१३)।

५६- देवी (३.२०.३) - द्र०-देवपत्नी।

५७- द्यावा-पृथिवी (६.३.२) - वैदिक देवयुग्मों में द्यावा-पृथिवी उच्च स्थल पर प्रतिष्ठित हैं। इन्हें आकाश और पृथ्वी भी कहते हैं। आदिम चिन्तन में ये दोनों देवता एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध थे कि उनके दाम्पत्य भाव की कथाएँ आदिमजनों में सर्वत्र उभर कर आई थीं। इसी कारण द्यावा-पृथिवी को सभी ने माता-पिता के रूप में स्वीकार किया है-**उत मन्ये पितरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः** (ऋ० १.१५९.२)। इन्हें आदि जनक-जननी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है- **प्र पूर्वजे पितरा नव्य सीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य । आ नो द्यावा-पृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथम्** (ऋ० ७.५३.२)। द्यावा-पृथिवी का पृथक्-पृथक् उल्लेख भी अनेक बार हुआ है; किन्तु उनका संयुक्त उल्लेख कई बार विराट् विश्व की ओर ध्यानाकर्षित करने के लिए हुआ है। एक मंत्र में द्यावा-पृथिवी से प्रार्थना की गई है कि वे गोद में बैठे व्यक्ति को भूख-प्यास से पीड़ित न होने दें- **एवं वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्** (अथर्व० २.२९.४) अर्थात् पृथ्वी और आकाश के बीच निवास करने वाले जगत् के कोई भी प्राणी भूख-प्यास से परेशान न हों। द्यावा-पृथिवी से पाप- मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। उन्हें सचेतस्, सुभोजस्, अपरिमित योजनों तक विस्तार वाली तथा वसुओं का आगार विवेचित किया गया है-**मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसुनां ते नो मुञ्चतमंहसः** (अथर्व० ४.२६.१)। द्यावा-पृथिवी के देवत्व को प्रमाणित करते हुए आचार्य शौनक लिखते हैं- **द्यावापृथिव्यौ द्वे च स्यात् स्योनेत्यृक् पार्थिवी स्मृता** (बृह० ३.९३)।

५८. द्यौ (३.२.५) - वैदिक देवों में द्यौ का देवत्व प्रख्यात है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। अधिकांशतः इस शब्द का प्रयोग स्थूल आकाश के अर्थ में हुआ है। कभी-कभी ऋग्वेद में द्यौ का उल्लेख प्रायः ५०० बार हुआ है।

दिन के अर्थ में भी इसका उल्लेख मिलता है। पृथ्वी को मातृ स्वरूप माना गया है तथा द्यौ को पिता स्वरूप मान्यता प्रदान की गई है- **मधु द्यौरस्तु नः पिता** (ऋ० १.९०.७)। ऋग्वेद में पृथ्वी माता के साथ उनके पितृत्व का प्रायः १५ बार उल्लेख मिलता है-**द्यौश्पितः पृथिविमातरध्रुक्....** (ऋ० ६.५१.५)। अथर्व० में द्यौ के लिए दिव शब्द का भी प्रयोग हुआ है। द्यौ अथवा दिव को विश्ववेदस् अर्थात् सर्वज्ञाता मानकर उन्हें नमन किया गया है- **दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः** (अथर्व० १.३२.४)। द्यौ के पितृत्व का अथर्ववेद में भी कई बार उल्लेख हुआ है-**द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने** (अथर्व० २.२८.४)। अन्य देवताओं के साथ द्यौ से भी रक्षा हेतु प्रार्थना निर्दिष्ट है-......... **अपांनपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः** (अथर्व० ६.३.१)। द्यौ सबको सुख- सम्पन्न बनाते तथा मृत्यु के बन्धन से छुटकारा प्रदान करते हैं- **उत् त्वा द्यौरुत् ......मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्** (अथर्व० ८.१.१७)।

५९. द्यौष्पिता (६.४.३) द्र०-द्यौ।

६०. द्रविणोदा (५.३.५) द्र०-अग्नि।

६१. धनपति (२.३६.६) - अथर्ववेदीय देवताओं में धनपति का देवत्व धन के देवता के रूप में प्रतिष्ठित है, फिर भी उनकी स्तुति कन्या के द्वारा इच्छित वर को उसके (कन्या के) अनुकूल बनाने, वर को बुलाने और अभिलषित वर को दाम्पत्य के अनुरूप व्यवहार करने के लिए प्रेरित करने हेतु की गई है- **आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः** (अथर्व० २.३६.६)। यों तो अथर्ववेद में कुछ अन्य स्थलों पर धनपति शब्द इन्द्र और राजा के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है- **अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि** (अथर्व० ५.२३.२)। **अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा** (अथर्व० ४.२२.३); किन्तु शांखायन श्रौत सूत्र २.१४ में इसे कुबेर का नाम निरूपित किया गया है। विश्रवा के पुत्र होने के कारण कुबेर को वैश्रवण भी कहते हैं। अथर्व० २.३६.६ में धनपति शब्द वैश्रवण (कुबेर) के लिए ही आया है। आचार्य सायण लिखते हैं- **हे धनपते वैश्रवण वरम् वरयितारं ....उद्घोषय** (अथर्व० २.३६.६ सा० भा०)पौराणिक कोश में वायुदेव को धनपति उपन्यस्त किया गया है।

६२. धन्वन्तरि (२.३) - अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का तृतीय सूक्त धन्वन्तरि को समर्पित है। इस सूक्त में चिकित्सा या ओषधि सम्बन्धी मंत्र होने के कारण इसे भैषज्य सूक्त भी कहते हैं। एक मंत्र में आस्राव-ओषधि की स्तुति इन शब्दों में की गई है- **तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्** (अथर्व० २.३.३)। धन्वन्तरि को आयुर्वेद का प्रवर्तक कहते हैं। मत्स्य पुराण ४७.३० के अनुसार धन्वन्तरि को विष्णु भगवान् का तेरहवाँ अवतार विवेचित किया गया है। जो दीर्घतमा या दीर्घतपा के पुत्र तथा केतुमान् के पिता थे। इन्हें देवताओं का वैद्य निरूपित किया गया है, जो समुद्र मन्थन के समय १४ (चौदह) रत्नों के साथ समुद्र से प्रकट हुए थे। भाव प्रकाश के अनुसार इन्हें इन्द्र द्वारा आयुर्वेद का शिक्षण देकर लोककल्याण हेतु धरित्री पर भेजा गया था। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में धन्वन्तरि का देवत्व इन शब्दों में प्रमाणित किया गया है- **'अदो यत्' इति भैषज्यायुर्धन्वन्तरिदैवतं........ (बृह०सर्वा० २.३)**।

६३. धाता (३.८.२) - धाता देवता त्वष्टा के निकटस्थ देव निर्दिष्ट हैं। वे दोनों कई कार्य साथ-साथ सम्पन्न करते हैं। त्वष्टा यदि किसी कन्या के लिए 'वहतु' की व्यवस्था करते हैं, तो धाता उसे सुयोग्य और अनुकूल वर (पति) की प्राप्ति कराते हैं-**धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम्** (अथर्व० २.३६.२)। त्वष्टा के साथ धाता को भी हविष् अर्पित की जाती है। वे त्वष्टा के सहभोक्ता हैं- **धाता रातिः सवितेदं......... मेवचः। हुवे देवीमदितिं......... यथासानि** (अथर्व० ३.८.२)। धारण स्थापन की सामर्थ्य के कारण उन्हें धाता संज्ञा से अलंकृत किया गया है। वे गर्भ धारण में विशेष सहायता करते हैं। उन्हें स्त्री के गर्भाशय में पुत्र को दशम मास में प्रसवार्थ स्थापित करने वाला भी निरूपित किया गया है- **धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे** (अथर्व० ५.२५.१०)। धाता विधाता और समृध् का नाम प्रायः एक साथ आता है। विधाता को निर्माण का, धाता को धारण (स्थित) का तथा समृध् को समृद्धि का देवता उपन्यस्त किया गया है- **धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे** (अथर्व० ३.१०.१०)। एक अन्य मंत्र में धाता को प्रजापति और पुष्टिपति के साथ भी विवेचित किया गया है। प्रजापति को प्रजनन, धाता को धारण तथा पुष्टिपति को पोषणकर्त्ता निरूपित किया गया है। ये तीनों देव एक मूल से समुत्पन्न, समान ज्ञान वाले तथा समान विचार और इच्छा वाले हैं- **प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः। संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु** (अथर्व० ७.२०.१)। धाता देवता पृथ्वी और द्यौ को उचित स्थान पर धारण करते हैं तथा पतिकामा स्त्री को उसका प्रेम पात्र प्रदान करते हैं- **धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।......... प्रतिकाम्यम्** (अथर्व० ६.६०.३)।

६४. धेनु (३.१०.१) द्र०-एकाष्टका।

६५. निर्ऋति (२.१०.४-८) - ऋग्वेद और अथर्ववेद में निर्ऋति का देवत्व प्राप्त होता है। निर्ऋति शब्द विनाश, विलय, दुर्भाग्य, रोग, विपत्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उन्हें मृत्यु के समान माना गया है। बृहद्देवता में एक स्थान पर निर्ऋति को मृत्यु के समतुल्य विवेचित किया गया है- **ऋक् सौम्या निर्ऋती चैवा .....परे** (बृह० ७.९२)। अथर्ववेद के एक मंत्र में एक रोगाक्रान्त पुरुष के सन्दर्भ में कहा गया है कि चाहे उसकी आयु पूरी हो चुकी हो अथवा वह इस लोक से प्रयाण कर मृत्यु के निकट जा चुका हो, मैं उसे निर्ऋति के पास से भी वापस ले आऊँगा-**यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एवं। .... निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय** (अथर्व० ३.११.२)। निर्ऋति को पापदेवता वर्णित किया गया है, जो अराति और मृत्यु से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है। निरुक्त में भी निर्ऋति को पाप देवता निरूपित किया गया है- **निर्ऋत्याः पाप देवतायाः** (नि० १.१७)। निरुक्त में ही एक अन्य स्थल पर निर्ऋति की व्युत्पत्ति पृथ्वी के अर्थ में दी गई है- "**तत्र निर्ऋतिर्निरमणात्** (नि० २.७)।" अर्थात् जिस पर प्राणी प्रसन्नतापूर्वक रमण करते हैं, वह निर्ऋति अर्थात् पृथ्वी है। अथर्ववेद में पाप देवता के रूप में निर्ऋति का देवत्व विवेचित है।

६६. पराशर (६.६५) - पराशर का देवत्व अथर्व० ६.३५ में निर्दिष्ट है। यों तो पराशर शक्ति के पुत्र और ऋषि वसिष्ठ के पौत्र वर्णित हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी यह तथ्य प्रमाणित किया है- .... **पराशरः ऋषिर्वसिष्ठस्य नप्ता शक्तेः पुत्र एव** (नि० ६.३०); किन्तु कुछ स्थानों पर पराशर शब्द इन्द्र के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने पराशर शब्द की व्याख्या इस प्रकार है- हे **पराशर परागत्य शृणाति हिनस्ति शत्रून् इति पराशर इन्द्रः** (अथर्व० ६.६५.१ सा० भा०) अर्थात् शत्रुओं को परास्त करके उन्हें नष्ट कर देने वाले को पराशर कहते हैं। ये गुण इन्द्र में हैं, अतः वे भी पराशर हैं। निरुक्त में एक अन्य स्थल पर पराशर की दूसरी व्याख्या इन शब्दों में विवेचित है- **इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। परा शातयिता यातूनाम्।.....परा परितः यातूनां ....रक्षसाम्। ....शातयिता विनाशकः** (नि० ६.३०) अर्थात् जो चारों ओर से राक्षसों का विनाश करने में समर्थ हो, वह पराशर है। इसी गुण के कारण यहाँ इन्द्र को भी पराशर निरूपित किया गया है। अथर्व० के इस मंत्र में पराशर (इन्द्र) से प्रार्थना की गई है कि वे शत्रु को नष्ट करें- **अव मन्युरवायताव.....। पराशरत्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि** (अथर्व० ६.६५.१)।

६७. पर्जन्य (६.४.१) - पर्जन्य का देवत्व ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी दृष्टिगोचर होता है। देवताओं के विभक्तीकरण में इन्हें वायवीय देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। देवता प्रायः तीन भागों में विभक्त हैं- पार्थिव, वायवीय और स्वर्गीय। इन्हें प्रायः जल बरसाने वाले देवता के रूप में जाना जाता है; किन्तु ये जल के साथ प्राण तत्त्व का भी वर्षण करते हैं, जिससे धरती की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है, वनस्पतियाँ पोषित होती हैं तथा प्राण शक्ति सम्पन्न बनती हैं- **समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु** (अथर्व० ४.१५.१)। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में पर्जन्य को शरों का पिता (उत्पादक) तथा समूची सृष्टि के जड़-जंगम पदार्थों का उत्पादन एवं पोषण करने वाला निरूपित किया गया है- **विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्** (अथर्व० १.२.१)। पर्जन्य को शरों (बाणों) का पिता इसलिए कहा गया है कि बाण शरकण्डा से ही बनते हैं और शरकाण्ड वर्षाकाल में ही वर्द्धित होते हैं। इषु (बाण) को ऋग्वेद में 'पर्जन्यरेतस्' कहा गया है-**इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः** (ऋ० ६.७५.१५)। पर्जन्य को पृथ्वी का वृषभ (गर्भाधायक) भी उपन्यस्त किया गया है- **पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः** (ऋ० ६.४९.६)। पर्जन्य का मण्डूकों (मेढकों) से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो मेढक पूरे वर्ष पृथ्वी के गर्भ में शयन करते हैं, वे पर्जन्यागमन से प्रसन्न होकर पर्जन्य को प्रसन्नता प्रदान करने वाली वाणी बोलते हैं- .... **वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः** (अथर्व० ४.१५.१३)। पजन्य का सम्बन्ध अग्नि, मरुत्, वात और इन्द्र के साथ भी निर्दिष्ट है- **वाचं सुमित्रावरुणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्** (ऋ० ५.६३.६) ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है। बृहद्देवता में पर्जन्य का देवत्व प्रमाणित करते हुए लिखा है- **वातेनैव च पर्जन्यो लक्ष्यतेऽन्यत्र वै क्वचित्** (बृह० २.५)।

६८. पवमान (६.१९.१-२) - पवमान वस्तुतः एक विशेषण है, जो 'पवित्रकारक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह विशेषण कुछ स्थलों पर तो स्वयं उसी देवता का वाचक बन गया है, जिसके लिए प्रयुक्त किया गया है। जैसे-ऋग्वेद में पार्थिव अग्नि को पवमान कहा गया है। दिव्य प्रवहमान सोम भी पवित्रकारक होने से 'पवमान' के रूप में प्रख्यात है। पवमान सोम द्युलोक और अन्तरिक्ष से पृथ्वी की ओर प्रवाहित होता है- **पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि** (ऋ० ९.६३.२७)। पावन करने वाले वायु को भी पवमान संज्ञा प्रदान की गई है। आचार्य सायण इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं- **हरितः दिशः पवमानः वायुः आविवेश आविष्टः** (ऋ० ८.१०१.१४ सा० भा०)। जैमिनीय ब्राह्मण में तो अग्नि, वायु के साथ आदित्य को भी

पवमान उपन्यस्त किया गया है- **त्रयो हवा एते समुद्रा यत् पवमानाः ।** **अग्निर्वायुरसावादित्यः** (जैमि० ब्रा० १.२७४)। पवित्र करने वाला होने से प्राण को भी पवमान कहा गया है- **प्रजा वै हरितः । ता अयं प्राणः पवमान आविष्टः** (जैमि० ब्रा० २.२२९)।

६९. पशुपति (२.३४.१) - पशुपति का देवत्व अथर्ववेद में प्रतिष्ठित है। इन्हें संसार के समस्त द्विपदों और चतुष्पदों (दों पैर वाले और चार पैर वाले पशु-पक्षियों) का स्वामी विवेचित किया गया है। एक मंत्र में भव और शर्व को पशुपति कहा गया है,इसी कारण,उनसे प्रार्थना की गई है कि वे द्विपदों और चतुष्पदों से होने वाले कष्ट से हमारी रक्षा करें- **भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्। प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मो चतुष्पदः** (अथर्व० ११.२.१)। एक अन्य मंत्र में पशुपति से विनती की गई है कि श्वान, गृध्र, शृगाल आदि मांसभक्षी पशु हमारे शरीर को न खाएँ-**शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि..........च कृष्णा अविष्यवः** (अथर्व० ११.२)। पशुपति कष्ट देने वाले शृगालों,श्वानों एवं विकेशी पिशाचियों से प्रार्थी की रक्षा करते हैं- .... **स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः** (अथर्व० ११.२.११)। अथर्ववेद के ही एक मंत्र में जहाँ भव और शर्व को पशुपति विवेचित किया है,वहीं रुद्र को भी पशुपति कहा है। उनके बाण सर्वविदित हैं, जो स्तोता के लिए कल्याणकारी (शिव) होते हैं- **भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः । इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः** (अथर्व० ११.६.९)।

७० . पाप्महा (३.३१) - वैदिक देवों में 'पाप्महा' का देवत्व भी स्वीकार किया गया है। यद्यपि इनका व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रकाशित नहीं होता;तथापि अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में पाप से बचाने वाले या पाप को नष्ट करने वाले देवता के रूप में इनकी स्तुति की गई है। इस मंत्र में उपनयन के उपरान्त बालक को पाप से बचाने तथा यक्ष्मारोग से दूर रखने की प्रार्थना की गई है-......... **व्य १ हं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुषा** (अथर्व० ३.३१.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इनके देवत्व को प्रमाणित करते हुए लिखा है- **'वि देवाः' इत्येकादशर्चं पाप्महदेवत्यमानुष्टुभम् । .... देवान् पाप्मघ्नानस्तौत्** (बृ० सर्वा० ३.३१)। पाप के अधिष्ठाता देवता का एक नाम पाप्मा या पाप्मन् भी है। अथर्व० के छठे काण्ड के २६ वें सूक्त में उनसे प्रार्थना की गई है कि वे (पाप्मा) हमें छोड़ दें,हमें शान्ति से रहने दें और हमें कष्टमुक्त करके भद्रलोक में स्थान दें- **अव मा पाप्मान्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः । आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम्** (अथर्व० ६.२६.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणी में भी इनके देवत्व को प्रमाणित किया गया है-**'अव मा पाप्मन्' इति पाप्मदेवताकमानुष्टुभम्** (बृ० सर्वा० ६.२६)।

७१. पाप्मा (६.२६) द्र०-पाप्महा।

७२. पितर अङ्गिरस (२.१२.४) द्र०-पितरगण।

७३. पितरगण (३.२७.२) - उच्च स्थानीय स्वर्ग के निवासी पुण्यात्मा मृतक पितर या पितृगण कहलाते हैं। सृष्टि में विभिन्न योनि वर्ग हैं। जैसे-देव,पितर,मनुष्य,गन्धर्व और अप्सराएँ। इनमें पितरों का स्थान देवों के उपरान्त ही आता है- **देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये** (अथर्व० १०.९.९)। पितरों को यज्ञों में आमंत्रित किया जाता है,वे आकर वेदी के दक्षिण भाग में बर्हि पर घुटने मोड़कर बैठते हैं और हविष् को ग्रहण करके आह्वाता की भूलों को क्षमा करके उसकी रक्षा करते हैं- **आच्या जानु दक्षिण तो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम** (अथर्व० १८.१.५२)। पितृगणों की अनेक जातियाँ हैं ,जैसे-नवग्व पितर,अङ्गिरस् पितर,अथर्वन् पितर आदि- **अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः** (अथर्व० १८.१.५८)। इसी प्रकार इनकी कई कोटियाँ भी हैं,जैसे- अवर,पर,मध्यम,पूर्व और अपर- **उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः** (अथर्व० १८.१.४४)। यम मृतकों में सर्वप्रथम थे,जो विवस्वान् के पुत्र थे। मृत्यु के उपरान्त सभी वहीं जाते हैं,वहीं प्रेत और पितर मिलते हैं। पितृगणों का भोज्य हविष् 'स्वाहा' से भिन्न 'स्वधा' शब्द से अर्पित किया जाता है- **यांश्च देवा वावृधुर्ये........ स्वधयान्ये मदन्ति** (ऋ० १०.१४.३)। पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंशजों को अपने प्रति किए गए अपराधों के लिए दण्ड न दें और न क्षति ही पहुँचाएं। बृहद्देवता में भी इनके देवत्व का उल्लेख है- **संस्कार्यप्रेत संयुक्तैः पितृभिः स्तूयते यमः** (बृह० ६.१५८)।

७४ . पितर सौम्य (२.१२.५) द्र०-पितरगण।

७५. पुरुष (१०.२) - पुरुष का देवत्व चारों वेदों में प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० १०.९०) पुरुष को समर्पित है। यही सूक्त मंत्रों के क्रमान्तर से यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भी सम्प्राप्य है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **'पुरि शेते तस्मात्पुरुषः'** अर्थात् जो इस शरीर में शयन करता है, वह पुरुष है। पुरुष के संदर्भ में कहा गया है कि विश्व

में जो कुछ उत्पन्न हुआ है और आगे उत्पन्न होगा, वह सब पुरुष ही है- **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्** (अथर्व० १९.६.४)। उस पुरुष के विराट् स्वरूप के विषय में उल्लेख है कि उसके हजारों सिर, हजारों आँखें, हजारों हाथ तथा हजारों पैर हैं, वह भूमि तथा (इसके अतिरिक्त) और जो कुछ भी है, सबको आवृत किए हुए है- **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽ त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम** (ऋ० १०.९०.१)। विराट् पुरुष के शरीर से ही चतुर्वर्णों की उत्पत्ति हुई है, जो इन शब्दों में विवेचित है- **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यो ऽ भवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत** (अथर्व० १९.६.६)। इस प्रकार वह सृष्टि के मूल में अवस्थित मूलतत्त्व के अतिरेकी और अन्तर्यामी स्वरूप का द्योतक है। उसका यही स्वरूप सर्वेश्वरवाद के नाम से प्रख्यात है।

७६. पुष्टिपति (७.२०) द्र०-धाता।

७७. पूषा (३.१४.२) - पूषा देवता की गणना महत्त्वपूर्ण देवताओं में की जाती है। इनका देवत्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। पूषन् शब्द संस्कृत की पुष् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ-'पोषक' अथवा 'पुष्ट करने वाला' है। ऋग्वेद में पूषा देवता 'सूर्य की मानव पुष्टि प्रदात्री' तथा मानव 'कल्याणकारी शक्ति' के प्रतीक रूप में विवेचित हैं। निरुक्तकार यास्क ने 'पूषा' की व्याख्या करते हुए लिखा है- '**अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति** (नि० १२.१६)' अर्थात् जो पोषण हेतु रश्मियों (किरणों) को पोषकत्व से भर देता है, वह पूषा है। यजुर्वेद में पूषा देवता को सविता (सूर्य के प्राण) की प्रेरणा से ही विचरण करने वाला विवेचित किया गया है- **तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्** (यजु० १७.५८)। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सविता ही जब जाता है (चलता है), तो वही पूषा कहलाता है। वे प्राणियों को दीर्घायु एवं वर्चस् प्रदान करते हैं-**पूष्णः पोषेण महां दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे** (तैत्ति० ब्रा० १.२.१.१९)। वैवाहिक प्रसंग में भी पूषा देवता का स्मरण कई बार किया गया है। पूषा देवता धाता, सविता और मरुद्गणों के साथ वर को शक्ति प्रदान करते हैं-......... **अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति** (अथर्व० १४.१.३३)। विवाहोपरान्त भी दम्पती के यौन सम्बन्धों को सार्थक बनाने में भी पूषा द्वारा सहायता किया जाना उपन्यस्त है- **तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति** (अथर्व० १४.२.३८)। प्रसव कर्म में सहायता के लिए भी अर्यमा वेधा और पूषा देवता से प्रार्थना की गई है- **वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः** (अथर्व० १.११.१)। पूषा दन्तहीन हैं तथा उन्हें करम्भ (पुआ) अधिक रुचिकर हैं, यह वर्णन कौषीतकि ब्राह्मण में मिलता है- **तस्य (पूष्णः) दन्तान्परोवाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करम्भ भाग इति** (कौषी० ब्रा० ६.१३)। पूषा देवता का नाम कई प्रमुख देवों के साथ मिलता है। ये देव हैं- इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, आदित्य, विश्वेदेवा, अर्यमा, वेधा, बृहस्पति, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, भग, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्र आदि।

७८. पृथिवी (६.१७) - वैदिक ग्रन्थों में पृथ्वी को माता के रूप में स्वीकार किया गया है। पृथ्वी का नामोल्लेख द्यौ या द्यावा के साथ अधिक मिलता है। पृथ्वी और आकाश को जगत् का माता-पिता निरूपित किया गया है- **भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः। द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति....... लोकात्** (अथर्व० ६.१२०.२)। अथर्ववेद के ही एक अन्य मंत्र में पर्जन्य को पति और धरती (भूमि) को उनकी पत्नी उपन्यस्त किया गया है-_____ **भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे** (अथर्व० १२.१.४२)। इसी सूक्त के बारहवें मंत्र में सभी प्राणियों को पुत्र तथा पर्जन्य को पिता और पृथ्वी को माता विवेचित किया गया है- .... **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु** (अथर्व० १२.१.१२)। पृथ्वी शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की प्रथ् धातु से हुई है, जिसका अर्थ फैलना (विस्तार होना) है। इस प्रकार पृथ्वी शब्द का अर्थ हुआ-विस्तृत आकार वाली'। निरुक्तकार यास्क मुनि ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए पृथ्वी की व्युत्पत्ति इन शब्दों में विवेचित की है- **प्रथनात्पृथिवीत्याहुः........ प्रथनात्पृथुत्वात्पृथिवीत्याहुस्ते शाकटायनाः** (नि० १.१३)। ऋग्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि इन्द्रदेव ने पृथ्वी का प्रथन किया (पप्रथत्), उस मंत्र से पृथ्वी के इस अर्थ की संगति ठीक-ठाक बैठ जाती है- **स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार** (ऋ० २.१५.२)। पृथ्वीमाता पर्वतों का भार धारण करने वाली, वन्य ओषधियों की धारणकर्त्री, भूमि को उर्वरता प्रदान करने वाली तथा जल बरसाने वाली हैं- **बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि। प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि** (ऋ० ५.८४.१)। पृथ्वी का आधार सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ है। इन्हीं के सहारे वे टिकी रहकर हमारा हर तरह संरक्षण करती हैं- **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य...... पृथिवी नः कृणोतु** (अथर्व० १२.१.१)।

७९. पौर्णमासी (७.८५:१-२,४) - '**यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०)' सूत्र के अनुसार पौर्णमासी को भी देवत्व प्रदान किया गया है। जिस तिथि की रात्रि को चन्द्रमा पूर्णरूपेण प्रकाशित होता है, उसे पौर्णमासी या

पूर्णमासी कहते हैं। इस दिन यज्ञादि धर्मकृत्य सम्पन्न करने से देवों के साथ निवास करने का पुण्य प्राप्त होता है और उपयोगी सामग्रीसहित स्वर्ग के पृष्ठ पर आनन्दित होने का सौभाग्य हस्तगत होता है- **पूर्णा...... पौर्णमासी जिगाय। तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम** (अथर्व० ७८५.१) । पूर्णिमा या पौर्णमासी की अधिष्ठात्री देवी राका हैं, जो उत्तम ऐश्वर्य प्रदात्री, पुष्टिकर्त्री तथा श्रेष्ठ सन्तति प्रदान करने वाली हैं। आचार्य सायण ने भी पौर्णमासी की अधिष्ठात्री देवी के रूप में 'राका' का उल्लेख इन शब्दों में किया है- **संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका** (ऋ० २.३२.४ सा० भा०)। विभिन्न यागों में पौर्णमास याग बहुत्र महत्त्वपूर्ण हैं और यह याग पौर्णमासी को ही सम्पन्न होता है- **पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु** (अथर्व० ७८५.४)।

८०. प्रचेता अग्नि (४.२३) - द्र०-अग्नि।

८१. प्रजापति (६.११.३) - प्रजापति का देवत्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। प्रजापति 'क' नाम से भी प्रख्यात हैं। सायणाचार्य ने 'क' का अर्थ सुख लिया है। सुखमय होने के कारण ही प्रजापति को 'क' की संज्ञा प्रदान की गई है; इसीलिए 'कस्मै' शब्द से 'प्रजापति के लिए' अर्थ लिया जाता है। 'क' वर्ण से वाच्य होने के कारण प्रजापति को वाच्य प्रजापति भी कहते है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर प्रजापति के साथ परमेष्ठी और वैश्वामित्र विशेषण भी संयुक्त हुए हैं। प्रजापति का उल्लेख प्रायः सम्पूर्ण जीवों के रचयिता अथवा ब्रह्मा, प्रजापालक, सविता या अग्नि के रूप में हुआ है। ऋग्वेद में उल्लेख है- **प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परि ता बभूव** (ऋ० १०.१२१.१०)। प्रजापति आदिदेव के रूप में भी स्वीकृत हैं। उन्हें सर्व प्रथमोद्भूत, जगत्स्वामीं तथा पृथ्वी और आकाश का धारणकर्त्ता निरूपित किया गया है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में उन्हें हिरण्यगर्भ के प्रतिरूप ही विवेचित किया गया है- **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम** (ऋ० १०.१२१.१) शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति का आदिकाल में एकाकी होना निर्दिष्ट है- **प्रजापति र्ह वाऽइदमग्र ऽ एक एवाऽस** (शत० ब्रा० २.२.४.१)। प्रजापति ही प्रथम यज्ञकर्त्ता भी थे- **प्रजापति र्ह वा ऽ एतेनाग्रे यज्ञेनेजे** (शत० ब्रा० २.४.४.१)। आचार्य सायण ने प्रजापति को ब्रह्मा विवेचित करते हुए लिखा है- **ब्रह्माणम् एषां देवानां स्रष्टारं प्रजापतिम्** (अथर्व० ३.२०.४ सा० भा०) प्रजापति नष्टवीर्य पुरुष में पुरुषत्व जाग्रत् कर देते हैं, उन्हें वृषा कहा गया है, वे अपनी शक्ति से पुरुष की प्रजनन शक्ति में वृद्धि कर देते हैं ____ **उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना** (अथर्व० ४.४.२)।

८२. प्राण (२.१५-१७) - **'या तेनोच्यते सा देवता'** (ऋ० १०.१० सा० भा०) सूत्र के अनुसार प्राण को भी देवता के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के (१५-१७) तीन सम्पूर्ण सूक्त प्राण को ही समर्पित हैं। प्राण को सभी का ईश्वर विवेचित करते हुए यह भी कहा गया है कि सभी कुछ उसी (प्राण) में प्रतिष्ठित है, अतः वह नमन करने योग्य है- **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्** (अथर्व० ११.६.१)। प्राण की स्थिति विवेचित करते हुए ऋषि ने लिखा है कि आते हुए, जाते हुए, स्थिर, आसीन होते हुए, संचरण करते हुए, पराचीन और प्रतीचीन जिसरूप में भी हो प्राण नमनीय है- **नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते..... नमः। नमस्ते प्राण प्राणते नामो अस्त्वपानते। पराचीनाय.... त इदं नमः** (अथर्व० ११.६.७-८)। प्राण की सामर्थ्य निरूपित करते हुए द्रष्टा ने यह भी कहा है कि जो श्वांस लेते दीखते हैं, उनके ही नहीं, जो श्वाँस लेते प्रत्यक्षतः नहीं दीखते, उनके भी स्वामी प्राण देवता हैं। जिस तरह पिता अपने पुत्र को संरक्षण प्रदान करता है, वैसे ही प्राणदेव सभी प्रजाओं को ढँके (आच्छादित किए) हैं- **प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो हि सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न** (अथर्व० ११.६.१०)। गर्भ में भी प्राण अपना काम करते रहकर गर्भ को पुष्ट कर देता है, तदुपरान्त वह प्राणी के रूप में उत्पन्न हो जाता है- **अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः** (अथर्व० ११.६.१४)। कोश ग्रन्थों में प्राण के कई प्रकार वर्णित हैं। ये हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। शरीर के अन्दर स्थिति भेद से इनके कार्य भी अलग-अलग हैं।

८३. बृहस्पति (६.३८) - वेदों में बृहस्पति प्रमुख देव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें स्तुति अधिपति माना गया है, इसी कारण इन्हें कवि उपाधि से विभूषित किया गया है- **कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्** (ऋ० २.२३.१)। इन्हें वाणी और प्रज्ञा के देवता के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त है, साथ ही ये देव पुरोहित भी हैं- **वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः** (शत० ब्रा० १४.४.१.२२)। **बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा** (शत० ब्रा० १७.४.२.१)। ऋषियों के नेतृत्व करने के कारण इन्हें पुरोधा ब्रह्मन् आदि नामों से भी संबोधित किया गया है- **ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः** (तैत्ति० सं० २.२.९.१)। अथर्ववेद में बृहस्पति, अग्नि, वरुण और सोम की तरह सांमनस्यकारी देवता के रूप में प्रख्यात हैं। आचार्य सायण ने बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित्त की है- **बृहस्पतिः**

बृहतां देवानाम् अधिपतिः (अथर्व० ६.७३.१ सा० भा०) अर्थात् बृहस्पति बड़े-बड़े देवों के अधिपति हैं। उन्हें अष्ट वसुओं के साथ आमंत्रित किया गया है- **एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु** (अथर्व० ६.७३.१)। वे राजा के राज्य को स्थिर बनाते हैं- **ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः** (अथर्व० ६.८८.२)। वे सविता अर्यमा और मित्र आदि देवताओं की तरह शत्रु से यजमान की रक्षा करते हैं। वैवाहिक कृत्यों में भी बृहस्पति संरक्षण व सहयोग प्रदान करते हैं। वस्तुतः बृहस्पति एक कल्याणकारी देवता हैं, जो वन्ध्या को गर्भधारण कराने से लेकर किसी विपत्ति में मणि बन्धन करने तक के सभी कर्मों में सहायता प्रदान करते हैं- **गर्भं ते मित्रा वरुणो गर्भं देवो बृहस्पतिः दधातु ते** (अथर्व० ५.२५.४)।......... **आ त्वा चृतत्वयमा पूषा बृहस्पतिः** (अथर्व० ५.२८.१२)। द्युलोक गो मोचन, बल हनन, अन्धकार निराकरण आदि इनके प्रमुख शौर्य कृत्यों में गिने जाते हैं। इनका सम्बन्ध मरुद्गणों, इन्द्र, वरुण और पूषा के साथ विवेचित है।

८४. बृहस्पति युक्त अवस्वान् (३.२६.६) - द्र०-अप्सरा।

८५. ब्रध्न (७.२३) - द्र०- सूर्य।

८६. ब्रह्म (५.६.१) - अथर्ववेदीय देवताओं में ब्रह्म का देवत्व भी दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क ने लिखा है- 'ब्रह्म परिवृढं सर्वतः(नि० १८) अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है, वह ब्रह्म है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से ही जन्मा है और उसी में लय हो जाता है, इसीलिए इस सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ है, वह निश्चित ही ब्रह्म है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए छान्दोग्य उपनिषद्कार ने लिखा है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत** (छांदो० ३.१४.१)। ब्रह्म के एक स्वरूप को 'विश्वरूप' भी कहते हैं, क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त रहता है; किन्तु अथर्ववेद में 'विश्वरूप' एक राजा के विशेषण स्वरूप भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका प्रधान कारण राजा का, शत्रु, मित्र, कलत्र आदि रूपों में विद्यमान होना है। जैसा कि कहा गया है - **ताहङ् नामांकितो राजा विश्वरूपः शत्रु मित्रकलत्रादिषु नानाविधरूपः** (अथर्व० ४८.३ सा० भा०) अथर्ववेद में भी ब्रह्म को सर्व प्रथमोद्भूत विवेचित किया गया है- **ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्** (अथर्व० ५.६.१)। विराट् विश्व ब्रह्माण्ड में संचरित समष्टिगत चेतना को ब्रह्म कहते हैं और वही चेतना जब व्यष्टिगत होकर प्राणियों के हृदयक्षेत्र में संचरित होती है, तब उसे आत्मा कहते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए अथर्ववेद के ऋषि ने ब्रह्मात्मा का स्वरूप इन शब्दों में स्पष्ट किया है- **वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकं रूपम्** (अथर्व० २.१.१)। आचार्य सायण ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है- **गुहारूपे सर्वप्राणि हृदये यत् श्रुत्यन्तप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमम् ब्रह्म** (अथर्व० २.१.१ सा० भा०)।

८७. ब्रह्म-आत्मा (२.१) - द्र०- ब्रह्म।

८८. ब्रह्मगवी (५.१८-१९) - अथर्ववेदीय देवताओं में 'ब्रह्मगवी' को भी देवत्व प्रदान किया है। ब्रह्मगवी का सामान्य अर्थ 'ब्राह्मण की गाय' होता है; किन्तु विशिष्ट अर्थों में इसे 'ब्राह्मण की सम्पदा' भी कहते हैं। ब्रह्म-अर्थात् ब्राह्मण, गवी अर्थात् गो। गो के कई अर्थ होते हैं, जैसे- गाय, भूमि, इन्द्रियाँ, वाणी तथा किरणें आदि। अथर्ववेद के पाँचवें काण्ड के अठारहवें और उन्नीसवें सूक्त में ब्रह्मगवी का बार-बार उल्लेख आया है, जिनमें ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे ब्राह्मण की सामान्य गाय (पशु) की संगति नहीं बैठती, वरन् उसका अर्थ ब्रह्मवृत्ति एवं ब्रह्मनिष्ठा लेने से तात्पर्य ठीक-ठीक समझ में आता है। जैसे- **ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्ग हे। तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति.......... वृषा** (अथर्व० ५.१९.४)। इस मन्त्र का सामान्य अर्थ तो यह है कि 'जिस जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की गाय का हनन होता है, वह राष्ट्र तेजहीन हो जाता है; किन्तु विशिष्ट अर्थ में यह माना गया है कि राष्ट्र में ब्रह्मनिष्ठा या ब्रह्मवृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है, वहाँ तेजस्विता समाप्त हो जाती है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि ब्राह्मण की गाय अथवा सम्पत्ति का अपहरण जिस राष्ट्र में होता है, वहाँ कोई जाग्रत् नहीं रह सकता- .... **न ब्राह्मणस्य गां जगध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन** (अथर्व० ५.१९.१०)। इसका भावार्थ है कि जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की सम्पत्ति (आदर्शों के प्रति निष्ठा अथवा लोकसेवी प्रवृत्ति) का हरण हो जाता है, वहाँ कोई जाग्रत् नहीं रह सकता। उसकी विचित्रता का उल्लेख (अथर्व० ५.१९.७) इस प्रकार है- वह गो आठ पाँव वाली, चार आँखों वाली, चार कानों वाली, चार हनु वाली, दो मुख तथा दो जिह्वा वाली होकर ब्राह्मण को सताने वाले राजा के राष्ट्र को हिला देती है- **'अष्टापदी चतुरक्षी चतुः श्रोत्रा....... धुनुते ब्रह्मज्यस्य।'** इसीलिए एक मंत्र में यह निर्देश है कि कोई राजा ब्राह्मण की गाय (सम्पत्ति) को नष्ट न करें- **मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्** (अथर्व० ५.१८.१)। बृहत्सर्वानुक्रमणी में ब्रह्मगवी का देवत्व इन शब्दों में प्रतिपादित है- **पञ्चदशके ब्रह्मगवी देवत्ये** (बृह० सर्वा० ५.१८-१९)।

८९. ब्रह्मणस्पति (१.२९) - बृहमणस्पति का देवत्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति यों तो अलग-अलग देवों के रूप में प्रतिष्ठित हैं; किन्तु कुछ आचार्यों ने इनका तादात्म्य स्वीकार किया है- **बृहस्पते ब्रह्मणस्पते** (तैत्ति० ब्रा० ३.११.४.२)। कौषीतकि ब्राह्मणकार ने ब्रह्म को ही ब्रह्मणस्पति माना है- **ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः** (कौषी० ब्रा० ८.५.९.५)। **ब्रह्म** और **ब्रह्मण** दोनों ही शब्द मंत्र या स्तुति के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं- **ब्रह्म वै मन्त्रः** (शत० ब्रा० ७.१.१.५)।अस्तु, स्तुति के अधिष्ठाता को ब्रह्मणस्पति कहा गया है- **ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्** (ऋ० २.२३.१)। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के २९वें सूक्त में ब्रह्मणस्पति से विनय की गई है कि वे हमें इस प्रकार वृद्धि प्रदान करें कि हम राष्ट्र को समर्थ एवम् समृद्ध बना सकें- **अभीवर्तेन मणिना..........तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय** (अथर्व० १.२९.१)। अग्नि, इन्द्र, अश्विनीकुमार, मित्रावरुण, भग, पूषा, सोम और रुद्र के साथ ब्रह्मणस्पति का भी प्रातःकाल आवाहन किये जाने का उल्लेख मिलता है- **प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं........... हवामहे** (अथर्व० ३.१६.१)। इतना ही नहीं ब्रह्मणस्पति अपने उपासकों को अनेक कष्टों, उत्पातों, संकटों शापों और दुश्मनों से भी बचाते हैं। अथर्व० के एक मंत्र में सर्प दंश के कारण एक व्यक्ति के अंग-अवयवों के टेढ़े पड़ जाने पर उन्हीं के द्वारा सीधे करने व उसे कष्टमुक्त करने का वर्णन मिलता है- **अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा.......... ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः** (अथर्व० ७.५८.४)।

९०. ब्रह्मा (३.२०.४) - द्र०- प्रजापति ।

९१. भग (२.३६.७) - भग का देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में सम्प्राप्य है। इनकी गणना द्वादश आदित्यों में की गई है। ऋग्वेद के एक प्राचीन मंत्र में छः आदित्यों का वर्णन मिलता है, जिसमें भग भी एक हैं। बृहद्देवताकार ऋषि शौनक ने भग के आदित्य (अदिति पुत्र) होने का प्रतिपादन करते हुए बारहों आदित्यों के नाम भी गिनाए हैं- ....**तत्रैका त्वदितिर्देवी द्वादशजनयत्सुतान्** (बृह० ५.१४६)। **भगश्चैवार्य मांशश्च मित्रो वरुण एव च......... द्वादशो विष्णुरुच्यते।........वरुणश्च ह** (बृह० ५.१४७-४८) शत० ब्रा० (६.३.१.१९)। इनके विषय में ऐसी परिकल्पना है कि ये नेत्रहीन थे- **तस्य (भगस्य) चक्षुः परापतत् तस्मादाहुरन्धो वै भग इति** (गो० ब्रा० २.१.२)। भग शब्द का प्रयोग ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में ऐश्वर्य, काम, तेजस्विता, सौन्दर्य, प्रणय, समृद्धि तथा नारी की योनि के अर्थ में प्राप्त होता है। भग को सत्यराध (वास्तविक धन वाला) सबका नेता तथा गो, अश्व और धन-सम्पत्ति प्रदाता कहा गया है- **भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां .... गोभिरश्वैर्भग.........स्याम** (अथर्व० ३.१६.३)। विवाहादि पुनीत कृत्यों में भी भग देवता सहायता प्रदान करते हैं। सूर्या विवाह में भी विवाहोपरान्त वे सूर्या को हाथ पकड़कर उसके पतिगृह ले गये थे तथा पालकी के चारों पाँवों का निर्माण भी उन्हीं ने किया था।

९२. भव-शर्व (४.२८) - द्र० - पशुपति ।

९३. भूमि (४.४०.५) - द्र० - पृथिवी ।

९४. मन्यु (४.३१.३२) - अथर्ववेदीय देवताओं के क्रम में मानवीय प्रवृत्ति 'मन्यु' (साहस, स्फूर्ति या उत्साह) को भी देवत्व प्रदान किया गया है। मन्यु क्रोधभिमानी देवता हैं। प्रारम्भ में मन्यु शब्द का प्रयोग, मन की अवस्था विशेष, बाद में स्फूर्ति, उत्साह तथा अन्त में क्रोध के अर्थ में हुआ है। निरुक्त में मन्यु अमूर्त देवता रूप में उल्लिखित हुए हैं- **मन्युर्मन्यतेर्दीप्ति कर्मणः, क्रोध कर्मणो** (नि० १०.२९)। मरुद्गण मन्यु के साथी हैं। मन्यु अग्नितुल्य प्रदीप्त, शत्रु को पराजित करने वाले सहनशील हैं, जो आवाहित होकर ओज प्रदर्शित कर शत्रुओं को रणक्षेत्र से भगा देते हैं- **अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व..........मृधो नुदस्व** (अथर्व० ४.३१.२)। सामने खड़ी सेना या चुनौती देते हुए शत्रुओं (अथवा अपने आन्तरिक दोष - दुर्गुणों) का प्रतिरोध करने हेतु प्रथमतः मन्यु का उद्दीप्त होना अनिवार्य है, इसीलिए उन्हें देव स्वरूप माना गया है। वे हर व्यक्ति को अनाचार और अनौचित्य के प्रति युद्ध करने के लिए उत्तेजित करते हैं। मन्यु की तेजस्विता का वर्णन करते हुए अथर्ववेद के ऋषि ने उन्हें इन्द्र, अग्नि, वरुण और होता तक कहा है- **मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ....सजोषाः** (अथर्व० ४.३२.२)।

९५. मरुत्पिता (५.२४.१२) - द्र० - मरुद्गण।

९६. मरुद्गण (३.१.२) - वेदों में मरुद्गणों को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इनका देवत्व सभी वेदों में प्राप्त होता है। ये गण देवता के रूप में प्रख्यात हैं अर्थात् इनकी संख्या गणों में है- **गणशो हि मरुतः** (ता० म० ब्रा० १९.१४.२)। इबकी संख्या ७ गुणक के रूप में पाई जाती है। **त्रिवै सप्त-सप्त मरुतः** (काठ० सं० ३७.४)। इनकी संख्या का कोई सुनिश्चत उल्लेख नहीं मिलता, फिर

भी परम्परा से इन्हें उन्चास माना जाता है। इनकी माता पृश्नि हैं- **पृश्न्या वे मरुतो जाता ....पृथिव्याः** (काठ० सं० १०.११)। रुद्र को मरुतों का पिता विवेचित किया गया है, इसीलिए इन्हें (मरुतों को) कई बार रुद्राः या रुद्रियाः कहा गया है। अथर्ववेद के एक मंत्र में भी पशुपति अर्थात् रुद्र को मरुतों के पितारूप में स्वीकार किया गया है- **मरुतांपिता पशूनामधिपतिः स.........**(अथर्व० ५.२४.१४)। मरुद्गण वायु और आँधी के देवस्वरूप प्रतिष्ठित हैं। वर्षा के साथ भी मरुद्गण घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध हैं। वे ही जल को समुद्र से ऊपर उठाते हैं और फिर अन्तरिक्ष से नीचे पृथ्वी पर गिराते हैं। जल बरसाते समय वे जोर-जोर से उद्घोष करते हुए पर्जन्य का गुणगान करते हैं- **उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो..........पृथिवीं तर्पयन्तु** (अथर्व० ४.१५.५)। मरुतों ने वृत्र वध में भी इन्द्र की सहायता की थी।

९७. मित्र (३.८) - द्वादश आदित्यों में मित्र भी प्रतिष्ठित हैं। इन्हें भी अदिति पुत्र माना गया है-.........**अदितिर्देवी द्वादशजनयत्सुतान्। भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च।........महाद्युतिः** (बृह० ५.१४६-४७)। 'मित्र' शान्ति के देवता के रूप में प्रख्यात हैं- **मित्रो वै यज्ञस्य शान्तिः** (काठ० सं० ३५.१९)। मित्र द्युलोक एवं पृथिवी के धारणकर्त्ता हैं- **मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्** (काठ० सं० २३.१२)। नवोत्पन्न अग्नि को 'वरुण' और समिद्ध अग्नि को 'मित्र' की संज्ञा प्रदान की गई है- **त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः** (ऋ० ५.३.१)। इसीप्रकार रात्रि से सम्बद्ध देवता को वरुण और प्रातः या प्रकाश से सम्बद्ध देव को मित्र कहा गया है- **वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु** (अथर्व० ९.३.१८)। मित्रदेव अपने उपासकों को जरा, मरण और पाप से बचाते हैं- **प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्................व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्** (ऋ० ३.५९.२)। मित्र का वर्णन प्रायः सूर्य के पर्याय के रूप में ही मिलता है। स्थिति भेद से सूर्य या आदित्य के अनेक नाम हैं, जिनमें मित्र भी हैं, मित्र का सम्बन्ध अनेक देवों से है; किन्तु उनका नामोल्लेख सर्वाधिक बार वरुण के साथ हुआ है।

९८. मित्रावरुण (५.२४.५) - द्र०-मित्र।

९९. मृत्यु (६.१३) - अथर्ववेदीय देवताओं में मृत्यु को भी परिगणित किया गया है। **यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०) सूत्र के अनुसार कई सूक्तों का वर्ण्य विषय 'मृत्यु' होने के कारण यह देवत्व न्याय संगत भी है। अथर्ववेद में मृत्यु शब्द का प्रयोग प्रायः यम या अन्तक के पर्याय स्वरूप हुआ है। मृत्यु वस्तुतः एक स्थिति या अवस्था का नाम है, जो जीवन के अन्त के रूप में प्रकट होती है। निरुक्तकार यास्कमुनि ने मृत्यु को मारक बताया है अर्थात् जो सबको मार देती है, वह मृत्यु है- **मृत्युर्मारुतीति सतः** (नि० ११.६)। यमदेव को साक्षात् मृत्यु कहा गया है। मृत्यु और यम दोनों को नमन किया गया है-......... **तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे** (अथर्व० ६.२८.३)। निर्ऋति और मृत्यु की परस्पर मित्रता निर्दिष्ट है-.........**तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना** (अथर्व० ७७३.१)। मृत्यु को अन्तक विवेचित करते हुए अथर्ववेद के ऋषि ने कहा है- **अन्तकाय मृत्यवे नमः** (अथर्व० ८.१.१)। एक स्थान पर मृत्यु को यम का दूत भी वर्णित किया गया है; क्योंकि वह प्रेत के प्राणों को पितरों के पास वहाँ पहुँचाने का कार्य सम्पन्न करती है- **मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार** (अथर्व० १८.२.२७)। जीवन प्रकाश का तथा मृत्यु अन्धकार का प्रतीक है-...........**उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि** (अथर्व० ५.३०.११)।

१००. मेधा (६.१०८.१-३,५) - अथर्ववेद में कुछ मंत्रों का वर्ण्य विषय 'मेधा' होने से मेधा को भी देवश्रेणी में परिगणित किया गया है। निरुक्तकार यास्क ने मेधा की विवेचना करते हुए लिखा है- **मेधाकस्मात् ?........ मतौ धीयते। मतिर्बुद्धिः तस्यां या पुरुषशक्तिर्धीयते अभिव्यज्यते धारणानाम सैव मेधा इत्युच्यते** (नि० ३.१९) अर्थात् मति बुद्धि को कहते हैं। बुद्धि में जो धारण करने की शक्ति अभिव्यक्त होती है, वह मेधा कहलाती है। दूसरे शब्दों में श्रुत धारण-समर्था बुद्धि ही मेधा है। ब्रह्मचारी मेखला धारण करते समय इष्ट से प्रार्थना करता है, कि वे उसे मति (भविष्य दर्शिनी बुद्धि) तथा मेधा (श्रुत धारण समर्था बुद्धि) प्रदान करें- **सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च** (अथर्व० ६.१३३.४)। काव्य रचना, मंत्र रचना में मेधा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसीलिए इस शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों- कवियों को मेधावी कहा जाता है। सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में भी मेधा ही कारण भूत है। मेधा की इस महत्ता ने ही उसे देवता पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। ऋभुगणों, असुरों और ऋषियों द्वारा जिस मेधा का साक्षात्कार कर लिया गया, बाद में उसका आवाहन किया जाने लगा और अपने अन्दर आवेशित करने की प्रार्थना की जाने लगी- **यां मेधामृभवो......... मय्यावेशयामसि** (अथर्व० ६.१०८.३)। मेधा से प्रार्थना की जाती है कि वह सूर्य रश्मियों की तरह हमारे पास आये- **त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया** (अथर्व० ६.१०८.१)। बृहद्देवता में भी मेधा का देवत्व प्रमाणित हुआ है।...........**श्रद्धा मेधा च दक्षिणा** (बृह० २.८४)।

१०१. यक्ष्मनाशन अग्नि (१.२५) - द्र० अग्नि।

१०२. यज्ञ (३.१०.७) - अथर्ववेदीय देवताओं में यज्ञ को भी देवत्व प्रदान किया गया है। वैदिककाल से ही यज्ञ को धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता रहा है। प्रारम्भ में यज्ञ शब्द यजन, पूजन या उपासना के अर्थ में प्रयुक्त होता था; किन्तु कालान्तर में अग्नि में आहुति प्रदान करने के साथ अनेक अनुष्ठानों को यज्ञ समझा गया। बाद में यज्ञ के कई प्रकार विकसित हुए, जैसे अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय, पुरुषमेध, दर्श-पूर्णमास, अग्निष्टोम आदि। इन यज्ञों को तीन भागों में बाँटा गया (१) पाकयज्ञ (२) हविर्यज्ञ (३) सोमयज्ञ। बाद में यज्ञ का स्वरूप इतना विस्तृत हो गया कि त्याग और परमार्थ की क्रिया को भी यज्ञ संज्ञा प्रदान की गई; क्योंकि यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति ही संस्कृत की यज् धातु से हुई है। महर्षि पाणिनि के अनुसार- **'यज्ञ देवपूजा संगतिकरणदानेषु** (पाणि० धा० को० १००२)।'-यज के तीन अर्थ हैं- देवपूजा, संगतिकरण और दान। अर्थात् यज्ञ में इन तीनों तथ्यों का समावेश रहता है। अस्तु, देवपूजा, संगतिकरण और दान परक प्रायः सभी प्रक्रियाएँ यज्ञ कहलाती हैं। इसीलिए दानार्थक श्रेष्ठ कार्यों को भी यज्ञ कहा गया है जैसे- नेत्रदान यज्ञ, रक्तदान यज्ञ, भूदान यज्ञ आदि। यज्ञ को समस्त भुवनों की 'नाभि' कहा गया है-.........**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः** (यजु० २३.६२)। सृष्टि के आदि पुरुष को विराट् पुरुष कहा गया है, उसे ही यज्ञ पुरुष की संज्ञा भी प्रदान की गई है। उस विराट् यज्ञ पुरुष से ही ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेदों की उत्पत्ति विवेचित है- **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत** (यजु० ३१.७)। चौबीस अवतारों में भी यज्ञ को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। अथर्ववेद में कई मंत्र यज्ञ देव को समर्पित हैं। **यथा-इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत। यज्ञमिमं .... जुहोमि** (अथर्व० १९.१.२)।

१०३. यम (४.४०.२) - ऋग्वेद में परलोकवाद एवं मृत्यु विषयक सिद्धान्तों के क्रम में यम का देवत्व प्रतिष्ठित है; किन्तु वहाँ उनके नाम के साथ अपत्यवाची पद 'वैवस्वत' संयुक्त है। यम का सम्बन्ध मुख्यतः वरुण, बृहस्पति, अग्नि निर्ऋति, मृत्यु अन्तक आदि देवताओं के साथ वर्णित है। मृतकों को ले जाने वाले होने से ये सब देवगण सहज ही यम से सम्बद्ध हैं। यम देवता मृतकों पर शासन करते हैं, अतः कहीं-कहीं इनका उल्लेख एक राजा के रूप में भी मिलता है- यमराज्ञो गच्छतु रि प्रवाहः (ऋ० १०.१६.९)। यम को मृत्यु भी कहा गया है-___ यमाय नमो अस्तु मृत्यवे (अथर्व० ६.२८.३)। मृतक व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचकर यम और वरुण का दर्शन करते हैं। यम के आवास को यम सदन कहते हैं- **अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः** (अथर्व० २.१२.७)। यम के पास जाने के लिए पंचभौतिक शरीर का परित्याग आवश्यक है, इसीलिए अभिचारकर्त्ता कहता है कि मैं इस पुरुष को यम के निमित्त पंचभूतों से माँगता हूँ- **मृत्यो रहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय** (अथर्व० ६.१३३.३)। यम को मृत्यु के साथ अन्तक भी कहा गया है- **अन्तकाय मृत्यवे नमः** (अथर्व० ८.१.१)। निरुक्त में यम की व्युत्पत्ति इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **यमो-यच्छतीति सतस्तस्यैषा भवति। यमः निर्वक्तव्यः। स पुनरेष यच्छति उपरमयति जीवितात्सर्वं भूतग्राममिति यमः** (नि० १०.१९)। अर्थात् जो प्राणि-समुदाय को विश्रान्ति प्रदान करता है, वह यम है।

१०४. यमसादन (यम स्थान) (२.१२.७) - द्र० यम।

१०५. राका (७.५०) द्र०-पौर्णमासी।

१०६. रात्रि (३.१०.२-४,७) - वैदिक देवताओं में रात्रि को भी देवता के रूप में परिगणित किया गया है। रात्रि का देवत्व ऋक्, साम तथा अथर्ववेद में संप्राप्य है। रात्रि को उषा की बहिन वर्णित किया गया है- **निरुस्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती** (ऋ० १०.१२७.३)। अथर्ववेद में रात्रि को सम्वत्सर का प्रतिनिधि भी कहा गया है- **संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे** (अथर्व० ३.१०.३)। रात्रि से प्रार्थना की गई है कि वे हमें धन से तथा पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध करें- **आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम...... भर** (अथर्व० ३.१०.७)। रात्रि को दिवो दुहिता भी कहा गया है। वे प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दुराती हैं। उनके आजाने पर मनुष्य अपने घरों को तथा पक्षी अपने घोंसलों की तरफ लौट जाते हैं और विश्रान्ति प्राप्त करते हैं- **उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः** (ऋ० १०.१२७.८) बृहद्देवता में भी रात्रि का देवत्व निर्दिष्ट है-.......**स्कन्नं रात्रौ न्यधारयत्** (बृह० ५.८४)।

१०७. रुद्र (६.५५.२-३) - वैदिक देवताओं में रुद्रदेव उच्च प्रतिष्ठालब्ध हैं। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की रु अथवा रुद् धातु से हुई है, जिसका अर्थ बहुत शब्द करने वाला या रुलाने वाला है- **रुद्रो रौतीति स तो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा** (नि० १०.५)। जाबालोपनिषद् के अनुसार मृत्युकाल में प्राणियों को ब्रह्म या तारक मन्त्र का उपदेश करने के कारण रुद्र का यह नाम पड़ा है, जो निरुक्तकार की व्युत्पत्ति के साथ ठीक बैठता है। वायवीय संहिता के अनुसार रुद्र अर्थात् रुलाने वाले दुःख का

द्रावणकर्त्ता (विनाशकर्त्ता) होने के कारण रुद्र नाम पड़ा-**रुद् दुःखं दुःख हेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः-रुद्र इत्युच्यते तस्मात्** (वायु० सं०)। वस्तुतः रुद्र संहार के देवता के रूप में प्रख्यात हैं। रुद्र जहाँ एक ओर संहार के देवता हैं, वहीं दूसरी ओर उनका सर्जकरूप भी प्रकाशित होता है। रुद्र समस्त भूतों का सृजन करने में भी सक्षम हैं- **य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये** (अथर्व० ७.९२.१)। तैत्तिरीय संहिता में रुद्रों की संख्या ग्यारह विवेचित है- **एकादश रुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्** (तैत्ति० सं० ३.४.९.७)। इसी ग्रन्थ में दूसरे स्थल पर रुद्रों की संख्या तैंतीस वर्णित है- **त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिवं रुद्राः पृथिवीं च सचन्ते** (तैत्ति० सं० १.४.११.१)। ये विभिन्न वेशोंवाले तथा अनेक कार्यों के सम्पादक कहे जाते हैं, इसीलिए इनकी एवं इनके गणों की अभ्यर्थना कई जगह साथ-साथ की जाती है- **नमो गणेभ्यो गणपतिभ्य श्च वो नमो**..........(यजु० १६.२५)। रुद्र और अग्नि का सम्बन्ध अत्यन्त निकटवर्ती है- **यो वैरुद्रः सो अग्निः** (तैत्ति० ब्रा० ५.२.४.१३)। रुद्र मरुत्पिता भी हैं- **आ ते पितर्मरुतां........रुद्र प्रजाभिः** (ऋ० २.३३.१)। रुद्र को सर्वात्मा विशेषण से भी विभूषित किया गया है। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने लिखा है-......... **सर्वात्मकं रुद्रमिति** (बृह० सर्वा० ५.६.११-१४)। तैत्ति० आ० १०.१६.१ में भी इस तथ्य की पुष्टि मिलती है- **सर्वो वै रुद्रः**।

१०८. रुद्रगण (५.६.३-४) - द्र० रुद्र।

१०९. वरुण (५.१-२) - अथर्ववेद में वरुण का नामोल्लेख प्रायः १५० बार हुआ है। वरुण को देवताओं का राजा कहा गया है- **क्षत्रस्य राजा वरुणोधिराजः** (तैत्ति० सं० ३.१.२.७)। ये सम्पूर्ण भुवनों के अधिपति भी निर्दिष्ट हैं- **तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा**......(ऋ० ५.८५.३)। द्यावा और पृथिवी इन्हीं के अनुशासन या धर्म के आश्रय में हैं- **द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते**.....(ऋ० ६.७०.१)। सूर्य के निमित्त मार्गान्वेषण भी इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है- **उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ** (कपि० क० सं० ३.११)। वरुण शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि आवृत करने वाला होने से इसे वरुण कहते हैं- **वरुणः - वृणोतीति सतः (नि० १०.३)** अर्थात् जो अपने आवरण (मेघों) से आकाश का आवृत कर लेता है, वह वरुण है। आचार्य सायण ने अपने अथर्ववेद भाष्य में लिखा है- **वृणोति तमसा पाशैर्वा प्राणिजातम् इति वरुणः** (अथर्व० १.३.३ सा० भा०) अर्थात् जो समस्त जगत् को अंधकार द्वारा या समस्त प्राणियों को पाशों द्वारा आवृत कर देता है, वह वरुण है। वरुण का उल्लेख प्रायः मित्र के साथ मिलता है। मित्र को दिनाभिमानी तथा वरुण को रात्र्यभिमानी देवता विवेचित किया गया है। वरुणदेव जल को भी समावृत कर लेते हैं। अस्तु, इन्हें जल का देवता भी कहा गया है- **यच्च (आपः) वृत्वाऽतिष्ठंस्त द्वरणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इति** (गो० ब्रा० १.१.७)।

११०. वसुगण (६.६८.१) - वैदिक देवों में कुछ देवता गणों सहित भी प्रतिष्ठित हैं। जैसे- आदित्यगण, रुद्रगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण और वसुगण आदि। वसुओं की संख्या प्रायः ८ प्रसिद्ध है - **अष्टौ देवा वसवः सोम्यासः** (तैत्ति० ब्रा० ३.१.२.६); किन्तु ३३३ तक का उल्लेख भी मिलता है। तैत्तिरीय संहिता में वर्णन है- **तेन त्रीणि च शतान्यसृजन्त त्रयस्त्रिंशतं च** (तैत्ति० सं० ५.५.२.६)। 'वसु' शब्द का अर्थ धन-सम्पत्ति है। इसी कारण वसु को सम्पत्तिदायक देवता माना जाता है। निरुक्तकार यास्काचार्य ने वसु शब्द की परिभाषा इन शब्दों में की है- **वसुना अन्न साधनेन गवादि धनेन** (नि० ५.१९)। एक अन्य व्युत्पत्ति में सबका आच्छादन कर्त्ता होने से इन्हें वसु कहा गया है- **वसवो यद्विवसते सर्वम्।.............वसते आच्छादयन्ति तस्माद्वसव उच्यन्ते** (नि० १२.४१)। वसुगण प्रार्थी के शत्रुओं का भी मर्दन करते हैं- **अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे**............ (अथर्व० ३.१.२)। वसुगण विशेषतः आदित्य और रुद्रों से सम्बन्धित हैं- **एते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्याः** (शत० ब्रा० १.३.४.१२)। तैत्तिरीय संहिता में वसु को अग्नि का सहचर तथा इन्द्र, सोम, रुद्र, आदित्य, वरुण, विश्वेदेवा, बृहस्पति आदि से सम्बन्धित विवेचित किया गया है- **अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः** (तैत्ति० सं० ६.२.२.१)। वसुगण हविष् और मधु ग्रहण करके तृप्त होकर यजमान को विविध 'वसु' प्रदान करते हैं तथा जम्भ तमस् और प्रमयु (हिंसक) के आक्रमण से रक्षा करते हैं............ **जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि** (अथर्व० ७.१०२.३)।

१११. वाक् (७.४४) - 'वाक्' अन्तरिक्ष स्थानीय देवों में निर्दिष्ट हैं। निरुक्त में वाक् के सम्बन्ध में यास्क मुनि ने लिखा- **वाक् कस्मात्?...........वचेः।....... स च वाक् शब्दः "वच परिभाषणे"** (नि० २.२३) अर्थात् वाक् शब्द वच धातु से निष्पन्न है, जिसका परिभाषण के अर्थ में प्रयोग होता है। आचार्य सायण ने वाक् के प्रकारों का उल्लेख करते हुए अपने अथर्ववेद भाष्य में लिखा है- **सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना** (अथर्व० ७.४४.१ सा० भा०)। आचार्य सायण की व्याख्या के अनुसार वाक् के प्रायः ४ प्रकार हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। निरुक्तकार ने इनमें मध्यमा को वाक् नाम से सम्बोधित

किया है- **तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते** (नि० ११.२७)। माध्यमिका वाक् को सरस्वती भी कहा गया है-...........**सरस्वती माध्यमिका वाक्** (नि० ११.२७)। वाणी का सम्बन्ध बृहस्पति से वर्णित है। ऋग्वेद के वाक् सूक्त में आत्मकथन है- **बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः** (ऋ० १०.७१.१)। ऋग्वेद के वाक् सूक्त की द्रष्ट्री वागाम्भृणी हैं, जो अम्भृण ऋषि की सुपुत्री हैं। इसमें आत्मकथन होने से वाक् को देवत्व व ऋषित्व दोनों प्राप्त हुए हैं। वाक् को देवी, राष्ट्री और दिव्या स्वीकार किया गया है- **अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्** (ऋ० १०.१२५.३)। अथर्व० ४.३० में वाक् का उल्लेख सर्वरूपा, सर्वात्मिका और सर्वदेवमयी देवी के रूप में मिलता है, जिनका देवत्व बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इन शब्दों में प्रमाणित किया है- **वाचं सर्वरूपां सर्वात्मिकां सर्वदेवमयीमित्यस्तौत्** (बृह० सर्वा० ४.३०)।

११२. वाचस्पति (१.१) - वाचस्पति को वाक् का स्वामी विवेचित किया गया है, किन्तु वाक् की अपेक्षा अथर्ववेद में वाचस्पति का देवत्व अत्यल्प है। वाचस्पति का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है। अथर्व० में उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारे लिए पृथ्वी को सुख प्रदात्री बनाएँ, उसकी योनि (परतें) सुखद हों और हमारे लिए भी सुख प्रदायक हों- **वाचस्पते पृथिवी न स्योना....... सुशेवा** (अथर्व० १३.१.१७)। वाचस्पति से एक मंत्र में यह भी प्रार्थना की गई है कि वे हमें सुन्दर मन प्रदान करें, हमारे गोष्ठ में गौएँ उत्पन्न करें, श्रेष्ठ सन्तति प्रदान करें। इसी मंत्र में आगे कहा गया है कि 'हे परमेष्ठिन् ! आपको मैं वर्चस् और आयु से धारण करता हूँ'। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि परमेष्ठी (प्रजापति या ब्रह्मा) विशेषण के रूप में ही वाचस्पति शब्द आया है अथवा परमेष्ठी के साथ वाचस्पति का कोई सम्बन्ध है- **वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा ज़नय योनिषु प्रजाः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि** (अथर्व० १३.१.१९)। अथर्ववेद (शौनकीय संहिता) के प्रारम्भिक चार मंत्रों में वाचस्पति की ही स्तुति की गई है, जिनमें वेदरूपा वाणी के स्वामी की ही स्तुति की गई है, जिनमें वेदरूपा वाणी के स्वामी के रूप में वेद वाणी समझने के लिए उनका आवाहन किया गया है- **उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्........राधिषि** (अथर्व० १.१.४)। इसी मन्त्र के भाष्य में आचार्य सायण ने वाचस्पति को वाच् (वाक् या वाणी) का पालनकर्त्ता देवता निरूपित किया है- **वाचस्पतिः वाचः पालयिता देवः**। यास्क मुनि ने भी वाचस्पति को वाच् का पालन करने वाला ही निरूपित किया है- **वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा** (नि० १०.१७)।

११३. वात (६.६२) - द्र० वायु ।

११४. वात पत्नी (२.१०.४-८) - द्र० वायु ।

११५. वाम (९.१४ '९') - द्र० सूर्य ।

११६. वायु (६.१०.२) - वायुदेव अन्तरिक्ष स्थानीय देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। निरुक्तकार यास्क ने इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखा है- **वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः** (नि० ७.५)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वायु को अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं का अध्यक्ष निरूपित किया गया है- **वायुरन्तरिक्षस्याध्यक्षः** (तैत्ति० ब्रा० ३.२१.३.४) वायु समस्त देवताओं की आत्मा के रूप में भी वर्णित हैं- **सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः** (शत० ब्रा० ९.१.२.३८)। ऋग्वेद में वायु की उत्पत्ति प्रजापति के प्राण से बताई गई है- **प्राणाद्वायुरजायत** (ऋ० १०.९०.१३)। वायु का प्रवाह तिर्यक् गतिवाला होता है- **अयं वायुरस्मिन्नन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते** (जैमि० ब्रा० ३.३.१०)। समस्त देवों में वायु की गति सर्वाधिक है- **वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः** (तैत्ति० सं० ३८७.१)। वायुदेव पशुओं के संरक्षक हैं, इसीलिए अथर्ववेद में उनसे प्रार्थना की गई है कि वे गोष्ठ से बाहर गये पशुओं को पुनः गोष्ठ में वापस ले आएँ- **इह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां........गोष्ठे सविता नियच्छतु** (अथर्व० २.२६.१)। अथर्व० के एक मंत्र में वायु को इष् (अन्न), ऊर्ज, काम (इच्छित), आयु, सन्तति, रयि और पोष- प्रदाता विवेचित किया गया है-.........**सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्। आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा**। (अथर्व० ४.३९.४)। शरीर में संचरण करने के कारण वायु को वात भी कहते हैं-....... **तथा वातः वायुः देहमध्ये संचरन्** (अथर्व० ६.६२.१ सा० भा०)। दिशाओं में वायु का संचार होते रहने के कारण वायु को दिशाओं का पति माना गया है, इसीलिए दिशाओं को "वातपत्नी" संज्ञा प्रदान की गई है-...... **इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि.........स्ताम** (अथर्व० २.१०.४)।

११७. वास्तोष्पति (३.१२) - द्र० आशापालक वास्तोष्पतिगण ।

११८. विद्युत् (१.१३) - अथर्ववेदीय देवताओं में विद्युत् को भी देवत्व प्रदान किया गया है। विद्युत् के तीन रूप प्रकट हुए हैं, प्रथम- स्तनयित्नु (गरजने वाला), द्वितीय- अश्मा के रूप में (गिरकर भस्म करने वाला) और तृतीय- विद्योतमान (तीव्र प्रकाश

वाला)। ऋषि ने इन तीनों स्वरूपों वाले विद्युत् देव को नमन किया है- **नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि** (अथर्व० १.१३.१)। विद्युत् के अन्दर अग्नि निरन्तर संचरित रहती है-........ **ये विद्युतमनुसंचरन्ति। ....अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्** (अथर्व० ३.२१.७)। वर्षाकाल में विद्युत् सभी दिशाओं में कौंधती हुई अभ्र और आपः (जल) के साथ सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करती है। पर्जन्य से प्रार्थना की गई है कि वे विद्युत् से हमारी फसल को नष्ट न करें..... **मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं.....** (अथर्व० ७.१२.१)। विद्युत् शब्द का उल्लेख कुछ स्थलों पर बहुवचन में भी मिलता है, जो सम्भवतः उसके विभिन्न रूपों का निदर्शक है। विद्युत् का मूल स्वभाव मारक है, जो कई मंत्रों में परिलक्षित होता है-........ **विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह** (अथर्व० ११.४.९)। बृहद्देवता में विद्युत् का देवत्व इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **अरोदोदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम्** (बृह० २.३४)।

११९. विधाता (५.३.९) - द्र० धाता।

१२०. विराट् (८.१०) - विराट् पुरुष का नाम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम मिलता है। वेदों में वर्णन मिलता है कि सर्वप्रथम विराट् ही उत्पन्न हुआ, तदुपरान्त विराट् से पुरुष या यज्ञ पुरुष उत्पन्न होने के बाद उस विराट् ने सब ओर से पृथ्वी व अन्य लोकों को आवृत कर लिया और उससे भी बड़ा (विराट्) हो गया- **विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः** (अथर्व० १९.६.९)। वह विराट् (पुरुष) हजारों भुजाओं, हजारों पैर, हजारों आँखों वाला है, जो सप्त समुद्र और द्वीप वाली पृथ्वी को अपनी महिमा से परिव्याप्त करके दस अंगुल के परिमाण वाले हृदयाकाश में स्थित हो गया- **सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्** (अथर्व० १९.६.१) विराट् के विषय में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विस्तार से वर्णन है, जिसके मंत्र पाठ भेद से यजुर्वेद व अथर्ववेद में भी प्राप्त होते हैं। विराट् शब्द का प्रयोग कई बार स्त्रीलिंग में भी हुआ है और पुल्लिंग में भी जैसे- विराट् वाक् है और पृथ्वी भी। वह अन्तरिक्ष भी है और प्रजापति भी- **विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः** (अथर्व० ९.१५.२४)। कई बार विराट् शब्द का प्रयोग इन्द्र, प्रजापति, परमेष्ठी आदि की उत्कृष्टता ज्ञापित करने के लिए उनके विशेषण स्वरूप भी हुआ है, फिर भी विराट् की मूल अवधारणा विराट् पुरुष के रूप में ही समझनी चाहिए।

१२१. विवस्वान् (६.११६) - विवस्वान् का देवत्व ऋग्वेद और अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होता है। विवस्वान् यम देवता के पिता हैं, इसी कारण यम को वैवस्वत भी कहते हैं। प्रेत कर्म में विवस्वान् का भी आवाहन करने का विधान है- **विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्बर्हिष्या निषद्य** (अथर्व० १८.१.५९)। यम के कोप से रक्षा हेतु भी उनके पिता विवस्वान् से अभयदान की याचना की गई है- **विवस्वान्नो अभयं कृणोतु --------- पुष्टम्** (अथर्व० १८.३.६१)। बृहद्देवता में (६.१६२-७७ तक) विवस्वान् के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता है। त्वष्टा की दो पुत्रियाँ थीं- सरण्यू और त्रिशिरा। सरण्यू विवस्वा[की पत्नी थीं। सरण्यू और विवस्वान् की दो सन्तानें थीं - यम और यमी। सरण्यू के स्वसदृश एक स्त्री का निर्माण करके स्वयं अश्वी बनकर चले जाने पर विवस्वान् ने उस स्त्री को सरण्यू ही समझा और उससे एक सन्तति हुई, जिसका नाम मनु पड़ा। इसीलिए मनु को भी वैवस्वत विशेषण से विभूषित किया जाता है- **अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम्** (बृह० ७.२)। सर्वाधिक दीप्तिमान् होने के कारण आदित्य को भी विवस्वान् कहा गया है। अग्नि को विवस्वान् का दूत निरूपित किया गया है।

१२२. विश्वकर्मा (२.३५) - विश्वकर्मा का देवत्व ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में निर्दिष्ट है। इनकी ख्याति सृष्टिकर्त्ता के रूप में है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है- **अथो विश्वकर्मणे। विश्वं वै तेषां कर्म कृतं सर्वं जितं भवति......** (शत० ब्रा० ४.६.४.५)। निरुक्तकार यास्क मुनि ने विश्वकर्मा को सभी का कर्त्ता विवेचित किया है- **विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता** (नि० १०.२५)। कुछ स्थलों पर प्रजापति और विश्वकर्मा में तादात्म्य दृष्टिगोचर होता है- **प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा** (शत० ब्रा० ८.२.१.१०)। यज्ञमण्डप वेदिका निर्माण, यज्ञ की अन्य व्यवस्थाओं एवं यज्ञ को पूर्ण करने का दायित्व भी विश्वकर्मा पर ही है - **__ या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा** (अथर्व० २.३५.१)। यज्ञादि कार्यों में हुई भूलों के लिए क्षमा प्रदान करने के निमित्त भी विश्वकर्मा से याजकगण प्रार्थना करते हैं- **अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः। ---------- विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये** (अथर्व० २.३५.३)। शौनक प्रणीत बृहद्देवता में विश्वकर्मा का देवत्व इन शब्दों में स्वीकृत है- **अपश्यमिति चाग्नेये य इमा वैश्वकर्मणे** (बृह० ७.११७)।

१२३. विश्वजित् (६.१०७) - "यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता (ऋ० १०.१० सा० भा०)" सूत्र के अनुसार अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों का वर्ण्य विषय विश्वजित् होने से उसे भी देवत्व प्रदान किया गया है। ऋग्वेद में विश्वजित् शब्द इन्द्र और सोम के

विशेषण स्वरूप प्रयुक्त हुआ है; किन्तु अथर्ववेद में तो उसे देवता रूप में ही स्वीकार किया गया है। (अथर्व० १७.१.११) के भी एक मंत्र में विश्व को वश में करने वाले होने के कारण इन्द्र को विश्वजित् कहा गया है- **त्वमिन्द्रासि विश्वजित्**। विश्वजित् एक सोमयाग है- **विश्वजिदभिजतौ द्वौ सोमयागौ** (अथर्व० ११.९.१२ सा० भा०)। विश्वजित् को देवता मानकर प्रार्थना की गई है कि वे स्तुतिकर्त्ता को त्रायमाण (त्राण करने वाले) देवता के संरक्षण में दें। उसी तरह त्रायमाण से प्रार्थना है कि वे उसे विश्वजित् को सौंप दें। इस प्रार्थना का एक ही भाव है कि ये देव दो पैर वाले (मनुष्यों) और चार पैर वाले (पशुओं) और उनकी सम्पूर्ण सम्पदा की रक्षा करें- **विश्वजित् त्रायमाणायै मा परिदेहि। त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम्। त्रायमाणे विश्वजिते.......** (अथर्व० ६.१०७.१-२)। कौषीतकि ब्राह्मण में प्रजापति को विश्वजित् कहा गया है; क्योंकि उनके द्वारा ही समूची सृष्टि की उत्पत्ति हुई है- **प्रजापतिर्विश्वजित्** (कौषी० ब्रा० २५.११.१२.१५)।

१२४. विश्वरूप (४.८.३) - द्र० ब्रह्म।

१२५. विश्वेदेवा (६.११४-११५) - विश्वेदेवा देवता का देवत्व चारों वेदों में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में विश्वेदेवों का उल्लेख गणरूप में मिलता है। आदित्यों, वसुओं, रुद्रों और मरुतों की तरह विश्वेदेवों का भी एक गण है। इनकी संख्या तीन से लेकर तैंतीस कोटि तक वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में इन्हें अनन्त कहा गया है- **अनन्ता विश्वे देवा** (शत० ब्रा० १४.६.१.११)। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामदेव तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में यह माना गया है कि विश्वेदेवा के समुदाय में सभी देवगण समाहित हो जाते हैं अर्थात् देवताओं का समष्टिगत स्वरूप ही विश्वेदेवा है। सम्पूर्ण देवताओं के प्रतिनिधि रूप में यज्ञमण्डप में इनका आवाहन किया जाता है। यज्ञ में इनकी सायुज्यता अनिवार्य है- **विश्वेषामहं देवानां देवयज्यया प्राणानां सायुज्यं गमेयम्** (काठ० सं० ५.१)। इन्हें आमन्त्रित कर लेने पर कोई देवता अनामंत्रित नहीं रहते। कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लेख है- **एते वै सर्वे देवा यद्विश्वेदेवाः** (कौषी० ब्रा० ४.१४.५.२)। देव मण्डल में इनका यश सर्वाधिक है- **विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमाः** (शत० ब्रा० १३.१.२८। अथर्ववेद में विश्वेदेवों से कल्याण व रक्षा के निमित्त अनेकशः प्रार्थनाएँ की गई हैं- — विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् (अथर्व० ३.३.५)। आयु वृद्धि के निमित्त भी विश्वेदेवा की स्तुति की गई है- **कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्** (अथर्व० २.१३.४)।

१२६. विष्णु (३.२७.५) - वैदिक देवताओं में विष्णु उच्चस्तरीय प्रतिष्ठालब्ध हैं। "विष्णु" शब्द संस्कृत की **विष्लृ** धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- सर्वत्र फैलना अथवा व्यापक होना। महाभारत (५.७० ,१३-१४) में विष्णु का सर्वत्र फैलना उल्लिखित भी है। ये द्युलोक स्थानीय देवता के रूप में प्रख्यात हैं। ऋग्वेद में विष्णु के साथ 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' विशेषण संलग्न किये गये हैं- **उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः** (ऋ० १.१५४.५)। अथर्ववेद में प्रायः पैंसठ बार विष्णु का नामोल्लेख हुआ है। विष्णु के तीन पाद (पग या डग) वर्णित हैं, जो समस्त प्राणियों के आश्रयदाता हैं- **त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः** (अथर्व० ७.२७.५)। विष्णु के क्रम (डग) को 'विष्णु क्रम' भी कहते हैं। विष्णुक्रम को भी कुछ मंत्रों में देवत्व प्रदान किया गया है- **विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा** (अथर्व० १०.५.३०)। विष्णु इन्द्र के सखा हैं। ये दोनों कभी पराजित नहीं होते। सिनीवाली विष्णु की पत्नी के रूप में वर्णित हैं- --- **विष्णोः पत्निः तुभ्यं राता** ---- (अथर्व० ७.४८.३)। मूलतः विष्णु का स्वरूप पालनकर्त्ता, आश्रय प्रदानकर्त्ता और संरक्षक का है, इसीलिए वे ऋग्वेद में 'अघ्नन' अर्थात् पीड़ा न पहुँचाने वाले कहे गये हैं- **अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः** -----(ऋ० ८.२५.१२)। यज्ञ वेदिका की परिकल्पना विष्णु की ही है- **यन्नेवात्र विष्णुमन्वविन्दं स्तस्माद्वेदिर्नाम** (शत० १.२.५.१०)। विष्णु को यज्ञ का प्रतीक भी माना जाता है- **यज्ञो वै विष्णुः** (मैत्रा० सं० ४.१.१२)।

१२७. विष्णुक्रम (१०.५.२५-३५) - द्र० विष्णु।

१२८. वृषा (६.४८.३) - द्र० इन्द्र।

१२९. वेधा (१.११) - अथर्ववेदीय देवताओं में वेधा का देवत्व भी निर्दिष्ट है। वेधा या वेधस् शब्द का प्रयोग कई अर्थों में मिलता है। वेधा को सम्पूर्ण जगत् का निर्माणकर्त्ता और धाता कहा गया है। इन्हें पूषा और अर्यमा के समतुल्य माना गया है- **वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः** (अथर्व० १.११.१)। अथर्ववेद में ही अन्यत्र वेधा का अर्थ ज्ञानवान् से लिया है- **आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा** (अथर्व० १.३२.२) कुछ स्थलों पर 'वेधा' अग्नि का विशेषण भी है; क्योंकि वह भी विधाता है। विद्वान् ऋषि को भी वेधस् कहा गया है- — **हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः** (अथर्व० ५.१८.१४)। ऋग्वेद में सामान्यतः वेधा शब्द उसके मूल अर्थ "विधान या निर्माण करने वाला" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस दृष्टि से बहुत से देवगण विधाता या वेधा हैं। मरुद्गण, अग्नि, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार आदि सभी को वेधा कहा गया है। इस प्रकार वेधा शब्द अपने

मूल अर्थ विधाता या सृष्टिकर्त्ता का बोधक होकर विशिष्ट देवताओं और विद्वज्जनों के सम्मानपूर्ण विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है; इसीलिए कुछ स्थलों पर इसे सीधे भी देवत्व प्रदान किया गया है।

१३०. वैराज (३.२६.३) - द्र० अप्सरा।

१३१. वैश्वदेवी (५.३.६) - अथर्ववेद में वैश्वदेवी का देवत्व भी वैश्वदेवों की तरह ही प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार वैश्वदेवों में कुछ पुरुषवाचक देवगणों की गणना की जाती है अर्थात् समस्त देवों के लिए वैश्वदेव शब्द प्रयुक्त किया जाता है। उसी प्रकार समस्त स्त्रीवाची देवियाँ वैश्वदेवी में समाहित मानी जाती हैं अथवा समस्त देवियों का आवाहन वैश्वदेवी के रूप में कर लिया जाता है। अथर्व० के एक मन्त्र में वैश्वदेवी से प्रार्थना की गई है कि वे षट् उर्वियों (पृथ्वी, आकाश, जल, ओषधि, दिन और रात) को विस्तृत रूप में करने की कृपा करें- **देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम्** (अथर्व० ५३.६)। यों तो उर्वी शब्द पृथ्वी के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु 'उर्वी' शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होने से उपर्युक्त छह तत्त्वों को भी उर्वी की श्रेणी में परिगणित किया गया है। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने वैश्वदेवी का देवत्व इन शब्दों में प्रमाणित किया है- **परा वैश्वदेवी** (बृह० सर्वा० ५.३.६)। जबकि आचार्य सातवलेकर ने "देवीः" ही लिखा है।

१३२. वैश्वानर (६.११९) - द्र० अग्नि।

१३३. शकधूम (६.१२८) - अथर्ववेद में शकधूम का मानवीकरण दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः शकधूम का अर्थ गोबर या उपले से निकला हुआ धुआँ है। अथर्ववेद में नक्षत्रों द्वारा शकधूम को अपना राजा स्वीकार किया गया है, इसी कारण राजा शकधूम से प्रार्थना की गई है कि वे हमें 'भद्राह' (कल्याणकारी दिवस) प्रदान करें। हमारे लिए प्रातः, माध्यन्दिन, सायं तथा रात्रि कल्याणकारी हो- **शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत** (अथर्व० ६.१२८.१)। **___ ते नक्षत्र राज शकधूम सदा नमः** (अथर्व० ६.१२८.२)। आचार्य सायण ने शकधूम का अर्थ अग्नि किया है। उनका कहना है शक (गोबर के उपले) से सम्बन्धित धूम्र जिस अग्नि में है, वह शकधूम अग्नि है- **शकस्य शकृतः संबन्धी धूमोयस्मिन्नग्नौ शकधूमः अग्निः** (अथर्व० ६.१२८.१ सा० भा०)। आचार्य सायण ने अग्नि से अभेद के कारण शकधूम को ब्राह्मण भी कहा है- ___तदभेदाद् ब्राह्मणोत्र अभिधीयते (अथर्व० ६.१२८.१ सा० भा०)। प्रो० ब्लूमफील्ड ने चन्द्रमा को शकधूम कहा है; क्योंकि चन्द्रमा पर दिखाई देने वाली कालिमा उपलों के धुएँ जैसी दिखती है और चन्द्रमा से भद्राह की याचना भी युक्ति- युक्त है।

१३४. शक्र (३.३१.२) - द्र० इन्द्र।

१३५. शुक्र (६.५३.१) - द्र० सूर्य।

१३६. श्येन (६.४८.१) - अथर्ववेद के कुछ मंत्रों का देवत्व श्येन को प्रदान किया गया है। यों तो यह मूलतः एक पक्षी (बाज़, गरुड़ अथवा सुपर्ण) का नाम है; किन्तु लाक्षणिक स्थिति में इसे सूर्य का नाम भी माना गया है। श्येन अति तीव्रगामी पक्षी होता है, जो आकाश में बहुत ऊँचाई तक उड़ता है, इसीलिए इस गुण साम्य के आधार पर सूर्य को भी श्येन कहा गया है- **श्येनः शंसनीय गतिः सूर्यः** (अथर्व० ७.४२.१ सा० भा०)। श्येन को सबका द्रष्टा, द्युस्थित, सुपर्ण, सहस्रचरणों से युक्त और शक्ति या अन्न का धारणकर्त्ता विवेचित किया गया है। यह सभी गुण सूर्य के हैं, इसलिए भी सूर्य को श्येन कहा गया है- **श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः** (अथर्व० ७.४२.२)। प्रातः सवनात्मक गायत्रच्छन्द यज्ञ को भी श्येन विवेचित किया गया है; क्योंकि वह प्रशंसनीय गति से चलने वाले बाज़ (श्येन) पक्षी की तरह शीघ्रगामी है। प्रातः सवनात्मक सोमयाग में गायत्री छन्द का ही अधिक प्रयोग होता है, सम्भवतः इसीलिए श्येन को गायत्रच्छन्दा यज्ञ कहा गया है। श्येनाकार वेदिका (श्येनचित वेदिका) में प्रतिष्ठित होने से अग्नि भी श्येन निर्दिष्ट है- **श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। .... स्वाहा** (अथर्व० ६.४८.१)। ऋग्वेद में श्येन प्रायः सोम के सम्बन्ध में उल्लिखित है, इन्द्र के लिए सोमरस श्येन ही लेकर आया था- **इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ अयं ते श्येन उशते जभार** (ऋ० ३.४३.७)। श्येन के समान सोम पर टूट पड़ने के कारण इन्द्र को भी श्येन वर्णित किया गया है- **उप यत्सीददिन्दुं शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून्** (ऋ० १०.९९.८)।

१३७. संवत्सर (३.१०.८) - संवत्सर का देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में दृष्टिगत होता है। संवत्सर काल चक्र का एक विभाजन है, जिसे **"यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०)। सूत्र के अनुसार देवत्व प्रदान किया गया है। एक संवत्सर प्रायः तीन सौ साठ दिनों अथवा बारह महीनों अथवा तीन ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त) वाला माना गया है- **त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति** (नि० ४.२७)। यह समय एक वर्ष का होता है। ऋग्वेद में इस काल-संवत्सर का रूपक एक चक्र

के साथ निरूपित किया गया है, जिसमें बारह अरे, तीन नाभियाँ और तीव्र गतिवाली तीन सौ साठ खूँटियाँ लगी हैं- **द्वादश प्रध्यश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवो ऽ र्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः** (ऋ० १.१६४.४८)। अथर्ववेद में भी संवत्सर की विवेचना इसी से मिलती जुलती है। अथर्ववेद में उसे चौबीस पक्षों, चैत्रादि बारह महीनों वाला वर्णित किया गया है- ...... **समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे** (अथर्व० ३.१०.९)। यह समय भी एक वर्ष का ही है। संवत्सर को एकाष्टका (माघ कृष्ण अष्टमी की पूर्व रात्रि) का पति निरूपित किया गया है। सम्भवतः वैदिक काल में एकाष्टका से ही नये वर्ष (संवत्सर) का शुभारम्भ होता होगा, इसीलिए एक मंत्र में याजक एकाष्टका से विनय करता है कि हे एकाष्टके ! आपका पति संवत्सर आ गया है, अतः आप अपने पति सहित हमारी पुत्र-पौत्रादि प्रजा को आयुष्य व धन सम्पत्ति प्रदान करें- **आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज** (अथर्व० ३.१०.८)।

१३८. संस्फान (६.७९) - द्र० आदित्यगण ।

१३९. सकामा अविष्यव (३.२६.२) - द्र० अप्सरा ।

१४०. सत्यौजा अग्नि (४.३६) - द्र० अग्नि ।

१४१. सप्तर्षिगण (६.४०.१) - अथर्ववेद में सप्तर्षियों को भी देवत्व प्राप्त हुआ है। अन्यत्र तो इनके ऋषित्व का ही वर्णन मिलता है; किन्तु अथर्ववेद में इनके देवत्व के भी दर्शन होते हैं, जो '......**या तेनोच्यते सा देवता**' सूत्र के अनुसार तर्क संगत भी है। सप्तर्षियों में प्रायः भरद्वाज बार्हस्पत्य, कश्यप मारीच, गोतम राहूगण, अत्रि भौम, विश्वामित्र गाथिन, जमदग्नि भार्गव, तथा वसिष्ठ मैत्रावरुणि का नामोल्लेख मिलता है। कुछ स्थानों पर इनके नाम के साथ अपत्यार्थक पद का उल्लेख नहीं मिलता। इन ऋषियों द्वारा मंत्र चारों वेदों में सम्प्राप्य हैं। कुछ स्थानों पर इनका स्वतन्त्र ऋषित्व है और कुछ स्थानों पर समुदित। अथर्व० के एक मंत्र में इनका समुदित देवत्व भी वर्णित है वहाँ इन्हें समस्त ऋषिगण कहा गया है- **षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः** ...... (अथर्व० ८.९.७)। अथर्व० ६.४०.१ में सप्त ऋषियों की स्तुति है, अतः वहाँ भी इन्हें देवत्व प्रदान किया गया है- **सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु**। आश्वलायन परिशिष्ट १ का उद्धरण देते हुए आचार्य सायण ने अपने अथर्ववेद भाष्य में सप्तर्षियों के ये नाम गिनाये हैं- **सप्तर्षीणाम् विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यपः** (आश्व० प० १) **इत्येवं प्रसिद्धा ये सप्त ऋषयः सन्ति** (अथर्व० ६.४०.१ सा० भा०)। मैत्रायणी संहिता में सप्तप्राणों को भी सप्तर्षियों की संज्ञा प्रदान की गई है- **प्राणा वै विश्वेदेवाः सप्त ऋषयः** (मैत्रा० सं० १.५.११)। अथर्ववेद में बाइस बार सप्तर्षियों का नामोल्लेख हुआ है, इससे स्पष्ट है कि इस काल तक अन्य ऋषियों की अपेक्षा सप्तर्षियों को अधिक महत्त्व मिल चुका था। शौनक प्रणीत बृहद्देवता में भी सप्तर्षियों का देवत्व प्रतिपादित किया गया है- **देवाः सप्तर्षयश्च ये** (बृह० २.११)।

१४२. सप्तसिन्धु (४.६.२) - वैदिक ग्रन्थों में सप्त सिन्धुओं की स्तुति सहायता या रक्षा के निमित्त की गई है। अस्तु, इन्हें भी देवता की श्रेणी में परिगणित किया गया है- ...... **अपांनपात् सिन्धवः सप्त पातन** ...... **रुत द्यौः** (अथर्व० ६.३.१)। कोश ग्रन्थों में सप्त नदियों को सप्त सिन्धु कहा गया है। मैक्समूलर ने पंजाब की सिन्धु और सरस्वती के अतिरिक्त अन्य पाँच नदियों को सप्त सिन्धु कहा है। पौराणिक कोश पृष्ठ ५११ के अनुसार सात नदियों के तीन वर्ग प्राप्त होते हैं- (अ) वेदों में वर्णित- गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलज), परुष्णि, मरुद्वृद्धा और आर्जीकीया (व्यास या विपाशा)। (ब) महाभारत में वर्णित- गंगा, यमुना, प्लक्षगा, रथस्था, सरयू, गोमती और गंडक अथवा वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी, गंगा, सीता, सिन्धु और जम्बू। (स) रामायण में वर्णित- नलिनी, ह्लादिनी, पावनी, चक्षु, सीता, सिन्धु और भागीरथी। ऋग्वेद में गंगादि सात नदियों को सप्त सिन्धु इन शब्दों में विवेचित किया गया है- ...... **सर्तवे सप्त सिन्धून्** (ऋ० १.३२.१२)। अथर्ववेद के एक मंत्र में संसार में फैले सात समुद्रों को सप्त सिन्धु की संज्ञा प्रदान की गई है- **सप्त संख्याकाः सिन्धवः समुद्रा** (अथर्व० ४६.२ सा० भा०)। इन समुद्रों अथवा नदियों के समूह को सिन्धु समूह कहकर भी देवत्व प्रदान किया गया हैं। आचार्य सायण ने सिन्धु को स्पन्दनशील उदक की आत्मा कहा है- **सिन्धुः स्यन्दनशीलोदकात्मा देवता** (ऋ० १.९४.१६ सा० भा०)।

१४३. समस्त ऋषिगण (८.९) - द्र० सप्तर्षिगण ।

१४४. सरस्वती (६.९४) - द्र० तिस्रो देव्यः ।

१४५. सरस्वान् (७.४१) - सरस्वान् का देवत्व ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में विवेचित है। सरस्वान् शब्द का मूल अर्थ 'जल से भरा हुआ' है। ऋग्वेद में इनकी स्तुति सूर्य के पर्यायरूप में की गई है। सूर्य प्राणस्वरूप हैं, इसलिए इन्हें भी प्राण स्वरूप

माना गया है। बृहद्देवताकार ने लिखा है- **सस्वन्तमिति प्राणो वाचं ....**(बृह० ४.३९)। सूर्य के पर्याय स्वरूप सरस्वान् को ऋग्वेद में सुपर्ण, बृहत्, जल का केन्द्र, जल वृष्टि द्वारा चतुर्दिक् भूमि को तृप्त करने वाला और ओषधियों को पुष्ट करने वाला वर्णित किया गया है- **दिव्यं सुपर्णं वायसं .... वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वतन्तमवसे जोहवीमि** (ऋ० १.१६४.५२)। शतपथ ब्राह्मण में सरस्वान् को मन भी कहा गया है- **मनो वै सरस्वान्** (शत० ब्रा० ७.५.१.३१)। एक अन्य मंत्र में सरस्वान् को पुष्टिपति कहा गया है- **सरस्वन्तं पुष्टिपतिं रयिष्ठाम्** (अथर्व० ७.४०.२)।

१४६. सवाता प्रविध्यन्त (३.२६.४) - द्र० अप्सरा।

१४७. सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक् (४.३०) - द्र० वाक्।

१४८. सविता (६.१) - द्र० सूर्य।

१४९. सर्वात्मा रुद्र (५.६.११-१४) - द्र० रुद्र।

१५०. साग्नि हेति (३.२६.१) - द्र० अप्सरा।

१५१. सान्तपनाग्नि (६.७६) - द्र० अग्नि।

१५२. सावित्री (७.८६) - द्र० सूर्य।

१५३. सिनीवाली (६.११.३) - सिनीवाली ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में देवता स्वरूप प्रतिष्ठित हैं। राका और सिनीवाली चन्द्रमा की कलाओं से सम्बन्धित मानी गई हैं। पूर्ण चन्द्र दिवस को राका और प्रथम अभिनव चन्द्र दिवस को सिनीवाली कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में सिनीवाली अमावास्या के नव चन्द्र दिन एवं उसकी अधिष्ठात्री देवी के रूप में वर्णित हैं, जो उर्वरता की प्रतीक है- **या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली** (ऐत० ब्रा० ७.११)। सिनीवाली को देवताओं की बहिन कहा गया है- **सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा** (ऋ० २.३२.६)। ऋ० में सरस्वती राका तथा गुँगू के साथ इनका भी आवाहन किया गया है- **या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती** (ऋ० २.३२.८)। आचार्य सायण ने इन्हें प्रकाश की देवी निरूपित किया है- **दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली** (ऋ० २.३२.६ सा० भा०)। अथर्ववेद में सिनीवाली का प्रजापति और अनुमति के साथ उल्लेख है, जो गर्भाशय स्थित रेतस् के अंग-अवयवों का निर्माण करके, उसमें लिंग का निर्धारण भी करते हैं- **प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य चीक्लृपत्** (अथर्व० ६.११.३)।

१५४. सिन्धु समूह (१.१५) - द्र० सप्तसिन्धु।

१५५. सीता (३.१७) - सीता का देवत्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में निर्दिष्ट है। सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कोश ग्रन्थों में सामान्यतया सीता शब्द का अर्थ हल के फाल से धरती में बनने वाली रेखा (या कूँड़) है। ऋग्वेद में सीता से उत्तम फल, ऐश्वर्य एवं कृपावर्षण की प्रार्थना की गई है- **अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा** (ऋ० ४.५७.६)। अन्न की उत्पादिका होने के कारण अथर्व० में सीता की सुभगा कहकर प्रार्थना की गई है- **सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।....... सुफला भुवः** (अथर्व० ३.१७.८)। सीता घृत और मधु से सिंचित हैं, जो स्तोता को पयस्- सम्पन्न करती हैं- **घृतेन सीता मधुना समक्ता .... पिन्वमाना** (अथर्व० ३.१७.९)। बृहद्देवता में सीता का देवत्व इन शब्दों में विवेचित है- **द्वे तु सीतायै षष्ठी सप्तमी च** (बृह० ५.९)।

१५६. सुपर्ण (६.८.२) - द्र० श्येन।

१५७. सूर्य (३.३१.७) - वैदिक देवों में सूर्य को प्रमुख देव के रूप में मान्यता प्राप्त है। इनका देवत्व चारों वेदों में सम्प्राप्य है। द्वादश आदित्यों में सूर्य भी एक हैं। विराट् पुरुष के नेत्रों से सूर्य की उत्पत्ति हुई है- **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजु० ३१.१२), इसी कारण सूर्य को सभी जीवों के कर्मों को देखने वाला विवेचित किया गया है- **सूरायविश्वचक्षसे** (ऋ० १.५०.२)। सूर्य के बिना किसी का जीवित रहना कठिन है, अतः सूर्य को सभी की आत्मा उपन्यस्त किया गया है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋ० १.११५.१)। अथर्ववेद में सूर्य की स्तुति कई अन्य नामों से भी की गई है। जैसे- ब्रध्न, वाम, शुक्र, सविता आदि। सभी को अपने कर्म और उसके फल में टिकाए (बन्धित) रखने के कारण सूर्य को ब्रध्न कहा गया है- **ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्व कर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः** (अथर्व० ७.२३.२ सा० भा०)। जगत् के पालक होने के कारण सूर्य को वाम भी कहा गया है- **अस्य वामस्य पलितस्य** ......(अथर्व० ९.१४.१)। देदीप्यमान होने के कारण सूर्य को शुक्र भी कहते हैं- **शुक्रः शोचमानो दीप्यमानः सूर्यः** (अथर्व० ६.५३.१ सा० भा०)। सबका प्रेरक होने से सूर्य को सविता कहा गया है- **सवितारम् अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकं सूर्यं स्तुहि**

(अथर्व० ६.१.१ सा० भा०)। अपने ऋग्वेद भाष्य में आचार्य सायण ने उदित होने से पूर्व, सूर्य को सविता कहा है- **उदयात् पूर्व भावी सविता** (ऋ० ५.८१.४ सा० भा०)। सविता सभी देवताओं के जनक हैं- **सविता वै देवानां प्रसविता** (शत० ब्रा० १.१.२.१७)। सूर्य की पुत्री सूर्या हैं, यह तथ्य इन शब्दों में उल्लिखित है- **आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती** (ऋ० १.११६.१७)। सूर्या को सविता की पुत्री भी कहते हैं, इसीलिए इनका एक नाम सवित्री भी है। ऐतरेय ब्राह्मण में सावित्री प्रजापति की पुत्री वर्णित हैं- **प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्** (ऐत० ब्रा० ४.७)। सावित्री-सोम अथवा अश्विनों की पत्नी भी हैं। इस प्रकार सूर्यदेव वस्तुतः अग्नि तत्त्व के ही आकाशीय रूप हैं। वे विश्व विधान के संरक्षण कर्त्ता हैं, इसीलिए उनका चक्र नियमित और सार्वभौमिक नियमों का अनुगामी है। सूर्य अग्नि एवं मित्रावरुण से विशिष्टतः सम्बद्ध हैं।

१५८. सोम (६.२) - सोम को पृथ्वी स्थानीय देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। सोम का देवत्व चारों वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में सैकड़ों बार इनका नामोल्लेख हुआ है। सामान्यतः इनका उद्गम पार्थिव सोमलता से माना जाता है और इससे (सोमलता से) निकले मादक स्राव को सोम कहा गया है। द्रव रूप में सोम की यज्ञ में आहुति भी दिये जाने का वर्णन मिलता है- **तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे दमे सोमा हुतो जरसे मृळयत्तमः** (ऋ० १.९४.१४)। सोम को अमृत और राजा की संज्ञा प्रदान की गई है- **सोमो राजाऽमृतꣳसुत** (यजु० १९.७२)। ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण सोम को वनस्पतियों का अधिपति कहा गया है- **सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधां पतिः** (अथर्व० ३.२७.४)। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में वर्णन है कि लोग जिस सोम नामक ओषधि को पीसकर पान करते हैं, वे वास्तविक सोम का पान नहीं करते, पर ब्राह्मण (विद्वान्) लोग जिस सोम को जानते हैं, उसको कोई मर्त्य ग्रहण नहीं कर सकता। उसका पान देवगण करते हैं और वह (सोम) पुनः प्रबुद्ध हो जाता है। पवित्रकारक होने के कारण सोम को 'पवमान सोम' भी कहा गया है। ये द्युलोक और अन्तरिक्ष से पृथ्वी की ओर प्रवाहित होता है- **पवमाना दिवस्पर्यन्त रिक्षा दसृक्षता पृथिव्या अधि सानवि** (ऋ० ९.६३.२७)। यों तो अन्य देवों के साथ भी सोम सम्बन्ध हैं, किन्तु सोम का सम्बन्ध प्रमुखतः इन्द्र के साथ दिखाई देता हैं- **इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत** (अथर्व० ६.२.१)।

१५९. सोमारुद्र (५.६) - अथर्ववेद में सोम और रुद्र के युग्म का देवत्व भी प्राप्त होता है। यहाँ वे ओषधियों के श्रेष्ठ विज्ञ एवं अधिपति स्वरूप निर्दिष्ट हैं। वे शरीरान्तर्गत विषूची और अमीवा रोगों को दूर कर निर्ऋति को दूर भगाते हैं- **सोमा रुद्रा विवृहतं विषूचीममीवा या नो गयमा विवेश** (अथर्व० ७.४३.१)। शरीर के मल विकारों को दूर कर वे उपासक को पापमुक्त भी करते हैं- **सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वातनूषु भेष जानि धत्तम्** (अथर्व० ७.४३.२)। अथर्व० के एक अन्य मंत्र में इन्हें तीक्ष्ण आयुधों वाला और सुख प्रदाता विवेचित किया गया है- **तिग्मायुधौ तिग्म हेती सुशेवौ सोमा रुद्राविह सु मृडतं नः** (अथर्व० ५.६.५)।

१६०. सौधन्वन् (६.४७.३) - अथर्ववेदीय देवताओं में सुधन्वा आङ्गिरस के पुत्र देवश्रेणी में परिगणित हुए हैं। वस्तुतः सुधन्वा अङ्गिरस् गोत्रीय ऋषि थे, जिनके तीन पुत्र क्रमशः ऋभुक्षन् वाज और विभ्वन् थे। इन्हें ऋभुगण कहते हैं। इनका अपत्यवाची सम्बोधन सौधन्वन् है। इन तीनों पुत्रों ने अपनी कर्म-कुशलता के कारण देवत्व को प्राप्त किया। पौराणिक कोश के अनुसार इन्होंने इन्द्र के घोड़ों और रथ का निर्माण किया था और अपने वृद्ध पिता को युवा बना दिया था। निरुक्त ११.१६ का उद्धरण देकर आचार्य सायण ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है- **सौधन्वनाः सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। .. सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः। ऋभुर्विभ्वा वाज इति।....ते च मनुष्या एव सन्तो रथ निर्माणादि शिल्प करणेन देवांस्तोषयित्वा तत्प्रसादेन देवत्वं प्राप्ताः** (अथर्व० ६.४७.३ सा० भा०)। इन तीनों पुत्रों को त्वष्टा ने शिक्षण प्रदान किया था, जिसके कारण इन्होंने सोम के लिए चार चमसों का निर्माण किया था- **सुधन्वन ....ऋभुर्विभ्वा च वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्च तेऽभवन्** (बृह० ३-८३)।

१६१. सौषधिका निलिम्पा (३.२६.५) - द्र० अप्सरा।

१६२. स्कम्भ (१०.७) - अथर्ववेद में विराट् ब्रह्माण्ड के आधारस्वरूप स्कम्भ का देवत्व प्रतिष्ठित है। स्कम्भ आदि सनातन देव का नाम है। स्कम्भ को ब्रह्मा से भी प्राचीन माना गया है, अतः इन्हें ज्येष्ठ ब्रह्म की संज्ञा प्रदान की गई है- **स्कम्भ इति सनातनतमो देवो ब्रह्मणोप्याद्य भूतः। अतो ज्येष्ठं ब्रह्मेति तस्य संज्ञा** (अथर्व० १०.७ सा० भा०)। विराट् एवं सम्पूर्ण देवत्ता स्कम्भ में ही समाहित हैं। स्कम्भ उस दैवी शक्ति के रूप में विवेचित हैं, जिसके ऋत, तप, श्रद्धा, सत्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, भूमि, अन्तरिक्ष आदि अंग-अवयव हैं- **कस्मिन्नङ्गे तपो .... तिष्ठत्युत्तरं दिवः** (अथर्व० १०.७.१-३)। लोग जिस हिरण्यगर्भ को सर्वातिशायी और अनिर्वचनीय बताते हैं, वह हिरण्यगर्भ संसार को सर्वप्रथम स्कम्भ द्वारा ही प्रदान किया गया था- **हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जनाविदुः। स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा** (अथर्व० १०.७.२८)। स्कम्भ की माप भूमि को बताया गया है, साथ ही उनके उदर को अन्तरिक्ष, मूर्धा को द्यौ, सूर्य और चन्द्र को दो नेत्र, अग्नि को मुख, प्राण और अपान को वायु, अङ्गिरा गोत्रियों को दृष्टि और दिशाओं को

ज्ञानेन्द्रियाँ कहा है- **यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।........दिशो यश्चक्रे .... नमः** (अथर्व० १०.७.३२-३४)। स्कम्भ के इस विवेचन की संगति पुरुषसूक्त के उस विवेचन से बैठती प्रतीत होती है, जो विराट् पुरुष के लिए वर्णित है। जैसे- **चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत** (यजु० ३१.१२)। अथर्व० के एक मंत्र में लोक, तप और ऋत, इन्द्र में समाहित बताते हुए इन्द्र को स्कम्भ कहा गया है- **इन्द्रे लोका .... इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्** (अथर्व० १०.७.३०)।

१६३. स्तनयित्नु (४.१५.११) - स्तनयित्नु को अथर्ववेद में गौण स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्तनयित्नु को गर्जन के अर्थ में लिया है। ताण्ड्य ब्राह्मण में उल्लेख है- **तत् स्तनयित्नोर्वीचो उन्वसृज्यत** (ता० ब्रा० ७८.१०)। शतपथ ब्राह्मण में इसे अशनि (वज्र या बिजली) के अर्थ में लिया गया है- **कतस्तनयित्नुरिति। अशनिरिति** (शत० ब्रा० ११.६.३.९)। आकाशीय विद्युत् गर्जनशील और कड़कने वाली होती है, जो वज्र की तरह गिरती है, सम्भवतः इसीलिए शतपथ ब्राह्मणकार ने इसे अशनि कहा है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में ऋषि ने स्तनयित्नु को गरजता हुआ मेघ कहा है- **प्रजापतिः सलिलादा ... स्तनयित्नुनेहि** (अथर्व० ४.१५.११)।

१६४. स्मर (६.१३०-१३२) - **द्र० काम।**

अन्य देव समुदाय

वैदिक ऋषि और देवताओं के निर्धारण के सम्बन्ध में मूल अवधारणा यह है कि मन्त्र द्रष्टा ऋषि तथा मन्त्रोक्त (अथवा मन्त्र का वर्ण्य विषय) देवता है- **यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता** (ऋ० १०.१० सा० भा०)। वेदविद् आचार्य सायण ने इस सूत्र को आधार मानकर ही अथर्ववेद के ऋषियों और देवताओं का निर्धारण किया गया है। कुछ प्रचलित और प्रख्यात देवगण जैसे- अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनीकुमार, सोम, पृथिवी आदि के अतिरिक्त अचेतन और अमूर्त्त (भावात्मक), मानव, पशु-पक्षी व अन्य प्राणी, उपकरण, हव्य, वस्तु, द्रव्य तथा अंग-अवयव आदि का भी देवश्रेणी में परिगणन किया गया है। गुण-धर्म के आधार पर इन सभी को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया गया है-

(क) मानव वर्ग- अतिथि, क्षत्रिय राजा, दम्पती, द्रुह्वण (द्रोह करने वाला व्यक्ति), ब्रह्मजाया (ब्राह्मण की पत्नी), ब्रह्मद्विट् (वेदोक्त कर्म से द्वेष करने वाला), ब्राह्मण, ब्राह्मणम्, ब्राह्मणाः, मनुवंशी (मनुष्य), राजा आदि।

(ख) पशु या प्राणी वर्ग- अघ्न्या (न मारने योग्य) गौ, अनड्वान् (बैल), अश्व समूह, असित (काला सर्प), ऋषभ (बैल), एक वृष (बैल) कल्माषग्रीव (कालीगर्दन वाला सर्प), गो-समूह, गृध्रद्वय, तक्षक (सर्प), तिरश्चिराजी (तिरछी रेखाओं वाला सर्प), पञ्चौदन अज (यज्ञ का अज विशेष), पतत्रिण (पक्षी), पशु समूह, पृदाकु (सर्प विशेष), मण्डूक समूह, मधु (मधुकशा नामक गौ), वय (पक्षी), वशा (वशानामक गौ), वाजी (अश्व), वृश्चिकादि, वृषभ, व्याघ्र, शतौदना (गो विशेष), शितिपात् अविं (श्वेत पैर वाली भेड़), स्वज (सर्प विशेष), हरिण (कृष्ण मृग) आदि।

(ग) उपकरण वर्ग- कृशन (शत्रु को क्षीण करने वाला शंख), ग्रावा (पत्थर), दुन्दुभि (वाद्ययन्त्र), मनुष्यों के बाण, मेखला (कमर में बाँधने वाली), वज्र (आयुध), हेति (संहारक अस्त्र) आदि।

(घ) स्थान वर्ग- गृह समूह (घर), गोष्ठ (पशु बाँधने का स्थान), दूर्वाशाला (दूर्वागृह), वेदी (यज्ञवेदी), शाला (गृह) आदि।

(ङ) अंग-अवयव वर्ग- अक्षि (आँख) दन्त समूह, योनि (नारी का प्रजनन अंग), रामायणी (रामायणी नामक नाड़ी), शेप (पुरुष की उपस्थेन्द्रिय), हस्त (हाथ), हिरा (धमनी या शिरा) आदि।

(च) हव्य वर्ग- अन्न, आज्य (घृत), ब्रह्मौदन (ऋत्विज् हेतु पकाया गया भात) आदि।

(छ) वस्तु या द्रव्य वर्ग- अभीवर्त मणि (सफलता प्रदायक मणि), अर्क (अर्कमणि), जङ्गिड़ (काष्ठमणि), त्रिवृत् (तीन लड़ों से बनी मणि विशेष), त्रैकाकुदाञ्जन (त्रिककुद् पर्वत से उत्पन्न आञ्जन मणि), पर्णमणि (पलाश वृक्ष से बनी मणि), फालमणि (खदिर काष्ठ के फाल की बनी मणि), योषित लोहित वासस (स्त्री के लोहित वर्ण वस्त्र), रयि (धन), वरण मणि (वरण नामक वृक्ष की बनी मणि), वास (वस्त्र), विष, शंखमणि, हिरण्य (स्वर्ण) आदि।

(ज) वनस्पति या ओषधि वर्ग- अज शृंगी, अपामार्ग वनस्पति, अपामार्ग वीरुत् (पाप मार्जक काष्ठ) अश्वत्थ (पीपल की बनी मणि), असिक्नी वनस्पति (काली वनस्पति), आसुरी वनस्पति (कुष्ठादि नाशक वनस्पति), ईर्ष्यापनयन (ईर्ष्या विनाशक ओषधि), ओषधि ,ओषधिसमूह, कुष्ठ (कुष्ठ नामक ओषधि), तृष्टिका (दाहोत्पादक ओषधि), नितत्नी वनस्पति (नीचे को फैलने वाली वनस्पति), पिप्पली, भेषज, मधुलौषधि (मधुर ओषधि), मधुवनस्पति (मधूकलता), मातृनामौषधि, लाक्षा, वनस्पति (असुरी दुहिता), वनस्पति पृश्निपर्णी, वीरुध (ओषधि का पौधा), शमी (वृक्ष) आदि ।

(झ) अमूर्त्त (भावात्मक) देव वर्ग- अति मृत्यु (मृत्यु को पार करना), अन्तरिक्ष (द्यु और पृथिवी के बीच का लोक), अपचिंद् भैषज्य (गण्डमाला की चिकित्सा) , अपान (शरीरगत मल का निष्कासन करने वाली वायु), अरिनाशन (शत्रुनाशक सूक्त), अहः (दिन) , आदित्यरश्मि, आयु, आयुष्य, आशीर्वचन, ईर्ष्यापनयन (ईर्ष्या विनाशक सूक्त), उदीची दिशा (उत्तर दिशा), ऋक्-साम, ऋतुएँ, कर्म, कामात्मा, कासा (खाँसी रोग), कृत्या दूषण, कृत्या परिहरण (घातक प्रयोग को लौटाना), गर्भ दृंहण (गर्भ की दृढ़ता), घर्म (धूप), छन्द समूह, जायान्य (स्त्री संयोग से उत्पन्न क्षय रोग), तक्मनाशन (तक्मा नामक ज्वर विनाशक सूक्त), तता पितरगण (सपिण्डमृतक पितर), ततामहा पितरगण (ततामह अर्थात् बाबा महान् पितर), तारागण, दक्षिण दिशा, दधत्यसीस (नदी का फेन), दिशाएँ, दीर्घायु, दुःस्वप्ननाशन (दुःस्वप्न विनाशक सूक्त), ध्रुव (स्थिर होना), निविद् आज्ञारूप वाणी, परसेना हनन (पर सेना का हनन करने वाला सूक्त), प्रतीची दिशा (पश्चिम दिशा), प्राची दिशा (पूर्व दिशा), बलास (बल का क्षय करने वाला रोग), ब्रह्म कर्मात्मा (वेदोक्त कर्म), ब्रह्म प्रकाशन (ब्रह्म का प्रकाशक सूक्त), भैषज्य (ओषधि सम्बन्धी सूक्त), मन, मन्याविनाशन (गण्डमाला का विनाशक सूक्त), मन्युशमन (क्रोधशामक सूक्त), मही (भारी-विशेषण), यक्ष्म (राजयक्ष्मादि क्षेत्रिय रोग), यक्ष्मनाशन (यक्ष्मा का विनाशक सूक्त), यक्ष्म विबर्हण (यक्ष्मा को पृथक् करने वाला सूक्त), यमिनी (जुड़वाँ बच्चों की जन्मदात्री-गाय, पृथिवी, प्रकृति आदि), यातुधानी (राक्षसी), योनिगर्भ (गर्भ विषयक सूक्त), राज्याभिषेक (राज्याभिषेक सम्बन्धी सूक्त), रेतस् (वीर्य), रोहिणी (लोहित वर्ण वाली गण्डमाला), वर्चस् (शक्ति) , विद्या (ज्ञान), विनायक (दुर्लक्षण नाशक शक्ति), विश्वाभुवनानि (समस्त प्राणियों के अन्तःकरण), विश्वा भूतानि (समस्त प्राणी), वेद (दर्भ की मुटठी), शालाग्नि, श्वित्र (श्वेतरोग), सन्नति (निकट जाकर नमन करने की स्थिति), संभा, सर्वशीर्षामयाद्यपाकरण (शिरः रोग दूरीकरण), सुख, सेनामोहन (सेना को मोहित कर देने वाला सूक्त), स्वापन (स्वप्न), हरिमा (कामिला रोग से उत्पन्न शरीर का पीला रंग), हृद्रोग आदि । अथर्ववेद में इन सब की भी स्तुति और वर्णन है । अस्तु, उपर्युक्त सभी वर्गों को देव श्रेणी में प्रतिष्ठित किया गया है ।

परिशिष्ट-३

अथर्ववेद भाग-१ में प्रयुक्त छन्दों का संक्षिप्त विवरण

	छन्द- नाम	वर्ण संख्या	उदाहरण
१.	अति जगती	५२	६.२०.१
	अतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा अतिजगती	५२	३.२८.१
	अनुष्टुब्गार्भा षट्पदा परातिजगती	५२	५.२७.९
	चतुष्पदा अतिजगती	५२	८.९.१४
	त्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भा षट्पदा त्र्यवसाना अतिजगती	५२	३.१९.६
	द्व्यनुष्टुब्गार्भापञ्चपदा अतिजगती	५२	१०.१.३२
	परानुष्टुप् पञ्चपदा अतिजगती	५२	८.७.४
	परानुष्टुप् पञ्चपदा विराट् अतिजगती	५०	३.२२.३
	पुरस्कृति त्रिष्टुब्बृहतीगर्भा चतुष्पदा त्र्यवसाना अतिजगती	५२	५.९.८
	पुरस्कृति भुरिक् चतुष्पदा अतिजगती	५३	९.१५.२४
	पुरोधृति अनुष्टुब्गार्भा पराष्टि चतुष्पदा त्र्यवसाना अतिजगती	५०	५.१०.८
	विपरीत पादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती-	५२	८.८.७
	विराड्गर्भाषट्पदा त्र्यवसाना अतिजगती	५०	३.१०.७
२.	अतिधृति		
	त्रैष्टुभगर्भा दशपदा चतुरवसाना अतिधृति	७२	१०.५.१५-१६
३.	अति शक्वरी	६०	१०.५.२५;२६;३२
	चतुष्पदा अतिशक्वरी	६०	५.२४.१-१०
	पञ्चपदा अतिशक्वरी	५५	४.१४८
	पञ्चपदा त्र्यवसाना अतिशक्वरी	५७	९.३.१५
	विराट् पञ्चपदा अतिशक्वरी	५८	८.७.१२
४.	अत्यष्टि		
	ककुम्मतीगर्भा पञ्चपदा अत्यष्टि	६६	३.२७.२
	बृहतीगर्भा विराट् षट्पदा त्र्यवसाना अत्यष्टि	६६	३.१५.४
	भूरिक् अत्यष्टि	६९	४.३८.५
	षट्पदा त्र्यवसाना अत्यष्टि	६५	५.१.९
	सप्तपदा अत्यष्टि	६८	२.१०.६
५.	अनुष्टुप	३२	१.१.१-३
	आर्ची अनुष्टुप्	२४	८.१३.४८
	आर्ची एकावसाना अनुष्टुप्	२४	१०.७.४४
	आर्ची द्विपदा अनुष्टुप्	२४	९.२.१३
	आर्ची द्विपदा एकावसाना अनुष्टुप्	२४	५.६.८
	आर्ची निचृद् द्विपदा एकावसाना अनुष्टुप्	२३	६.८३.४

आर्ची भुरिक् द्विपदा अनुष्टुप्	२५	८.७.९
आर्षी अनुष्टुप्	३२	३.१२.७
आसुरी अनुष्टुप्	१३	५.१६.२-३,६
उष्णिग्गर्भा निचृत् अनुष्टुप्	३१	२.३३.६
उष्णिग्गर्भापरात्रिष्टुप् अनुष्टुप्	३२	१०.४८
ककुम्मती अनुष्टुप्	३०	१.१०.३
ककुम्मती उष्णिग्गर्भा चतुष्पदा अनुष्टुप्	३०	१.११.३
ककुम्मती पराबृहती चतुष्पदा अनुष्टुप्	३०	५.२९.१४
गायत्रीगर्भा त्रिपदा अनुष्टुप्	२८	१०.५.४४
चतुष्पात् शंकुमती अनुष्टुप्	२९	६.३०.३
त्रिपदा अनुष्टुप्	३२	६.१३.२.१
द्व्युष्णिग्गर्भा अनुष्टुप्	३०	१०.८.२६;९.२५
निचृत् अनुष्टुप्	३१	३.१३.१
परा विराट् अनुष्टुप्	३१	१०.७.३३
पुरः ककुम्मती अनुष्टुप्	३०	७.७३.३
प्राजापत्या अनुष्टुप्	१६	९.९.१
प्राजापत्या द्विपदा अनुष्टुप्	१६	८.१५.३
प्राजापत्या भुरिक् अनुष्टुप्	१७	९.९.९
प्राजापत्या भुरिक् एकावसाना द्विपदा अनुष्टुप्	१७	६.१२३.४
बृहतीगर्भा अनुष्टुप्	३३	५.३१.११,१०.८.२
बृहतीगर्भाककुम्मती अनुष्टुप्	३०	६.१६.३
भुरिक् अनुष्टुप्	३३	१.१७.१
विराट् अनुष्टुप्	३०	५.२३.१३
विराट् चतुष्पदा अनुष्टुप्	३०	८.१२.१
विराट् चतुष्पात् अनुष्टुप्	३०	१.१४.३
विराट् त्रिपदा अनुष्टुप्	३०	५.१४८
शंकुमती अनुष्टुप्	२९	४.१५.१५
साम्नी अनुष्टुप्	१६	८.१०.३९
साम्नी त्रिपदा अनुष्टुप्	१६	८.११.१
साम्नी द्विपदा अनुष्टुप्	१६	६.१२३.३
साम्नी भुरिक् द्विपदा अनुष्टुप्	१७	५.२७.२
स्वराट् अनुष्टुप्	३४	४७.४;२०.१
६. अष्टि		
अष्टपदा त्र्यवसाना अष्टि	६४	१०.६७-९
ककुम्मतीगर्भा पञ्चपदा अष्टि	६२	३.२७.१
पञ्चपदाअतिशाक्वरअतिजागतगर्भा अष्टि	६४	१०.५.३६
भुरिक् ककुम्मतीगर्भा अष्टि	६३	३.२७.५
विराट्सप्तपदात्र्यवसाना अष्टि	६२	६.२९.३
षट्पदा त्र्यवसाना अष्टि	६४	९.१.२४

	सप्तपदा अष्टि	६४	२.१०.२
७.	आकृति		
	दशपदा- आकृति	८८	१९.५.३६
८.	उष्णिक्	२८	६.४८.१-३
	अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पदा उष्णिक्	२८	९.१३.१२
	अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा उष्णिक्	२८	३.१८.४
	आर्ची उष्णिक्	२१	९.१२.२
	आर्ची द्विपदा उष्णिक्	२१	८.१५.४
	आर्ची द्विपदा एकावसाना उष्णिक्	२१	१०.१.२२
	आर्षी भुरिक् उष्णिक्	२९	६.९०.३
	आसुरी उष्णिक्	१४	२.१७.७
	आसुरी एकपदा उष्णिक्	१४	२.१६.२
	ककुप् यवमध्या विराट् उष्णिक्	२६	३.२८.४
	ककुप् यवमध्या उष्णिक्	२८	५.१०.७
	चतुष्पदा उष्णिक्	२८	७.३९.३
	निचृत् चतुष्पदा उष्णिक्	२७	२.३२.६
	परोष्णिक् (पर उष्णिक्) उष्णिक्	२८	४.३७.७
	परोष्णिक् त्रिपदा उष्णिक्	२८	२.११.२-५
	परोष्णिक् निचृत् त्रिपदा उष्णिक्	२७	७.९४.४
	परोष्णिक् विराट् उष्णिक्	२६	७.५७.२
	पिपीलिकमध्या उष्णिक्	२८	९.८८
	पिपीलिकमध्या निचृत् उष्णिक्	२७	२.११.४
	पुर उष्णिक्	२८	४.४.४
	पुर उष्णिक् निचृत् उष्णिक्	२७	२.३६.८
	पुर उष्णिक् पिपीलिकमध्या उष्णिक्	२६	६.१.२-३
	पुर उष्णिक् पिपीलिकमध्या त्रिपदा (एका०) उष्णिक्	२६	५.२६.९
	पुर उष्णिक् विराट्	२६	३.१.५
	ब्राह्मी त्रिपदा पुर उष्णिक्	४२	९.१.२२
	भुरिक् चतुष्पदा उष्णिक्	२९	२.३३.४
	शंकुमती भुरिक् चतुष्पदा उष्णिक्	२७	७.११८.२
	साम्नी उष्णिक्	१४	५.१६.१,४-५
९.	कृति		
	चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुभगर्भा कृति	८०	१०.५.१९-२०
	सप्तपदा त्र्यवसाना कृति	८०	४.३४.५
१०.	गायत्री	२४	१.४.१-३
	आर्षी गायत्री	२४	३.१७.१
	आर्षी त्रिपदा गायत्री	२४	१.१७.४
	आसुरी गायत्री	१५	५.१६.११
	त्रिपदा गायत्री	२४	४.१२.१

त्रिपाद् गायत्री	२४	२.१५.१-६
द्विपदासुरी गायत्री	१५	२.१६.४-५
नागी त्रिपदा गायत्री	२४	९.६.१
निचृद् गायत्री	२३	५.१३.१०-११
निचृत् त्रिपदा गायत्री	२३	६.१६.१
पादनिचृत् एकावसाना गायत्री	२१	१.२६.४
पिपीलिकमध्या त्रिपदा गायत्री	२४	९.८.१-६,९
पिपीलिकमध्या निचृत् त्रिपदा गायत्री	२३	९.१२.७
प्रतिष्ठा त्रिपदा गायत्री	२१	६.१६.४
प्रतिष्ठा नाम त्रिपदा एकावसाना गायत्री	२१	९.३.२७-३०
प्राजापत्या एकपदा गायत्री	८	९.११.४
ब्राह्मी भुरिक् त्रिपदा गायत्री	३७	८.१४.१२
भुरिक् गायत्री	२५	१०.४.१२
भूरिक् त्रिपदा गायत्री	२५	६.१३४.२
भुरिक् त्रिपाद् गायत्री	२५	२.३२.१
यवमध्या त्रिपदा गायत्री	२४	५.१०.१-६
यवमध्या भुरिक् त्रिपदा गायत्री	२५	४.१२.६
याजुषी एकपदा गायत्री	६	८.११.३
वर्धमाना गायत्री	२१	१.५.४
विराट् गायत्री	२२	८.१०.७;१३
विराट् त्रिपदा गायत्री	२२	५.२६.३
विराड् द्विपदा गायत्री	२०	८.१५.१
विराड् द्विपदा एकावसाना गायत्री	२०	७.२३.१
विराड् भूरिक् त्रिपाद् गायत्री	३१	९.६.१७
विराड् विषमा गायत्री	२२	१०.५.४०
विराण्नाम गायत्री	३३	६.२९.१-२
विराण्नाम चतुष्पदा गायत्री	३०	२.११.१
विराण्नाम त्रिपदा गायत्री	३३	१.२.३
विराण्नाम त्रिपाद् गायत्री	३३	४.१६.९
विराण्नाम द्विपदा गायत्री	२०	५.२७.६
विषमा निचृद् गायत्री	२३	२.१९.१-४
विषमा निचृत् त्रिपदा गायत्री	२३	९.१०.५ पूर्वार्द्ध
विषमा भुरिक् गायत्री	२५	२.१९.५;२०.५
विषमा स्वराड् गायत्री	२६	२.२३.५
समविषमा गायत्री	२४	२.२३.१-४
साम्नी गायत्री	१२	९.१२.९;१३
११. जगती	४८	३.८.२
अति जगतीगर्भा जगती	४६	६.६३.२
अनुष्टुबुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती	५०	५.६.४

अनुष्टुबुष्णिग्गर्भा उपरिष्टाद्बार्हता विराट् पञ्चपदा जगती	४९	९.५.२४
अनुष्टुब्गर्भा पुरोपरिष्टाज्ज्योतिष्मती पञ्चपदा त्र्यवसाना जगती	४७	४.३८.७
आर्षी जगती	४८	३.१६.१
आसुरी एकपदा जगती	९	९.११.१२
उपरिष्टाज्ज्योति जगती	४४	१०.७.११
उपरिष्टाद् दैवी बृहती ककुम्मतीगर्भा विराट् षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४६	३.२९.७
चतुष्पदा जगती	४८	१०.१.१९
जगतीगर्भा (त्रिष्टुब्गर्भा) चतुष्पदा जगती	४८	१०.५.६
त्रिष्टुप् उष्णिग्गर्भा पराशक्वरी पञ्चपदा त्र्यवसाना जगती	५०	८८.२४
दैवी जगती	७	५.९.३-४
द्व्युष्णिग्गर्भा षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४८	५८.९
निचृद् जगती	४७	१.१८.२
पञ्चपदा जगती	४८	८.२.९
पञ्चपदा त्र्यनुष्टुब्गर्भा जगती	४६	१०.६.३५
पञ्चपदा त्र्यवसाना जगती	४८	४.१.१२
पराजगती शक्वरीगर्भा चतुष्पदा	५२	९.२.१६
पराऽतिशक्वरी चतुष्पदा जगती	४८	५.२६.१२
पराशक्वरी विराड्गर्भा जगती	४६	७.२२.१
पुरस्कृति चतुष्पदा जगती	४८	८.५.९
पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती	४४	८.२.८
पुरोऽतिजगती विराड् जगती	४६	५.२९.५
पुरोऽतिशक्वरी चतुष्पदा जगती	४८	९.५.३
पुरोऽतिशक्वरी पादयुग्जगती	४८	४.४०.८
पुरोविराड् जगती	४६	२.५.४
पुरोविराडतिशाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती	४६	६.६८.१
पुरोऽष्टि जगती	४६	४.२६.१
प्राजापत्या चतुष्पदा जगती	३३	८.१४.५
बृहतीगर्भा पञ्चपदा जगती	४८	८.३.२५
बृहतीगर्भा षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४८	३.११.८
बृहत्यनुष्टुप् उष्णिग्गर्भा पञ्चपदा जगती	४७	१०.९.२६
भुरिक् चतुष्पदा जगती	४९	६.२२.२
भुरिक् त्रिपदा जगती	५०	५.२४.१५-१६
भुरिक् षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४९	७.९५.३
भुरिक् जगती	४९	४.३५.३
मध्येज्योति जगती	४४	१०.७.३१
मध्येज्योतिष्मती जगती	४४	१०.१.२९
याजुषी जगती	१२	८.१०.२,४,६
विपरीतपादलक्ष्मा पञ्चपदा जगती	४८	३.२६.२,५,६
विराट् चतुष्पदा जगती	४६	१.१३.३

विराड् जगती	४७	३.३०.५
विराट् षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४६	६.१३९.१
विराडुष्णिक् बृहतीगर्भा पञ्चपदा जगती	४७	५.९.७
शक्वरीगर्भा जगती	४८	३.११.४
शक्वरीगर्भा पञ्चपदा त्र्यवसाना जगती	४८	६.४६.२
शक्वरीगर्भा विराड् जगती	४६	१.३०.३
षट्पदा जगती	४८	४.३७.११
षट्पदा त्र्यवसाना जगती	४८	५.३०.१७
सप्तपदा त्र्यवसाना जगती	४८	८.६.१७
साम्नी चतुष्पदा जगती	२४	८.१३.१
साम्नी त्रिपदा जगती	२४	९.६.६
साम्नी पिपीलिकमध्या त्रिपदा जगती	२४	६.१.१
साम्नी भुरिक् त्रिपदा जगती	२५	७.१०२७
१२. त्रिष्टुप्	४४	१.९.१-४
अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप्	४४	६.६८.३
अतिशक्वरीगर्भा त्रिष्टुप्	४४	४.२५.३
अनुष्टुपगर्भा त्रिष्टुप्	४२	१०.८.१०
अनुष्टुप् उष्णिक्गर्भा उपरिष्टाद् बार्हता भुरिक् पञ्चपदा त्रिष्टुप्	४५	९.५.२६
अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप्	४१	१.३५.४
अनुष्टुब्गर्भा भुरिक् पञ्चपदा त्रिष्टुप्	४५	४.१५.१२
आर्ची त्रिष्टुप्	३३	८.१२.२
आर्ची त्रिपदा त्रिष्टुप्	३३	९.७.१०
आर्षी त्रिष्टुप्	४४	२.३१.३,५
आसुरी एकपदा त्रिष्टुप्	१०	२.१६.१,३
उपरिष्टाज्ज्योति त्रिष्टुप्	४४	४.२८
उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्	४२	६.१४०.२
जगतीगर्भा त्रिष्टुप्	४५	८.५.१९
दैवी त्रिष्टुप्	६	५.९.२,६
द्युतिजागतगर्भा भुरिक् त्रिष्टुप्	४५	४.२८.१
निचृत् त्रिष्टुप्	४३	३.१३.६
परानुष्टुप् त्रिष्टुप्	४२	१.३१.४
पराबृहती त्रिष्टुप्	४२	५.१.१
पराविराट् त्रिष्टुप्	४२	८.५.२१
पुरस्ताज्ज्योतिं त्रिष्टुप्	४१	४.५.७
पुरस्ताज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्	४१	४.२३.३
पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्	४२	१.२५.४
पुरोबृहती त्रिष्टुप्	४४	८.१.१
पुरोबृहती विराड्गर्भा त्रिष्टुप्	४२	६.१२६.३
बार्हतगर्भा त्रिष्टुप्	४२	१८.४

बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्	४२	२.३५.१
बृहतीगर्भा ककुम्मती भुरिक् षट्पदा त्र्यवसाना त्रिष्टुप्	४४	१०.४.२६
बृहतीगर्भा विराट् चतुष्पदा त्रिष्टुप्	४२	३.८.४
भुरिक् त्रिष्टुप्	४५	२.२८.५
भुरिक् उत्तमा त्रिष्टुप्	४५	४.३४.४
भुरिक् पराऽतिजागता त्रिष्टुप्	४५	५.२.९
भुरिक् विपरीतपादलक्ष्मा पञ्चपदा त्रिष्टुप्	४५	३.२६.३-४
याजुषी त्रिष्टुप्	११	९.६.८
विपरीतपादलक्ष्मा पञ्चपदा त्रिष्टुप्	४४	३.२६.१
विराट् त्रिष्टुप्	४२	१.३१.३
विराडास्तारपंक्ति त्रिष्टुप्	४२	१.१८.३
विराड्गर्भा त्रिष्टुप्	४२	१.२५.२-३
विराड्गर्भा भुरिक् त्रिष्टुप्	४३	३.१.२
शाक्वरगर्भा अतिमध्येज्योति त्रिष्टुप्	४४	४.२६.७
शाक्वरीगर्भा (शाक्वरगर्भा) पुरः शक्वरी त्रिष्टुप्	४४	४.२४.१
षट्पदा त्र्यवसाना त्रिष्टुप्	४४	४.३७.३
साम्नी त्रिष्टुप्	२२	८.१४.८
साम्नी एकावसाना त्रिपदा त्रिष्टुप्	२२	१.२६.२
साम्नी एकावसाना द्विपदा त्रिष्टुप्	२२	९.५.३८
साम्नी त्रिपदा त्रिष्टुप्	२२	५.१४.११
साम्नी द्विपदा त्रिष्टुप्	२२	५.२७.५
१३. त्र्यवसाना नवपदा धृति	७२	१०.६.१०
सप्तपदा धृति	७२	२.१०.३-५
१४. पंक्ति	४०	१.११.१
आर्ची त्रिपदा पंक्ति	३०	८.१०.१
आर्ची द्विपदा पंक्ति	३०	९.१.२३
आर्षी उष्णिग्गर्भा पंक्ति	४०	७.५५.४
आर्षी चतुष्पदा पंक्ति	४०	२.६.४
आर्षी पुरोबृहती त्रिष्टुब्गर्भा पंक्ति	४०	१०.८.१२
आसुरी एकपदा पंक्ति	११	९.१२.१९
आस्तार पंक्ति	४०	५.८.६
आस्तार पंक्ति बृहतीगर्भा	४०	६.९८.२
आस्तार पंक्ति विराट्	३८	३.१९.७
आस्तार पंक्ति विराड्गर्भा	३८	८.५.२०
आस्तार पंक्ति सम्राट्	४२	७.८६.५
चतुष्पदा पंक्ति	४०	७.५१.२
चतुष्पदा भुरिक् पंक्ति	४१	३.३.३
त्रिष्टुप्परा बृहतीगर्भा पंक्ति	४०	१.१३.४
त्रिष्टुब्गर्भा पंक्ति	४१	९.१.२

पथ्या पंक्ति	४०	१.३.१-५
पथ्या उष्णिग्गर्भा पंक्ति	४०	३.१८.६
पथ्या उष्णिग्बृहतीगर्भा पंक्ति	४०	३.११.७
पथ्या द्व्युष्णिग्गर्भा पंक्ति	४०	५.८.७
पथ्या निचृत् पंक्ति	३९	१.२४.२
पथ्या भुरिक् पंक्ति	४१	१.१५.२
\पथ्या भुरिक् त्र्यवसाना पंक्ति	४१	७.७९.२
पथ्या विराड्गर्भा भुरिक् पंक्ति	४०	८.७.६
परोष्णिक् पंक्ति	४०	९.१.१०
पुर उष्णिक् भुरिक् पंक्ति	४१	२.२४.१-२
पुरोदेवत्या विराट् पंक्ति	३९	२.२४.३-४
पुरोऽभिकृति ककुम्मतीगर्भा त्रिपदा पंक्ति	३९	१०.५.१-५
प्रस्तार पंक्ति	४०	३.३०.६
प्रस्तार पंक्ति ककुम्मती	३९	६.२०.२
प्रस्तार पंक्ति चतुष्पदा	४०	९.९.१०
प्रस्तार पंक्ति पराबृहती	४०	९.१.९
प्रस्तार पंक्ति पराबृहती निचत्	३९	२.२९.४
प्राजापत्या चतुष्पदा पंक्ति	२४	८.१२.३
बृहतीगर्भा संस्तार पंक्ति	४०	९.१.८
बृहतीपुरस्तात् प्रस्तार पंक्ति	३९	८.८.४
भुरिक् पंक्ति	४१	३.१६.४
भुरिक् विष्टार पंक्ति	४१	९.१.२०
भुरिक् संस्तार पंक्ति	४१	८.५.५
विराट् प्रस्तार पंक्ति	३८	२.४.१
विराड्गर्भा प्रस्तार पंक्ति	४०	३.२८.६
विष्टार पंक्ति	४०	६.४६.१
संस्तार पंक्ति	४०	४.३९.२
सतः पंक्ति	४०	६.२०.३
साम्नी एकपदा पंक्ति	२०	८.११.४
साम्नी निचृत् पंक्ति	१९	९.६.१३
साम्नी पंक्ति	२०	८.११.७
स्वराट् पंक्ति	४२	५.६.१४
१५. प्रकृति		
दशपदा प्रकृति	८४	९.५.३२-३५
१६.बृहती		
आर्ची बृहती	३६	४.१२.७
आर्ची त्रिपदा बृहती	२७	८.१२.४,६
आर्ची द्विपदा बृहती	२७	६.८४.२
आसुरी एकपदा बृहती	२७	५.२७.३
	१२	९.१२.२३

उपरिष्टाद् बृहती	३६	३.२९.८
उरो बृहती	३६	६.१०८.२
उष्णिग्गर्भा विराट् चतुष्पदा उपरिष्टाद् बृहती	३४	८.११.२
ककुम्मतीगर्भा उपरिष्टाद् बृहती	३३	४.३.७
ककुम्मती बृहती	३४	७८७.२
चतुष्पदा बृहती	३६	२.२४.५
चतुष्पदा विराट् उरोबृहती	३४	१.१.४
त्रिपदा महाबृहती	३६	४.३९.१
त्रिपदा स्वराट् उपरिष्टान्महाबृहती	३८	२.३.६
त्र्यवसाना बृहती	३६	७.९३.१
दैवी बृहती	४	५.९.१;५
निचृत् उपरिष्टाद् बृहती	३५	२.५.१
निचृत् चतुष्पदा बृहती	३५	३.९.४
निचृत् पुरस्ताद् बृहती	३५	८८.२०
निचृद् बृहती	३५	५.१४.१०
न्यंकुसारिणी बृहती	३६	७.६६.२
पञ्चपदा विराट् पुरस्ताद् बृहती	३४	९.७.७
पथ्या बृहती	३६	६.३.१
पथ्या विराड् बृहती	३४	१.२८.३
पुरः परोष्णिक् बृहती	३६	७.६९.१
पुरस्ताद् बृहती	३६	१.४.४
प्राजापत्या त्रिपदा एकावसाना बृहती	२०	९.३.२५;३१
प्राजापत्या त्रिपदा बृहती	२०	७.१०२.६
प्राजापत्या द्विपदा बृहती	२०	५.२६.२;४
प्राजापत्या बृहती	२०	६.१०.२
भुरिक् अनुष्टुप् उष्णिग्गर्भा पञ्चपदा बृहती	३७	९.५.२०-२२
भुरिक् उपरिष्टाद् बृहती	३७	३.२३.५
भुरिक् चतुष्पदा बृहती	३७	२.२४.६-८
भुरिक् त्रिपदा महाबृहती	३७	८.१.१३
भुरिग् बृहती	३७	३.१९.३
१७. महाबृहती	३६	१०.१.१
यवमध्या अतिजागतगर्भा महाबृहती	३६	९.१.७
यवमध्या अतिशक्वरीगर्भा महाबृहती	३७	९.१.६
विपरीतपादलक्ष्मा पञ्चपदा त्र्यवसाना बृहती	३६	१०.५.७-१०
विराट् उपरिष्टाद् बृहती	३४	२.३१.२
विराट् उरोबृहती	३४	३.५.८
विराट् त्रिपदा महाबृहती	३४	६.१३२.२;४
विराट् पञ्चपदा पुरस्ताद् बृहती	३४	९.७.७
विराट् पुरस्ताद् बृहती	३४	४.१५.४

विराड् बृहती	३४	८८.३
साम्नी द्विपदा एकावसाना बृहती	१८	६.१३६.२
साम्नी द्विपदा बृहती	१८	५.२७.७
साम्नी बृहती	१८	२.१८.१-५
साम्नी भुरिग् द्विपदा एकावसाना बृहती	१९	८.१.१४
साम्नी भुरिग् द्विपदा बृहती	१९	५.२७.४
साम्नी भुरिग् बृहती	१९	९.६.१०
स्कन्धोग्रीवी अतिजागताऽनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदा बृहती	३६	१०.१०.५
स्कन्धोग्रीवी बृहती	३६	३.२३.६
१८. शक्वरी	५६	५.२४.११
अनुष्टुब्गार्भा उपरिष्टाज्जागता निचृत् षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५५	४.११.७
चतुष्पदा शक्वरी	५३	८८.२२
पञ्चपदा अतिजागताऽनुष्टुब्गार्भा शक्वरी	५६	१०.९.२७
परानुष्टुप् पञ्चपदा शक्वरी	५६	४.१०.७
भुरिक् शक्वरी	५७	४.३४.७
विराट् त्रिपदा शक्वरी	५४	५.२४.१७
विराट् षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५४	७.२७.३
विराट् सप्तपदा शक्वरी	५४	१०.६.६
विराड्गर्भा भुरिक् सप्तपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५७	८.५.२२
षट्पदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६	१०.६.१२-१७
सप्तपदा त्र्यवसाना शक्वरी	५६	८.६.१५

परिशिष्ट - ४

अथर्ववेद संहितायाः वर्णानुक्रम सूची भाग-१